प्राकृत भारती पुष्प 153

प्रधान सम्पादक
साहित्य-वाचस्पति म० विनयसागर

जैन हरिवंशपुराण और सूरसागर में श्रीकृष्ण

(तुलनात्मक अध्ययन)

डॉ० उदाराम वैष्णव

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वे० खरतरगच्छ संघ, साँचोर
कानूगो छ० घ० बोथरा चेरिटेबल ट्रस्ट, साँचोर

प्रकाशक:

(१) देवेन्द्र राज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर
जयपुर-३०२ ०१७
दूरभाष: ०१४१- ५२४८२७, ५२४८२८

(२) पुन्नीलाल बरडिया
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, (साँचोर)
कुशल भवन, शांति नगर,
साँचोर-३४३ ०४१
दूरभाष: ०२९७९-२२२१५४

(३) पी० सी० कानूगो,
कानूगो छगनलालजी घमण्डीरामजी
बोथरा चेरिटेबल ट्रस्ट, साँचोर
३०१, ताडदेव टावर, ७५-बी ताडदेव रोड़,
मुम्बई - ४०० ०३४
फोन नं० - ९४९४ २७३५, ९४९४ ४३०३

प्रथम संस्करण, २००३

मूल्य: २५०/-

© डॉ० उदाराम वैष्णव

लेजर टाईप सैटिंग

राजावत कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक:
कमल प्रिन्टर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्री कृष्ण सम्बन्धी साहित्य का भारतीय जन-जीवन व साहित्य में महत्वपूर्ण और लोकप्रिय स्थान है। यह साहित्य-धारा पुरातन से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर प्रवाहित होती आई है। विभिन्न युगों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण कृष्ण-काव्य-रूपों में परिवर्तन होता गया, परतु आज भी श्री कृष्ण का चरित्र साहित्य का सशक्त प्रेरणा स्रोत बना हुआ है।

कृष्ण-चरित्र क्षेत्र व काल की ही नहीं सम्प्रदाय की सीमाओं को भी लांघकर व्यापक रूप से भारतीय जन-जीवन में आकर्षण का केन्द्र रहा है। विभिन्न भारतीय भाषाओं व धार्मिक परम्पराओं में श्रीकृष्ण चरित्र का अपनी-अपनी शैली में विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ब्राह्मण परम्परा की भाँति जैन परम्परा में भी आगम साहित्य के अनेक ग्रंथों में श्री कृष्ण-चरित्र का निरूपण हुआ है, परन्तु इसकी ओर विद्वानों का ध्यान अपेक्षाकृत कम ही गया है।

जैनाचार्य श्री जिनसेन द्वारा रचित हरिवंश पुराण में श्री कृष्ण-चरित्र एक अभिनव शैली से प्रस्तुत किया गया है। श्री कृष्ण के जीवन की अमानवीय घटनाओं का बौद्धिक विश्लेषण कर, उनके सामाजिक जीवन एवं जननायक स्वरूप को प्रकट किया गया है। जैन रचना होने के नाते इसमें श्री कृष्ण को जैन धर्म से प्रभावित बताकर मोक्ष प्राप्ति का साधन, जैन दीक्षा स्वीकार करना आदि घटनाएँ भी सम्मिलित की गई है। अतः इस प्रयत्न में कहीं-कहीं संशय व स्थापित कथा से विरोधाभास अवश्य दिखाई पड़ता है, परन्तु कवि के कृतित्व तथा विद्वत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

यद्यपि संस्कृत काव्य के समस्त उदात्त गुण इसमें विद्यमान हैं, संस्कृत ग्रन्थों की परम्परा में जैन हरिवंश पुराण अभी तक उपेक्षित ग्रन्थ रहा है। कृष्ण कथा के ऐसे सुन्दर एवं उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। शोधकर्ता ने जैन परम्परा में कृष्ण चरित्र के इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का महाकवि सूरदास के सूरसागर की कृष्ण कथा से तुलनात्मक अध्ययन कर इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया है।

आचार्य जिनसेन ने कृष्ण कथा के माध्यम से जैन दर्शन के सिद्धांतों को प्रस्तुत किया, तो सूर के आराध्य देव ही श्री कृष्ण रहे। जिनसेन का प्रधान उद्देश्य है - धर्म की भाव-भूमि पर भारतीय मनीषा का विस्तृत अध्ययन

तो सूर का मानवीय धरातल पर श्री कृष्ण की जीवन लीलाओं को उद्घाटित करना। जिनसेनाचार्य का धर्म-दर्शन तथा सूर का भाव-बोध दोनों ही संसार के कल्याणार्थ जिनदीक्षा तथा नर से नारायण की संकल्पना करते हैं। दोनों के मार्ग भिन्न हैं परन्तु लक्ष्य प्राय: समान। दोनों अपने काल और समाज की विडम्बनाओं को आलोकित करते हुए इस युग को एक नवीन दिशा देना चाहते हैं।

प्राकृत भारती अपनी शोध-ग्रन्थ प्रकाशन शृंखला में **श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, साँचोर** के सहयोग से इस अनूठे तुलनात्मक अध्ययन को अपने सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रही है।

हम डॉ० उदाराम वैष्णन के आभारी हैं कि इस सुन्दर ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व उन्होंने हमें सौंपा।

चुन्नीलाल बरडिया,
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ,
साँचोर

म० विनयसागर
निदेशक,
प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर

पी० सी० कानूगो
कानूगो छगनलालजी धमण्डीरामजी
बोथरा चेरिटेबल ट्रस्ट, साँचोर

पुरोवाक्

श्री उदाराम वैष्णव ने उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय (पाटण) से Ph.D. उपाधि के लिए प्रस्तुत अपने शोधग्रन्थ **''जिनसेनाचार्यकृत हरिवंश पुराण और सूरसागर में श्रीकृष्ण''** में जैन परम्परा एवं वैष्णव परम्परा में श्री कृष्ण चरित्र का विशद विवेचन / विश्लेषण कर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्य किया है।

श्री वैष्णव ने अपने इस शोध ग्रन्थ में जिस पर उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय ने उन्हें Ph.D. की उपाधि प्रदान की है, जैन परम्परा व वैष्णव परम्परा में श्री कृष्ण चरित्र के समग्र वर्णन के लिए आगम साहित्य से अद्यतन काल तक की रचनाओं को जुटा पाना कितना दुष्कर रहा होगा, कल्पना की जा सकती है। डॉ. वैष्णव ने श्री कृष्ण चरित्र का न केवल तुलनात्मक अध्ययन किया है वरन् उन्होंने श्री कृष्ण को भारतीय संस्कृति में साम्प्रदायिक सद्भाव का पुरोधा बताकर समाज को नई दिशा प्रदान की है।

डॉ. वैष्णव के इस शोध-कार्य से हिन्दी साहित्य को समृद्धि मिली है तथा हिन्दी शोध-कार्य को भी प्रतिष्ठा मिली है।

मुझे विश्वास है कि डॉ. वैष्णव का यह शोध कार्य आगामी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्पद रहेगा। इसी महत्त्वपूर्ण हेतु से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री खरतरगच्छ संघ, सांचोर का सहयोग रहा है। अस्तु।

प्रकाशचन्द कानूगो

पूर्व अध्यक्ष

श्री खरतरगच्छ जैन श्वेताम्बर संघ, सांचोर

समर्पण

जिनकी कोख से जन्म लेकर
इस संसार में पदार्पण किया,
जिनके वात्सल्य एवं ममत्व से
इस जीवन को बोध मिला,
जिनके मांगलिक आशीर्वाद से
इस जीवन को गति मिली,
ऐसी करुणा-पुँज, उदारमना
श्रद्धा की प्रतिमूर्ति, जननी
स्वर्गीय मीराँ देवी की पावन-स्मृति में
सादर

सविनय
समर्पित

प्राक्कथन

श्री कृष्ण सम्बन्धी साहित्य निःसन्देह भारतीय संस्कृति की महान थाती है। यह साहित्य-धारा संस्कृत से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर प्रवाहित होती आई है। श्री कृष्ण की कथा ऋग्वेद से आरम्भ होकर आगे चलकर अधिकांश भारतीय साहित्यकारों ने इस कथा को नत-मस्तक होकर स्वीकार किया है। यह बात और है कि विभिन्न युगों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण कृष्ण काव्य रूपों में परिवर्तन होता गया, परन्तु आज भी कृष्ण-साहित्य भारतीय-साहित्य का सशक्त प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

कृष्ण-चरित्र क्षेत्र, काल व सम्प्रदाय की सीमाओं को लांघकर व्यापक रूप से भारतीय जन-जीवन में आकर्षण का केन्द्र रहा है। अतः विभिन्न भारतीय भाषाओं, धार्मिक सम्प्रदाओं में श्रीकृष्ण चरित्र का विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ब्राह्मण परम्परा की भाँति जैन परम्परा में भी आगम साहित्य से अद्यावधि काल तक अनेक ग्रन्थों में निरूपण हुआ है, परन्तु इसकी ओर विद्वानों का ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है।

जैनाचार्य श्री जिनसेन द्वारा रचित हरिवंश पुराण भी श्री कृष्ण-चरित्र के चित्रण में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनकी रचना में कवि का उद्देश्य है—श्री कृष्ण की अमानवीय घटनाओं का बौद्धिक विश्लेषण करना, उनके सामाजिक जीवन एवं जननायक स्वरूप को प्रकट करना तथा श्री कृष्ण को जैन धर्म से प्रभावित बताकर मोक्ष प्राप्ति का साधन, जैन दीक्षा स्वीकार करना। जिनसेनाचार्य ने अपने ग्रन्थ में कृष्ण कथा को इस तरह पल्लवित किया है, जिससे जैन दर्शन के प्रति लोगों को आकर्षित किया जा सके। अतः इस प्रयत्न में कहीं-कहीं संशय की भाव-भूमि ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु कवि के कृतित्व तथा वैदग्ध्य में सन्देह नहीं किया जा सकता।

संस्कृत ग्रन्थों की परम्परा में हरिवंश पुराण (जैन) अभी तक उपेक्षित ग्रन्थ रहा है। यद्यपि संस्कृत साहित्य के समस्त उदात्त गुण इसमें विद्यमान हैं। जिनसेनाचार्य की यह रचना, जैन कृष्ण काव्य की उपजीव्य रही है परन्तु कृष्ण कथा के ऐसे सुन्दर एवं उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। अतः मैंने जैन परम्परा में कृष्ण चरित्र के इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का महाकवि सूरदास के सूरसागर की कृष्ण कथा से तुलनात्मक अध्ययन कर इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया है।

हरिवंश पुराण और सूरसागर दोनों ही कृष्ण-काव्य-माला के वरेण्य रत्न हैं। आचार्य जिनसेन ने कृष्ण कथा के बहाने जैन दर्शन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया, तो सूर के

आराध्य देव ही श्री कृष्ण हैं। जिनसेन का प्रधान उद्देश्य है—धर्म की भाव-भूमि पर भारतीय मनीषा का विस्तृत अध्ययन तो सूर का मानवीय धरातल पर श्री कृष्ण की जीवन लीलाओं को उद्घाटित करना। जिनसेनाचार्य का धर्म-दर्शन तथा सूर का भाव-बोध दोनों ही संसार के कल्याणार्थ जिनदीक्षा तथा नर से नारायण की संकल्पना करते हैं। दोनों के मार्ग भिन्न हैं परन्तु लक्ष्य प्राय: समान। दोनों अपने काल और समाज की विडम्बनाओं को आलोकित करते हुए इस युग को एक नवीन दिशा देना चाहते हैं। अत: इन दोनों महान् ग्रन्थों के विषय के अनुशीलन की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ एवं इस शोध प्रबन्ध की आधारशिला रखी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण एवं सूरसागर में श्री कृष्ण** (तुलनात्मक अध्ययन) को सात परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में हरिवंशपुराण और सूरसागर के तुलनात्मक अध्ययन से पूर्व कृष्ण-काव्य-परम्परा पर विस्तार पूर्वक दृष्टिपात किया गया है। इस प्रकरण में जैन परम्परा में आगम साहित्य से तथा वैष्णव परम्परा में वेदों से लगाकर अद्यावधि काल तक कृष्ण-काव्य-परम्परा को व्यापक रूप से विश्लेषित किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य तथा सूरसागर के प्रणेता सूरदास के व्यक्तित्व व कृतित्व को निरूपित किया गया है। कृति के तृतीय अध्याय का विशेष महत्त्व है, जिसमें दोनों ग्रन्थों के विषय **कृष्ण चरित्र** का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। हरिवंश पुराण के कृष्ण कथात्मक भव्य प्रसंग अजैन पाठकों में जिज्ञासा उत्पन्न कर उन्हें नवीन चिन्तन व शोध के लिए प्रेरित करते हैं। महत्त्व की दृष्टि से यह अध्याय प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का हृदय है।

शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में दोनों ग्रन्थों के आधार पर दोनों ही कवि-रत्नों की दार्शनिक विचारधारा का विस्तार पूर्वक अनुशीलन किया गया है। पाँचवा अध्याय काव्य सौष्ठव से सम्बन्धित है। इसमें दोनों ग्रन्थों की भाषा, शैली, छन्द व अलंकार के आधार पर कला पक्ष की समीक्षा की गई है। शोध प्रबन्ध का छठा अध्याय हरिवंशपुराण की नवीन उद्भावनाओं पर आधारित है, जिसमें जैन परम्परा के आधार पर कृष्ण चरित्र को अलग दृष्टिकोण से देखा गया है। प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में दोनों आलोच्य कृतियों का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव का सविस्तार विश्लेषण किया गया है।

जैन परम्परा में हरिवंशपुराण उपजीव्य कृति रही है। शताब्दियों से यह कृति कृष्ण चरित्र के सम्बन्ध में आज भी जैन साहित्य में मूलाधार रूप में स्वीकार की जाती है।

वस्तुत: देखा जाए तो विभिन्न युगों में, कालों में एक नहीं अनेक कृष्ण हुए हैं जिनके चरित्र व व्यक्तित्व का कालान्तर में एक ही कृष्ण में समन्वय हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा कृष्ण लीला के आख्यान आध्यात्मिक व प्रतीकात्मकता को सविशेष उजागर करते हैं। ऐतिहासिकता को लेकर यद्यपि इस पर स्वतंत्र शोध का द्वार खुला है

तथापि ब्रह्म, अवतारी, मानवोपम श्री कृष्ण का एक में अनेक की व्यक्तित्व प्रभा से आलोकित प्रभा-रूप ही कवियों को ग्राह्य तथा मान्य रहा है।

आचार्य जिनसेन व सूरदास भिन्न-भिन्न परम्परा के कवि रहे हैं। उनकी भाषा व रचना काल अलग-अलग है परन्तु दोनों कवियों के वर्ण्य विषय में श्री कृष्ण चरित्र का मानवतावादी स्वरूप दिखाई देता है, वही इनकी सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण एवं सूरसागर में श्री कृष्ण** में दोनों ग्रन्थों का भारतीय संस्कृति में योगदान व उनकी साहित्यिक व सांस्कृतिक महत्ता को उजागर कर जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास है।

यह शोध कार्य डॉ. हरीश गजानन शुक्ल (निवृत प्राचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष, आर्ट्स एण्ड सायन्स कॉलेज, पाटण (उत्तर गुजरात) की प्रेरणा, सतत प्रोत्साहन, सफल मार्गदर्शन का परिणाम है। उनके आत्मिक स्नेह व मार्गदर्शन के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। डॉ. कपूरचंद जैन, निदेशक के.के. डिग्री कॉलेज खतौली (उत्तर प्रदेश), अध्यक्ष सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर, डॉ. गुलाबचंद जैन, प्रकाशन अधिकारी भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, कानजीभाई पटेल, प्राचार्य आर्ट्स एवं सायन्स कॉलेज पाटण, विनीत गोस्वामी, हिन्दी विभागाध्यक्ष आर्ट्स एण्ड सायन्स कॉलेज पिलवई (उत्तर गुजरात), मुनीश्री कीर्तिविजय जी एवं मित्र श्री डॉ. हुसैन खाँ शेख, श्री कल्याण सिंह चौहान, प्रवीण पण्डया का मैं आभारी हूँ जिनके सौजन्यपूर्ण सहयोग एवं प्रेरणा से मैं सदैव लाभान्वित रहा हूँ।

पूज्य पिताजी श्री चतुरदास जी वैष्णव एवं अग्रज श्री नत्थुराम जी वैष्णव की असीम अनुकम्पा को आभार जैसे औपचारिक शब्दों का प्रयोग कर मैं घटाना नहीं चाहता। अनुज मानदास वैष्णव के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता, जिसने इस शोध प्रबन्ध को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में मेरी मदद की। अंत में मैं उन सभी महर्षियों एवं विद्वानों के प्रति अपनी श्रद्धांजली समर्पित करता हूँ जिनके साहित्य को मैंने इस ग्रन्थ में नि:संकोच भाव से उपयोग किया है।

यह ग्रन्थ श्री **प्रकाशचन्द्र बोथरा,** पूर्व अध्यक्ष खरतरगच्छ संघ सांचौर एवं प्राकृत भारती अकादमी जयपुर के निदेशक, **साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय विनयसागरजी** के सहयोग से प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में है, अत: मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरा यह लघु प्रयास कृष्ण काव्य परम्परा की नवीन दिशाएँ प्रस्तुत करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

—डॉ. उदाराम वैष्णव
प्राध्यापक (हिन्दी)
रा.उ.मा.वि. सांचौर (राज.)

शुभाशंसा

भारतीय साहित्य में श्री कृष्ण के चरित्र, अलौकिक व्यक्तित्व और लीलाओं का वर्णन पुरातन काल से होता आया है। उनकी लीलाओं एवं उपदेशों का गहरा प्रभाव जन जीवन कला एवं साहित्य में स्पष्टत: देखा जा सकता है। उनका विराट व्यक्तित्व समस्त भारतीय साहित्य पर छाया हुआ है। भारतीय वाङ्मय में वेदों से लेकर अद्यावधि तक इनके विराट व्यक्तित्व ने भारत के आध्यात्मिक एवं भौतिक क्षेत्रों को समान रूप से आवृत कर रखा है। विभिन्न भारतीय भाषाओं, धार्मिक सम्प्रदायों, परम्पराओं में श्री कृष्ण साहित्य सशक्त प्रेरणा का स्रोत रहा है। यही कारण है कि ब्राह्मण परम्परा की भाँति जैन परम्परा के भी अनेक ग्रंथों में कृष्ण चरित्र का निरूपण हुआ है।

संस्कृत साहित्य-परम्परा में रचित ''हरिवंश पुराण'' जैन मुनि जैनाचार्य श्री जिनसेन की श्री कृष्ण चरित्र पर आधारित अमर कृति है। इसमें श्री कृष्ण का अमानवीय घटनाओं का बौद्धिक विश्लेषण कर आदर्श मानवीय मूल्यों की गवेषणा, श्री कृष्ण को जन-नायक के रूप में प्रकट करना तथा जैन दर्शन के प्रति लोगों की आस्था पैदा करना रचनाकार का मूल लक्ष्य रहा है। इधर 'सूरसागर' भारतीय सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक व मध्यकालीन कृष्ण काव्य की एक असाधारण एवं विशिष्ट उपलब्धि है। ये दोनों ही ग्रंथ अपनी धर्म-दर्शना तथा भाव बोध की दृष्टि से जन-कल्याणार्थ जिन-दीक्षा तथा नर से नारायण बनाने की संकल्पना में अप्रतिम हैं। दोनों के मार्ग अलग-अलग हो सकते हैं, लक्ष्य समान है। धर्म की भाव-भूमि पर दोनों पृथक् हो सकते हैं, संस्कृति, भाषा एवं विचार के स्तर पर भारतीय मनीषा के अभिन्न अंग हैं।

आज का कृष्ण चरित्र एकाधिक कृष्ण नामधारी महापुरुषों का समन्वित रूप है। इतिहास और कल्पना के आधार पर हुए इस समन्वय में ऐतिहासिक श्री कृष्ण के सत्य जीवन चरित्र को खोज पाना असम्भव सा हो गया है। यही कारण है कि आज के जन-जीवन में मानवीय मूल्यों का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। वस्तुत: साहित्यकार लोकनायक के माध्यम से ही शाश्वत जीवन-मूल्यों को समाज तक पहुँचाने का सफल प्रयास करता है। आचार्य जिनसेन एवं महात्मा सूरदास; दोनों ही भिन्न-भिन्न परम्परा के कवि हैं, उनकी भाषा एवं रचनाकाल भी अलग-अलग है; फिर भी दोनों कवियों के वर्ण्य-विषय में कृष्ण चरित्र के मानवतावादी स्वरूप को उजागर करना शोधार्थी का मूल अभिप्रेत है। साथ ही संस्कृत साहित्य के उदात्त गुणों से अलंकृत ''हरिवंश पुराण'' ग्रंथ रत्न का

उपेक्षित रहना तथा इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव को देख, इस क्षतिपूर्ति के लिए डॉ. उदाराम वैष्णव की पुरुषार्थ प्रेरणा श्लाघनीय है।

डॉ. उदाराम वैष्णव अपनी विनम्रता, सरलता एवं सादगी के साथ अध्यवसायी, प्रतिभा सम्पन्न, निष्ठावान विद्यार्थी रहे हैं। साथ ही एक निष्ठासम्पन्न सफल अध्यापक के रूप में इनका परिचय एवं व्यक्तित्व अनन्यतम है। स्वाध्यायशील स्वभाव के कारण इनका शोधकार्य भी उतना ही प्रांजल एवं गरिमा से युक्त बन गया है। उन्होंने मेरे निर्देशन में उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटन की पी-एच.डी. उपाधि ''**जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण और सूरसागर में श्री कृष्ण**'' (एक तुलनात्मक अध्ययन) विषय पर बड़े सम्मान के साथ प्राप्त की है। यह शोध ग्रंथ आज जब लोक हितार्थ प्रकाशित हो रहा है तो मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाओं एवं बधाई के साथ अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। अपने विद्यार्थियों का संतोष और सफलता ही अध्यापक की धन शक्ति है, यही गुरु-दक्षिणा है।

डॉ. उदाराम वैष्णव का विषय मौलिक, उपादेय एवं प्रासंगिक भी उतना ही है। शोधार्थी का सामग्री विभाजन ऐतिहासिक है तथा प्रतिपादन शैली सरल, सुस्पष्ट एवं सशक्त है। अनेक मौलिक स्थापनाएँ; अनुसंधान की नई दिशाओं की ओर भी संकेत करती हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध को सात परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। आलोच्य कृतियों के काव्योत्कर्ष पर तटस्थ, वैज्ञानिक तथा तथ्य संकलन-परक दृष्टि एवं अध्ययन परक निष्कर्ष प्रशंसनीय है।

संक्षेप में प्रस्तुत शोध प्रबंध दो भिन्न परम्परा के कवियों की श्री कृष्ण विषयक अवधारणा तथा सांस्कृतिक चेतना का सूक्ष्म एवं गरिमायुक्त अनुशीलन है, जो प्रामाणिक, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि सम्पन्न है। प्रेम, शांति, पवित्रता से परिपूर्ण सम्पूर्ण सुख के आशावाद का सूर्योदय हो—इसी शुभ भावना के साथ इस सशक्त, मौलिक प्रस्थापनाओं का हस्ताक्षर रूप इस प्रबंध का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। शोध की नई संभावनाओं के द्वार खोलने वाले तथा शोध गुणों से अलंकृत यह प्रबंध साहित्यिक-आध्यात्मिक परम्परा के साथ जन-मानस में तथा विद्वज्जनों में एक विशेष अवदान के साथ समादृत होगा।

पुनः हार्दिक शुभकामनाओं एवं बधाई के साथ।

17, शालीन बंगलोज
गुलाब टॉवर, थलतेज
अहमदाबाद-54
दूरभाष : 7430115

डॉ. हरीश गजानन 'शुक्ल'
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
आर्ट्स कॉलेज (उत्तर गुजरात, विश्व विद्यालय)
पाटन (उत्तर गुजरात)

प्रस्तुति

भगवान् श्री कृष्ण जगत की वह अनुपम मशाल थी, जिसके प्रकाश में जनता ने व्यावहारिक जीवन की कलाओं का बोध प्राप्त किया।

श्री कृष्ण के विषय में जनता की यह मान्यता रही है कि वे हिन्दुओं के, हिन्दु धर्म के ईश्वर हैं। जैन दर्शन या धर्म का इनसे कोई संबंध नहीं है।

लेकिन यह मान्यता भ्रम से भरी हुई है। श्री कृष्ण के संबंध में जैन वाङ्मय में प्रचुर इतिवृत्त उपलब्ध होता है।

भगवान् श्री नेमिनाथ के चचेरे भाई थे—श्री कृष्ण। अतः श्री कृष्ण का जहाँ-जहाँ भी वर्णन आया, वहाँ तीर्थंकर नेमिनाथ का नाम आना अत्यन्त प्रासंगिक ही था।

इस संबंध में खरतरगच्छाचार्य श्री जिनकीर्तिरत्नसूरि रचित **नेमिनाथ महाकाव्यम्** द्रष्टव्य है, जिसमें श्री कृष्ण के जीवन की महिमा का भी प्रचुर वर्णन हुआ है।

प्रस्तुत शोध निबन्ध जैन शास्त्र "हरिवंश पुराण व सूरसागर में वर्णित श्री कृष्ण" के स्वरूप की तुलनात्मक विवेचना है।

वस्तुतः धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना में जो थोड़ा बहुत पृथक्त्व नजर आता है, उसके अलावा श्री कृष्ण चरित्र के संबंध में कोई विशेष मतभेद नजर नहीं आता।

वास्तव में दीर्घ दृष्टि से उदारवादी, विशाल चिंतनपूर्ण मस्तिष्क के झरोखे से देखा जाय तो सार यही निकलता है कि सारे धर्मों का शुद्ध लक्ष्य सर्वगुणसम्पन्न, सर्वदुःखरहित, आधि-उपाधि विहीन, अखंड आनन्द युक्त मोक्ष को प्राप्त करना है। इस लक्ष्य का साधन है—मानवता के गुणों की पराकाष्ठा।

जब तक मानवीय गुणों की आभा व्यवहार और आचरण में प्रतिबिम्बित नहीं होगी, तब तक मोक्ष की कल्पना कोरी कल्पना रह जायेगी, यथार्थ नहीं बन सकती। मानवीय गुणों को पुरस्कृत करना, यह हर महापुरुष का संदेश रहा है। वे स्वयं अपनी जीवन प्रक्रिया को इसी आचार निष्ठा में तपाते हैं, तभी वे उदाहरण और प्रतीक बनकर पथ-प्रदर्शक बनते हैं।

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण के इसी गुण को प्रखरता से प्रकट किया गया है तो सूरसागर के श्री कृष्ण का वर्णन भी मानवीय धरातल से ईश्वरीय क्षमता की अनमोल अवधारणा से जुड़ा हुआ है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लेखक उदाराम वैष्णव ने अपनी तीक्ष्ण/सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय देते हुए बड़ी ही खूबी के साथ दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अभ्यास प्रस्तुत किया है। इन्होंने इस प्रबन्ध में मात्र सत्य को छुआ है। सांप्रदायिक अभिनिवेश के कारण कहीं भी विषयवस्तु के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की गई है। यह इस शोध प्रबन्ध की निष्पक्षता व उसके पूर्ण परिशीलन का परिचायक है। मैं कामना करता हूँ कि इस नवनीत का लाभ उठायें और श्री कृष्ण के उपदेश में से अपने जीवन-व्यवहार को विशुद्धि के धरातल पर चलाकर यात्रा के लक्ष्य-धाम पहुँचायें।

मैं श्री वैष्णव को अपना आशीर्वाद देते हुए यह कामना करूँगा कि वे इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययनों में और जुटें, ताकि भारतीय अस्मिता का निष्पक्ष व सर्वधर्मसमन्वयकारी व्यक्तित्व उभरे।

कुशल भवन
सांचोर

गणिवर्य मणिप्रभसागर

दो शब्द

साहित्य समाज का दर्पण है। **डॉ. उदाराम वैष्णव** साहित्यकार, समाजसेवी तथा संत प्रकृति के व्यक्ति हैं। अध्यात्म प्रेमी डॉ. उदाराम वैष्णव विभिन्न समाज सेवी संस्थाओं से जुड़े हुए हैं तथा गौ सेवा, विकलांग तथा आरोग्य सेवाओं से जुड़कर महत्ती मानव सेवा सम्पादित कर रहे हैं। साहित्य तथा समाज सेवा के आयोजनों के संचालन में इनकी भूमिका प्रशंसनीय है। कुमार साहित्य परिषद् द्वारा हिन्दी सेवा के साथ ही **वैदिक प्रचार-प्रसार समिति 'सत्यपुर'** द्वारा संस्कृत तथा संस्कृति सेवा भी श्लाघनीय हैं।

डॉ. वैष्णव ने **जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण और सूरसागर में श्री कृष्ण** (तुलनात्मक अध्ययन) शोध ग्रन्थ द्वारा साहित्य सागर में एक और मोती युक्त कर दिया है। इस शोध कार्य से न केवल हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि हुई है, अपितु जैन धर्म और हिन्दू धर्म के दार्शनिक एवं ऐतिहासिक तत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन से इनमें निहित सनातन एकता का भी निदर्शन हुआ है।

यह ग्रन्थ साहित्य प्रेमियों, अध्यात्म पथ पथिकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा साथ ही इस विषय के **अनुसन्धित्सु** वर्ग के लिए दिशा निदर्शन का कार्य भी करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

डॉ. हुसैन खाँ "शेख"
प्रधानाध्यापक (आर.ई.एस.)
बेहलिमों का वास, सांचौर

विषय-सूची

प्रथम-परिच्छेद : श्री कृष्ण काव्य परम्परा १-६४

प्रस्तावना : श्री कृष्ण का सार्वभौम व्यक्तित्व [१]; 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति [४]; वेदों में श्रीकृष्ण [५]; उपनिषदों में श्रीकृष्ण [८]; महाभारत में श्रीकृष्ण [९]; पुराणों में श्रीकृष्ण [१३]; कृष्ण और क्राइस्ट [१८]; आभीरों के बालकृष्ण [२०]; संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण [२२]; कृष्ण भक्ति उद्‌भव और विकास [२५]; हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य [३०]; वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि [३०]; राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण भक्त कवि [३५]; गौडीय सम्प्रदाय के कृष्ण भक्त कवि [४०]; सम्प्रदाय निरपेक्ष कृष्ण भक्त कवि [४२]; प्रबन्धात्मक एवं मुक्तक शैली में रचित कृष्ण काव्य [४५]; अवधी कृष्ण काव्य [४९]; आधुनिक काल में कृष्ण काव्य [५०]; जैन साहित्य परम्परा में श्रीकृष्ण [५३]; आगम साहित्य में श्रीकृष्ण [५३]; आगमेतर साहित्य में श्रीकृष्ण [५४]।

द्वितीय-परिच्छेद : जिनसेनाचार्य एवं सूरदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ६५-११६

(क) जिनसेनाचार्य एवं हरिवंशपुराण ६५-८४

प्रस्तावना : आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व [६५]; पुन्नाट संघ [६७]; दिगम्बर सम्प्रदाय और हरिवंशपुराण [६८]; हरिवंश के जिनसेन आदिपुराण के रचयिता से भिन्न [६८]; हरिवंशपुराण का रचना काल [६९]; तत्कालीन राजाओं का वर्णन [७१]; काठियावाड़ के बढ़वाण में पुन्नाट संघ [७३]; जिनसेन द्वारा निर्दिष्ट पूर्ववर्ती विद्वान [७४]; जिनसेनाचार्य की गुरु-परम्परा [७९]; हरिवंशपुराण का मूलाधार [८०]; जिनसेनाचार्य की प्रमाणिक कृति : हरिवंशपुराण [८१]; हरिवंशपुराण मुद्रण और प्रकाशन [८४]।

(ख) महाकवि सूरदास एवं सूरसागर ८५-१०३

सूरदास जीवनवृत्त [८५]; सूरदास नाम एक, व्यक्ति अनेक [८५]; वंश परिचय [८६]; जन्म तिथि-विद्वानों में मतभेद [८७]; जन्म स्थान [८९]; सूर का अन्धत्व [९०]; सूर

का बचपन [९२]; दीक्षा [९३]; अष्टछाप की स्थापना [९४]; सूर की रचनाएँ [९८]; वर्ण्य विषय, मुद्रण एवं प्रकाशन [१०३]।

तृतीय-परिच्छेद : हरिवंशपुराण और सूरसागर की कथावस्तु ११७-२०७

खण्ड-प्रथम [कृष्ण-चरित्र का पूर्वार्द्ध]

प्रस्तावना [११७]; श्रीकृष्ण की जन्म लीला [११९]; बाल-क्रीड़ा [१२१]; श्रीकृष्ण का चन्द्र प्रस्ताव [१२३]; श्रीकृष्ण के लोकोत्तर पराक्रम [१२४]; (क) पूतना वध [१२४]; (ख) कागासूर वध [१२५]; (ग) शकट भंजन [१२६]; (घ) तृणावृत वध व अन्य असुरादि वध [१२७]; ऊखल-बन्धन एवं यमलार्जुन उद्धार [१२८]; गोचारण प्रसंग [१३०]; कालियनाग-दमन [१३२]; गोवर्धन धारण [१३४]; श्रीकृष्ण द्वारा दावानल-पान [१३६]; श्रीकृष्ण की रसिक लीलाएँ [१३७]; (क) रास लीला [१३८]; (ख) पनघट लीला [१४२]; (ग) दान लीला [१४५]; (घ) हिंडोला [१४९]; (ङ) चीरहरण लीला [१५०]; (च) वसन्त लीला [१५२]; अक्रूर का ब्रजगमन [१५३]; रजत वृतान्त [१५५]; कुवलयापीड़-वध [१५६]; चाणूर तथा मुष्टिक वध [१५७]; कंस वध [१५८]।

खण्ड-द्वितीय [कृष्ण चरित्र का उत्तरार्द्ध]

श्रीकृष्ण द्वारा उग्रसेन का राज्याभिषेक [१५९]; नन्द का ब्रज लौटना [१६०]; उद्धव की ब्रज यात्रा [१६१]; कालयवन वध [१६३]; श्रीकृष्ण का द्वारका गमन [१६५]; श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणीहरण [१६७]; श्रीकृष्ण के अन्य विवाह [१७१]; प्रद्युम्न जन्म और विवाह [१७५]; शिशुपाल वध [१७७]; सुदामा पर श्रीकृष्ण की कृपा [१८१]; श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवों को सहायता [१८४]; जरासंध वध [१९०]; श्रीकृष्ण का नारायण स्वरूप [१९२]; यादवों का विनाश [१९५]; श्रीकृष्ण का परमधाम गमन [१९८]; उपसंहार [२००]।

चतुर्थ-परिच्छेद : हरिवंशपुराण और सूरसागर में दर्शन २०८-२५५

प्रस्तावना : जैन धर्म [२०८]; सम्यक् दर्शन [२०९]; सम्यक् ज्ञान [२१०]; सम्यक् *चारित्र [२१२]; जीव और आत्मा [२१४]; माया और बन्ध [२१८]; मोक्ष [२२३];* अवतारवाद [२३१]; पाप-पुण्य और कर्म [२३४]; पुनर्जन्म [२३७]; सूरसागर और रास [२४०]; हरिवंशपुराण और स्याद्वाद [२४६]; निष्कर्ष [२४९]।

पंचम-परिच्छेद : हरिवंशपुराण और सूरसागर का कलापक्ष २५६-३२३

प्रस्तावना : रसविधान [२५६]; वात्सल्य-रस [२५७]; शृंगार-रस [२६०]; हास्यरस [२६३]; करूण-रस [२६४]; रौद्र-रस [२६६]; वीर-रस [२६७]; भयानक-रस [२६८]; बीभत्स-रस [२६९]; अद्‌भुत-रस [२६९]; शान्त-रस [२७०]; भक्ति [२७१]; छन्द-विधान [२७१]; हरिवंशपुराण में प्रयुक्त छन्द [२७१]; सूरसागर में प्रयुक्त छन्द एवं पद्धतियाँ [२७७]; (क) दोहा-पद्धति [२७८]; (ख) छप्पय-पद्धति [२७८]; (ग) दण्डक-पद्धति [२७९]; (घ) चौपाई-पद्धति [२७९]; अलंकार-विधान [२८२]; (क) शब्दालंकार [२८३]; (ख) अर्थालंकार [२८७]; हरिवंशपुराण का वर्णन-कौशल [२९४]; प्रकृति वर्णन [२९४]; नारी सौन्दर्य वर्णन [२९६]; सूरसागर का वर्णन-कौशल [२९७]; हरिवंशपुराण और सूरसागर का काव्यरूप [२९९]; भाषा [३०६]; हरिवंशपुराण की भाषा [३०६]; सूरसागर की भाषा [३०८]; सूक्तियाँ एवं मुहावरे-(क) हरिवंशस्य सूक्तयः [३११]; (ख) सूरसागर में प्रयुक्त मुहावरे व लोकोक्तियाँ [३१६]।

षष्ठ-परिच्छेद : हरिवंशपुराण में श्रीकृष्ण सम्बन्धी नवीन उद्‌भावनाएँ ३२४-३५३

प्रस्तावना : जैन साहित्य में कृष्ण कथा एवं हरिवंशपुराण [३२४]; श्रीकृष्ण की वंश परम्परा [३२५]; श्रीकृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि [३२७]; श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक राजपुरुष स्वरूप [३३२]; शलाकापुरुष श्रीकृष्ण [३३३]; श्रीकृष्ण के विवाह [३३६]; श्रीकृष्ण के सहोदर एवं गजसुकुमार [३३७]; श्रीकृष्ण के पुत्र [३४१]; द्रौपदीहरण एवं श्रीकृष्ण द्वारा उसे वापिस लाना [३४३]; श्रीकृष्ण का पाण्डवों पर कुपित होना [३४६]; श्रीकृष्ण की बहिन एवं दुर्गा [३४७]; महामुनि नारद-वृत्तान्त [३४८]; श्रीकृष्ण परिवार की जैन धर्म से दीक्षा [३४९]; निष्कर्ष [३५०]।

सप्तम-परिच्छेद : हरिवंशपुराण और सूरसागर का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव एवं उपसंहार ३५४-३८८

हरिवंशपुराण का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव-(क) संस्कृत-कृतियाँ [३५४]; (ख) अपभ्रंश-कृतियाँ [३५५]; (ग) हिन्दी-कृतियाँ [३५५]; जैन कृष्ण काव्य परम्परा में हरिवंशपुराण

का स्थान [३६०]; भारतीय संस्कृति को हरिवंशपुराण का योगदान [३६२]; सूरसागर का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव-(क) अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव [३६५]; (ख) रीतिकालीन काव्य [३६८]; (ग) आधुनिककालीन काव्य [३६९]; कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में सूरसागर का स्थान [३७१]; सूरसागर की प्रासंगिकता [३७३]; निष्कर्ष [३७५]; उपसंहार [३७६]।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी ग्रन्थ [३८५]; संस्कृत ग्रन्थ [३८६]; गुजराती व अंग्रेजी ग्रन्थ [३८८]; पत्र-पत्रिकाएँ [३८८]।

❑❑❑

१

श्री कृष्ण-काव्य-परम्परा

श्री कृष्ण का सार्वभौम व्यक्तित्व :-

भारतीय धर्मग्रन्थों में जिन महापुरुषों की चर्चा की गई है, उनमें राम और कृष्ण विशेष उल्लेखनीय हैं। राम राजा, मर्यादापुरुषोत्तम एवं प्रजापालक हैं इसलिए जनसाधारण की दृष्टि में वे आराध्य, पूज्य और श्रद्धा के पात्र हैं परन्तु इसके विपरीत श्री कृष्ण की यश-गाथा तो निराली है। उनकी पहचान स्वयं में एक अद्भुत भी है और अद्वितीय भी। फलस्वरूप आज भी श्री कृष्ण का व्यक्तित्व धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, जाति एवं क्षेत्र की परिसीमाओं का उल्लंघन कर राष्ट्रीय संस्कृति की धरोहर एवं अन्तर्राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया है।

आज श्री कृष्ण की सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में मत-वैभिन्य नहीं है। कृष्ण-चरित्र पूर्ण रूप से भारतीय जन-जीवन में विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह एक ऐसा दिव्य और ऐतिहासिक चरित्र रहा है जो कि आज अनेक समुदायों में, समाज में तथा संसार में स्वयं के सार्वभौमिक व्यक्तित्व के लिए नाना प्रकार की सीमाओं को लांघ कर हमारी उच्च सभ्यता और संस्कृति के समन्वय में सेतु का कार्य करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का पात्र बना है।

श्री कृष्ण आकर्षण की प्रतिमूर्ति और पूर्णता के रहस्यमय प्रतीक रहे हैं। वे योगी भी हैं एवं भोगी भी हैं तथा दोनों से ऊपर भी। श्री कृष्ण ने जीवन में राग की, प्रेम की, काम की, योग की, भोग की एवं ध्यान आदि की समस्त दिशाओं को एक साथ स्वीकार किया है।

श्री कृष्ण के जीवन का रहस्य उनकी चेतना के अद्भुत आनन्द में समाहित है। उनकी चेतना का आनन्द एक ऐसा आनन्द है, जहाँ सुख है परन्तु सुख का उल्लास नहीं, दु:ख है परन्तु दु:ख का विषाद नहीं। श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में एक प्रसार है, फैलाव है, उससे उनकी पूर्णता अनन्त है।

श्री कृष्ण के जीवन का एक-एक प्रसंग मनुष्य को सच्चा मार्गदर्शन प्रदान करता है अत: उनके जीवन में सूर्य की प्रखरता एवं चन्द्र की सौम्यता दृष्टिगोचर होती है। उनके जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिवेणी-संगम एवं बुद्धि, प्रेम और पराक्रम का अनूठा समन्वय दिखाई देता है।

श्री कृष्ण की इन्हीं महानताओं के कारण कई भक्तों ने अपने सम्पूर्ण जीवन को उनके प्रति न्यौछावर कर दिया। इतना ही नहीं, आज उनके प्रतीक-स्वरूप का दर्शन करने के लिए हजारों भक्त तड़पते, छटपटाते दिखाई देते हैं। यह चिन्तनीय प्रसंग है कि कौन-सी महानता थी उस आत्मा में? कन्याएँ, आज जिसके समतुल्य वर मिलने के संकल्पों को अपने मन में पाले रखती हैं, माताएँ श्री कृष्ण जैसा बच्चा प्राप्त करने की अपने इष्टदेव के समक्ष मनौती रखती हैं और युवक ऐसी ही अद्भुत एवं वफादार, हर परिस्थिति में साथ देने वाले मित्र का साथ मिलने की आशाओं-आकांक्षाओं को अपने मन में संजोये हुए हैं। इस वृत्तान्त से स्पष्ट होता है कि श्री कृष्ण एक महान्, गुणवान, महात्मा, कोई अद्भुत तेजस्वी एवं विलक्षण या असाधारण हस्ती का नाम था। यह बात सनातन सत्य है कि श्री कृष्ण सर्वगुण सम्पन्न और सोलह कलाओं से पूर्ण अवतार, निर्विकारी एवं मर्यादापुरुषोत्तम थे।

श्री कृष्ण-चरित्र बड़ा ही रहस्यमय एवं दर्शन की तरह गूढ़ रहा है। विभिन्न जनश्रुतियों—दार्शनिक-धार्मिक मान्यताओं, पौराणिक आख्यानों एवं कवि कल्पनाओं ने श्री कृष्ण चरित्र को एक ऐसा समन्वित स्वरूप प्रदान कर दिया है कि उनमें से ऐतिहासिक कृष्ण को ढूंढ़ना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य रहा है। दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं ने श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार तथा परब्रह्म के रूप में निरूपित किया है तो कवियों ने इन्हें रसनायक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

"सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में कृष्ण का चरित्र एक ऐसा चरित्र रहा है जो अपने विविधमुखी परम्परा, विरोधी व्यक्तित्व, लोकनायकत्व, सामाजिक-धार्मिक रूढ़ मान्यताओं का भंजक, घोर विलासी होते हुए भी योगिराज, राजनीति और कूटनीति के दक्ष प्रयोक्ता, असुर-संहारक, उद्भट्ट-चिंतक और युगद्रष्टा तथा भक्ति के सबसे ललित, आकर्षक एवं मोहक रूप का अधिकारी रहा है। श्री कृष्ण के इस प्रकार इतने विविधमुखी स्वरूप रहे हैं कि इन्हें एक ही व्यक्ति मानने में सहज ही विश्वास नहीं होता।"[१] इन विरोधों में भी श्री कृष्ण की पूर्णता का रहस्य छिपा है। वे जीवन को समग्र एवं सहजरूप से स्वीकार करते हैं। आचार्य रजनीश के अनुसार भी श्री कृष्ण पूर्ण हैं, शून्य हैं और अखण्डनीय हैं। श्री कृष्ण तो दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं निर्लिप्त हैं। जिस प्रकार दर्पण में हर व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है ठीक उसी तरह हर व्यक्ति अपना मनोवांछित कृष्ण रूप निहार सकता है। श्रीमद्भगवतगीता में श्री कृष्ण ने यही कहा है कि जो भक्त मुझे जिस रूप में भजता है, मैं उसे उसी रूप में प्राप्त होता हूँ।

श्री कृष्ण अपने विशिष्ट गुणों से युक्त होने के बावजूद भी वे जनसाधारण के बीच में रहते हैं और उनके समान आचरण करते हैं। वे जनसाधारण के मित्रवत् हैं जिन्हें भला-बुरा कहने में भक्त तनिक भी संकोच नहीं करते। इसलिए उनके जीवन-आदर्शों द्वारा जनता को प्रभावित करने का अत्यधिक सामर्थ्य रहा है।

वेदों में श्री कृष्ण को मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु महाभारतकार ने उन्हें राजनीति के कुशल संचालक और सर्वश्रेष्ठ योद्धा के रूप में प्रतिपादित किया है। भीष्मपितामह जैसे वयोवृद्ध श्री कृष्ण को युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति और भगवान् का अवतार घोषित करते हैं लेकिन यहीं कृष्ण बचपन में गोकुल में दूध-दही की चोरी करते फिरते हैं, किशोर-वय में राधा तथा गोपिकाओं के साथ रास-लीला में तल्लीन रहते हैं। फिर अत्याचारी कंस का वध करने एवं सम्पूर्ण राग से निर्लिप्त बन राजनीति का कुशल संचालन करने मथुरा चले जाते हैं। कई विद्वान् इनके तीनों रूपों को भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि कालान्तर में नाम साम्य होने के कारण कृष्ण के इन तीनों रूपों का एकीकरण हो गया।[२]

भारत की पावन भूमि पर जन्मे उस अद्भुत अथवा राष्ट्र के गौरवशाली इतिहास के धरोहर का एकमात्र आधार स्तम्भ, समस्त दिव्य गुणों से अलंकृत, दैवी-मर्यादाओं के उत्तम उदाहरण स्वरूप श्री कृष्ण को आरोपित करने के लिए अनेक अनर्गल और निरर्थक बातें बताई जाती हैं जो भारत की उच्चतम सुसभ्यता और गौरवमयी संस्कृति को दूषित और अभिशप्त करने में मदद रूप बनती हैं परन्तु सच्चे अर्थों में श्री कृष्ण का महान् चरित्र उनकी समझ से परे है। इसी से तो श्री कृष्ण के क्रियाकलापों को चरित्र न कहकर लीला कहा गया है। उनका जीवन एक अभिनय था, जिसे समझने के लिए विशेष चिन्तन-मनन और आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

हमारे पुरातन चिन्तकों ने श्री कृष्ण को एक कुशल प्रशासक, महान् योद्धा, निपुण सारथी तथा वफादार मित्र आदि की संज्ञा दी है। श्री कृष्ण में ये सभी गुण विद्यमान थे लेकिन समझ के लिए उनके जीवन की प्रत्येक लीला का एक सुन्दर, आध्यात्मिक अर्थ है। हमारे मनीषियों ने विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इन अर्थों की सुन्दर, विशद् व्याख्या भी की है। उदाहरण स्वरूप महान् योद्धा का आध्यात्मिक अर्थ है कि—"मानवीय भीषण, दुर्जेय-शत्रु, मायाजनित काम, क्रोध, मोह, अहंकार आदि बुराइयों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करना।" निपुण सारथी का अर्थ है कि—"स्वयं को शरीर-रथ से भिन्न आत्मा निश्चय कर मन, बुद्धि और संस्कार रूपी घोड़ों पर पूर्ण नियंत्रण करना।" इस स्पष्टीकरण के अनुसार श्री कृष्ण निःसंदेह एक महान् योद्धा और सारथी थे, क्योंकि ये आध्यात्मिक उपलब्धियाँ उनमें विद्यमान थी। इसी कारण उनकी यशः-पताका आज भी पूर्णमासी के चाँद की भाँति धवल है।

कृष्णचरित्र भारतीय वाङ्मय में वेदों से लगाकर अद्यावधि तक व्याप्त है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक-ग्रन्थों एवं नाना-पुराणों में श्री कृष्ण का विशद वर्णन उपलब्ध है। भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी इत्यादि आर्य एवं अनेक आर्येतर *भाषाओं में श्री कृष्ण का विशद निरूपण हुआ है। इस प्रकार साहित्य में प्राचीनकाल से* श्री कृष्ण-चरित्र वर्णन की एक विशाल परम्परा रही है।

श्री कृष्ण का चरित्र न केवल विभिन्न भाषाओं वरन् विभिन्न सम्प्रदायों का भी अतिक्रमण कर सर्वव्यापक बन गया है। वैष्णव परम्परा ही नहीं अपितु जैन एवं बौद्ध सम्प्रदायों में भी श्री कृष्ण के निरूपण की एक विशद परम्परा उपलब्ध होती है। यहाँ तक कि कई पाश्चात्य विद्वानों ने कृष्ण और क्राइस्ट की साम्यता सिद्ध करने का भी असफल प्रयास किया है। विगत दो सहस्राब्दियों से भी अधिक काल से इस विराट व्यक्तित्व द्वारा भारत के आध्यात्मिक और भौतिक, दोनों क्षेत्रों को समान रूप से आवृत करने के कारण यह चरित्र प्रत्येक सम्प्रदाय के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

जैन साहित्य में श्री कृष्ण चरित्र के वर्णन करने की एक विशाल परम्परा रही है। इस साहित्य परम्परा में ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जिनमें कृष्ण-वासुदेव का चरित्र वर्णन है, परन्तु श्री कृष्ण वासुदेव से सम्बन्धित यह परम्परागत साहित्य प्राय: जनसाधारण और अधिकांश के लिए आज भी अपरिचित है। जैन-परम्परा में श्री कृष्ण का एक विशिष्ट स्वरूप है। उन्होंने श्री कृष्ण को शलाकापुरुष वासुदेव के रूप में स्वीकार किया है। श्री कृष्ण के गोपीजनप्रियरूप रास क्रीड़ाओं के नायक एवं लोक पुरुषोत्तम के रूप से जैन साहित्य प्राय: अनभिज्ञ रहा है। जैनों के आगम एवं आगमेतर साहित्य से इस चरित्र वर्णन की परम्परा रही है। न केवल प्राकृत, पाली एवं संस्कृत वरन् हिन्दी तथा अन्य अनेक आधुनिक भाषाओं के जैन साहित्य में श्री कृष्ण-चरित्र का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है।

वैष्णव परम्परा में श्री कृष्ण देवाधिदेव, भगवान् के अवतार के रूप में निरूपित हुए हैं परन्तु जैन परम्परा में यह स्थिति भिन्न है। जैनों में अवतारवाद की अवधारणा नहीं होने से श्री कृष्ण न तो भगवान् के अवतार हैं और न ही स्वयं भगवान्। वे उन्हें एक महापुरुष (शलाकापुरुष) के रूप में स्वीकार करते हैं। जैन परम्परा के कृष्ण-चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन जिज्ञासुओं की तृप्ति का एक प्रधान साधन होगा।

"इस प्रकार जिस तरह देव नदी भागीरथी अनेक जलस्रोतों का एक अद्भुत संगम है, उसी तरह श्री कृष्ण चरित्र भी विभिन्न सम्प्रदायों, धार्मिक मान्यताओं एवं विभिन्न कृष्णनाम वाची महापुरुषों का एक समन्वित रूप है।"[३]

कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति :-

कृष्ण-चरित्र का वर्णन करते समय "कृष्ण" शब्द की व्युत्पत्ति समझना आवश्यक हो जाता है। "कृष्ण" शब्द के मूल में "कृष्" धातु है, जिसमें नक् प्रत्यय जुड़कर "कृष्ण" बना है, जिसका अर्थ होता है "कृषति मन:" अर्थात् मन को आकर्षित करने वाला। "कृष्" धातु सत्तावाचक और "ण" प्रत्यय आनन्दवाचक है। सत्ता और आनन्द का ऐक्य-भावरूप परब्रह्म कृष्ण कहलाता है।

श्रीमद् भगवद्-गीता की प्रस्तावना में विद्वान् श्री नारायणशास्त्री ने "कृष्ण" शब्द की व्याख्या बड़े ही सुन्दर ढंग से की है—

कर्षति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले इति कृष्णः।

अर्थात् प्रलयकाल में सब जीवों को जो अपने में लीन करे, उसका नाम कृष्ण है।

साधारणतया "कृष्ण" शब्द का अर्थ है—श्याम, गहरा, काला, नीला एवं एक वृक्ष का नाम। लेकिन संस्कृत-इंग्लिश-डिक्सनरी के लेखक एम.एम. विलियम ने कृष्ण शब्द का अर्थ लिखा है :—Name of the Poet of the R.V. desended from Agiras.

"कृष्ण" शब्द वैदिक युग से प्रचलित है। वैदिक साहित्य में अग्नि का नाम या विशेषण "कृष्णवर्त्मा" आता है, जिसका अर्थ है—अंधेरे पथ पर आगे बढ़ने वाला।[४] वेदों में कृष्ण नामक एक ऋषि का वर्णन है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ८५-८६-८७ तथा दशम मण्डल के ४२, ४३, ४४ सूक्तों के ऋषि का नाम कृष्ण है। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इन्हीं के नाम पर "काण्वायण" गोत्र चला था।[५] हो सकता है कि इस प्रचलित नाम का आधार ग्रहण कर वासुदेव ने अपने पुत्र का नाम कृष्ण रखा हो।

डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि गाथा या जातक टीकाकारों के मतानुसार "कृष्ण" एक गोत्र का नाम है।[६] यह गोत्र वशिष्ठ और पराशर गोत्र के अन्तर्गत आता है। यह गोत्र ब्राह्मणों का होने पर भी यज्ञ के समय क्षत्रिय अपने कर्मोदे-अनुष्ठान इस गोत्र में भी कर सकते थे। आश्वलायण सूत्र के अनुसार यज्ञ में क्षत्रिय का गोत्र उनके पुरोहित के गोत्र के अनुसार होता है। इसी में वासुदेव "कृष्णायक" गोत्र के हो गये।[७] इस प्रकार इन विद्वानों की सम्मतियों के अनुसार "काण्वायण" गोत्र से ही कृष्ण नाम की उत्पत्ति हुई।

वैष्णव परम्परा अनुसार "कृष्ण" शब्द में प्रयुक्त प्रत्येक ध्वनि का एक अलग ही अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार वे "परब्रह्म" के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

"कृष्ण" शब्द में ककार, ऋकार, षकार, णकार, अकार एवं विसर्ग निहित है। इसमें "ककार" ब्रह्मा का वाचक है। "ऋकार" अनन्त (शेष) का वाचक है। "षकार" शिव का वाचक है। "णकार" धर्म का वाचक है। "अकार" श्वेत द्वीप का वाचक है। इस प्रकार कृष्ण में समस्त तेजों की राशि का बीज-कारण है।[८]

वेदों में श्री कृष्ण :—

वेदों में श्री कृष्ण को अनेक नामों से उल्लेखित किया गया है। उनके मुख्य स्वरूप निम्न प्रकार से हैं :—

विष्णु रूप :—

साहित्य में कृष्ण के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, अगर उन गुणों के ऊपर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के विष्णु में भी इन्हीं गुणों

का बखान किया गया है। इस दृष्टि से अगर श्री कृष्ण को वैदिक विष्णु का ही रूप मान लिया जाए तो अत्युक्ति नहीं हो सकती।

''विष्णु'' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ प्रवेश या व्याप्ति है। ''विश्'' धातु निष्पन्न इस शब्द से सम्पूर्ण विश्व में व्यापकता का भाव व्यक्त होता है। वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने ''विष्णु का अर्थ व्यापनशील माना है जबकि पाश्चात्य विचारक ब्लूजाफिल्ड के अनुसार ''पृष्ठ पर होकर'' (on the back) अर्थ किया गया है। ''आप्टे'' ने इस शब्द की निष्पत्ति विश् धातु के प्रवेश मूलक अर्थ के कारण इसे विष्णु माना है।''[९]

विष्णु शब्द में ''वि'' का अर्थ मोक्ष भी बताया गया है। मोक्ष देने की योग्यता रखने वाला मोक्षदाता ही विष्णु है। वेदों में इन्द्र द्वारा वृक्ष और पाणिस से जलमोक्ष या वरुण द्वारा पाश मोक्ष का भी अर्थ लगाया जा सकता है।[१०] इस दृष्टि से विष्णु उपेन्द्र भी कहे जा सकते हैं और इनका प्रमुख गुण व्यापकता सिद्ध होता है।

विष्णु की इस व्यापकता का वर्णन ऋग्वेद के कई मन्त्रों में मिलता है। अपने पैरों से अखिल ब्रह्माण्ड माप लेने की विशेषता के कारण विष्णु एक महान् और व्यापक शक्ति के प्रतीक बनकर हमारे समक्ष आते हैं। आदिव्य भाव का बोधक बनकर उनके जिन तीन पदों की चर्चा है, उनमें दो का आधार पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष है, पर उनका तृतीय, परम पद अदृष्ट है।

तीन पदों में विष्णु ने ब्रह्माण्ड माप लिया।[११] उन्होंने वे तीन पद किये और ब्रह्माण्ड को लांघ गये।[१२] विष्णु के इन पदों की चर्चा पौराणिक साहित्य में भी मिलती है। वामनावतार का मूल स्रोत ही इसे मान सकते हैं परन्तु उपर्युक्त मन्त्र में ''गोपा'' शब्द का अर्थ गौवों का पालन करने से है। श्री कृष्ण का सम्बन्ध गायों से अधिक था। इससे यह प्रतीत होता है कि विष्णु के इन्हीं गुणों का वर्णन परवर्ती साहित्य में श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर होता है।

इन्द्र रूप :–

वेदों में इन्द्र का वर्णन भी ऐसा ही मिलता है जिसमें वर्तमान कृष्ण-चरित्र के प्राय: सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। इन्द्र के जन्म पर इन्द्र की माता यह प्रार्थना करती है कि वह उसे नारकीय स्थान में न रखने दे। इसके बाद गोवर्धन धारण, नाग नाथने एवं माखन चोरी आदि की कुछ घटनाएँ भी कुछ परिवर्तित रूप में इन्द्र के विषय में मिलती हैं। जैसे—जिसने हिलते हुए, यानि चंचल पर्वत से क्रीड़ा की।[१३] जिसने पर्वत को आकाश में पृथ्वी से ऊपर उठा लिया।[१४] जिसने सर्प को मारकर सर्पणशील नदी को मुक्त कर दिया।[१५] जो कालिय-नाग से यमुना मुक्ति का वर्णन है। इसके बाद कई मन्त्रों में सोम की चोरी का वर्णन भी मिलता है जो कृष्ण की माखन चोरी का बीज है। इस प्रकार कई मन्त्रों में श्री कृष्ण की समानता इन्द्र से की गई है।

श्री कृष्ण रूप :–

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि के रूप में श्री कृष्ण का उल्लेख मिलता है। वैदिक आख्यान के अनुसार नाग जाति के एक नेता "अदृणक" वर्ण में काला होने के कारण मरुत ऋषि द्वारा कृष्ण कहा गया है। वही बाद में लोकप्रिय होने के कारण मूल पुरुषों में गिना जाने लगा। ऋग्वेद के अष्टम मण्डलानुसार कृष्ण आंगिरस ऋषि हैं। ये अश्विनी-कुमारों को यज्ञ में सोमपान के लिए आमंत्रित करते हुए उनसे ऐश्वर्य की कामना कर रहे हैं।[१६]

आंगिरस का वैदिक मन्त्रों के रचयिताओं में प्रमुख स्थान था। वैदिक युग में ये आंगिरस-गोत्रीय मन्त्र गायक कवि कहलाते थ। कवि रचित विस्तृत गान को मेधा और प्रतिभा के बल पर ढूँढ़कर संकलित करने के कारण ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाए। गायक, रचनाकार कवि और उसके संकलन कर्ता द्रष्टा ऋषि थे।[१७]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ४२ सूक्त के तृतीय अध्याय में कृष्ण-आंगिरस तीन ऋचाओं में अश्विनी कुमारों की स्तुति कर रहे हैं तथा इसी मंडल के चतुर्थ अध्याय की ग्यारह ऋचाओं में वे धन, बल, गुण इत्यादि की कामना करते हैं एवं इन्द्र की स्तुति करते हैं।[१८] इस प्रकार वेदों में श्रीकृष्ण आंगिरस ऋषि के रूप में उल्लेखित हुए हैं। श्री कृष्ण की लीलाओं के सम्बन्धित अनेक शब्दों का वर्णन भी वेदों में मिलता है। राधा[१९], गौ[२०], बृज[२१], वृभभानु[२२], रोहिणी[२३], अर्जुन[२४] आदि शब्द इसी प्रकार के हैं परन्तु वैदिक व्याख्याओ में इन सब तत्कालीन शब्दों का अर्थ दूसरा था। गोप का अर्थ किरण है और 'ब्रज' किरणों का स्थान द्यौ है। "कृष्ण" रात्रि, "अर्जुन" दिन, "वृष्ण" बलराम अर्थ को व्यक्त करता है। प्रारम्भ में वैदिक व्याख्याओं में यही अर्थ था, परन्तु शब्दों के सतत प्रयोग एवं अर्थ परिवर्तन के कारण इनका सम्बन्ध श्री कृष्ण की लीलाओं से जोड़ दिया गया है। इस सम्बन्ध में मनु का विचार है कि सभी नामों एवं कर्मों का निर्माण वेदों से ही हुआ है।[२५] डॉ० हरवंशलाल शर्मा के अनुसार "इन मन्त्रों में जो नाम आये हैं उनका यद्यपि गोपाल कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण से जोड़ दिया है उसी प्रकार इन सभी नामों का उपयोग पौराणिक युग के कृष्ण के लिए कर दिया है।"[२६]

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने भी इसी विचार का पूर्ण रूप से समर्थन करते हुए कहा है कि इस प्रकार वेदों में जो राधा, विष्णु, कृष्ण आदि के नाम आये हैं वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के एवं पदार्थों के नाम वेद के शब्द को देखकर रखे गये हैं।[२७] अत: स्पष्ट है कि इन शब्दों का प्रयोग अवतारों के लिए होने लगा।

ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद में भी "कृष्ण-केसी" नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा का उल्लेख मिलता है। वेदों में जो कृष्ण विष्णु और इन्द्र के रूप में

निरूपित हुए हैं, उनकी सम्मति श्रीमद् भगवद् गीता में भी मिलती है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि मैं आदित्यों में विष्णु और देवताओं में इन्द्र हूँ।[२८] इससे स्पष्ट है कि विष्णु ही आदित्य और इन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। एक अन्य स्थल में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि मैं वेदों में सामवेद एवं देवताओं में इन्द्र हूँ।[२९]

उपर्युक्त प्रकार से वेदों में श्री कृष्ण को मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु विष्णु और इन्द्र भी श्री कृष्ण के पर्याय रूप में ही वर्णित हुए हैं।

उपनिषदों में श्री कृष्ण

विष्णु रूप :–

वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों, आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु रूप का क्रमिक विकास दिखाई देता है। "कठोपनिषद्" में विष्णु के परमपद की प्राप्ति ही जीवन का ध्येय कहा गया है। "मंत्रेय" में विष्णु को अन्नरूप में पोषक कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को व्यापक रूप में स्वीकार किया गया है। यह विष्णु ब्रह्म की भाँति कल्पनातीत है। शतपथ में ही विष्णु के अन्य अवतार मत्स्य, कूर्म, वाराह और वामन आदि का वर्णन है। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु को नृसिंह कहा गया है। नृसिंह बावनी में इसी नाम की चर्चा है। गोपनी में भी विष्णु के दिव्य रूप का वर्णन उपलब्ध है।

भोला उपनामी एक विद्वान् ने अपनी पुस्तक श्रुतिरत्नावली में वेदों और उपनिषदों के चुने हुए मन्त्रों का संग्रह किया है, जिसमें कृष्ण विषयक मन्त्र भी हैं। इन मन्त्रों में गोप, गोपी, वेणु, नाद आदि का वर्णन मिलता है।[३०]

इस प्रकार उपनिषदों में विष्णु ही राम, कृष्ण, नृसिंह और नारायण के रूप में विख्यात हुए। परन्तु क्रमशः विष्णु का स्वरूप नारायण में परिवर्तित होने लगा। नारायण स्वरूप की उपनिषदों में विशद व्याख्या है।

नारायण रूप :–

चराचर व्याप्त विष्णु की व्यापकता के आकर्षण से ही वैष्णव सम्प्रदाय ने इनके नारायण रूप को ग्रहण किया। ऋग्वेद की १०/२५/५ ऋचाओं में भी नारायण का संकेत है। नर के अयन का अन्तिम लक्ष्य नारायण कहे गये हैं। मनुस्मृति में नारायण शब्द की व्याख्या की गई है कि नर का अयन होने से इसे नारायण कहा गया है। "तैत्तिरीय आरण्यक" के मत से नारायण ही वासुदेव हैं।[३१] इसी आरण्यक में वासुदेव श्री कृष्ण का भी वर्णन है। "वृहदारण्यकोपनिषद्" में विष्णु को हरि कहा गया है और वासुदेव तथा हरि से नारायण का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण की एक कथानुसार नारायण ने एक बार स्वयं यज्ञ स्थान पर निवास कर वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को कहीं अन्यत्र भेज दिया और यज्ञ सम्पादित कर के स्वयं सर्वव्यापी बन गये।

उपर्युक्त प्रकार से उपनिषदों में नारायण परमात्मा के अवबोधक बन गये एवं विष्णु के समानार्थ बन कर परम देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। विष्णु का यही नारायण रूप विकास पाकर परवर्ती साहित्य में "कृष्ण" के रूप में दिखाई पड़ा।

श्री कृष्ण रूप :–

नारायण रूप की भाँति उपनिषदों में कृष्ण-रूप निरूपित हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र श्री कृष्ण कथा का वर्णन है। यहाँ श्री कृष्ण घोर-आंगिरस के शिष्य और देवकी के पुत्र माने गये हैं। इसमें आंगिरस द्वारा अपने शिष्य श्री कृष्ण को यज्ञ शास्त्र का उपदेश सुनाने की कथा आती है। "कौशीतकी" ब्राह्मण में भी श्री कृष्ण के गुरु घोर-आंगिरस की चर्चा है।[३२] इन सभी नामों से एक ही व्यक्ति की व्यंजना होती है। ऐतरेय आरण्यक में कृष्ण हारीत नामक महर्षि का उल्लेख है, जिन्होंने अपने पुत्रों को वाणी रूपी संहिता की उपासना का उपदेश दिया है।[३३] इसके अलावा तैत्तिरीय आरण्यक में भी श्री कृष्ण के देवत्व का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनानुसार यह स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में किसी न किसी रूप में श्री कृष्ण का उल्लेख अवश्य मिलता है। गहनता से देखने पर वैदिक साहित्य के "कृष्ण-व्यक्तित्व" का क्रमिक विकास होता दिख पड़ता है। लेकिन जहाँ तक सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र के व्यवस्थित चित्रण का प्रश्न है, वह वेदों एवं उपनिषदों में हमें प्राप्त नहीं होता।

महाभारत में श्री कृष्ण :–

वैदिक ग्रन्थों के पश्चात् श्री कृष्ण का विस्तृत वर्णन महाभारत में मिलता है। इसमें कृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। श्री कृष्ण विष्णु के अवतार एवं विराट पुरुष हैं। श्री कृष्ण के पूर्व प्रचलित समस्त नामों का समन्वय करने का सुन्दर प्रयास इसी ग्रन्थ से होता है। इस काल में भागवत धर्म का पुनः उदय हुआ। इस युग में चार सम्प्रदाय थे जिसमें भागवत-धर्म परम्परा को पंचरात्र नाम मिला। इस मत की प्रमुख विशेषता थी—श्री कृष्ण-भक्ति। कृष्ण के समस्त नामों का समन्वय करते हुए एक स्तुति में कहा गया है कि—

"हे कृष्ण! तुम अदिति के पुत्र हो, इन्द्र के छोटे भाई हो, तुम विष्णु हो। तुमने ध्रुव लोक, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी को तीन पैरों से नाप लिया। युगान्त में सब भूतों का संहार करके तथा आत्मा में जगत को आत्मसात् करके तुम स्थित होते हो। तुम्हारे जैसे कर्म पूर्व या उत्तर काल में कोई नहीं कर सका। तुम ब्रह्म के साथ वैराज्य लोक में निवास करते हो।"[३४] इस स्तुति से स्पष्ट होता है कि उपेन्द्र, विष्णु, वामन और ब्रह्मा को एक ही माना गया है। यही कृष्ण ब्रज की लीला के कर्ता हैं। एक अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि जो भगवान् नर तथा हरि हैं, वही नारायण भी। यही नारायण जगन्नियन्ता, देवाधिदेव, आदित्य, लोकपति, वासुदेव, कृष्ण के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं।

सभापर्व में भीष्म ने कृष्ण को चराचर विश्व का उत्पत्ति-स्थल एवं विश्राम भूमि के रूप में माना है तथा चराचर ऋषि जगत के अस्तित्व को भी उन्हीं के लिए स्वीकार किया है।[३५]

महाभारत में कृष्ण के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं। कहीं वे पाण्डवों के शांतिदूत श्यामसुन्दर हैं तो कहीं गीता में कर्म-योग की प्रधानता स्थापित करने वाले कर्मनिष्ठ। युद्ध की समाप्ति के बाद वे कुशल संयोजक की भाँति राजसूय यज्ञ में दृष्टिगोचर होते हैं तो अन्त में हमारे आगे उनका दूरदर्शिता से पूर्ण विचारक-रूप आता है।[३६] महाभारत के कृष्ण को वासुदेव भी कहा गया है क्योंकि वे अपनी अलौकिक शक्ति से सभी प्राणियों को आच्छादित कर लेते हैं। स्वयं श्री कृष्ण कहते हैं कि मैं सूर्य के रूप में अपनी किरणों से समस्त विश्व को ढंक लेता हूँ एवं सभी प्राणियों में अधिवास हूँ, इसी से मुझे वासुदेव कहा गया है।[३७] गीता में भी वासुदेव नाम का समर्थन है। "वृत्तीनां वासुदेवोऽस्मि" एक अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि जिसमें सब बसते हैं तथा जो सबमें रहता है वही वासुदेव है।[३८] इस प्रकार महाभारत में नारायण, वासुदेव और श्री कृष्ण तीनों एक ही हैं।

शांति पर्व में भगवान् के अवतारों का वर्णन है। वहाँ हमें कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, राम, सास्वत और कल्कि आदि अवतारों की कथा मिलती है। इसी पर्व में श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि "सभी प्राणियों में मेरा अयन या निवास होने से मैं नारायण एवं सारे विश्व में व्याप्त होने तथा विश्व का मुझमें स्थित होने के कारण मैं ही वासुदेव हूँ। विश्व को व्याप लेने के कारण मुझे विष्णु कहते हैं। पृथ्वी, स्वर्ण और अन्तरिक्ष मैं ही हूँ, इससे मैं दामोदर कहा जाता हूँ। सूर्य, चन्द्र और अग्नि की किरणें मेरे केश हैं, इससे मैं केशव हूँ। गौ, पृथ्वी को ऊपर ले जाने के कारण मैं गोविन्द हूँ। यज्ञ का हविर्भाग ग्रहण करने के कारण हरि हूँ। सब गुणों की प्रधानता से शाश्वत और लोहे के काले फाल के रूप में पृथ्वी जोतने और रंग का काला होने से मैं कृष्ण हूँ।"[३९]

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि नारायण, वासुदेव, विष्णु, दामोदर, गोविन्द, केशव और हरि आदि विभिन्न पर्याय श्री कृष्ण के ही बोधक हैं। नाम की भिन्नता होने के बावजूद भी इसके स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

महाभारत की गणना इतिहास ग्रन्थ के रूप में होती है। इसमें श्री कृष्ण ही अधिकांश घटनाओं के सूत्रधार एवं नियामक हैं। वे संधिवाहक, शांतिदूत और गीता के उपदेष्टा है तथा समदृष्टि के कारण दोनों पक्षों की सहायता करना उनका परम लक्ष्य रहा है। इस युग के वयोवृद्ध भीष्म पितामह भी श्री कृष्ण को वेद-वेदांगवेत्ता और ऋत्विक होने के कारण सबसे अधिक आदर के पात्र मानते हैं। महाभारतकार ने श्री कृष्ण को पाण्डवों का हितैषी, धर्माचारी एवं न्यायानुमोदित पक्ष का आदर्श राही माना है। कृष्ण ही

अर्जुन की प्रेरणा थे। उन पर पाण्डवों का पूर्ण विश्वास था। उन्हीं की प्रेरणा से इसके युद्ध में वे प्रवृत हुए। वे स्वयं पाण्डवों की तरफ बिना शस्त्र उठाये अर्जुन के सारथी के रूप में रहे, जो उस युग में अपमानजनक था तथा दूसरी ओर अपनी समस्त सेना दुर्योधन को सुपुर्द कर दी। वे साधुजनों के परित्राण के लिए अवतरित हुए थे। अत: इनके लिए कुछ भी अपमानजनक नहीं था। महाभारत में श्री कृष्ण की अनेक अलौकिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। द्रौपदी-चीरहरण प्रसंग उनका उत्कृष्ट उदाहरण है, जब श्री कृष्ण ने उसके वस्त्र को अपने प्रताप से घटने ही नहीं दिया। इसी तरह अर्जुन को विराट स्वरूप के दर्शन देकर अपनी अलौकिकता का परिचय दिया।

"महाभारत में श्री कृष्ण का मूल उद्देश्य धर्म की स्थापना करना है। उन्होंने लोगों की रक्षा करके अपनी लोकदृष्टि का उन्मीलन किया है। वे आसक्तिहीन, समतापरायण एवं कर्मयोगी हैं। उनकी दिव्यता, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता आदि विश्व कल्याण से प्रेरित होकर ही प्रत्यक्ष होती है। इस दृष्टि से पूर्त्यर्थ गुण में ईश्वरत्व का आरोप होता है।"[४०]

महाभारत में श्री कृष्ण के शौर्यवीर्य के दर्शन होते हैं। जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर वे अधर्म पर धर्म की जय करवाते चलते हैं। महाभारत इस कूटनीतिज्ञ के नेतृत्व का अनुपम उदाहरण है। किस स्थान पर किस नीति से काम लेना है, वह उन्हें भली-भाँति आता था।

कई लोग श्री कृष्ण पर महाभारत का विनाशकारी युद्ध करवाने का आरोप लगाते हैं परन्तु यह युद्ध कौरवों के पाप, दुष्कर्मों और स्वार्थों के कारण हुआ था। श्री कृष्ण तो केवल निमित्त बन गये थे। उन्होंने बीच में पड़ कर सत्य, दया, सदाचार, सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा की थी। श्री कृष्ण मनुष्यत्व का कल्याण और शांति स्थापित करना चाहते थे और वे इसी राजनीति के ज्ञाता थे।

श्री कृष्ण का तत्त्व ज्ञान सर्वमान्य है। समस्त संसार में उनके इस तत्त्व ज्ञान की अभ्यर्थना हुई है। गीता में प्रत्येक मनुष्य को आत्म-सन्तोष के दर्शन होते हैं। यह साम्प्रदायिकता से ऊपर की वस्तु है। अखिल मानव जाति के लिए प्रकाश पुंज है। इसकी संसार की प्रत्येक भाषा में अनुवाद और व्याख्याएँ हुई हैं। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने गीता में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के दर्शन किये हैं।

महाभारत में श्री कृष्ण के दो रूप निरूपित हुए हैं—एक तो देवता का रूप तथा दूसरा महापुरुष का। महाभारत का रचनाकाल अनेक विद्वानों ने ३५० ई०पू० स्वीकार किया है।[४१]

महाभारत एक वृहद् ग्रन्थ है जिसमें एक बहुत बड़ा भाग प्रक्षिप्त है। यह प्रक्षिप्त-अंश या खिल-अंश हरिवंशपुराण कहलाता है। इसी भाग में श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है। विन्टरनिट्ज ने इसको महाभारत का प्रक्षिप्त अंश मानते हुए इसका

रचनाकाल चौथी शताब्दी स्वीकार किया है। महाभारत के जिस अंश में कृष्ण को केवल महापुरुष के रूप में चित्रित किया है, वह अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है तथा ब्रजवासी गोपाल कृष्ण के रूप में जो अंश हैं वह परवर्ती, काल्पनिक एवं प्रक्षिप्त अंश हैं।[४२]

श्री कृष्ण जब पाण्डवों के सलाहकार के रूप में होते हैं, तब वे पूर्ण मानव हैं। कई ब्राह्मण कहते हैं कि मूर्ख लोग ही कृष्ण को जगत्कर्त्ता मानते हैं और ठीक, कृष्ण तो स्वयं को क्षत्रिय से ब्राह्मण तक नहीं बना सके।

एक स्थान पर उतंग नामक ऋषि भी कृष्ण को शाप देने के लिए उद्यत होते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि कृष्ण केवल मानव हैं। इस प्रकार एक तरफ तो मानव के रूप में वीर, योद्धा, राजनीति तथा कूटनीति के ज्ञाता हैं, वहीं दूसरी ओर वे वासुदेव, नारायण एवं विष्णु के अवतार हैं। कई विद्वानों के द्वारा महाभारत काल के कृष्ण पर अवतारवाद का आरोप लगा है। महाभारत में द्वारकावासी कृष्ण का चरित्र मिलता है और वह भी बाल किशोर के रूप में नहीं वरन् परमवीर योद्धा और दार्शनिक रूप में।

इतना होने के उपरांत भी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को किंचित् अंश में प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास महाभारत में ही हुआ है। वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों में कृष्ण विषयक या कृष्ण नामवाची उल्लेख मिलते हैं परन्तु वे ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते, जबकि महाभारत एक विशाल ऐतिहासिक ग्रन्थ है। महाभारत में कृष्ण के व्यक्तित्व की तीन स्थितियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं—(१) सामान्य मानव, अर्जुन के मित्र तथा पाण्डवों के हितेच्छु व सलाहकार (२) लौकिक एवं अलौकिक शक्ति से सम्पन्न परमवीर एवं (३) परब्रह्म।[४३]

डॉ० मुंशीराम शर्मा की मान्यता है कि "गीता द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि वासुदेव और नारायण अभिन्न हैं। इन दोनों के एकत्व की भूमिका बाद में घटित हुई।"[४४]

डॉ० भण्डाकर के अनुसार "द्वारकाधीश कृष्ण का वर्णन महाभारत में हुआ है तथा इसी महाभारत के खिल अंश हरिवंशपुराण में गोपाल कृष्ण की भावना का विकास हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोपाल कृष्ण की कल्पना महाभारत के बाद की है क्योंकि हरिवंशपुराण महाभारत का प्रक्षिप्त अंश है। इस पुराण में कृष्ण ने स्वयं अपने को पशुपालक कहा है। गोवर्धन पूजा, श्री कृष्ण-ब्रज-वृन्दावन-निवास का उल्लेख भी इसी में मिलता है। इन्हीं गोपाल कृष्ण की भावनाओं ने ही वैष्णव-परम्पराओं को सर्वाधिक प्रभावित किया है।"[४५]

इस प्रकार से कृष्ण के वास्तविक रूप के दर्शन महाभारत में ही होते हैं। यदि हम कृष्ण को महामानव मानकर चलें तो महाभारत के कृष्ण आदर्श मानव हैं। उनके शांति स्थापित करने का प्रयास इस बात का प्रमाण है कि वे व्यक्ति की अपेक्षा संसार को महत्त्व देते थे। इसलिए वे शांतिदूत बनकर कौरवों के पास जाते हैं।

शिशुपाल द्वारा अपमान किये जाने पर भी वे शिष्टता और सभ्यता वश चुप रहते हैं, जो उनकी महत्ता और अनुशासनप्रियता का द्योतक है। महाभारतकार महर्षि वेद व्यास ने श्री कृष्ण भगवत्-तत्त्व का निरूपण किया है परन्तु फिर भी कृष्ण के मानव रूप के दर्शन यत्र-तत्र हो जाते हैं।

इस प्रकार महाभारत के श्री कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि वे भक्तिकालीन अनुराग के भाव-भीने आलम्बन न होकर श्री कृष्ण में क्षात्र धर्म का तेज, पराक्रम और शक्ति ही अधिक प्रबल है। क्षत्रिय योद्धा सात्वती द्वारा पांचरात्र धर्म का प्रचार हुआ था, इससे श्री कृष्ण में भी इन्हीं गुणों का आना अनिवार्य हो गया था। इसी से उनका यह व्यक्तित्व पौराणिक युग में अवतार का प्रतीक बन गया था। मध्यकालीन भक्त कवियों ने भी कृष्ण के इसी स्वरूप को अपनी भक्ति का आलम्बन बनाया था।

पुराणों में श्री कृष्ण :-

महाभारत में जहाँ श्री कृष्ण को महामानव के साथ देवता एवं अलौकिक शक्तियों के प्रयोक्ता परब्रह्म के रूप में निरूपित किया है परन्तु वहीं पुराणों में श्री कृष्ण को मुख्य रूप से ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है। श्री कृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति हमारे ग्रन्थों का मुख्य उपादान रहा है। आदिकाल से ही किसी न किसी रूप में श्री कृष्ण की अभिव्यक्ति मिलती है। वैदिक ग्रन्थों में वेद, उपनिषद्, आरण्यक आदि से लेकर महाभारत तक में श्री कृष्ण के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है।

वे विष्णु, उपेन्द्र, आदित्य, नारायण, वासुदेव, जनार्दन और श्री कृष्ण का रूप धारण करते दिख पड़ते हैं। महाभारत में इन सभी नामों के समन्वय की चेष्टा आरम्भ हो गई थी। पुराणों का प्रमुख उद्देश्य उनकी महत्ता के वर्णन के साथ उन पर ईश्वरत्व का आरोप भी था। एक प्रमुख उपास्य देव के रूप में उनकी प्रतिष्ठा होने लगी और यही पौराणिक कृष्ण बाद के साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रमुख आलम्बन बन गये। उनके स्वरूप का जो हृदयाकर्षक वर्णन किया गया है, वह जन-जन के मानव को प्रफुल्लित कर देने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुआ है।

पौराणिक साहित्य में श्री कृष्ण का वर्णन कई पुराणों में मिलता है। श्रीमद् भागवत, हरिवंश, ब्रह्म-वैवर्त, विष्णु, ब्रह्म, पद्म, वायु, वामन, कूर्म, गरुड, अग्नि, ब्रह्माण्ड, बृहन्नारदीय आदि पुराणों में श्री कृष्ण की कथा है। इनमें हरिवंशपुराण, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण में श्री कृष्ण को सर्वोपरि देवता के रूप में प्रस्थापित किया गया है। इनमें विष्णु के अवतारों में श्री कृष्ण को पूर्णावतार मानकर स्तुति की गई है। भागवत में ऋषि, मनु, देवता, मनुपुत्र और प्रजापति को विष्णु का अंश बताकर कृष्ण को सम्पूर्ण लीलाओं से युक्त भगवान् कहा गया है।[४६] श्री कृष्ण परब्रह्म के अवतार, वे ही सृष्टि के कर्त्ता, पालक और संहारक कहे गये हैं।

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण :-

"हरिवंशपुराण" महाभारत का ही प्रक्षिप्त अंश है। इसकी प्राचीनता असन्दिग्ध रही है। इसी पुराण में कृष्ण चरित्र का सर्वप्रथम गोपियों से सम्बन्ध बताया गया है। हरिवंश के विष्णु पर्व के १२८ अध्यायों में कृष्ण जीवन की सम्पूर्ण गाथा दी गई है। इसमें कृष्ण के रूप का तथा कृष्ण के प्रति गोपियों के आकर्षण का सविस्तार वर्णन मिलता है। सुन्दर कृष्ण हरितालार्द्र पीतवस्त्र पहनकर और सुन्दर तथा आकर्षक दिखाई देते हैं। बालिकाओं, वृद्धाओं तथा युवतियों-सभी को कृष्ण अतिप्रिय लगते हैं।

इस पुराण में पूतनावध, कालियदमन, नागपत्नियों द्वारा स्तुति, शकट-भंजन, यमलार्जुन पतन, रासलीला, कंस धर्नुभंग, कुवलीयापीड प्रसंग, चाणूर-मुष्टिक, बलराम का गोकुल गमन, रुक्मिणी हरण, कालयवन प्रसंग, कैलासप्रसंग, बद्रिकाश्रम में तपस्या आदि अनेक प्रसंग आये हैं। इसकी शैली गाथात्मक अथवा लौकिक है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि यह पुराण अन्य पुराणों से प्राचीन है। कृष्ण की रासलीला का अद्भुत वर्णन भी इसमें मिलता है। इस पुराण को डॉ० शशि अग्रवाल ने उपपुराण कहते हुए कहा है कि "इसे बहुत से विद्वान् महापुराण मान लेते हैं परन्तु इसके अध्ययन से पता चलता है कि यह उपपुराण ही है।"[४७]

हरिवंश पुराण में श्री कृष्ण के दैवीय एवं मानवीय दोनों रूपों का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। वे विष्णु के अवतार परब्रह्म व विराट हैं तथा सांख्यपुरुष, वीर योद्धा और महापुरुष भी। कृष्ण चरित्र को प्रभावित करने में इस पुराण का सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें वर्णित कथाओं का परवर्ती साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ अस्पष्ट और सांकेतिक रूप में वर्णित कथाएँ भी बाद के साहित्य में विस्तार और अलौकिक रूप ग्रहण करती रहीं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्री कृष्ण :-

हरिवंशपुराण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्री कृष्ण लीलाओं के विस्तृत वर्णन हैं। कृष्ण जन्म-खण्ड के अन्तर्गत सभी लीलाओं का वर्णन है जो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित है। इसमें श्री कृष्ण परब्रह्म हैं। ब्रह्मा ने श्री कृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है कि "आप ही जगत के स्वामी हैं, जो सुख-दुःख संसार में है, सब आपका ही अंश है।"[४८] एक अन्य स्थल पर भी यही कहा गया है कि "आप ही ब्रह्मधाम और निर्गुण निराकार हैं। आप ही सगुण हैं। आप ही साक्षी रूप हैं। निर्लिप्त हैं, परमात्मा हैं। प्रकृति और पुरुष के भी आप ही कारण हैं।"[४९] इस प्रकार से जगत के मूल कारण के रूप में श्री कृष्ण का विशद वर्णन मिलता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोकुल, राधा-मन्दिर, राधा-कृष्ण का सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध, श्री कृष्ण के अंशावतारों आदि का सुन्दर वर्णन है। चौथे अध्याय में

गोलोक और पाँचवें अध्याय में राधा-मन्दिर के सोलह द्वारों का ऐश्वर्यशाली वर्णन है। छठे में वासुदेव को कश्यप, देवकी को अदिति, नन्द को वसु तथा यशोदा को वसुकामिनी का अंशावतार बताया गया है। इसके सातवें अध्याय में श्री कृष्ण जन्माख्यान, आठवें में जन्माष्टमी व्रत, नौवें में नन्द के पुत्रोत्सव का मनोरम वर्णन मिलता है परन्तु इसमें शृंगारिक वर्णन की अधिकता है।

इस पुराण में राधा का विशद वर्णन है जबकि अन्य पुराणों में राधा का इतना वर्णन नहीं है। भागवत में केवल कृष्ण की प्रिय गोपी के रूप में राधा को प्रसिद्धि मिली है। यहाँ राधा कृष्ण की प्राणेश्वरी, उनकी शक्ति तथा उनकी प्रकृति है। कृष्ण कहते हैं कि "राधा! तुम में और मेरे में कोई भेद नहीं है। जैसे दूध में सफेदी, अग्नि में दाहकता और पृथ्वी में गन्ध रहती है, वैसे ही मैं सदा तुझ में रहता हूँ। तुम संसार के आधार हो और मैं कारण रूप हूँ। मैं जब तुम्हारे से अलग रहता हूँ तो लोग मुझे कृष्ण और साथ रहता हूँ तो श्रीकृष्ण कहते हैं। राधा शब्द में प्रयुक्त "र" कार का उच्चारण करोड़ों जन्म से अन्धे, शुभ और अशुभ कर्मफलों को नष्ट करता है। "आकार" गर्भनिवास, मृत्यु और आदि से छुड़ाता है। "धकार" आयु की हानि से बचाता है और आकार भव बन्धन से मुक्त करता है।"[५०]

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राधा को सर्वशक्तिमान मान कर उसकी पूजा-अर्चना प्रचलित हो गई थी। इसी पुराण में राधा का शृंगारी और साहित्यिक वर्णन है। श्री कृष्ण का रूप सौन्दर्यमूलक है। यही सौन्दर्य-चेतना आगे के हिन्दी साहित्य के कृष्ण-भक्त कवियों में दिखाई देती है। राधा विषयक वर्णनों की मूल उपजीव्य कृति भी यही पुराण रहा है क्योंकि राधा का जन्म, उसका कारण, महत्ता, राधा-माधव की एकरूपता आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन इसी पुराण में निरूपित हुआ है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के साथ श्रीमद् भागवत पुराण भी कृष्ण लीलाओं का स्रोतग्रन्थ माना जाता है।

श्रीमद् भागवत पुराण में श्री कृष्ण :-

श्री कृष्ण के चरित्र का वर्णन करने वाले पुराणों में भागवत का प्रमुख स्थान है। इसमें वैदिक काल से अब तक वर्णित श्री कृष्ण सम्बन्धी समस्त सामग्री का अनूठा समन्वय दिखाई पड़ता है। इस ग्रन्थ में श्री कृष्ण स्वयं भगवद् रूप हैं एवं अन्य अवतार अंश रूप के ही बोधक माने गये हैं।[५१]

भागवतकार ने श्री कृष्ण को व्यापक रूप में लिया है। वे सोलह कलाओं के पूर्ण पुरुषावतार माने गये हैं। इन्हीं के द्वारा पंच-भूतों की रचना हुई, यह स्वीकारा गया है। एक स्थान पर देवकी कृष्ण की स्तुति करती हुई कह रही है कि :—

"हे आद्य! जिसके अंश का अंश प्रकृति है। जिसके अंश के भाग द्वारा विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती है। मैं आपकी शरण हूँ।"[५२] भगवान् श्री कृष्ण ने स्वयं

कहा है कि—"मैं सब का उपादान कारण होने से सब की आत्मा हूँ, सब से अनुगत हूँ इसलिए मुझमें कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जगत का परम कारण मैं ही हूँ। मैं ब्रह्मा और महादेव हूँ। मैं सब की आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयं-प्रकाश और उपाधि-शून्य हूँ। अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत की रचना, पालन और संहार करता रहा हूँ। ऐसा ही भेदरहित मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ। इसमें अज्ञानी पुरुष ब्रह्मा, रुद्र तथा अन्य जीवों को विभिन्न रूप में देखता है।"[५३]

भागवत पुराण में श्री कृष्ण भक्ति के मूलाधार हैं। इनके चरण-कमल संसार सागर को पार करने के एकमात्र आधार हैं।[५४] श्री कृष्ण के दिव्य रूप के जो दर्शन महाभारत में होते हैं, उसका पूर्णरूपेण विकास भागवत में दिखाई देता है। महाभारत तथा भागवत के अनेक आख्यानों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का नारायणीय धर्म तथा भागवत का भागवत धर्म; दोनों एक ही हैं। गीता का निष्काम कर्म-योग भी भक्ति के अभाव में सफल नहीं हो सकता है। भागवत में इसी भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है।

भागवत में श्री कृष्ण के सभी रूप निरूपित हुए हैं।[५५] (१) अद्भुत-कर्मा असुर संहारक श्री कृष्ण (२) बाल कृष्ण (३) गोपीबिहारी कृष्ण (४) राजनीतिवेत्ता कृष्ण (५) योगेश्वर कृष्ण (६) परब्रह्म कृष्ण प्राधान्य रसिकेश्वर कृष्ण।

भागवत का दशम स्कन्ध कृष्ण चरित्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्वार्ध में कृष्ण के बाललीला की, असुरों के वध की एवं अनेक अलौकिक घटनाओं का वर्णन है। कंस वध की लीला, बाल लीला एवं किशोर लीलाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं। इसके उत्तरार्द्ध में कृष्ण को असुर-संहारक, राजनीतिवेत्ता तथा कूटनीतिज्ञ बताया गया है। जरासंध-वध, द्वारका-निर्माण, राज-पद की प्राप्ति आदि इसके अन्दर समाहित हैं। भागवत में कृष्ण एक ओर मथुरा द्वारिका आदि के महान् योद्धा हैं तो वहीं दूसरी तरफ ब्रज-वृन्दावन बिहारीनन्दन गोपालकृष्ण हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता में ज्ञान, कर्म और उपासना पर बल दिया है परन्तु भागवत तो श्री कृष्ण की भक्ति की महत्ता का सर्वोपरि समर्थक है। इसके अलावा इसमें भी महाभारत की भाँति कृष्ण को पाण्डवों के सलाहकार, अर्जुन के सखा, गीता के उपदेशक एवं धर्म के संस्थापक बताये गये हैं। श्री कृष्ण के योगेश्वर स्वरूप का विकास इसी पुराण में दिखाई देता है। कृष्ण ही पूर्ण ब्रह्म हैं। इसी से इनकी लीलाएँ लौकिक न रहकर योग-लीलाएँ बन गई हैं। गोपियाँ, राधा तथा गोप; ये भी कृष्ण-चरित्र के अभिन्न अंग हैं। गोपियाँ पूर्व जन्म की ऋषि थीं। श्री कृष्ण की लीलाओं में भाग लेने के लिए कृष्ण के साथ उन्होंने भी ब्रज में अवतार लिया था। श्रीमद् भागवत में गोपिकाओं को देवांगनाओं का अवतार बताया गया है।[५६]

इस प्रकार यह पुराण अपने आप में अनोखा है। इसमें वर्णित कृष्ण अलौकिक भी हैं तो दूसरी तरफ सरस भी। इस पुराण में वर्णित कृष्ण चरित्र का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी कवियों पर सर्वाधिक पड़ा है। इन्होंने श्री कृष्ण के मोहक रूप की व्यंजना के साथ गोपांगनाओं के सम्यक् रूप को अभिव्यक्त कर अपना आश्रय और आलम्बन स्वीकार किया है।

विष्णु पुराण में श्री कृष्ण :–

विष्णु पुराण में भी श्री कृष्ण का मनोरम रूप चित्रित हुआ है। इसमें उनकी रासलीला सम्बन्धी श्लोक हैं।[५७] एक स्थान पर श्री कृष्ण की सुन्दरता वर्णन करते हुए कहा गया है कि—श्री कृष्ण का कमल सदृश खिला मुख गोपिकाओं के सतृष्ण नेत्रों के आकर्षण का साधन है। उनकी नृत्य की गति और वलय का मधुर रव, दोनों मिलकर गति एवं ध्वनि सौन्दर्य के जनक हो जाते हैं। विष्णु पुराण के चौथे अंश के पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण जन्म तथा पाँचवें में श्री कृष्ण लीला का वर्णन है। इस पुराण में श्री कृष्ण को सृष्टिकर्त्ता, उसका पालन कर्त्ता एवं संहारक रूप में स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार इस पुराण में कृष्ण को पूर्णावतार, परब्रह्म, जगत के कारण तथा परमेश्वर के रूप में निरूपित किया है। ऐसे कृष्णावतार की समानता ब्रह्मपुराण में वर्णित कृष्णावतार ही है।

ब्रह्मपुराण में श्री कृष्ण :–

इस पुराण में श्री कृष्ण की सभी लीलाओं का वर्णन है। डॉ० सोम विष्णुपुराण तथा ब्रह्मपुराण एक ही कवि की कृति मानते हुए लिखते हैं कि—"ब्रह्मपुराण के अध्याय ६२ से १०३ तक और विष्णु पुराण के पाँचवें अंश के ३८ अध्यायों में कृष्ण चरित्र सम्बन्धी श्लोक एक से हैं। कहीं-कहीं एक आध शब्द जैसे—जम्बे के स्थान पर वृत्रे, सुरों के स्थान पर द्विजा और एकाध श्लोक का ही थोड़ा सा अन्तर है। अतः वे किसी एक ही कवि की कृति जान पड़ती हैं।[५८]

पद्मपुराण में श्री कृष्ण :–

इस पुराण में श्री कृष्ण-कथा संक्षेप में है। इस पुराण का महत्त्व श्री कृष्ण-लीला के आध्यात्मिक सिद्धान्त पक्ष के दृष्टिकोण से अधिक है। इसमें पाताल खण्ड में श्री कृष्ण की कथा है। उत्तर खंड में श्री कृष्ण का अवतार एवं अन्य चरित्र हैं। इसमें मुख्य रूप से गोप कन्याएँ और देव कन्याएँ गोपियों के रूप में अवतरित हुई दर्शाया गया है।

वायुपुराण में श्री कृष्ण :–

इस पुराण में श्री कृष्ण-कथा विस्तृत नहीं मिलती। इसके अध्याय ९६-९७ में श्री कृष्ण के वंश का वर्णन है। द्वितीय खण्ड के ३४वें अध्याय में स्यमन्तक

मणि की कथा है। इस कथा में श्री कृष्ण जाम्बवान को युद्ध में पराजित कर स्यमन्तक मणि तथा उसकी पुत्री जाम्बवती को लेकर द्वारका आते हैं। इसमें श्री कृष्ण की अलौकिकता के दर्शन होते हैं, जैसे—कृष्ण के जन्म के समय सागर का कंपित होना, पर्वतों का चलायमान होना, ज्योतियों का चमकना एवं विजय नामक मुहूर्त में कृष्ण का जन्म होना आदि बातों की चर्चा है। रुक्मिणी, सत्या, सत्यभामा आदि अप्सराओं के चतुर्दश गुणों से सम्बन्धित सोलह सहस्र कृष्णपत्नियों का उल्लेख भी इसमें मिलता है। इसमें श्री कृष्ण राधाविलासी, गोलोक में क्रीड़ा करने वाले, कुंजबिहारी तथा पीताम्बरधारी हैं।

वामन पुराण में भी श्री कृष्ण चरित्र का वर्णन संक्षेप में आता है। इसमें केशी, उर तथा कालनेमि वध की चर्चा है। वामनावतार तथा त्रिविक्रम की भी कथा आती है। कूर्म पुराण में भी यदुवंश के वर्णन के बाद २५वें अध्याय में कृष्ण की कथा का अंश है जिसमें कृष्ण पुत्र की प्राप्ति के लिए महादेव की आराधना करते हैं। गरुड़ पुराण के आचार काण्ड में श्री कृष्ण की कथा का विस्तार है। १४४वें अध्याय के ११ श्लोकों में पूतना, शकट, यमलार्जुन, कालियदमन, गोवर्धन-धारण, केशी, चाणूर वध, गुरु सांदीपनि द्वारा शिक्षा लाभ एवं श्री कृष्ण की आठ पत्नियों का वर्णन है।

इस प्रकार उपर्युक्त पुराणों में श्री कृष्ण ब्रज-बिहारी, गोपीजन-वल्लभ, लीला-विहारी रसिक कृष्ण हैं। महाभारत के वीर योद्धा, धर्मरक्षक कृष्ण का यहाँ अभाव है। इन पुराणों में मुख्य रूप से श्री कृष्ण गोपिकाओं के प्रेम को ही विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इस गोपी-भाव को पुराणकारों ने महाभाव की संज्ञा देकर इसके महत्त्व को बढ़ा दिया है। इसमें वासुदेव, नारायण, हरि, अच्युत, केशव, मुरारि, जनार्दन इत्यादि कई नामों से श्री कृष्ण का स्तव किया गया है। गोपियाँ, राधा एवं गोप—ये सभी श्री कृष्ण चरित्र के अभिन्न अंग हैं। गोपियों को पूर्व जन्म में ऋषि मानकर कृष्णलीला में भाग लेने हेतु ब्रज में अवतरित हुई बताया गया है। परन्तु इन पुराणों ने कृष्ण-व्यक्तित्व के विकास को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

कृष्ण और क्राइस्ट :–

भारतीय इतिहास में कृष्ण चरित्र एक ऐसा लोकप्रिय व्यक्तित्व रहा है कि जिसने अनेक सम्प्रदायों को अपनी ओर आकर्षित किया है। उन्होंने श्री कृष्ण को किसी न किसी रूप से अपने सम्प्रदाय, धर्म के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। कई पाश्चात्य विद्वान् ग्रियर्सन, केनेडी, बेबर आदि कृष्ण को क्राइस्ट का उच्चारण मानते हैं। भक्ति की भावना भी हिन्दुओं को मसीही देन है।[५९] बंगाल में कृष्ण को "क्रिस्टो" कहते हैं। यूनान तथा रोम निवासी भी क्राइस्ट का उच्चारण "कृष्टास" करते हैं।

कृष्ण और क्राइस्ट की साम्यताएँ :-

क्राइस्ट का जन्म भी करीब-करीब कृष्ण जैसा ही शुरु होता है। उनका जन्म भी अंधेरी रात में होता है और वह भी अश्वशाला में, जिसका किसी को पता न चला। उसी तरह कृष्ण का जन्म भी अंधेरी रात्रि में कारागार में होता है।

जन्म के समय क्राइस्ट तथा कृष्ण दोनों भय से घिरे रहते हैं। क्राइस्ट को नृशंस राजा से बचाने हेतु मिश्र देश भेजा जाता है तो श्री कृष्ण को गोकुल ले जाया जाता है।

जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि—"वैष्णवों की दास्य भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तनपान आदि ईसाईयत की देन हैं। पूतना बाइबल की वार्जिन है। प्रसाद लवकीस् और दास्य-भक्ति पाप-पीडित मानवता का रुदन।"[६०]

मोरेनो नामक एक विद्वान् ने कृष्ण और क्राइस्ट के साम्य का वर्णन करते हुए कहा है कि "ईसामसीह ने मानव जाति के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। क्रॉस द्वारा उनकी बुरी तरह से हत्या कर दी गई। कृष्ण के पादतल में भी एक व्याध ने अनजान में बाण मारा। झाड़ियों में छिपे रहने के कारण वह उन्हें देख नहीं सका। यूरोप आज भी जनोद्धारक प्रभु ईसामसीह की पवित्र स्मृति में सिर झुकाता है और भारत के करोड़ों नर-नारी आदर्श पुरुष जनता के नायक श्री कृष्ण के चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं।"[६१]

डॉ० मुंशीराम का मत है कि "जिन संकेतों से पाश्चात्य विद्वान् कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तरण मानते हैं, इनमें से कई संकेतों का खण्डन पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हो चुका है।" पश्चिम के ही विद्वान् डॉ० ए०वी० कीप ने इसका खण्डन किया है। कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तरण क्यों? क्राइस्ट कृष्ण का रूपान्तरण क्यों नहीं? कृष्ण का अस्तित्व हम ब्राह्मण काल तक दिखा चुके हैं। क्या पश्चिमी विद्वान् मानेंगे कि कृष्ण की कथा वहाँ क्राइस्ट सन्त के नाम से प्रचलित हो गई? "बाइबिल इन इन्डिया" का फ्रांसीसी लेखक जेकालियर तो ऐसा ही कहता है।[६२]

यह निश्चित है कि ईसा के सैकड़ों वर्षों पूर्व अधिकांश हिन्दू कृष्ण की भक्ति या पूजा करते थे। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के लेखों से यह प्रमाणित हो जाता है। उसने स्वयं ने लिखा है कि "वह भारतीय हेरोक्लीज शारीरिक एवं आत्मिक बल में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। उसने सारी पृथ्वी और समुद्रों को पापशून्य कर दिया और कई नगर बसाये। उसके चले जाने के बाद लोग उसे ईश्वर की तरह पूजने लगे। भारत की शौरसेनी (यादव) जाति के लोग उनकी विशेष रूप से पूजा करते हैं। मथुरा और क्लीसोबेरा नाम की नगरियों पर उसका आधिपत्य है तथा उन दोनों नगरों के बीच जोहारीन (जमुना) बहती है। जर्मन विद्वान् लेसल की धारणा है कि भारतीय हेरोक्लीज नाम से कृष्ण का ही निर्देश किया गया है।"[६३]

डॉ० भंडारकर आदि विद्वानों की इस प्रकार की मान्यता है कि बाल कृष्ण की कथा वास्तव में सीरिया से चलकर भारत में आई। घुमक्कड़ म्लेच्छ आभीर जाति के बालदेवता की कथा है। हरिवंशपुराण में आभीरों के बालदेवता श्री कृष्ण की प्राचीनता का उल्लेख मिलता है। उनका मत है कि आभीर लोग संभवत: बालदेवता की जन्म-कथा पूजा भारत के बीच ले आए और कुछ कथाएँ उन्होंने भारत में आने के बाद जोड़ दी। वे लिखते हैं कि 'संभव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी लाए हो तथा संभवत: यही नाम वासुदेव कृष्ण के साथ भारत वर्ष में बालदेवता के एकीकरण का कारण हुआ हो।'[६४]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का जोरदार खण्डन किया है। भंडारकर का यह अनुमान नि:संदेह असंगत है। जिन्होंने भाषा-शास्त्र का कुछ भी परिचय प्राप्त किया होगा, वे आसानी से यह असंगति समझ सकते हैं। भण्डारकर जैसे पण्डित ने कैसे इस प्रकार का अनुमान किया होगा, यह सोचकर आश्चर्य होता है। पर, और भी आश्चर्य जनक है—इस पर यूरोपीय पण्डित का आस्फालन। स्वर्गीय तिलक ने एक जगह "वेन" शब्द का सम्बन्ध ग्रीक के "वेनस" से दिखाकर यह सिद्ध करना चाहा कि वेदों ने शुक्र की चर्चा करनी चाही है। इस पर मेक्डोनाल्ड तथा कीथ ने वैदिक इण्डेक्स में कई जगह इस अनुमान को अतिसंभव बताया है। ये ही यूरोपियन विद्वान् भंडारकर के अनुसार अनुमान को इतना महत्त्व देते हैं। तिलक की इस बात का समर्थन होते हुए भी हम यह पूछना चाहते हैं कि तिलक का अनुमान क्या इससे अधिक है? यूरोपियन पण्डितों से अधिक कोई नहीं जानता कि क्राइस्ट का मूल उच्चारण वही नहीं जो आज प्रचलित है।[६५]

इसके उपरान्त भी ईसा का नाम यीशु या जीसस है। क्राइस्ट तो एक उपाधि है, जिसका अर्थ मसीहा होता है। ईसाई लोग यीशु को मसीहा ही मानकर उन्हें लोकरक्षक के रूप में याद करते हैं। इसी तरह से "क्राइस्ट इन आर्ट" का तात्पर्य लिया जाता है कि लोक-रक्षण का प्रतिनिधित्व करने वाली कला।

निष्कर्ष के तौर पर क्राइस्ट, क्रिस्टो और कृष्ण की साम्यता निराधार, असंगत और पूर्ण रूप से गलत सिद्ध हो जाती है। दोनों नामों में कोई सामंजस्य नहीं है।

आभीरों के बाल कृष्ण :-

डॉ. भंडारकर आदि कई विद्वानों की मान्यतानुसार बाल कृष्ण की कथा वास्तव में आभीर जाति के बालदेवता की कथा है। लेकिन कृष्ण का आभीर जाति से सम्बद्ध होने तथा आभीरों का ईसा पूर्व भारत में बस जाना आदि बातें असंगत प्रतीत होती है।

आभीरों का ईसा पूर्व यहाँ आना असम्भव नहीं है परन्तु आभीर इसी देश की भी जाति हो सकती है। इनके अपने बालदेवता भी हो सकते हैं। वास्तव में आभीर शब्द द्रविड़ भाषा का है जिसका अर्थ होता है "गोपाल"। परन्तु यह भी कहा गया है कि

आभीरों की मुखाकृति द्रविड़ नहीं, सीरियन है। हो सकता है कि आभीर नामक द्रविड़ जाति का धर्म भक्ति-प्रधान हो एवं देवता बालकृष्ण हो और बाद में सीरियन जातियाँ आकर इनका धर्मग्रहण करके अपने आपको आभीर कहने लगे हो।[६६]

हरिवंश पुराण में आभीरों के बालदेवता श्री कृष्ण का वर्णन मिलता है। इन्हीं आभीरों द्वारा कृष्णवंश की समाप्ति पर उस वंश की स्त्रियों को अर्जुन द्वारा द्वारिका से कुरुक्षेत्र ले जाते समय आक्रमण किया गया था। ये लूटेरे म्लेच्छ माने गये हैं जो पंचनद में रहते थे। कई विद्वान् इनका विस्तार मथुरा के निकट महावन से लेकर द्वारिका के पास अनूप तथा आनर्त देश तक बताते हैं। वायुपुराण में भी आभीरों के राज्यवंश का वर्णन मिलता है। इनके दस राजाओं का वर्णन है। विष्णुपुराण में इन्हें कोंकण तथा सौराष्ट्र का निवासी बताया गया है। सौराष्ट्र में पायी जाने वाली लिपि से शकसंवत् ११२ के आसपास वे राज्य करने लगे थे। कई विद्वान आभीरों का मूलस्थान भारतवर्ष ही मानते हैं। ईसा के पूर्व भी आभीर भारतवर्ष में थे परन्तु गोपाल कृष्ण व बालकृष्ण की कथाओं का वासुदेव में समावेश आभीरों के द्वारा ही हुआ है। डॉ० मलिक मोहम्मद का कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि "आभीर जाति वास्तव में तमिल प्रदेश की आयर जाति है। आयर का अर्थ ग्वाला होता है। तमिल में "आ" गाय को कहते हैं। पुराणों में इन्हें आभीर कहा गया है। तमिल साहित्य के संघपूर्ण काल की रचना तौलकाप्पियम् (ई०पू० पाँचवीं सदी) तथा संघकाल ईसा के दूसरी सदी तक की रचनाओं में तमिल प्रदेश के विभिन्न अधिदेवताओं तथा भू-भागों का वर्णन मिलता है। मुल्ले प्रदेश (वन भूमि) में गोचारण का व्यवसाय करने वाले आयर कहे जाते थे। इन ग्वालों के देवताओं का नाम मायोन था। वे मायोन आयरों के बाल देवता थे। इन बाल देवताओं सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्रचलित थीं। जिनका वर्णन संघसाहित्य में मिलता है। आयर लोग अपने बाल देवता के बाल जीवन सम्बन्धी कथाओं के आधार पर नृत्य भी करते थे।"[६७]

तमिल के मायोन का वैदिक विष्णु और महाभारत के कृष्ण के साथ समन्वय :-

ईसा से शताब्दी पूर्व ही भारत के आर्य, प्राचीन तमिल प्रदेश में गये। आर्यों के साथ महाभारत द्वारा प्रचलित भागवत धर्म भी वहाँ गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृति का तमिल संस्कृति के साथ समन्वय हुआ। उत्तर से दक्षिण प्रयाण करने वाले लोग अपने साथ वैदिक ग्रन्थ-वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता आदि के विचार भी ले आये। उनके साथ कृष्ण कथा भी दक्षिण गई। वह वासुदेव कृष्ण की कथा थी, उसमें बालकृष्ण का रूप नहीं था। जब दो संस्कृति का मिलन हो गया, तमिल प्रदेश के वैदिक परम्परा से भिन्न देवताओं का वैदिक देवताओं के साथ एकीकरण हो गया। तमिल लोगों के मायोन, मुरुगन, काइवै, शिवन आदि का वैदिक देवताओं से मिलन हो गया। मुल्ले प्रदेश के बालदेवता मायोन का वैदिक विष्णु से साम्य होने के कारण मिलन हो गया।

उत्तर भारत से आने वाले लोगों के देवता महाभारत और गीता के वासुदेव कृष्ण का जिसमें गोपाल कृष्ण का अंश नहीं था, तमिल प्रदेश के मायोन बालदेवता के साथ एकीकरण हो गया। इस तरह इस मायोन देवता की बाललीला सम्बन्धी कथाएँ महाभारत के कृष्ण के साथ जुड़ गईं।

उत्तर भारत व दक्षिण भारत दोनों संस्कृतियों के समन्वय के बाद वर्तमान कृष्ण के इस रूप की प्रस्थापना हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध महाभारत का है जबकि पूर्वार्द्ध तमिल देवता मायोन का। तमिल से ईसा के पश्चात् "कन्नन" शब्द मिलता है जो "कृष्ण" का ही अपभ्रंश है। कृष्ण का रंग श्याम है तथा तमिल का मायोन शब्द भी काले या नीले रंग का द्योतक है। आर्य गौरवर्ण वाले हैं तथा तमिलों को काला रंग वाला कहा जाता है। अत: तमिल के देवता मायोन के रंग को कृष्ण द्वारा अपनाना भी कृष्ण मायोन के एकीकरण को पुष्ट करता है।[६८]

इस प्रकार डॉ० मलिक मोहम्मद ने आभीर जाति को विशुद्ध भारतीय स्वीकार करते हुए श्री कृष्ण की बाल-कथाओं का सम्बन्ध आयर जाति के मायोन से सम्बन्धित माना है। श्रीमद् भागवत में भी वर्णित भक्ति का दक्षिण से उत्तर की ओर आगमन का संकेत है। भागवत माहात्म्य में लिखा है कि भक्ति द्रविड़ देश से उत्पन्न होकर, कर्नाटक में बड़ी हुई तथा वृन्दावन में पनपी।[६९]

भक्ति द्राविड़ उपजी लाये रामानन्द

वैष्णव धर्म के आचार्य भी दक्षिण के थे। कृष्ण का सांवला रंग मूलत: दक्षिण की ओर संकेत करता है। निष्कर्ष के तौर पर आज जो कृष्ण का स्वरूप हमारे समक्ष है, वह महाभारत के कृष्ण व तमिल प्रदेश के बाल देवता मायोन से अवश्य समन्वित है।

संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण :-

वैदिक और पौराणिक साहित्य के पश्चात् श्री कृष्ण चरित्र का वर्णन संस्कृत वाङ्मय में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। संस्कृत के मूर्धन्य कवि कालिदास ने "मेघदूत" में गोपाल कृष्ण को निरूपित किया है। पाणिनि तथा पंतजलि ने भी श्री कृष्ण के सम्बन्ध में अपने काव्यों में लिखा है। प्रसिद्ध कवि और नाटककार "भास" ने भी महाभारत की कथा के आधार पर श्री कृष्ण का वर्णन "दूतकाव्य" तथा "बालचरित" नाटकों में उल्लेखित किया है। "बाल-चरित" नाटक में श्री कृष्ण वीरपुरुष के रूप में चित्रित हुए हैं, वे कंस का वध करते हैं।[७०]

अश्वघोष ने भी कृष्ण की मधुर लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण-लीला लोकगीतों और जनश्रुतियों के आधार पर पल्लवित होने लगी। प्रथम शताब्दी के सातवाहन राजा "हाल" ने कृष्ण-लीला की गाथाओं का संकलन

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''गाथा-सप्तशती'' में किया है। इसमें कृष्ण राधा और गोपियों के प्रेम सम्बन्धी अनेक कथाएँ हैं, जिसमें श्रृंगारिक वर्णन मिलता है। संस्कृत कवि नारायण भट्ट ने अपने ''वेणी-संहार'' नाटक के नान्दी श्लोक में अपनी प्रार्थना में राधा-कृष्ण लीला का सुन्दर वर्णन किया है। इसमें श्री कृष्ण चतुर राजनीतिज्ञ के रूप में निरूपित हैं।

मारवाड़, भीनमाल में जन्मे संस्कृत के महाकवि माघ ने ''शिशुपालवध'' नामक महाकाव्य लिखा जिसकी मूल कथा महाभारत से ली गई है। इसमें श्री कृष्ण का विशद वर्णन है। अलंकार ग्रन्थ ''ध्वन्यावलोक'' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कुछ श्लोकों में श्री राधाकृष्ण के मधुर प्रेम को मनोरम रूप से निरूपित किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी अपनी प्रसिद्ध कृति 'दशावतार चरित्र'' में श्री कृष्ण के भक्त-वत्सल तथा पराक्रमी स्वरूप का उल्लेख किया है। इनका समय ११वीं शताब्दी है। ''कवि लीलांकुश'' ने अपने ग्रन्थ ''कृष्ण-कर्णामृत स्तोत्र'' में कृष्ण भक्ति के साथ माधुर्य और आत्म समर्पण का भाव निरूपित किया है। इस ग्रन्थ को चैतन्य महाप्रभु दक्षिण से ले आये थे। इसमें नागलीला, दानलीला तथा कृष्ण विषयक लीलाओं का वर्णन है।

इसके उपरान्त बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि जयदेव ने अपना प्रसिद्ध कृति गीत-गोविन्द में राधा कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं का सुन्दर वर्णन किया है। इस ग्रन्थ का परवर्ती साहित्य पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं यह वर्णन अश्लीलता को भी छू जाता है। हिन्दी के मध्ययुगीन भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन कृष्ण चरित्र पर इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भक्ति के आलम्बन श्री कृष्ण स्वयं राधा और गोपियों के साथ श्रृंगार रस के प्रमुख आलम्बन बन गये हैं। ''गीत-गोविन्द'' में राधा कृष्ण का मधुर मिलन, प्रेमक्रीड़ा, मादक प्रेमानुभुति के चित्र सजीव हो गये हैं। जयदेव के समकालीन ''उमापति धर'' ने भी श्री कृष्ण विषयक पद लिखे हैं। उनके कृष्ण रूक्मिणी के साथ द्वारका में विहार कर रहे हैं परन्तु उन्हें गोप-बालाओं की मधुर याद है। इसी काल में ''लक्ष्मणसेन'' ने भी ''वेणुनाद'' सम्बन्धी पद लिखे हैं। केशवसेन ने भी अपने पदों में कृष्ण चरित्र का वर्णन किया है परन्तु उन पर जयदेव का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। ''शतानन्द'' कवि ने भी अपने पदों में श्री कृष्ण-लीला का वर्णन किया है। गोवर्धन धारण के समय राधा द्वारा सहायता की आकांक्षा एक पद में वर्णित है। ''बलदेव उपाध्याय'' के संस्कृत साहित्य के इतिहास के अनुसार वैद्य-जीवन के कर्त्ता लोलिम्बराज का हरिविलास, राज चूडामणि दीक्षित का ''रुक्मिणी कल्याण'' कृष्णदास कविराज का ''गोविन्द लीलामृत'' तथा अमरचन्द सूरि का ''बाल-महाभारत'' आदि भी कृष्ण काव्य के अन्तर्गत आते हैं।[३१]

उपर्युक्त प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत साहित्य में जो श्री कृष्ण चरित्र का वर्णन मिलता है, उसमें अलौकिकता को महत्त्व न देकर गोपीजन-वल्लभ और राधा

के प्रिय कृष्ण को ही विशेष रूप से निरूपित किया है। जयदेव आदि ने तो राधा-कृष्ण को नायक-नायिका की तरह प्रस्तुत किया है। ''सरनामसिंह'' ने लिखा है कि ''गीत-गोविन्द में राधा कृष्ण की संभोग क्रीड़ा का उल्लेख है।''[३२] निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि श्री कृष्ण राधा की केलिक्रीड़ा के चित्रों को संस्कृत साहित्य में मुख्य रूप से वर्णित किया गया है। इन वर्णनों में श्री कृष्ण का ऐतिहासिक स्वरूप धीरे-धीरे विलुप्त होकर, उनके शृंगारिक रूप की प्रधानता बढ़ने लगी है। आचार्य दिनकर ने इन कवियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि ''कृष्ण का सम्बन्ध फसल और गाय से था। प्राचीन ग्रन्थों में उनके साथ जो प्रेम कथाएँ नहीं मिलती, उससे यह प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं, बल्कि देश के बहुत बड़े नेता थे। अवश्य ही गोपाल लीला रास एवं चीरहरण की कथाएँ तथा उनका रसिक रूप बाद में भ्रान्त कवियों और आचारच्युत भक्तों की कल्पना है, जिन्हें, उन लोगों ने कृष्ण चरित्र में जबरदस्ती ठूंस दिया है। शकों के ह्रास काल में जिस प्रकार महादेव का रूपान्तरण लिंग में हुआ, इसी प्रकार गुप्तों के अवनति काल में वासुदेव का रूपान्तरण व्यभिचारी गोपाल में हुआ।''[३३]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी वैष्णवभक्त गीतगोविन्दकार जयदेव को कृष्ण भक्त परम्परा में नहीं रखा है। उन्होंने भी इस ग्रन्थ को घोर शृंगारी काव्य ग्रन्थ घोषित किया है।

परन्तु कई विद्वान इसे शृंगारिक रचना न मानकर भक्तिभावना युक्त स्वरूप में स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार गोपी प्रेम में जो काम की गन्ध आती है, वह भ्रम है। सत्य तो इसके भीतर आध्यात्मिक भावना है। गोपी आत्मा का प्रतीक है, जो अनासक्त-अलौकिक एवं अशरीरी प्रेम करती है। इस तत्त्व को वही समझता है जो आत्म-समर्पण कर दे। राधा-कृष्ण विषयक शृंगार, विलास और काम वर्णन चिन्मुख है, वह जड़ोन्मुख नहीं है। अतः वह निश्चय ही काम अथवा लौकिक श्रेणी में नहीं आता। वह तो विशुद्ध प्रेम और भक्ति भाव है।

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने कहा है कि जिस लीला के भली भाँति समझकर श्रद्धापूर्वक पढ़ने-सुनने से ही, अनेक काम विकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीला के करने वाले भगवान् और उनकी प्रेयसी, नायक-नायिका-गोपिकाओं में काम-विकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचार की कल्पना करना कामविमोहित विषयासक्त मनुष्यों के बुद्धि-दोष का परिणाम है। ब्रजलीला परम पवित्र है। इस बात को प्रेमीजन भली-भाँति जानते हैं और उसी से नारद सदृश देवर्षि और शिव सदृश महादेव उसमें सम्मिलित होने की इच्छा से गोपी भाव में दीक्षित होते हैं।[३४]

उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट होता है कि संस्कृत कवियों ने अपनी कृतियों में शृंगार रस का आधार बनाकर पुरुषोत्तम कृष्ण की माधुर्यभाव की भक्ति का वर्णन किया है। श्री कृष्ण का यही माधुर्यभाव आगे चलकर विद्यापति के पदावली में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आगे चलकर इसी परम्परा को हिन्दी साहित्य में भी अपनाया गया है।

कृष्ण-भक्ति का उद्भव और विकास :-

भक्ति का अर्थ है—"भक्त द्वारा अपने इष्ट के प्रति तादात्म्य स्थापित करना।" इसमें भक्त का अपने इष्ट के प्रति आकर्षण होता है। इसी आकर्षण के द्वारा वह भगवदनुग्रह प्राप्त करने की कामना करता है एवं उसमें विलीन होने की उत्कट उत्कंठा रखता है। हिन्दू-धर्म में हम कृष्ण भक्ति का क्रमिक विकास पाते हैं। प्रारम्भ में इसे वासुदेव भक्ति, सात्वत नारायणीय धर्म, पांचरात्र धर्म इत्यादि कई नामों से अभिहित किया जाता था। जिस प्रकार कृष्ण को विष्णु, इन्द्र, नारायण, वासुदेव आदि से समन्वय स्थापित किया गया है, उसी प्रकार कृष्ण-भक्ति का भी वैदिक काल से क्रमिक विकास होता रहा है। हम इसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चर्चा करेंगे कि—"जब कृष्ण को ब्रह्म का अवतार मान लिया गया, उस समय उनकी भक्ति का प्रचार प्रारम्भ हो गया। परन्तु कृष्ण भक्ति का मूल उद्‌गम सगुण भक्ति का प्रतिपादन करने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीमद् भागवत ही माना जाता है। महाभारत में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है, जबकि भागवत में कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित किया है।" महाभारत के कृष्ण लोकरक्षण और लोकरंजन करने वाले थे, परन्तु भागवत में उनके बाल किशोर रूप की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसी से भागवत को श्री कृष्ण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रधान ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

भागवत के आधार पर सर्वप्रथम माध्वाचार्य ने कृष्णोपासना पर विशेष बल दिया। ये दक्षिण के आचार्य थे तथा इनकी प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तक "रत्नावली" है। इस सम्प्रदाय को मानने वाले संकीर्तन तथा नगर कीर्तन को भक्ति का सोपान मानते हैं। माध्वाचार्य ने द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्ण भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। इस समय तक राधा, कृष्ण का अभिन्न अंग नहीं बनी थी परन्तु आगे चलकर निम्बार्काचार्य तथा विष्णुस्वामी ने राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा की। निम्बार्काचार्य १२ शताब्दी में हुए। इनके सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र दक्षिण भारत न होकर वृन्दावन था। इन्होंने "ब्रह्मसूत्र" की व्याख्या की तथा "द्वैताद्वैतवाद" सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, जो उनका भक्ति मार्ग था। इस सम्प्रदाय को "हंससम्प्रदाय" भी कहते हैं।

निम्बार्काचार्य की भाँति विष्णुस्वामी भी कृष्ण भक्ति के प्रमुख आचार्य थे। इनका दार्शनिक सिद्धान्त "शुद्धाद्वैतवाद" के नाम से प्रख्यात हैं। ये बालकृष्ण के उपासक थे। इनके समुदाय को "रुद्र सम्प्रदाय" के नाम से जाना जाता है। आगे चलकर वल्लभाचार्य के प्रभाव के कारण यह सम्प्रदाय उनके पुष्टि-मार्ग में मिल गया।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में महाप्रभु चैतन्य का नाम शीर्षस्थ रखा जाता है। इनके सम्प्रदाय को "चैतन्य सम्प्रदाय" के नाम से जाना जाता है। चैतन्य महाप्रभु मूल रूप से "नवद्वीप" (बंगाल) के थे, परन्तु इनके अनुयायी ब्रज प्रदेश में रहते थे।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने महाप्रभु चैतन्य के बारे में लिखा है कि "यदि रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तरण कर रामभक्ति का प्रचार किया तो निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य तथा विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर उनके अनुयायी चैतन्य एवं वल्लभाचार्य ने श्री कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति भागवत-पुराण से ली गई है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्त्व है। आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है।"[७५]

चैतन्य महाप्रभु की कीर्तन-तन्मयता प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय को द्वैताद्वैत मत मान्य था, जिसके अनुसार कृष्ण के दो रूप हैं—सगुण एवं निर्गुण। इनके एकमात्र आराध्य श्री कृष्ण नराकृति लीलामय पुरुषोत्तम एवं माधुर्य-मण्डित हैं। इस सम्प्रदाय की आदिवाणी, गीत-गोविन्द-भाषा आदि प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

कृष्ण भक्ति शाखा में "वल्लभाचार्य" का स्थान मूर्धन्य माना जाता है। वे तेलुगुप्रदेश के एवं विष्णुस्वामी के मतावलम्बी लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जीवन संवत् १४०९ से १५३० तक माना जाता है। इन्होंने अपने सम्प्रदाय का केन्द्र स्थल गोवर्धन स्थित श्री नाथजी के मन्दिर में स्थापित किया, जिसका निर्माण वल्लभाचार्य के भक्त पूरनमल खत्री ने सन् १५१४ में किया था। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त को "पुष्टिमार्ग" के नाम से जाना जाता है। यही पुष्टिमार्ग हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों का मूलाधार रहा है। इसमें माधुर्यभाव पर विशेष बल दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार श्री कृष्ण के बाल किशोर रूप की माधुर्यभाव की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ है। माधुर्यभाव प्रधान होने के कारण इनकी भक्ति भी माधुरी भक्ति कहलाती है। इसमें भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति ही मुख्य है एवं बालकृष्ण की लीला में भाग लेना भक्त का सर्वस्व है। इस भक्ति का पूर्ण परिपाक राधाकृष्ण और गोपियों के प्रेम से ही होता है।

वल्लभाचार्य ने मुक्ति के दो मार्ग माने हैं—एक ज्ञान मार्ग और दूसरा साधना मार्ग। जिसे मर्यादा मार्ग कहा है, वह पहले प्रकार का है तथा दूसरा अनुग्रह का मार्ग है, जिसे पुष्टि मार्ग कहा है। यह मार्ग मर्यादा मार्ग से श्रेष्ठ है। इसके अनुसार भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। इस मार्ग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने से जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है तथा उसकी लीला में भाग लेने लगती है। डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव ने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :—

(१) भक्ति के लिए भगवान् का अनुग्रह अनिवार्य है।

(२) भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।

(३) राधा कृष्ण की आत्मशक्ति है।

(४) श्री कृष्ण का बालरूप ही उपास्य है इसके साथ माधुर्य भाव से प्रेरित राधा-कृष्ण का युगल रूप भी उपास्य है।

(५) भक्ति के दो प्रकार हैं—(१) मर्यादा-भक्ति (२) पुष्टि-भक्ति

साधन सापेक्ष मर्यादा भक्ति है और साधन निरपेक्ष भक्ति पुष्टि-भक्ति है। यह भगवान् के अनुग्रह पर ही आधारित है। अपनी लीला के लिए भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं।

(६) पुष्टि के चार रूप हैं—(क) प्रवाह पुष्टि—अर्थात् संसार के मध्य ही भक्ति करना (ख) मर्यादा पुष्टि—संसार से आकर्षित रहकर कृष्ण का गुणगान करना (ग) पुष्टि-पुष्टि—कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त भक्ति (घ) शुद्धि-पुष्टि—केवल प्रेम के अनुग्रह के आधार पर कृष्ण का अनुग्रहण प्राप्त करना।[७६]

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग को लेकर कई ग्रन्थ लिखे हैं, जो षोडश ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कृष्ण को परब्रह्म माना है तथा उनके अनुग्रह को प्राप्त करने को कहा है। वल्लभाचार्य के गौ-लोकवास पश्चात् क्रमशः उनके दो पुत्रों ने गोपीनाथ तथा विट्ठलनाथ ने इस मत का प्रसार-प्रचार किया। विट्ठलनाथ ने तो कृष्णभक्त आठ प्रमुख कवियों को सम्मलित कर अष्टछाप की स्थापना की जो हिन्दी साहित्याकाश में मार्त्तण्ड की भाँति जाज्वल्यमान है। ये आठ कवि थे—कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास इनकी सविस्तार चर्चा हम हिन्दी के 'कृष्णभक्त-कवि' शीर्षक में करेंगे। विट्ठलनाथ के निधन के पश्चात् यह सम्प्रदाय विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो गया तथा छिन्न-भिन्न होकर प्रभावहीन बन गया।

कृष्ण भक्ति परम्परा में ''राधावल्लभी'' सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश भी प्रसिद्ध है। ये पहले माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे परन्तु एक बार राधा ने इन्हें स्वप्न में एक मन्त्र दिया और इससे प्रेरणा पाकर इन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में कृष्ण की अपेक्षा राधा को विशेष महत्त्व दिया गया है। इन्होंने संवत् १५८२ में वृन्दावन में राधावल्लभ की युगलमूर्ति की स्थापना कर वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। इस प्रकार अपनी साधना का केन्द्र वृन्दावन ही बनाया। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विधि-निषेध का त्याग तथा अनन्य हास्य मिलता है। दार्शनिक दृष्टि से इसे सिद्धाद्वैत-सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय में कई भक्त कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

स्वामी हितहरिवंश की भाँति श्री हरिदासी को सखी-सम्प्रदाय या टट्टी सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। ये प्रसिद्ध गायनाचार्य थे। इन्होंने चैतन्यमत के बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। परन्तु, आगे चलकर इनके सम्प्रदाय में सखी भाव की

उपासना का महत्त्व बढ़ जाने से यह सखी सम्प्रदाय के नाम से जाना गया। इन लोगों ने स्त्री को आत्मसमर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह मानकर ही सखी भाव की उपासना को महत्त्व दिया है। इस सम्प्रदाय की मूल भावना इस प्रकार है—

(१) सततक्रीड़ा-रत युगलमूर्ति का ध्यान

(२) सखी भाव से युगलमूर्ति की उपासना

इस सम्प्रदाय के अनुयायी दार्शनिक उहापोह में न पड़कर केवल मधुरा-भाव की उपासना में ही आस्था रखते थे। हरिदास के एक शिष्य "भगवत रसिक" ने कहा है कि—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, युगल मन्त्र को जाप॥
ना ही द्वैताद्वैत हरि, ना ही विशिष्टाद्वैत।
बन्धे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत॥

बांस की जाफरी (टटिया या टट्टी) से घिरा होने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम टट्टी सम्प्रदाय पड़ गया। इसकी भावी परिणिति भी घोर शृंगारिक भावना के रूप में हुई है।

कृष्ण-भक्ति का स्वरूप :-

कृष्ण-भक्ति-काव्य में भक्ति को स्वतंत्र रस के रूप में अंगीकार किया है। इस काव्य-परम्परा में भक्ति के चार रूप मिलते हैं :—१. सांख्य भक्ति २. वात्सल्य भक्ति ३. मधुरा भक्ति तथा ४. शान्ता भक्ति। सांख्य भक्ति में श्री कृष्ण की उपासना सखा भाव से की गई है। इसमें गोचारन, माखन चोरी आदि के समय गोपी बालकों के साथ की गई श्री कृष्ण लीलाओं का वर्णन मिलता है। वात्सल्य भक्ति में माता-पिता का स्नेह, दुलार आदि का विशद वर्णन मिलता है। इसमें संयोगावस्था एवं वियोगावस्था; दोनों के मार्मिक चित्र हैं। संयोग में बाल कृष्ण की लीलाओं को देखकर यशोदा असीम आनन्द की अनुभूति अनुभव करती है, परन्तु जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, उस समय नन्द व यशोदा श्री कृष्ण के विरह में जल बिन मछली की भाँति तड़पते दिखाई देते हैं। अष्टछाप के कवियों ने मुख्य रूप से मधुरा भक्ति को अपनाया है। इसमें वे अपना प्रणय-निवेदन गोपियों के माध्यम से करते दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें गोपियाँ तथा कृष्ण के संयोग व वियोग मनोभावों के मनोरम चित्रण हैं।

शान्ता भक्ति में मुख्य रूप से शान्त भाव है। सत्संग, उपदेश, भक्ति आदि उद्दीपन विभाव है। भक्त संसार की मोह-माया त्याग कर शान्त-चित्तावस्था में परमानन्द की अनुभूति करे, यही शान्ता भक्ति मानी गई है। कृष्ण भक्ति-काव्य में प्राय: यह रूप कम दिखाया गया है। सूर के विनय के पद इसी भाव से ओतप्रोत हैं।

निष्कर्ष के तौर पर भक्ति के इन चारों प्रकारों में श्री कृष्ण भक्त कवियों ने विशेष रूप से मधुरा भक्ति को ही अपनाया है। कृष्ण भक्ति परम्परा का लम्बा इतिहास रहा है इसके सम्बन्ध में अधोलिखित उद्धरण अवलोकनीय है—

वेदों से जो भक्ति-कल्पवल्लि अंकुरित हुई, वही आगे चलकर विष्णु, नारायण, वासुदेव कृष्ण जैसे विविध देवकल्पद्रुमों का आश्रय पाकर सात्वत धर्म, भागवत धर्म, पांचरात्र धर्म, ऐकान्तिक भक्ति, वैष्णव भक्ति, पुष्टि सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय जैसी भक्ति-धाराओं से अभिसिंचित होकर रामेश्वर से हिमालय एवं कच्छ से असम तक खूब फूली, फली। इस भक्ति ने विगत सहस्र से भी अधिक वर्षों से भारत ही नहीं, वरन् सारे विश्व के अनेक देशों के जनमानस को अपनी असीम धाराओं से संतृप्त एवं परिपुष्ट कर उसे परम आह्लादकारी एवं उत्तरोत्तर अभिवृद्धिमती जिजीविषा के मधुर ज्वार से कृतकाम कर रखा है।[७७]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कृष्ण भक्त कवियों की तन्मयता और निःस्पृहता की आलोचना करते हुए लिखा है कि—

"सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित बालकृष्ण की बाल लीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम लक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर स्वरूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य-बुद्धि का आश्रय छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्म-स्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुएँ और न अनेकरूपता आई।"[७८]

आचार्य शुक्ल का यह आलोचनावादी दृष्टिकोण बहुत दिनों तक प्रभावित रहा एवं कुछ अंशों में आज भी है। शुक्ल ने साहित्य का एकमात्र हेतु लोकहित ही स्वीकार किया है। लेकिन कई विद्वानों ने कृष्ण भक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है क्योंकि इस काव्य में कृष्ण भक्तों ने मानव-मन को परिष्कार करने की व्यंजना पद्धति अपनाई है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कृष्ण भक्तों के साहित्य की इसी मूल भावना की पहचान कर; उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—

"श्री कृष्ण भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य-विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्‌बुद्ध करता है। उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता है। वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है।"[७९]

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवि :–

हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्यधारा को प्रवाहित करने का सर्वप्रथम श्रेय मैथिल-कोकिल विद्यापति को जाता है परन्तु विद्यापति के कृष्ण-काव्य में जो माधुर्य भाव की रस-धारा मिलती है, उस पर गीत-गोविन्दकार जयदेव का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि जयदेव के कृष्ण-प्रेम संगीत ने हिन्दी कृष्ण काव्यधारा को प्रेरणा प्रदान की और उसी के सुर में सुर मिलाकर मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपने गीतों का प्रणयन किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कृष्ण काव्य के प्रथम प्रणेता विद्यापति ही है।

(१) विद्यापति :–

हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य का श्रीगणेश विद्यापति से ही माना जाना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इन्होंने अपनी "पदावली" को सरसता से लिखा, इससे पण्डित-समाज ने इन्हें अभिनव-जयदेव, मैथिल-कोकिल, नवकवि-शेखर आदि उपाधियों से विभूषित किया। हिन्दी जगत में इन्हें असाधारण लोकप्रियता मिली।

इनका जन्म दरभंगा के विसपी ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। इनके पिता श्री गणपति ठाकुर संस्कृत के विद्वान एवं राजकवि थे। अत: बचपन से ही उन्हें लेखन की परम्परा प्राप्त हुई। इनकी रचनाओं से प्रभावित होकर "तिरेहुते" के राजपरिवार ने इनका खूब सम्मान किया। इनके संस्कृत व अपभ्रंश में लिखे ग्रन्थों के उपरान्त "पदावली" सुविख्यात कृति है। यह मैथिली-हिन्दी की रचना है। भक्तों द्वारा गाये जाने के कारण यह रचना सुविधानुसार परिवर्तित रही है। इन्होंने इसमें राधाकृष्ण के शृंगार का वर्णन किया है। बाबू ब्रजनन्दन तथा श्यामसुन्दर इन्हें परम वैष्णव स्वीकार करते हैं जबकि हरप्रसाद शास्त्री, रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान इन्हें घोर शृंगारी कवि मानते हैं।

नख-शिख-सौन्दर्य, मिलन, आकांक्षा, काम-केलि और पूर्वाधारित प्रेमलीलाओं की वियोग काल में स्मृति आदि इनका मुख्य वर्ण्य विषय रहा है। भाव-वर्णन बड़ा ही मार्मिक, प्रौढ़ व सशक्त बन गया है, जिसमें हृदय की तरलता व गहराई के दर्शन होते हैं। विद्यापति के माधुर्य-भाव का परवर्ती कृष्ण-काल के कवियों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

अष्टछाप कवि या वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि :–

हिन्दी साहित्य के कृष्ण-काव्य परम्परा में अष्टछाप के कवियों का सर्वाधिक महत्त्व है, जो वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। वल्लभाचार्य के शिष्य गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने शिष्य एवं वल्लभाचार्य के शिष्यों में से प्रमुख आठ कृष्ण-भक्तों को समन्वित कर अष्टछाप की रचना की। इन कवियों की भक्ति काव्य रचनाएँ, भगवान् के प्रति तन्मयता आदि प्रसिद्ध रही है। इन कवियों में सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास,

गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रसंगानुसार संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा। वैसे इनके जीवन चरित्र पर अनेक विद्वानों ने शोधपूर्वक, सविस्तार प्रकाश डाला है परन्तु यहाँ संक्षिप्त रूप से निरूपित करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) सूरदास :–

हिन्दी की कृष्ण-भक्ति-काव्य-परम्परा में सूरदास का मूर्धन्य स्थान है। इनका जीवनवृत्त, उनकी कृतियाँ एवं बाह्य-साक्ष्य भक्तमाला (नाभादास), चौरासी वैष्णव की वार्ता (गोकुलदास), वल्लभदिग्विजय (यदुनाथ) तथा "निजवार्ता" के आधार पर लिया गया है।

इन्होंने वल्लभाचार्य से शिष्यत्व ग्रहण किया था। इनका मुख्य विषय कृष्ण-भक्ति था। श्रीमद् भागवत पुराण को उपजीव्य मानकर इन्होंने राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का सर्वाधिक वर्णन के उपरान्त इनके दैन्य के पद भी उच्चकोटि के हैं। सूर का भावचित्रण एवं वात्सल्य-निरूपण अद्वितीय है। इनकी रचना, पद-रचना है। इन्होंने अपने काव्य में सर्वप्रथम ब्रजभाषा को अपनाकर गौरवमण्डित किया है। इनकी भक्ति पुष्टिमार्गी भक्ति है। इन्होंने भक्ति के एकादश स्वरूपों का वर्णन किया है। हम यहाँ महाकवि सूर के सम्बन्ध में सविस्तार चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि अगले परिच्छेद में इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सविस्तार समीक्षा करनी है। लेकिन सूरदास वात्सल्य-भक्ति एवं शृंगार के अद्वितीय कवि थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ रचित अष्टछाप में वे अपना प्रमुख स्थान रखते थे।

(२) कुम्भनदास :–

इनका जीवन काल "चौरासी वैष्णव की वार्ता" के अनुसार ई०सं० १४६८ से १५८३ तक माना जाता है। ईसवी सन् १४९२ में इन्होंने वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी कोई स्वतंत्र रचना उपलब्ध नहीं होती, लेकिन इनके कुछ पद राग-कल्पद्रुम, राग-रत्नाकर, वर्षोत्सव, कीर्तन-वसन्त, धमार-कीर्तन में संकलित मिलते हैं।

वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के मन्दिर में प्रथम कीर्तनकार के रूप में कुम्भनदास को नियुक्त किया था। ये नित्य नये पद गाकर श्रीनाथजी की सेवा-अर्चना करते थे। आगे चलकर विट्ठलनाथ ने कुम्भनदास व उनके पुत्र चतुर्भुजदास दोनों को अष्टछाप में लिया था। कांकरोली से प्रकाशित पुस्तक में इनके ४०१ पद संग्रहित हैं।[८०] कुम्भनदास की रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं, जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है।[८१] इनमें कवित्व की दृष्टि से विशिष्ट मौलिकता न होने पर भी इनकी संगीतज्ञता प्रसिद्ध रही है। इन्होंने बाल-लीला की अपेक्षा युगललीला के पदों का सर्वाधिक गान किया है। इसके सम्बन्ध में एक उल्लेख द्रष्टव्य है—"सो कुम्भनदास सगरे कीर्तन युगल स्वरूप सम्बन्धी कीजै। सो बधाई पलना बाललीला गाई नहीं।"[८२]

इनके किशोर लीला के पदों में माधुर्य, दान, मान आदि श्रृंगारिक लीलाओं का चित्रण मिलता है। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि—

कुंभन कृष्ण गिरिधर सो कीन्ही सांची प्रीति।
कर्म धर्म पथ छांडिकै, गाई निज रस रीति॥

(३) परमानन्ददास :–

सूरदास की भाँति परमानन्ददास भी उच्चकोटि के भक्त कवि थे। इनका जन्म सं० १५५० में फर्रूखाबाद के कन्नौज नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनमें बचपन से ही कविता करने की उत्कट इच्छा थी। वे हरिकीर्तन गाने में दक्ष थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करके इन्होंने कीर्तनकार के रूप में सुयश की प्राप्ति की। वल्लभाचार्य ने इन्हें दीक्षित कर श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन करने का दायित्व सौंपा। वे विनम्र एवं विरक्त कवि थे। संवत् १६४१ में इनका देहावसान हुआ। बाल एवं वात्सल्य निरूपण में अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् इनका द्वितीय स्थान है। इनके पदों में श्रृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों का विस्तृत निरूपण है। इनकी रचनाओं में दानलीला, उद्धवलीला, परमानन्दसागर, परमानन्ददासजी के पद एवं वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन संग्रह इत्यादि कृष्ण विषयक हैं।[८३] इन सबमें परमानन्दसागर इनकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है।

इन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। सूक्ष्मता के साथ सरलता और सच्चाई उनकी खास विशेषता है। बाल स्वभाव की मार्मिक व्यंजना देखिए अग्रांकित पद में—

तनक-तनक दोहरी देहैरी मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यो मोहि धोरी गैया॥
हरि विषयासन बैठिके मृदु कर धर लीन्हों।
धार अटपटी देखिके ब्रजपति दीन्हों॥

(परमानन्दसागर)

इन्होंने ब्रज भाषा में अपनी पद रचना की है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता एवं प्रांजलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। इनकी रचनाओं में बाल-प्रभाव, दाम्पत्य-भाव एवं दास-भाव की आराधना दृष्टिगोचर होती है।

(४) कृष्णदास :–

आचार्य वल्लभ के शिष्य एवं अष्टछाप के कवि कृष्णदास का जन्म सं० १४९६ में खेड़ा जिले के चिलोत्तरा ग्राम में हुआ था। ये पाटीदार पटेल थे।[८४] पिता से वैमनस्य होने के कारण वे ब्रज गये थे। वहाँ गोवर्धन पर्वत पर आचार्य ने इनको

अपना शिष्य बनाया था।[८५] इनकी भक्ति, कार्यक्षमता एवं कुशाग्र बुद्धि के आधार पर इनको श्रीनाथजी मन्दिर का अधिकारी बनाया गया था। वे आजीवन अविवाहित रहे। एक किंवदन्ति के अनुसार ई०सं० १५०२ में एक कुआँ बनवाते समय इनकी मृत्यु हुई।[८६]

इनके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं (१) जुगलमाल चरित्र (२) भ्रमरगीत (३) प्रेमगीत निरूपण (४) भक्तमाल टीका (५) वैष्णववंदन (६) वानि प्रेमरस राजि (७) हिंडोला लीला (८) दान लीला।[८७]

इनका कवित्व साधारण कोटि का है परन्तु ये संगीत के मर्मज्ञ एवं सरस गायक थे। इन्होंने ब्रज भाषा में अपने पदों की रचना की है। राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप का निम्न पद उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

रसिक नी राधा रस भीनी।
मोहक रसिक गिरिधरपिय, अपने कण्ठु मनि कीनी॥
रसमय अंग-अंग रस-रसमय रसिक रसिकता चिन्हीं।
उभयस्वरूप का रति न्यौछावरि, "कृष्णदास" को दीनी॥[८८]

(५) नन्ददास :-

अष्टछाप कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का स्थान प्रमुख है। ये गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्य एवं आयु में सबसे छोटे थे। इनका जन्म सन् १५३३ में राजपुरा में हुआ। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये तुलसीदास के चचेरे भाई थे। इन्होंने बचपन से ही तुलसी के साथ संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। प्रारम्भ में रामभक्त, परन्तु बाद में विठ्ठलनाथ से पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए। अष्टछाप के अन्य भक्त कवियों की भाँति इन्होंने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना की है। साथ में इनके कई ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं।

ये उच्चकोटि के भावुक कवि थे। इनकी रचनाओं में सरसता व मधुरता की अभिव्यक्ति है। "रास पंचाध्यायी" काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें भक्तिभाव की न्यूनता, परन्तु शृंगार का प्राधान्य है। इनका भ्रमरगीत उत्तर ग्रन्थ है। इसमें उद्धव गोपी संवाद के माध्यम से ज्ञान पर प्रेम की एवं निर्गुण पर सगुण की विजय दिखलाई है। इसमें गोपियों की हृदयस्पर्शी विरह वेदना का अंकन किया गया है।

नन्ददास का स्वर भक्ति का रहते हुए भी उद्दाम शृंगार भाव से ओतप्रोत रहा है। ये एक विद्वान, काव्यशास्त्र के अध्येता एवं कुशल कवि थे। इनकी भाषा सुसंस्कृत प्रौढ़ता को लिए हुए हैं। उसके बारे में कहा गया है कि—"ओर कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया"।

(६) गोविन्द स्वामी :-

संगीतकला के मर्मज्ञ के रूप में गोविन्द स्वामी का विशेष महत्त्व है। अकबर के दरबारी तानसेन भी इनकी गायनकला पर मुग्ध थे। इनका जन्म भरतपुर के आंतरी नामक ग्राम में ई०सं० १५०५ में हुआ था। एक पुत्री होने के बाद इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। अत: गृहस्थाश्रम का त्याग कर आंतरी ग्राम छोड़कर ब्रज में चले गये थे। वहाँ गोस्वामी विठ्ठलनाथ से शिष्यत्व स्वीकार कर इन्होंने पुष्टिमार्ग के अनुरूप ही श्री कृष्ण की बाललीला एवं प्रेम लीला का निरूपण किया। इनके रचित कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता परन्तु गोविन्द स्वामी के पद नामक ग्रन्थ में इनके स्फुट पदों का संग्रह किया गया है। इनकी काव्य-रचना विशेष उल्लेखनीय नहीं है परन्तु इसमें संगीत, लय, स्वर आदि का विशेष ज्ञान मिलता है। ये रसनायक रसस्वरूप भगवान् श्री कृष्ण के परम संकीर्तक थे। वे गोपीवल्लभ रसरूप कृष्ण को ही परब्रह्म मानते थे।

(७) छीत स्वामी :-

इनका जन्म मथुरा में ईसवी सन् १५१५ में एक सुसम्पन्न चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में वे बड़े उद्दण्ड और अक्खड़ स्वभाव के थे। एक बार विठ्ठलनाथ की चमत्कारिता को देख उन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण की, बाद में वे गोवर्धन पर्वत के निकट "पूँछरी" नामक स्थान में रहने लगे। इनकी भक्ति एवं तन्मयता के आधार पर इनको अष्टछाप में सम्मिलित किया गया। उन्हें ब्रजपति एवं ब्रजमण्डल से अगाध प्रेम था। ये कृष्ण के अनन्य भक्त थे। "अनन्त नामावली" में इनके कृष्ण के प्रति पावन प्रेम होने के कारण इनके नाम की महिमा बताई गई है—

रामानन्द अंगद सोमू, हरिव्यास और छीत।
<क एक के नाम ते, सब जग होय पुनीत॥

"कहा जाता है कि विठ्ठलनाथ के अवसान के समय आघात न सहन करने के कारण ईसवी सन् १५८५ में इन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया था।"[८९]

इनकी भी कोई स्वतंत्र रचना नहीं है परन्तु इनके २०० स्फुट पद प्राप्त हो सकत हैं, जो विविध कीर्तन संग्रहों में संग्रहित है। इस पदों में इन्होंने श्री कृष्ण की शृंगार लीलाओं के अतिरिक्त ब्रज की भूमि और रज की प्रशंसा की है। काव्य-कला की दृष्टि से इनकी कविता साधारण कोटि की है।

चतुर्भुजदास :-

ये अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास के सातवें पुत्र थे। इनके जीवन वृत्त के बारे में "दो सौ वैष्णव की वार्ता" तथा "अष्टसखा की वार्ता" में वर्णन मिलता है। तदनुसार इनका जन्म गोवर्धन के पास जमुनावती गाँव में ईसवीं सन् १५५६ में

हुआ था। पिता के आदेशानुसार दस वर्ष की अवस्था में इन्होंने पुष्टिमार्ग से दीक्षा ग्रहण की थी।

पिता के साथ कीर्तन सेवा करने के कारण अल्प आयु में ये उत्तम रीति के काव्य रचना करने लगे थे। ये आशु कवि थे। वे जीवन पर्यन्त अनन्य भाव से श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा करते रहे। इसी गुण के कारण विठ्ठलनाथ ने इन्हें कृपापात्र बनाकर अष्टछाप में स्थान दिया। ईसवी सन् १५८५ में गोस्वामी विठ्ठलनाथ के देहावसान के हृदय-विदारक आघात से इन्होंने भी अपने देह का त्याग कर गोलोक में प्रवेश किया। इनकी भी कोई स्वतंत्र रचना नहीं है। स्फुट पदों के तीन संग्रह उपलब्ध होते हैं—(१) चतुर्भुज कीर्तन संग्रह (२) कीर्तनावली (३) दानलीला। इनके पदों में शृंगार रस का विशेष निरूपण हुआ है। कृष्ण जन्म से लेकर गोपी विरह, ब्रजलीला तक का गान इनका काव्य-विषय रहा है। बाललीला वर्णन में इनका यह मनोवैज्ञानिकता पर आधारित पद देखिए—

चुटिया तेरी बड़ी किंधो मेरी।
अहो सुबल बैढ़ि भैया हो, हम तुम मापे एक बेरी।
ले तिनका मापत उनकी कछु अपनी करत बड़ेरी।
लेकर कमल दिखावत ग्वालन ऐसी काहु न केरी॥
माँ को मैया दूध पिबावत ताते होत घनेरी।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर इहि आनन्द नाचत दे दे फेरी॥[११]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण भक्त कवि :–

अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवियों के पश्चात् राधावल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण भक्त कवियों का भी हिन्दी साहित्य में विशेष महत्त्व है। यह सम्प्रदाय भी कृष्ण भक्ति का एक प्रमुख सम्प्रदाय माना जाता है। ब्रह्मसम्प्रदाय या "माध्वसम्प्रदाय" के अन्तर्गत इसमें प्रेम को ही भक्ति का मूलाधार माना गया है।

(१) गोस्वामी हितहरिवंश :–

आचार्य शुक्ल के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५९ में मथुरा के पास "बाद" गाँव में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। ये कृष्ण के अनन्य भक्त एवं गृहस्थ थे। स्वप्न में एक बार राधा की प्रेरणा से इन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय (राधावल्लभ सम्प्रदाय) की स्थापना की थी। ये वृन्दावन में राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति की स्थापना कर उनके लीलागान में लगे रहे। ये संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे कवि थे। राधासुधानिधि, यमुनाष्टक (संस्कृत) तथा हित-चौरासी एवं स्फुटवाणी हिन्दी की रचनाएँ हैं। इन्होंने अपने पदों में परिष्कृत ब्रजभाषा को अपनाया है, जो सरस एवं हृदय-ग्राहिणी रही है। इनकी भाषा में संगीतात्मकता, प्रांजलता, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता एवं समीचीन वर्ण-विन्यास के उल्लेखनीय गुण उपलब्ध होते हैं। इनका एक पद द्रष्टव्य है—

विपिनघन कुंजरति केलि भुज मेलिरुचि,
स्याम-स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल रसमूल पिय नागरी,
कर निकट मत मन विविध गुन रागिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेश बस,
दलित दल मदन बल कोकरस कामिनि।
हित हरिवंश सुनि लाल लावन्य भिंदे
प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी॥[१२]

(२) दामोदरदास :–

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों में दामोदरदास की गणना की जाती है। इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। इनका ग्रन्थ "सेवक-वाणिका" धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह "हितचौरासी" की पूरक कृति मानी जाती है। कहा गया है कि—

"चौरासी अरु सेवक वाणी, इक संग लिखित पढ़त सुखदानी।"

यह ग्रन्थ उनकी सहज अभिव्यक्ति के आधार पर सम्प्रदाय की मूल भावना से ओत-प्रोत रहा है।

(३) हरिराय व्यास :–

ये औरछा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। औरछा नरेश "मधुकरशाह" के ये राजगुरु थे। शैशव से ही इन्होंने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। पहले ये आसक्त भाव के सद्गृहस्थ थे, परन्तु बाद में विरक्त होकर साधु बन गये। इनके ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में मिलते हैं। हिन्दी में "व्यासवाणी" तथा "रागमाला" इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ रही हैं। इनके काव्य में भक्ति के निरूपण के उपरान्त शृंगार रस का सरस चित्रण मिलता है। "व्यासवाणी" में माधुर्य-भक्ति, राधाकृष्ण की भी निकुंज लीलाओं का बड़ा ही मनोरम निरूपण मिलता है—

कुंज केली मीठी है विरह भक्ति सीढ़ी ज्यों आग।
व्यास विलास रास रस जीवत मिटे हृदय के दाग॥

इनके पदों में उच्च कोटि की सरलता प्रांजलता मिलती है। उन्होंने शृंगार एवं शान्त रस को अपने काव्य का मुख्य हेतु बनाया है। इनकी भाषा भी भावानुकूल है।[१३]

चतुर्भुजदास :–

इनका जीवन वृत्त भ्रामक रहा है। कई विद्वानों ने अष्टछाप के चतुर्भुजदास एवं राधावल्लभीय चतुर्भुजदास को एक मान लिया है। मिश्र-बन्धुओं व "शुक्ल" के इस भ्रम

को सर्वप्रथम "दीनदयाल गुप्त" ने दूर किया। इनका "द्वादश-यश" ग्रन्थ प्रसिद्ध है। जिसमें भक्ति के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया गया हैं। इनके कुछ फुटकर पद हैं। ब्रज भाषा का मधुमाधुर्य ही उनकी रचना का प्राण है। काव्य-कला की दृष्टि से इनका महत्त्व नहीं है।

ध्रुवदास :–

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में इनका जीवनवृत्त प्रामाणिक रूप से नहीं मिलता है। जनश्रुतियों एवं गोस्वामी जतनलाल तथा चाचा वृन्दावनदास द्वारा उल्लेखित सामग्री के आधार पर जीवनवृत्त इस प्रकार से है।

इनका जन्म ई०सं० १५६३ में देवबन्द (सहारनपुर) के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। ये शैशव से ही वैष्णव भक्ति से ओत-प्रोत परिवार में बड़े हुए। ई०सं० १६४३ के आसपास इनका देहावसान हो गया। इनकी कृतियों में इनका प्रमुख लक्ष्य राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करना रहा है। व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक अद्यावधि से विवेचन इस सम्प्रदाय के किसी कवि ने नहीं किया। वियोगी हरि ने ब्रजमाधुरी में इनके चालीस ग्रन्थों की सूची दी है परन्तु मिश्र बन्धु विनोद में इनके बयालीस ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।

श्री कृष्ण के श्रृंगार वर्णन में इन्होंने वियोग का तिरस्कार कर संयोग को ही स्वीकार किया है। ये संभोग को ही प्रेम का पर्याय मानते हैं। इन्होंने कवित्त, सवैया, कुण्डलियाँ आदि विविध छन्दों का प्रयोग कर गेय-पदों की रचना की है।

(६) नेही नागरीदास :–

नागरीदास के नाम से हिन्दी साहित्य के कई भक्त कवि विख्यात हैं परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय के नागरीदास के "नेही" उपाधि होने के कारण वे सबसे अलग हो जाते हैं। ये राधा के अनन्य भक्त कवि थे। भगवत मुक्ति कृत "अनन्य रसिकमाल" में इन को पंवार क्षत्रिय कुलोद्भव तथा बैरछा गाँव (बुंदेलखंड) का निवासी बताया गया है।[९४] बचपन से ही इनकी रुचि भक्ति में थी। चतुर्भुजदास के मिलने पर इन्होंने घर-बार छोड़ वृन्दावन को प्रस्थान किया तथा वहाँ "गोस्वामी वनचन्द्र" से दीक्षा ली।

राधाष्टक सिद्धान्त, दोहावली, पदावली तथा रसपदावली—ये इनके चार ग्रन्थ माने जाते हैं। इन रचनाओं में भक्ति तथा श्रृंगार का ही प्राधान्य रहा है। इनका काव्य-गुण साधारण कोटि का है।

(७) कल्याण पुजारी :–

इनके जीवनवृत्त के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है परन्तु इनके २०० मुक्तक मिलते हैं। इन्होंने अपने मुक्तकों में प्रणय भक्ति आदि भावनाओं की व्यंजना

उत्कृष्ट काव्यात्मक रूप से की है। काव्यत्व की दृष्टि से इस सम्प्रदाय में इनको श्रेष्ठ कवि माना जाता है।[१५]

(८) चाचा वृन्दावन दास :–

राधावल्लभ सम्प्रदाय में ग्रन्थों की दृष्टि से चाचा वृन्दावन दास का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया जाता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इनके लिखे १५८ छोटे-बड़े ग्रन्थ मिलते हैं। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ''लाड़सागर'' है जिसमें राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है। इनका कवित्व साधारण कोटि का है।

इन कवियों के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के सैकड़ों कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अत: उनको उल्लेखनीय नहीं जान जाता है।

सखी सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवि :–

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में सखी सम्प्रदाय का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सम्प्रदाय का संक्षिप्त उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया है। इस सम्प्रदाय को टट्टी सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्प्रदाय में कई महत्त्वपूर्ण कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख करना न्याय संगत होगा।

(१) स्वामी हरिदास :–

इन्हें इस सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। इनका जन्म ई०स० १४६८ में वृन्दावन के निकट राजपुर नामक ग्राम में हुआ था। ये महान् संगीतज्ञ थे। उस समय के प्रसिद्ध गायक ''बैजुबावरा'' के ये गुरु थे। तानसेन जैसे महान् संगीतज्ञ भी इनका संगीत सुनने आया करते थे। ये बाँके-बिहारीजी के उपासक थे तथा रसमार्ग के राही थे। इनकी रचनाओं में सिद्धान्त के पद, केलिमाल हरिदास के पद, हरिदास की बानी, हरिदासजी के ग्रन्थ आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने थोड़ा लिखकर भी अमर ख्याति की प्राप्ति की है। आपने श्री कृष्ण की मृदु लीलाओं का वर्णन किया है। इनकी कल्पना स्वाभाविक एवं सहज है। भाषा बोलचाल के निकट तथा भावानुकूल है।

(२) जगन्नाथ गोस्वामी :–

ये स्वामी हरिदास के छोटे भाई थे। स्वामी हरिदास के वृन्दावन-निवास के कुछ समय पश्चात् जगन्नाथ गोस्वामी भी वृन्दावन आये। स्वामीजी ने इन्हें ''श्रीबाँकेबिहारी'' की पूजा-अर्चना का काम सौंपा। इनका कृष्ण भक्ति विषयक ''अनन्य सेवाविधि'' नामक ग्रन्थ है। इनके स्फुट पद अनेक कीर्तन संग्रहों में सम्मिलित हैं।

(३) विट्ठल विपुल :–

एक मान्यतानुसार ये श्रीस्वामीजी के छोटे भाई थे परन्तु निजमत-सिद्धान्त में इन्हें हरिदास के चचेरे भाई स्वीकारा है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास के अनुसार इनकी गुरु-भक्ति अपूर्व थी। हरिदास के गोलोकवास से व्यथित होकर इन्होंने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी परन्तु रसिकों द्वारा रास-लीला देखने-बुलाने पर रासलीला में गुरु को न देखकर इन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इनके ४० पद ही प्राप्त हैं लेकिन नाभादास ने इनको रसराज की उपाधि प्रदान की है। इनकी भाषा सजीव है एवं अलंकार स्वत: उद्भूत है।[१]

(४) बिहारिनदास :–

ये सखी सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इन्हें इस सम्प्रदाय का गुरु भी माना जाता है। इनके मूल नाम की जानकारी नहीं है परन्तु बिहारिनदास नाम स्वामी गोस्वामी ने दिया था। ये राधाकृष्ण की उपासना में डूबे रहते थे एवं सम्पूर्ण रूप से अपरिग्रही बनकर जीवन-यापन करते थे। ये विपुल विट्ठल के शिष्य थे। इनकी ''बिहारिनदास की जीवनी'' नामक कृति प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का एक भाग साधारण कोटि का है तथा दूसरा भाग रस-सिद्धान्त है। साधारण सिद्धान्त में भक्त की महत्ता तथा रस-सिद्धान्त में सखी भाव की उपासना के तत्त्वों का निरूपण किया है। इनकी भाषा तत्सम प्रधान परन्तु विन्यास की दृष्टि से निराली है।

(५) नागरीदास :–

सखी सम्प्रदाय के एक भक्त के रूप में नागरीदास का नाम उल्लेखनीय है। ये बिहारिनदास के प्रमुख शिष्य थे। निजमत सिद्धान्त के अनुसार ये कामरूप के मंत्री कमलापति के पुत्र थे लेकिन यह पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। ''ध्रुवदास'' ने इनकी महत्ता में निम्न दोहा कहा था—

कहो-कहो मृदुल सुभाष, अति सरस नागरिदास।
बिहारि विहारिन को सुयश, गायो हरखि हुलास॥

इनकी २० साखियाँ, २४ चौबीले, ३९ कवित्त-सवैये तथा ६० पद प्राप्त हैं। इनकी शैली पर हरिदास के पदों की स्पष्ट छाप है।

(६) सरसीदास :–

ये नागरीदास के छोटे भाई थे। बिहारिनदासजी की गद्दी के अधिकारी ये ही बने थे। इनकी रचना ६६ छन्दों में मिलती है, जो अष्टाचार्यों की वाणी में संग्रहित है। इनका एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

गोरे तन में प्राण बिम्बित, फूल बीनत लाल बिहारी।
जब-जब हाथ न परत तबही, हँसी जात प्यारी॥

इनकी काव्य-कला साधारण कोटि की है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवि :-

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य थे। इनका दार्शनिक सिद्धान्त "अचिन्त्य भेदा-भेद" कहलाता है। हम इनके दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा न कर इस सम्प्रदाय के प्रमुख कृष्ण-भक्त-कवियों का उल्लेख करेंगे।

(१) रामराय :-

इनका उल्लेख "भक्तमाल" तथा "दो सौ वैष्णव वार्ता" दोनों में मिलता है। ये गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके पद, कीर्तन संग्रहों में श्री भगवान् हित रामराय की छाप से प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अनेक पदों में मात्र रामराय की छाप है।

इनका जन्म लाहौर में हुआ था। बाद में वे आशुधरजी के साथ ब्रज में आये। वहाँ से चैतन्य प्रभु के दर्शन करने हेतु जगन्नाथपुरी गये। तद् उपरान्त श्री विठ्ठलनाथ से दीक्षा प्राप्त कर ब्रज में ही कृष्ण भक्ति का प्रचार-प्रसार करते रहे। इनकी प्रसिद्ध कृति "आदिवाणी" है। इसमें श्री राधा-कृष्ण की लीलाओं का सुमधुर गान किया है।

(२) सूरदास मदनमोहन :-

ये अकबर के समय में संडीले के अमीन थे। ये जाति से ब्राह्मण तथा गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे।[९६] कहते हैं; ये बहुत दानी थे। अपना-पराया सब कुछ साधु-सन्तों को दान कर देते थे। भक्तमाल में भी इनकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की गई है। ये सनातन गोस्वामी के शिष्य थे। इनका मूल नाम सूरदास था लेकिन उपास्यदेव मदनमोहन होने के कारण सूरदास मदनमोहन के नाम से श्री कृष्ण की अटलता जुड़ाई। इनकी कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिलती परन्तु बाबा कृष्णदास ने सुहृद्वाणी में इनके १५० पदों का संग्रह किया है। इनके पदों में शृंगार व वात्सल्य भाव भरा पड़ा है। इनकी कविता भावपूर्ण एवं उत्कृष्ट कोटि की है।

(३) गदाधर :-

ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि ये चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। आचार्य शुक्ल ने इनका रचनाकाल संवत् १५८० से १६०० के बीच माना है। ये संस्कृत एवं हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित थे। नाभादास ने इन्हें सुहृद्, सुशील, वचनप्रतिपालक, अनन्य भजनी, भक्त-सेनी एवं अद्वितीयता के रूप में चित्रित किया है। इनका ग्रन्थ "आदिवाणी" तथा "युगल-शतक" दोनों नामों से जाना जाता है। इसमें राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना विधि का सुन्दर अंकन किया है। ये अनुभूति

तथा अभिव्यंजना दोनों की दृष्टि से हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में उच्चस्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(४) चन्द्र गोपाल :–

ये रामरायजी के अनुज एवं उनसे बारह वर्ष छोटे थे। रामराय के वृन्दावन में बसने के बाद ये भी उनके सान्निध्य में आये। इन्होंने चैतन्य मार्ग का अवलम्बन लिया। इनकी रचनाएँ संस्कृत एवं ब्रजभाषा दोनों में मिलती है। संस्कृत में श्री राधामाधवमाला, गायत्रीमाला, श्रीराधामाधवाष्टक तथा ब्रजभाषा में चनु-चौरासी, अष्टयाम, सेवासुधा, गौरांग, अष्टायन-ऋतुविहार तथा राधा-विहार आदि कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने श्री राधा-कृष्ण की माधुर्य लीला का सुमधुर वर्णन किया है।

(५) भगवानदास :–

"दो सौ वैष्णव की वार्ता" के अनुसार ये आगरा के सूबेदार के दीवान थे तथा चैतन्य सम्प्रदाय के किन्हीं गोविन्ददेव के सेवक थे। इनके कुछ पदों का संग्रह रामरायजी के पदों के साथ मिलता है। इन्होंने अपनी रचनाओं को श्रद्धापूर्वक गुरु के नाम कर दिया है। इनके पदों में जो भगवान् हित रामराय की छाप है, उससे उपर्युक्त मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। इनके लगभग १०० पद उपलब्ध होते हैं। इनका काव्य उत्कृष्ट कोटि का है परन्तु कहीं-कहीं शिथिलता भी दृष्टिगोचर होती है।

(६) माधवदास माधुरी :–

ये भी चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में महाप्रभु चैतन्य की वंदना की है। इनकी रचनाओं में केलिमाधुरी, बंसीवर माधुरी, वृन्दावन माधुरी प्रसिद्ध है। इनका रचना काल १६१८ से १६५६ ई० तक माना जाता है। इनकी भाषा लालित्यपूर्ण, सहज एवं सरल है। उन्होंने अपनी कृतियों में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा इत्यादि विविध छन्दों का सुन्दर प्रयोग किया है।

(७) भगवत मुदित :–

ये भक्तवर माधवमुदित के पुत्र एवं आगरा के दीवान के सूबेदार थे। श्री ध्रुवदास के साक्ष्य के अनुसार इनका कवि होना सिद्ध है, परन्तु इनकी कोई रचना नहीं मिलती है। "वृन्दावन शतक" में इन्होंने स्वयं को गौड़ीय सम्प्रदाय के हरिदास का शिष्य बताया है। इनकी एक रचना "रसिक-अनन्यमाल" भी मिलती है। कई विद्वान् "हित-चरित्र" तथा "सेवक-चरित्र" भी इनकी रचनाएँ मानते हैं परन्तु हिन्दी साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों ने ये ग्रन्थ इनके द्वारा लिखे नहीं माने हैं। इनकी भाषा ब्रज है तथा काव्यकला साधारण कोटि की है।

उपर्युक्त प्रकार से गौड़ीय सम्प्रदाय के ये प्रसिद्ध कवि थे। इनके अलावा भी कई कवियों, भक्तों के नाम मिलते हैं परन्तु उन सब का यहाँ वर्णन करना अनुपयुक्त होगा।

सम्प्रदाय-निरपेक्ष कृष्ण-भक्त-कवि :–

भक्तिकाल में विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़े भक्त कवियों के अलावा कई सम्प्रदाय-निरपेक्ष कृष्णभक्त कवि हुए हैं। इन कवियों का महत्त्व भी अपने आप में अनूठा है। इनमें मीराँ, रसखान आदि कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मीराँ :–

कृष्ण को आराध्य मानकर काव्य रचने वाले भक्त कवियों में मरुधर-मन्दाकिनी मीराँ का स्थान सर्वोच्च है। मीराँ राव दूदाजी की पौत्री एवं राव रत्नसिंह की पुत्री थी। इनका जन्म मेड़ता के समीप "कुड़की" गाँव में हुआ था।[९७] बचपन में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो गया था।[९८] इस पर राव दूदाजी ने मेड़ता में बड़े लाड़ के साथ इनका लालन-पालन किया। बड़ी होने पर मीराँ का विवाह उदयपुर के महाराणा-कुमार भोजराज के साथ हुआ। सात वर्ष पश्चात् इनका भी देहान्त हो गया। इससे मीराँ, जिसे बचपन से ही भक्ति का रंग चढ़ा था, विरक्त हो गई। मीराँ के देवर विक्रमादित्य ने मीराँ को अनेक यातनाएँ दी, इससे मीराँ मेवाड़ को छोड़कर मेड़ता रही। तदुपरान्त तीर्थस्थानों का पर्यटन करती हुई वृन्दावन पहुँची। वहाँ से वह द्वारिका आई एवं जीवन के अंतिम काल सं० १६०३ तक श्री रणछोड़जी की भक्ति में लीन रही।[९९]

ऐसी जनश्रुति है कि मीराँ ने गृहत्याग से पूर्व निम्न पद लिखकर गोस्वामी तुलसीदास से सम्मति माँगी थी :—

स्वस्ति श्रीतुलसी कुल भूषण, दूषण हरण गोसाई।
बारहि बार प्रणाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई॥

इस पर तुलसी ने उक्त पद का उत्तर विनयपत्रिका के निम्न पद को लिखकर भेजा था :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये तोहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम स्नेही।

मीराँ द्वारा रचित चार ग्रन्थ माने जाते हैं (१) नरसिंह का मायरा (२) गीत गोविन्द टीका (३) राग गोविन्द (४) राग सोरठ के पद।[१००] मीराँ के पदों का संकलन "मीराँबाई की पदावली" नामक ग्रन्थ में हुआ है।

मीराँ भी भक्ति माधुर्य-भाव से ओत-प्रोत थी। वह श्री कृष्ण को अपने पति के रूप में मानती थी। वह श्री कृष्ण के रूप माधुर्य की दीवानी थी।

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरति साँवली सूरती नैना बेन बिसाल।

मीराँ ने रैदास को अपना गुरु स्वीकार किया था। इनके पद कहीं राजस्थानी मिश्रित भाषा

में मिलते हैं तो कहीं शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा में। मीराँ के समस्त पद गेय भाषा में हैं। इन्हें विभिन्न राग-रागनियों में गाया जा सकता है। मीराँ के पदों में शृंगार व शान्त रस का सुन्दर प्रयोग हुआ है। मीराँ का विप्रलम्भ शृंगार उत्कृष्ट कोटि का है, वह अत्यधिक मार्मिक व तीव्र बन गया है।

बिरहनी बावरी सी भई।
ऊंची-चढ़ी अपने भवन में हेरत हाय दई।

मीराँ श्री कृष्ण के अनन्य प्रेम में पागल थी। ऐसी तन्मयता अन्यत्र दुर्लभ है।

रसखान :–

रसखान, जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ये भक्ति-रूपी रस की खान थे। ये दिल्ली के रहने वाले पठान थे। इन्होंने गोवर्धन-धाम जाकर गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं है। ये सम्प्रदाय बन्धन से मुक्त श्री कृष्ण के भारी भक्त थे। 'दो सौ वैष्णवन' की वार्ता में इनका एक बनिये के लड़के पर आसक्त होना लिखा है। दूसरे में यह भी पाया जाता है कि जिस स्त्री पर ये आसक्त थे, वह बहुत मानवती थी तथा वह इनका निरादर किया करती थी। कहते हैं कि एक दिन भागवत पढ़ने पर सोचा कि प्रेम तो कृष्ण से ही करना चाहिए। "प्रेम वाटिका" में इस दोहे का संकेत इसी ओर बताया जाता है :–

तोरी मानिनी ते हिया, कोरी मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबिहि लखि, भए मियाँ रसखान।

इनकी निम्न रचनाएँ मिलती हैं—(१) प्रेम वाटिका (२) सुजान रसखान (३) दानलीला तथा (४) अष्टयाम।

इन्होंने अपनी रचनाओं में दोहा, कवित्त, सवैया तथा सारठा इत्यादि छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इनकी भाषा बड़ी ही सरस तथा आडम्बरहीन है। इनका कविताकाल संवत् १६४० के बाद माना जाता है। इनके सवैये हिन्दी साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु ने रसखान के काव्य से प्रभावित होकर यह पंक्ति ठीक ही कही थी कि—

इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटि हिन्दू वारिए।

इनके सरस काव्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मोर पंखा सिर उपर राखिहों गूंजकी माल गरे पहिरोंगी।
ओढ़ि पिताम्बर ले लकुटि वन गोधन ग्वालन संग फिरोंगी॥
भाव तो सोही मोरे रसखान सो, तेरे कहि सब स्वांग करोंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी, अधरा न धरोंगी॥[१०१]

(सुजान रसखान-से)

रसखान ने श्री कृष्ण को आलम्बन बना कर शृंगार रस का प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया है। इनके अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्रण मिलते हैं। माधुर्य एवं प्रसाद गुणों से इनका काव्य अत्यन्त सरस बन गया है। विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों के कारण काव्य में चुटीलापन आ गया है।

भक्तिकाल के विभिन्न सम्प्रदाय से सम्बन्धित एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष कृष्णोपासक भक्त-कवियों की परम्परा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि और नहीं थे। ऐसे अनेक भक्त कवि हुए हैं, जिनकी रचनाओं में प्रेम-माधुर्य का सुधा-स्रोत बहा है, परन्तु उन सब का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

रीतिकाल में कृष्ण काव्य :-

भक्तिकाल में जिस कृष्ण भक्ति काव्यधारा का उद्भव और विकास हुआ, वह शृंगारकाल या रीतिकाल में चलती रही। इस समय अनेक सम्प्रदायों के अन्तर्गत कृष्ण काव्य की रचनाएँ होती रही परन्तु इन सम्प्रदायों के कवियों ने तत्कालीन रीति-नीति के अनुसार राधा-कृष्ण का निरूपण किया। इनके काव्य पर तद्युगीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

इसी कारण भक्तिकालीन आध्यात्मिकता, भौतिकता का रूप ले बैठी तथा सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता एवं नग्नता आई।

इस युग में माधुर्य-भाव की भक्ति कृष्ण और राधा के नामों की आड़ में मानवी शृंगार में परिवर्तित होकर प्रवाहित होने लगी। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार "जीवन की अतिशय रसिकता से घबराने वाले धर्मभीरु रीति कवियों को राधा-कृष्ण का अनुराग आश्वासन देता है। सूरदास जैसे भक्त कवियों ने कृष्ण-भक्ति के जिस विशाल पट को अपने हृदय की शुद्ध-भक्ति के रस से सींचा था। अब उसे अनधिकारी पात्र मलिन हृदय की कलुषित काम-भावना के पंकिल जल से सींचने लगे। उन्होंने राधा-कृष्ण को भक्ति का आलम्बन न मानकर बाह्य विलास के निरूपण में लोकप्रिय नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया है।"

आगे के सुकवि रीझे हैं तो कविताई।
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

इस काल के कवियों ने कृष्ण भक्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के काव्यों की सृष्टि की है—प्रबन्धात्मक एवं मुक्तक। इन दोनों प्रकारों के काव्यों में मूलत: शृंगार भावना ही है जो राधा-कृष्ण के आवरण में आवृत है। इस काल के अनेक कवि भक्तिकालीन कृष्ण-परम्परा में आते हैं, जिन्होंने विशुद्ध रूप से श्री कृष्ण की लीलाओं का निरूपण किया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इन कवियों के बारे में लिखा है कि "यदि इस काल के सब ग्रन्थों का अच्छा सम्पादन तथा प्रकाशन किया जाए तो संभावना है कि भक्तिकाल से भी अधिक और महत्त्व में भक्तिकाल की कविता के समान भक्ति की और कविता प्रकाश में आ सकती है।"[१०२]

प्रबन्धात्मक कृष्ण काव्य :–

यहाँ हम रीतिकाल के ऐसे कवियों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने सही रूप से श्री कृष्ण के लीलामृत को प्रबन्ध-काव्य-कृतियों में निरूपित किया है। इस काल के काव्य के रचयिताओं में गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास, मंचित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(१) गुमान मिश्र :–

ये महोबे के रहने वाले एवं गोपाल-मणि के पुत्र थे। ये वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी तथा वृन्दावन निवासी थे। इन्होंने हर्ष कृत "नैषध चरित्र" का पद्यानुवाद एवं श्री कृष्णचन्द्रिका तथा छंदावरी नामक ग्रन्थ लिखे।

श्री कृष्ण चन्द्रिका, जिसका निर्माणकाल सं० १८३८ है, एक प्रबन्ध काव्य है। इसमें इन्होंने श्री कृष्ण के चरित्र का सुमधुर वर्णन किया है। ये उत्तम कोटि के कवि थे। इनका एक पद द्रष्टव्य है—

दुर्जन की हानि, विरधा पनोई करै पीर, गुनलोप होत एक मोतिन के हारकी।
टूठै मानिमालै निरगुन गायताल लिखै, पोथिन ही अंक मन कलह विचार ही॥

(२) ब्रजवासीदास :–

ये वृन्दावन निवासी वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने सूरसागर के कथानक के आधार पर दोहों, सोरठों तथा चौपाइयों में "ब्रजबिलास" नामक प्रबन्ध काव्य लिखा। यह रचना ईसवी सन् १६६० की मानी जाती है। यह ग्रन्थ साधारण कोटि का है। इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि—

"यामे कछुक बुद्धि नहीं मेरी, उक्ति युक्ति सब सूर हि केरी"

यह ब्रज भाषा में लिखा काव्य ग्रन्थ है। इसमें श्री कृष्ण का जन्म से लेकर मथुरागमन तक भिन्न-भिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी-सादी सुव्यवस्थित तथा चलती हुई है।

(३) मंचित :–

ये मऊ (बुंदेलखंड) के रहने वाले ब्राह्मण थे। इन्होंने कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी दो पुस्तकें लिखी हैं। "सुरभी दान-लीला" तथा "कृष्णायन"। सुरभी दान-लीला में बाल-लीला, यमलार्जुनलीला, दानलीला का विस्तृत वर्णन है। कृष्णायन तुलसीदास के अनुकरण पर दोहों, चौपाइयों में लिखा प्रबन्ध काव्य है। इसमें कवि ने कृष्ण-चरित्र का वर्णन किया है। इसकी भाषा ब्रज है जो अनुप्रासयुक्त एवं सारगर्भित है।

इन्होंने अपनी कृति सुरभी-दानलीला में श्री कृष्ण के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन किया है, जो द्रष्टव्य है—

भ्रकुटि बंक नैन खंजन से, कंजन गंजन वारे।
गद भंजन खग मीन सदा, जे मनरंजन अनियारे॥

मुक्तक शैली में रचित कृष्ण काव्य :–

रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने मुक्तक शैली में अपने काव्य का निरूपण किया है। प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा इन कवियों द्वारा रचित मुक्तक काव्य भाव एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस युग में भक्ति भाव से प्रेरित कृष्ण-काव्य की प्रमुख रचनाएँ हुई हैं। मुक्तक पद्धति को अपनाने वाले कृष्ण-भक्त-कवियों में रूपरसिक देव, नागरीदास, अलबेली, चाचा वृन्दावनदास एवं भगवत रसिक उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा भी अनेक कृष्ण-भक्त-कवियों ने इस काव्य धारा का विकास किया है।

(१) रूपरसिकदेव :–

ये निम्बार्क सम्प्रदायी भक्त कवि हरिव्यास के शिष्य थे। इन्होंने हरिव्यास के गोलोकधाम गमन के बाद उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। अत: इन्हें गुरु-दर्शन नहीं हुए। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका रचनाकाल अठाहरवीं सदी के पूर्वार्द्ध में था। इनकी चार कृतियाँ उपलब्ध हैं—

(१) लीला विंशति (निम्बार्क सम्प्रदाय के रसोपासना सिद्धान्त का परिचायक रूप)

(२) हरिव्यास यशामृत (गुरु का स्तुतिज्ञान)

(३) नित्य-विहारी पदावली (राधा-कृष्ण की रस-लीलाओं का वर्णन)

(४) वृद्धोत्सव मणिमाल (वर्ष भर के उत्सवों का वर्णन व राधा-कृष्ण का भक्तिभाव)

इस प्रकार रूपरसिक देव एक कृष्ण कवि थे, जिन्होंने ब्रजभाषा में अपनी कृतियों की रचनाकर श्री कृष्ण के अनन्य प्रेम को निरूपित किया।

(२) नागरीदास :–

यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि हो गये हैं, परन्तु इन सब में कृष्णगढ़ के राजा श्री सावन्तसिंह ही नागरीदास के रूप में अधिक प्रिय हैं। इनका जन्म सन् १५९९ में हुआ था। गृह-कलह के कारण गृह छोड़कर ये राधा के भक्त बन गये तथा वृन्दावन में ही रहने लगे। इन्होंने कलह के बारे में लिखा है कि—

जहाँ कलह तहाँ सुख नहीं, कलह दुखन की सूल।
सब कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥

इनका कविता काल ई०सं० १६२३ से १६६२ माना जाता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार इनकी लिखी छोटी-मोटी ६३ पुस्तकें संग्रहित हैं।[१०३] इसमें जुगलरस माधुरी, प्रिया जन्मोत्सव कविता, फाग विलास, रासरसलता, ईशचयन, कृष्णजन्मोत्सव, गोवर्धनधारण

के कवित्त आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन पुस्तकों में भावों की सुन्दर व्यंजना मिलती है। ये सब गेय पदों में कवित्त, सवैया, रोला आदि छन्दों में रचित है। इनकी भाषा सरल है। ये सखी सम्प्रदाय से सम्बन्धित कृष्ण भक्त कवि थे, जिन्होंने कृष्ण भक्ति की मुक्तक रचनाएँ कर अपने को अमर कर दिया।

(३) अलबेली अली :–

ये विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के महात्मा श्री वंशीअली के प्रसिद्ध शिष्य थे। ये राधा के उपासक थे। इनका जीवन-वृत्त नहीं मिलता है। इनका कविता काल विक्रम की १८वीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है। ये ब्रज भाषा एवं संस्कृत के पंडित थे। इनकी कविता परिष्कृत एवं प्रांजल रूप में मिलती है तथा पद बड़े ही उत्कृष्ट एवं सरस हैं। इनकी आनुप्रासिक छटा सरस शब्दावली से मनोहारिणी बन पड़ी है। श्री स्तोत्र तथा समय-प्रबन्ध-पदावली इनकी रचनाएँ हैं। इनमें कुंज-बिहारी रासलीला का सुमधुर वर्णन हुआ है। एक पद देखिए—

सरद रैन सुख देन मैनमय जमुनातीर सुहायो।
सकल कला पूरन ससि सीतल महिमंडल पर आयो॥
अतिशय सरस सुगंध मंदगति बहत पवन रुचिकारी।
नव-नव रूप नवल नव जोवन बने नवल प्रिय प्यारी॥

(३) चाचा हितवृन्दावनदास :–

ये पुष्कर क्षेत्र के रहने वाले गौड ब्राह्मण थे, जिनका जन्म ईसवी सन् १६०८ में हुआ था। ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्त थे। फलस्वरूप इन्होंने ब्रजवासी कृष्ण के साथ राधिका के प्रति भी दास्यभाव रखा है। "जैसे सूरदास के सवालाख पद बनाने की जनश्रुति है, उसी प्रकार इनके भी एक लाख पद और छन्द बनाने की बात प्रसिद्ध है। इसमें से २०,००० के लगभग तो पद मिले हैं।"[१०४] ये राधा के भक्त होने के कारण इन्होंने राधा को स्वतंत्र विहार करने वाली पराशक्ति के रूप में स्वीकार किया है। राधा परमैश्वर्यवती और शोभा-शालिनी है तथा अष्ट सिद्धियाँ व नव निधियाँ भी उनकी टहल करती हैं। ब्रजचन्द्र का महत्त्व भी ब्रजेश्वरी राधा की कृपा से ही है। इनकी रचनाओं में लाड़सागर, ब्रजप्रेमानन्द सागर, जुगलस्नेहपत्रिका, कृपा अभिलाषा बेली, भ्रमरगीत आदि प्रसिद्ध हैं। इनका भाषा के ऊपर अद्भुत अधिकार था। इनके काव्य में प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है जिसमें सजीवता तथा स्वाभाविकता और मधुरता है।

(४) भगवत रसिक :–

ये टट्टी सम्प्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनदास के शिष्य थे। ये निर्लिप्त भाव से भगवद् भजन में लगे रहते थे। इनका जन्म सं० १६९५ के लगभग हुआ था

इनका रचनाकाल १६६३ ई० से १६९३ ई० तक माना जाता है। ये कृष्ण भक्ति में लीन एक प्रेमयोगी थे। इनका रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ "अनन्य-निश्चात्मक" कुण्डलियाँ तथा छप्पय छंद में लिखा है। इसमें एक ओर तो वैराग्य भाव छलकता है तो दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव। इनका हृदय प्रेमरस पूर्ण था। इन्होंने स्वयं ने कहा है कि—

"भागवत रसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समुझि सके ना"

इनके अनेक पद "भगवत रसिक की वाणी" में संग्रहित हैं। भाषा सरल एवं चलती है। काव्यगुणों की दृष्टि से इनके पद साधारण कोटि के हैं।

अन्य कवि :–

रीतिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य परम्परा में वृन्दावनदेव का नाम भी उल्लेखनीय है, इनकी रचना "कृष्णामृतगंगा" प्रसिद्ध रही है।

"पीताम्बरदास" जो कि निम्बार्क सम्प्रदाय से जुड़े कृष्ण भक्त कवि थे। इनकी केलिमाल टीका, समयप्रबन्ध, सिद्धान्त और रस की साखी, सिद्धान्त और रसिक पद आदि रचनाएँ रही हैं।

रीतिकालीन कृष्ण भक्त कवियों में भक्तवर नागरीदास की बहिन कुंवरिबाई का भी विशेष स्थान है। मीराँ की भाँति ये भी प्रसिद्ध भक्त कवयित्री हुई हैं। नेहनिधि, वृन्दावन गोपी महात्म्य, संकेत युगल, रसपुंज, प्रेम सम्पुट, सार संग्रह, रंगझर, भावना प्रकाश, रास-रहस्य आदि इनकी दस कृतियाँ हैं। इनमें राधाकृष्ण के रसमाधुर्य का निरूपण है।

बख्शी हंसराज श्रीवास्तव प्रेमसखी भी इस युग के उल्लेख योग्य कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं। ये सखी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। स्नेह सागर, विरह विलास, कृष्ण जू की पाँति, बारहमासा, विनय पत्रिका, पुरिहारिन लीला तथा फाग तरंगिनी आदि इनकी कृतियाँ हैं। इनमें राधा कृष्ण की लीलाओं का भावपूर्ण निरूपण है।

लोचन ललित प्रीति रसपागे, पुतरिन स्याम निहारे।
मानौ कमल दलन पर बैठे, उडत न अलि मतवारे॥

अठारहवीं सदी के अंतिम चरण में विद्यमान "सहचरि-सरन" सखि सम्प्रदाय के भक्त कवि थे। इन्होंने श्री कृष्ण-राधा की युगल छवि का मनोहारी चित्रण किया है। इनकी रचनाएँ ललित प्रकाश तथा सरस मन्जावली प्रसिद्ध रही हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि "मंजरीदास" भी इस काल में हुए। इनके समकालीन कृष्णदास ने भी कृष्ण चरित्र का गान किया है। इस काल के कृष्ण भक्त कवयित्रियों में रत्नकुंवरी भी अविस्मरणीय है। इनका जीवन योगिनी की भाँति व्यतित हुआ था। इनका "प्रेमरत्न" नामक प्रबन्ध काव्य प्रसिद्ध है। इसके अलावा दामोदर चौधरी, भोलानाथ भण्डारी आदि का नाम भी भक्त कवियों में उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्द्रहवीं सदी में भक्तिधारा से ओतप्रोत ब्रज भाषा के कवियों ने जो प्रेम-भक्ति का अंकुर बो दिया था, वह शताब्दियों तक पुष्पित, पल्लवित और फलित होता रहा। प्रेमपूर्ण मधुरा भक्ति शनैः शनैः अग्रसर होती रही।

रीतिकाल में ऐसे भी अनेक कवि हुए हैं, जिन्हें विशुद्ध कृष्ण भक्ति कवि नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन्होंने भक्तिकालीन भक्तिभाव का स्वच्छन्द प्रेम के रूप में निरूपण किया है, जो उनकी कृतियों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इनका प्रधान कथ्य तो शृंगार ही रहा है, परन्तु कहीं-कहीं पर गहरी भक्तिभावना के भी दर्शन होते हैं। इन्होंने राधा-कृष्ण के माध्यम से शृंगार रस की अपूर्व सरिता प्रवाहित की थी, लेकिन साथ ही ये लोग यह भी नहीं भूले थे कि राधा-कृष्ण आराध्य और भक्ति के आलम्बन थे। जैसे ग्वाल कवि की ये दो पंक्तियाँ देखिये, जिनमें इन्होंने राधा से अपराध के लिए क्षमायाचना माँगी है—

श्रीराधा पदपद्म को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत हैं अपराध को, किबो जु कथन रसाल॥

इन कवियों में बिहारी, रहीम, देव, ग्वाल, भिखारीदास आदि उल्लेखनीय हैं। इनके काव्य में भावपूर्ण छन्द मिलते हैं, जिसमें उनके हृदय का दैन्य मात्र प्रभु पर निर्भरता, आत्मग्लानि, कातरता, विनय आदि के भाव से व्यक्त हुआ है।

तो पर वारो उबरसी, सूनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

(बिहारी-सतसई)

स्वछन्द प्रकृति के कवि घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा, ताजबीबी आदि के काव्य में भी हमें कृष्ण प्रेम का अशरीरी एवं मानसिक रूप दृष्टिगोचर होता है। इनका लौकिक प्रेम भी श्री कृष्ण का अलौकिक आलम्बन ग्रहण करता दिखाई देता है।

अवधी कृष्ण-काव्य :-

जैसे ब्रज भाषा में कृष्ण-काव्य की प्रधानता रही है परन्तु अवधि भाषा में भी कृष्ण काव्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है। डॉ० मुरलीलाल शर्मा ''सुरस'' ने अपने शोध प्रबन्ध ''अवधि कृष्णकाव्य और कवि'' में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है। संक्षेप में हम देखें तो लालदास का ''हरिचरित्र'' सर्वप्रथम कृष्ण चरित्र का प्रबन्ध काव्य है। इसकी रचना ई०स० १५८७ में हुई थी। यह भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर निरूपित कृति है।

बेनु विषान वंशी कर लीन्हें। शोधित मनिगन भूषन कीन्हें।
गूंजा फल सोभित वनमाला। मंद मंद गति चलत गुपाला।

कर कंकन कटि किंकिनी बाजे। मोर पंख सिर मुकुट विराजे।
कर तन बेनु, कमल दल लोचन। उर बनमाल वनित ये मोचन।

इसके बाद आसानन्द, जिन्होंने हरिचरित्र के ४६वें अध्याय से प्रारम्भ कर उसे पूर्ण किया। तत्पश्चात् भीम नामक कवि जिनकी हरिलीला, सोलहकला, डंगवै पर्व तथा चक्रव्यूह कथा आदि रचनाएँ रही हैं। बलवीर नामक कवि ने भी दंगवपर्व नामक ग्रन्थ में महाभारत के युद्ध का अवधि भाषा में वर्णन किया है।

अवधि में रचित कृष्ण काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि लक्षदास माने जाते हैं। कृष्णसागर, भागवत पुराणसार, दोहावली तथा फुटकर पद आदि इनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं। इनके कृष्ण चरित्र में विभिन्न पक्षों का सुन्दर चित्रण मिलता है। इन्होंने अनेक छन्दों का प्रयोग कर उत्कृष्ट काव्य का निरूपण किया है। भक्ति-भाव की गहनता व तन्मयता अवलोकनीय है।

लक्षदास के उपरान्त अनेक कवियों ने अवधी में कृष्ण काव्य की रचना की है। विषय की व्यापकता की दृष्टि से इन कवियों का नामोल्लेख करना ही उचित रहेगा। इन कवियों में नरहरि महाराज, सदानन्द, बाबा रघुनाथ रामसनेही, सबलसिंह चौहान, गोविन्द कवि, ज्वाला प्रसाद, कवि विसाहूराम, राजेन्द्रप्रसाद, नारायणप्रसाद मिश्र, श्री लाल उपाध्याय आदि प्रसिद्ध रहे हैं। इन कवियों ने अपनी कृतियों में कृष्ण की विशुद्ध भक्ति भाव से, श्री कृष्ण चरित्र के विविध पहलुओं का सुन्दर एवं सरस वर्णन किया है। इनमें श्री कृष्ण की पूज्य भावना समाहित रही है। कृष्ण मर्यादावादी दिखाई देते हैं। इनके ग्रन्थ मुख्य रूप से दोहा-चौपाई आदि छन्दों में ही वर्णित हैं।

इन ग्रन्थों में यद्यपि तुलसी या सूर जैसा उच्च काव्यत्व नहीं रहा है, अधिकांश रचनाएँ साधारण कोटि की हैं परन्तु फिर भी यह काव्य कृष्ण-चरित्र का एक ऐसा पक्ष प्रस्तुत करता है जो ब्रज भाषा में वर्णित कृष्ण-चरित्र से भिन्न, मर्यादित और शालीन है, भले ही वैसा रोचक एवं प्रभावशाली वर्णन न रहा हो।[१०५] इन कवियों ने श्री कृष्ण चरित्र के वर्णन में शृंगार को इतनी महत्ता प्रदान नहीं की है, जितनी रीतिकाल के अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने। इनके कृष्ण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की भाँति मर्यादित चरित्र वाले हैं। इस प्रकार अवधी भाषा के कृष्ण भक्त कवियों का काव्य अपने-आप में विशिष्ट रहा है।

आधुनिक काल में कृष्ण-काव्य :-

भक्ति काल से चली आ रही कृष्ण-भक्ति की अजस्र धारा ने न केवल रीतिकाल या शृंगार काल को ही प्रभावित किया वरन् आधुनिक काल में भी कृष्ण-भक्ति का अपने काव्य में वर्णन करने वाले अनेक कृष्ण-भक्त कवि हो गये हैं। कृष्ण-चरित्र का एक ऐसा अद्भुत आकर्षण रहा है कि प्रत्येक काल के कवियों ने इनके चरित्र का चित्रण किया है। अतः हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भी कृष्ण-विषयक अनेक कृतियों का निर्माण हुआ है।

भारतेन्दु युग :–

आधुनिक काल के कृष्ण भक्त कवियों में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। ये सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार एवं आधुनिक गद्य के पिता थे। इन्होंने गद्य एवं पद्य दोनों में सर्जन कार्य किया है। इनकी काव्य कृतियाँ तो सत्तर हैं परन्तु कृष्ण-लीला सम्बन्धी कृतियाँ प्रेममालिका, प्रेमतरंग, प्रेममाधुरी, प्रेमपलाप, राग संग्रह के पद तथा स्फुट कविताएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें इन्होंने राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को लेकर डेढ़ हजार पदों का प्रणयन किया है। इस युग में भारतेन्दुजी के अतिरिक्त बद्रीनारायण चौधरी, प्रेमघन की आख्यानक कविता अलौकिक लीला एवं अन्य स्फुट पद, मुंशी साहबसिंह भट्टनागर का प्रबन्ध काव्य, प्रेम-अभिलाषा, अम्बिकादत्त रचित सुकवि सतसई एवं कंसवध, राधाचरण गोस्वामी के कृष्ण स्तुति परक पद एवं भ्रमरगीत, धनारंग दूबे का कृष्ण-रामायण,नवनीत चतुर्वेदी की पुस्तक कुब्जा-पचीसी, रसीले का उधौ ब्रजगमन चरित्र, पं० रामसेवक चौबे की माधव माधुरी तथा द्वारका प्रसाद का द्वारकाशतक भी कृष्ण काव्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।[१०६]

उपर्युक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र के स्फुट पद अम्बिकादत्त व्यास की बिहारी-बिहार तथा प्रताप लहरी, सुधाकर त्रिवेदी की माधव-पंचक तथा राधा कृष्ण दान लीला, महाराज रामसिंह कृत मोहन विनोद, गोविन्द चतुर्वेदी कृत ''ब्रजबानी'', विसाहू रामकृत कृष्णायन, गोविन्द गिल्लाभाई की राधामुख षोडषी भी इस युग की अन्य कृष्ण-भक्ति की महत्त्वपूर्ण उल्लेख्य कृतियाँ हैं। इसके अलावा भी अनेक कवियों ने राधा-कृष्ण से सम्बन्धित स्फुट पदों का संकलन किया है।

द्विवेदी युग :–

इस युग में कृष्ण काव्य की शृंखला में ''हरिऔध'' का प्रिय-प्रवास विशिष्ट उल्लेखनीय आदर्श कृति रही है। इस युग के अन्य कवियों में जगन्नाथदास ''रत्नाकर'' का हिंडौला, उद्धव शतक, शृंगारी लहरी एवं अष्टक-काव्य,, पं० सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरदूत एवं कृष्ण विषयक स्फुट पद, राव कृष्णदास कृत ''ब्रजरज'' आदि उल्लेख्य रचना है।

कृष्ण विषयक रचनाओं में पं० किशोरलाल गोस्वामी की सतसई, श्री रूपनारायण पाण्डेय की रचना श्रीकृष्ण चरित्र, ललनपिया की ललन-सागर, वियोगीहरि की प्रेम-शतक, प्रेम-पथिक तथा प्रेमांजलि, मुकुन्दिलाल की मुकुन्द विलास, गजराज सिंह की अजिर-विहार, श्री बलदेव की सावन-छटा, जगन्नाथभानु की उपालभ्य अष्टक, रामदास गौड का कृष्णावतार एवं रामदत्त शर्मा की उषा-हरण भी युग की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

द्विवेदी परवर्ती-युग :–

भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग के पश्चात् भी हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा निरन्तर अबाध रूप से चलती रही है। इस युग के अनेक कवियों ने कृष्ण-

विषयक रचनाओं का निरूपण किया है। डॉ० रामशरण गौड ने इस विषय में अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण से कृतियों एवं कृतिकारों का नामोल्लेख किया है। इस युग में तुलसीराम शर्मा दिनेश रचित पुरुषोत्तम, प्रद्युम्न टुंगा का कृष्ण-चरित-मानस, द्वारिकाप्रसाद मिश्र का कृष्णायन, मैथिलीशरण गुप्त का द्वापर, अजय शर्मा का फ्रेरि मिलिवो, पं० घासीराम व्यास का श्याम-सन्देश, चन्द्रभानुसिंह रज का नेह निकुंज, रामावतार पोद्दार का सूरश्याम, गिरिराजदत्त शुक्ल गिरिश का प्रयाण, अमृतलाल चतुर्वेदी का श्याम-सन्देश, डॉ० रामशंकर शुक्ल कृत उद्धव-शतक आदि इस युग की उल्लेख्य रचनाएँ हैं।[१०७]

इसके अतिरिक्त गयाप्रसाद द्विवेदी ने मधुपुरी, राधा और उसके जीवन की घटनाओं के आधार पर दाऊदयाल गुप्त ने राधा, राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह ने राधाकृष्ण, रांगेय राघव ने पांचाली, पं० हृषिकेश चतुर्वेदी ने श्रीरामकृष्ण काव्य एवं श्रीरामकृष्णायन, बलदेव प्रसाद मिश्र ने श्याम शतक, श्यामसुन्दरलाल ने श्याम-सन्देश एवं धर्मवीर भारती ने कनुप्रिया का प्रणयन किया। इसी कृष्ण-काव्य परम्परा में नरेशचन्द्र भंजन द्वारा रचित महारास, नवकिशोर शर्मा की जरासंध, माखनलाल चतुर्वेदी की वेणु लो गूंजे धरा, ब्रजचन्द कपूर कृत ब्रजचन्द-विनोद, प्रेम भण्डारी रचित भगवान् श्री कृष्णलीलामृत, सियाराम शरण गुप्त की गोपिका, श्रीनाथ द्विवेदी की सारथी-कृष्ण, श्रीराम नारायण अग्रवाल की कूबरी, चन्द्रशेखर पाण्डेय कृत द्वारिका प्रवेश, देवीरत्न अवस्थी करील की मधुपर्क, डॉ० कृष्णनन्दन पीयूष की योग-निद्रा, उमाकान्त मालवीय की देवकी तथा जानकीवल्लभ शास्त्री की राधा एवं अनादि मिश्र की प्रश्नों के सूर्योदय महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।[१०८]

निष्कर्ष :–

उपर्युक्त प्रकार से हिन्दी साहित्य में कृष्ण-भक्ति की एक विशाल परम्परा रही है। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल के अनेक कवियों ने श्री कृष्ण की लीलाओं का चित्रण कर अपने जीवन को धन्य बनाया है। इन कवियों ने श्री कृष्ण के जीवन के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण कर उनके व्यक्तित्व को व्यापकता प्रदान की है।

इतना ही नहीं इन कवियों ने श्री कृष्ण भक्ति को जन-जन तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है। हिन्दी साहित्य इन कवियों का सदा-सदा ऋणी रहेगा; क्योंकि इन्होंने न केवल श्री कृष्ण-लीला का निरूपण कर उनकी भक्ति का प्रचार-प्रसार किया वरन् हिन्दी साहित्य को भी समृद्धशाली बनाकर उसे अत्यधिक ख्याति प्रदान की है।

हिन्दी के अलावा भी अनेक भारतीय भाषाओं में श्री कृष्ण चरित्र का विशद वर्णन हुआ है। इन भाषाओं में तेलगू, मलयालम, कन्नड़, मराठी, बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मैथिली, राजस्थानी, पंजाबी, कश्मीरी एवं उर्दू इत्यादि की अपनी अलग से परम्परा रही है परन्तु इन भाषाओं में वर्णित कृष्ण-भक्ति का निरूपण विषय की मर्यादानुसार अपेक्षित नहीं है।

जैन-साहित्य परम्परा में श्री कृष्ण :-

भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन-साहित्य अपेक्षित रूप से प्रकाश में नहीं आया है। जैन ग्रन्थों के "असूर्यम्पश्य" रखने की प्रवृत्ति ने भी ज्ञान की अपार राशि को जिज्ञासुओं से बहुत दिनों तक दूर रखा है। इसके अलावा भेदभाव पूर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भी इस चिन्तन से सामान्य जन वंचित रहा है।

जैन साहित्य के महार्घरत्नों से भारती का भण्डार भरा पड़ा है, परन्तु अनायास प्राप्त उनके आलोक का लाभ भी हम नहीं उठा पाते, उन्हें एकान्त रूप से प्राप्त करने के प्रयत्न की बात तो दूर रही। आश्चर्य तो तब होता है कि जब साहित्य के परिचायक इतिहास ग्रन्थों में भी इन ग्रन्थ-रत्नों का स्पष्ट उल्लेख भी नहीं होता जबकि साहित्यिक दृष्टि से ये ग्रन्थ किसी भाषा के कण्ठहार बन सकते हैं।[१०९]

जैन साहित्य में श्री कृष्ण चरित्र वर्णन की एक विशाल परम्परा रही है। "पहले विद्वान यह मानते थे कि जैनियों ने वैष्णवपुराणों से ही कृष्ण चरित्र लिया है परन्तु इस विशाल साहित्य-परम्परा को देखकर यह बात निर्मूल सिद्ध होती है।"[११०] जैन साहित्य के आगम काल से कृष्ण चरित्र का निरूपण होता रहा है। इन ग्रन्थों में कृष्ण चरित्र के विविध प्रसंगों का संदर्भानुसार उल्लेख हुआ है। आगम साहित्य के उपरान्त आगमेतर साहित्य में भी इसी परम्परानुसार प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी संस्कृत आदि अनेक भाषाओं में श्री कृष्ण विषयक कृतियों की रचना हुई है।

आगम-साहित्य में श्री कृष्ण :-

आगम साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध है। यह साहित्य मूलतः सिद्धान्त-निरूपण से सम्बन्धित है परन्तु सिद्धान्त-निरूपण में व्यक्ति चरित्रों का भी चित्रण हुआ है, इसलिए कृष्ण-चरित्र के विविध प्रसंग भी यत्र-तत्र इन कृतियों में वर्णित हैं। कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कृतियों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

(१) समवायांग सूत्र :-

इस ग्रन्थ में सिद्धान्त-निरूपण के उपरान्त शलाकापुरुषों का नाम तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन मिलता है। सूत्र २०६ में बलदेव एवं श्री कृष्ण की विशेषताओं, उनका व्यक्तित्व, लक्षण, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजा आदि का वर्णन दिया गया है।

(२) ज्ञाताधर्म-कथा :-

इस कृति के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलहवें अध्ययन में द्रोपदी का चरित्र वर्णित है। इसी प्रसंग में कृष्ण वासुदेव का श्रेष्ठ राजपुरुष के रूप में निरूपण हुआ है, जो अपने समय के राज-समाज के पूजनीय, प्रभावशाली एवं महान् बलशाली हैं। इसी सूत्र में अर्द्ध चक्रवर्ती शलाकापुरुष वासुदेव राजा के रूप में श्री कृष्ण का विशद वर्णन हुआ है।[१११]

अन्तकृद्दशा :–

इस ग्रन्थ के वर्ग १,३,४,५ में कृष्ण एवं उनकी रानियों तथा पुत्रों का वर्णन है। इसी क्रम में द्वारिका के महान् शक्ति सम्पन्न राजा श्री कृष्ण, उनकी सेना, सेनापतिओं, वैभवशाली नागरिकों, सुभट महावीरों अर्हत् अरिष्टनेमि का भी निरूपण है। तृतीय वर्ग के आठवें अध्याय में कृष्ण के अनुज सहोदर मुनि गजसुकुमार के चरित्र का भी चित्रण हुआ है।

(४) प्रश्न-व्याकरण :–

इस कृति की विषयवस्तु दो भागों (आस्रव तथा संवर) में विभाजित है। इसमें आस्रवद्धार के चतुर्थ अध्ययन में श्री कृष्ण-चरित्र का उल्लेख मिलता है। सूत्र ६ में कृष्ण के महान् चरित्र, उनके श्रेष्ठ अर्द्धचक्रवर्ती राजा के रूप का, उनकी रानियों एवं पुत्रों का एवं अन्य परिजनों का वर्णन हुआ है। सूत्र ७ में कृष्ण को चाणूर, कालियनाग के हन्ता, यमलार्जुन को मारने वाले, महाशकुनि तथा पूतना के रिपु, कंसमर्दक, राजगृह के अधिपति एवं जरासंध के वर्धकर्त्ता के रूप में निरूपित किया है।[११२]

निरयावलिका :–

इस ग्रन्थ के पाँचवें सर्ग में "निषधकुमार" का वर्णन है। निषधकुमार के बड़े भाई राजा बलदेव तथा रेवती के पुत्र थे। इनके वर्णन में द्वारिका वर्णन, राजा कृष्ण वासुदेव के महात्म्य का भी वर्णन हुआ है। अर्हत् अरिष्टनेमि के द्वारिका आगमन पर श्री कृष्ण का हर्षित होना, अपने कौटुम्बिक जनों को बुलाकर तथा सजधज के साथ सब को अरिष्टनेमि के पास उनके दर्शन एवं धर्म-श्रवण के लिए ले जाने का चित्रण है।

(६) उत्तराध्ययन :–

इस कृति के बाइसवें अध्ययन में नेमिनाथ चरित्र का वर्णन है। इसकी गाथाएँ १,२,३,६,८,१०,११,२५ एवं २६ में कृष्ण सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध है। श्री कृष्ण के माता-पिता, जन्मस्थान, नेमिकुमार का विवाह महोत्सव आदि का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार जैन साहित्य की आदि कृतियाँ "आगम ग्रन्थों" में श्री कृष्ण-चरित्र का वर्णन स्पष्टता से हुआ है। जैन साहित्य की कृष्ण-कथा के मूलाधार में इन्हीं ग्रन्थों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं ग्रन्थों से कृष्ण-कथा के सूत्रों को एकत्रित कर जैन साहित्य के आगमेतर साहित्यकारों ने इस कथा वर्णन को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है:

आगमेतर साहित्य में कृष्ण-चरित्र वर्णन :–

जैन साहित्य में आगम साहित्य के पश्चात् आगमेतर साहित्य में कृष्ण-कथा उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त हुई है। आगमेतर साहित्य में कृष्ण-चरित्र को वर्णन करने वाली दो प्रकार की कृतियाँ निरूपित हुई हैं—एक तो वे जिसमें त्रिषष्टि शलाकापुरुषों के चरित्र का

वर्णन किया गया है तथा दूसरे प्रकार की वे कृतियाँ, जिनमें अर्हत् अरिष्टनेमि, कृष्ण, गजसुकुमाल, प्रद्युम्न कुमार आदि को परम्परागत जैन कथा-वस्तु के आधार से वर्णित किया गया है। यह परम्परा न केवल संस्कृत भाषा में वरन् प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में एक सी रही है। आगमेतर साहित्य में कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ निम्न प्रकार से हैं—

(१) वासुदेव हिण्डी :–

आगमेतर प्राकृत कथा साहित्य की यह प्राचीन कृति है। इसमें श्री कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिण्डी) का विस्तृत वत्तान्त उल्लेखित है। यह कृति दो खण्डों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के रचायता संघदास गणि तथा दूसरे के धर्मसेन गणि हैं।[११३]

वसुदेव जी का चरित्र वर्णन दूसरे खण्ड में है। इसके अनुसार वसुदेव ने सौ वर्ष तक भ्रमण किया एवं अनेक कन्याओं के साथ विवाह किया। वसुदेव चरित्र के साथ में इस ग्रन्थ में श्री कृष्ण का, उनके पुत्र प्रद्युम्न इत्यादि का भी वर्णन हुआ है।

(२) हरिवंशपुराण :–

जैन साहित्य में कृष्ण-चरित्र के वर्णन की दृष्टिकोण से इस पौराणिक कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कृत भाषा में रचित, ६६ सर्गों की विशालकाय काव्य कृति है। यह ऐसी प्रथम कृति है, जिसमें कृष्ण का सम्पूर्ण चरित्र व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से वर्णित हुआ है। कृष्ण-चरित्र वर्णन की दृष्टि से बाद के जैन साहित्यकारों के लिए यह "उपजीव्य" रही है। इस ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन थे। यही ग्रन्थ हमारे शोध का आलोच्य ग्रन्थ रहा है। अतः इसका विस्तृत वर्णन अगले परिच्छेदों में किया जायेगा। परन्तु यह पुराण ग्रन्थ महाकाव्य के गुणों से गुंथा हुआ एक उच्चकोटि का काव्य है। हिन्दी की हरिवंश पुराण शीर्षक, कई कृतियाँ इससे पूर्ण रूप से प्रभावित रही हैं।

(३) महापुराण (उत्तर-पुराण) :–

संस्कृत जैन साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं—आदिपुराण तथा उत्तरपुराण। यह विशालकाय ग्रन्थ छिहत्तर सर्गों में पूरा हुआ है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि०सं० ९१० माना जाता है।[११४] इसके उत्तरपुराण पर्व ६१ से ६३ तक में श्री कृष्ण-चरित्र का वर्णन हुआ है। यह वर्णन हरिवंशपुराण की अपेक्षा संक्षिप्त है। हिन्दी में खुशालचन्द्र काला कृत "उत्तरपुराण" इसी ग्रन्थ से प्रभावित रचना है।

(४) प्रद्युम्न चरित्र :–

इस ग्रन्थ के रचयिता महासेनाचार्य थे।[११५] यह संस्कृत खण्ड काव्य है। इसमें श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का वर्णन है। द्वारिका के राजा कृष्ण की रानी रुक्मिणी से उसका

जन्म, कालसंवर द्वारा अपहरण, विद्याध्ययन, पुनः उसका माता-पिता से मिलना इत्यादि अनेक प्रसंगों का निरूपण इस ग्रन्थ में हुआ है। कालान्तर में हिन्दी में भी सुधारु का प्रद्युम्न चरित, देवेन्द्रकीर्ति का प्रद्युम्न-प्रबन्ध इसके अनुकरण पर लिखे गये हैं।

(५) त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित :–

श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्र का संस्कृत भाषा में निबद्ध त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का चरित वर्णन करने वाला यह काव्य ग्रन्थ है। हेमचन्द्राचार्य महान् विद्वान, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के ज्ञाता थे। इनका जीवन वृत्त वि०सं० ११४५ से ११२९ तक माना जाता है।[११६] इस ग्रन्थ में १० पर्व है। श्री कृष्ण-चरित्र का वर्णन आठवें पर्व में हुआ है। इसी पर्व में नेमिनाथ, बलदेव, जरासंध आदि के भी चरित्र-वर्णन है। जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है। इस ग्रन्थ का भी ''स्रोत-ग्रन्थ'' के रूप में अनेक जैन कवियों ने उपयोग किया है।

(६) रिट्ठनेमिचरित्र (अरिष्टनेमि-चरित) :–

यह अपभ्रंश भाषा में निरूपित महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता अपभ्रंश साहित्य के प्रथम कवि स्वयंभू थे। इनका जीवन-वृत्त वि०सं० ६३४ से ८४० के मध्य माना जाता है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-कथा का वर्णन है। इसके यादव काण्ड में कृष्ण चरित्र के साथ अरिष्टनेमि तथा प्रद्युम्न इत्यादि का भी चरित्र वर्णन मिलता है। युद्ध काण्ड में कौरव-पाण्डवों के युद्ध का सुन्दर वर्णन मिलता है। यह अप्रकाशित रचना है। इसकी एक प्रति शास्त्र भण्डार श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, छोटा दीवानजी जयपुर में उपलब्ध है।[११७]

(७) तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार) :–

यह अपभ्रंश भाषा में रचित महाकवि ''पुष्पदन्त'' की विशालकाय काव्य-कृति है। इसमें जैन परम्परागत ६३ शलाकापुरुषों के चरित्रों का विशद वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में १२२ सर्ग (संधिया) एवं २० हजार श्लोक हैं। इसका रचनाकाल नाथुराम प्रेमीजी ने वि०सं० ८८१ से ८८६ स्वीकार किया है।[११८] यह कृति भी आदिपुराण तथा उत्तरपुराण इन दो खण्डों में विभक्त है। उत्तरपुराण में रामचरित तथा कृष्णचरित का वर्णन मिलता है। इसके ८१ से ९२ तक के सर्गों में जैन परम्परागत कृष्णचरित का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ का मूलाधार जिनसेन गुणभद्र कृत ''महापुराण'' रहा है।

(८) नेमिणाह-चरित्र[११९] (हरिवंश पुराण) :–

यह महाकवि रइधू की अपभ्रंश भाषा की रचना है। ये अपने समय के बड़े प्रभावशाली एवं विद्वान पंडित थे। इनका समय विक्रम की १५-१६ वीं शताब्दी माना जाता है। इनके द्वारा रचित इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति जैनसिद्धान्त-भवन, आरा में उपलब्ध है।[१२०]

इस ग्रन्थ का मूलाधार भी जिनसेन कृत हरिवंशपुराण रहा है। कवि ने हरिवंश का प्रारम्भ, पाण्डवों की उत्पत्ति, वसुदेव चरित्र, कृष्ण चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, प्रद्युम्न चरित्र, पाण्डव-चरित्र आदि का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से भी यह सुन्दर एवं सरस कृति रही है। काव्य की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश रही है।

(९) गजसुकुमाल रास :–

यह ग्रन्थ आदिकालीन हिन्दी की रचना है। इसका रचनाकाल ई०स० १२५८-६८ के बीच अनुमानित किया गया है। इस कृति के रचयिता कवि "देवेन्द्रसूरि" थे। इनके गुरु का नाम जगच्चन्द्रसूरि था। इस रास काव्य में श्री कृष्ण के अनुज सहोदर मुनि गजसुकुमाल का चरित्र-वर्णन है। जैन परम्परा में गजसुकुमाल का आख्यान प्रसिद्ध है। इसमें अरिष्टनेमि का द्वारिका आना, कृष्ण के छहों सहोदरों को देखकर देवकी की उदासी, श्री कृष्ण द्वारा तप, समयानुसार देवकी के पुत्रोत्पत्ति, गजसुकुमाल का विवाह- सम्बन्ध, अरिष्टनेमि के उपदेश से उनका वैराग्य एवं दीक्षा आदि का वर्णन ३४ छन्दों में वर्णित है।

कवि ने कृष्ण द्वारा चाणूरमल्ल, कंस व जरासंध इत्यादि के हनन का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। कृष्ण का वासुदेव स्वरूप देखिए—

संख चक्क गय पहरण धारा। कंस जराहिव कय संहारा॥
जिब चाणउरि मल्लु वियरिउ। जरासिंधु बलवंतउ घाडिउ॥[१२१]

इस कृति की भाषा परवर्ती अपभ्रंश या प्राचीन राजस्थानी है जो कि हिन्दी भाषा का आदिकालिक स्वरूप है।

(१०) प्रद्युम्न चरित :–

यह कृति "सधारू" की रचना है। इसका रचना काल ईसवी सन् १३५४ माना गया है। इस कृति में रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र प्रद्युम्न के जीवन-चरित का निरूपण मिलता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में द्वारिका के वैभव व श्री कृष्ण की शक्ति-सम्पन्नता का वर्णन है। इस कृति में ६ सर्ग है, जो वीर रस से भरे पड़े हैं। कृष्ण शिशुपाल-युद्ध आदि का इसमें विशद वर्णन हुआ है। यह ब्रजभाषा का काव्य है, ब्रजभाषा के समस्त लक्षण इस ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं। इस काव्य का मुख्य छन्द चौपाई है, इसके अलावा ध्रुवक, वस्तुबन्ध, दोहा, सोरठा इत्यादि छन्दों का भी प्रयोग यथा सन्दर्भ हुआ है।

युद्ध भूमि में खड्ग लेकर श्री कृष्ण कैसे शोभित होते हैं, देखिए इस कृति का एक पद—

तवतिहि घनहर घालिउ रालि, चन्द्र हंसकर लीयो संभालि।
वीजु समिसु चमकइ करवालु, जाणौ सु जीभ पसारे कालु॥
जबति खरग हाथ हरि लयउ, चन्द्र रयणि चांबइ कर गहिउ।
रथ ते उतरि चले भर जाम, तीनि भुवन अकुलाने ताम॥[१२२]

(११) बलभद्र चौपाई :–

इस ग्रन्थ के रचयिता "यशोधर" थे। ये काष्ठा संघ के जैन साधु थे। इन्होंने विजयसेन मुनि से दीक्षा ग्रहण कर आजन्म ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया था। इनका समय वि०सं० १५२० से १५९० का कहा जाता है।[१२३]

इस ग्रन्थ में १८९ पद्यों का संग्रह है। इसमें कृष्ण के बड़े भाई बलभद्र के चरित्र का वर्णन है। इस ग्रन्थ की भाषा राजस्थानी प्रभावित हिन्दी है। इसमें ढाल, दोहा व चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। द्वारिका के वैभव का वर्णन देखिये—

याचक जननि देउ दान, न हीयउ हरष नहीं अभिमान।
सूर सुभट एक दीसि घणा, सज्जन लोक नहीं दुर्जणा॥[१२४]

(१२) हरिवंश पुराण :–

प्रस्तुत कृति के रचयिता "शालीवाहन" थे। इन्होंने जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण (संस्कृत) के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है। कवि ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ की रचना वि०सं० १६९३ सन् १६३८ में पूर्ण हुई।

इस कृति की हस्तलिखित प्रतियाँ कई स्थानों पर उपलब्ध हैं।[१२५] इस ग्रन्थ के १२ से २६ तक की संधियों में कृष्ण-चरित का वर्णन है। कृति की भाषा राजस्थानी प्रभावित ब्रज भाषा है। यह दोहा, चौपाई, छन्दों से रचित है। कंस की मल्लशाला में किशोर कृष्ण का पराक्रम कवि के शब्दों में दृष्टव्य है—

चंडूर मल्ल उठ्यो काल समान, बज्रमुष्टि दैयत समान।
जानि कृष्ण दोनों कर गहै, फेर पाई धरती पर वहै॥ १७८०-८१॥

(१३) नेमीश्वर रास :–

इस ग्रन्थ के रचयिता नेमिचन्द हैं। इसका रचना काल ई०स० १७१२ माना जाता है। इसमें भी जिनसेनकृत हरिवंशपुराणानुसार कृष्ण-चरित का वर्णन हुआ है। इसमें श्री कृष्ण का जन्म, उनकी बाल-लीलाएँ, कंसवध, यादवों का द्वारिका-निवास, रुक्मिणी हरण, शिशुपाल-वध, नेमिनाथ का जन्म, जरासंध-युद्ध, द्रौपदी-हरण, कृष्ण द्वारा उसे वापिस लाना, नेमिनाथ का गृहत्याग, तप व कैवल्यज्ञान, द्वारिका का विनाश तथा श्री कृष्ण का परमधामगमन इत्यादि विविध प्रसंगों का क्रमशः वर्णन हुआ है। "श्रीकृष्ण" कृति के प्रमुख पात्र हैं। उनके वीरतापूर्ण कृत्यों का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है।

(१४) हरिवंशपुराण तथा उत्तरपुराण :–

कृष्ण चरित्र सम्बन्धी इन दोनों कृतियों के कृतिकार खुशालचन्द्र काला थे। इन दोनों हिन्दी काव्य कृतियों की हस्तलिखित प्रतियाँ जैन भण्डारों में उपलब्ध है। ये ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत) तथा उत्तरपुराण (संस्कृत) की शैली पर रचित काव्यग्रन्थ है। इनका रचनाकाल क्रमशः ईसवी सन् १७२३ तथा १७४२ माना जाता है।[१२६]

इस ग्रन्थ में बोलचाल की सरल हिन्दी का प्रयोग हुआ है। इनमें चौपाई, दोहा, सोरठा इत्यादि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इन कृतियों में अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण, बलराम, जरासंध इत्यादि का चरित्र निरूपण हुआ है।

(१५) नेमिचन्द्रिका :–

यह कवि "मनरंगलाल" की रचना है। इन्होंने भी अपनी कृति की विषय-वस्तु के लिए जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश को आधार बनाया। कृति का रचनाकाल ईसवी सन् १८२३ है, जैसा कि कवि ने स्वयं उल्लेख किया है। इसमें कुल ३८१ छन्द हैं। गणेश वन्दना के पश्चात् द्वारिका का वैभव, श्री कृष्ण की शक्ति-सम्पन्नता, नेमिनाथ का जन्म तथा उनका वैराग्य, कैवल्यज्ञान तथा मोक्षगमन आदि का वर्णन है। यह नेमिनाथ की परम्परागत कथावस्तु से आधारित खण्ड काव्य की रचना है। इसकी भाषा सरल, बोलचाल की हिन्दी है। इसमें दोहा, सोरठा, चौपाई, अडिल्ल तथा भुजंगप्रयात आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

ऊर्ध्वलिखित विवेचनानुसार वैष्णव परम्परा की भाँति जैन परम्परा में भी कृष्ण चरित्र का विशद वर्णन हुआ है। जिस प्रकार से वैष्णव परम्परा में श्री कृष्ण का वर्णन वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा अद्यावधि अनेक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार से यह वर्णन जैन साहित्य के आगमकाल से आगमेतर काल तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में निरूपित हुआ है।

विवेचित कृतियों के अलावा भी जैन साहित्य के अनेक कृतिकारों ने अपने ग्रन्थों में श्री कृष्ण कथा का निरूपण किया है। इनमें से अनेक ग्रन्थ अप्रकाशित हैं, जिनकी हस्तलिखित प्रतियाँ विविध साहित्य भण्डारों में संग्रहित पड़ी हैं। डॉ० महावीर कोटियॉ ने अपने शोध ग्रन्थ "जैन साहित्य में कृष्ण" में ऐसी अनेक कृतियों का उल्लेख किया है।[१२७] उन सब कृतियों का उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है परन्तु यह निश्चित है कि जैन साहित्यकारों ने अपनी मौलिकता के आधार पर कृष्ण कथा को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया है, जिससे सामान्य जन आज भी अपरिचित है। इस नवीन दृष्टिकोण को ही प्रकाश में लाना हमारा मुख्य हेतु रहा है।

* * *

टिप्पणियाँ :-

१. ''हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास''-राजनाथ शर्मा-पृ० २९२

२. ''हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास''-राजनाथ शर्मा-पृ० २९२

३. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त-डॉ० संतोष पाराशर-पृ० ३

४. सूर के कृष्ण : एक अनुशीलन-शशि तिवारी-पृ० ९

५. सूर-सौरभ-मुंशीराम शर्मा-पृ० ७६

६. महाकवि सूरदास-नन्ददुलारे वाजपेयी-पृ० १९

७. सूर के कृष्ण : एक अनुशीलन-शशि तिवारी-पृ० १०

८. ''कल्याण'' वर्ष ६२ पृ० ६७३

९. यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्॥

१०. सूर की झाँकी-डॉ० सत्येन्द्र-पृ० १७

११. त्रीणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदभ्य। ऋग्वेद - १/२२/१२

१२. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग्वेद-१/१२/१७

१३. यः पर्वतान् प्रकुमितान्प्रकुपितां अरम्यास। सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० १५

१४. यः अंतरिक्ष विममे वरीयः। सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० १६

१५. यः हत्वा अहिं अरिणात सप्तसिन्धूनः। सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० १६

१६. अयं वां कृष्णो अश्विनो हवते। निरुक्त-यास्क

१७. ऋषिः दर्शनात् यः परोक्षं पश्यति सः ऋषिः। निरुक्त यास्क। ऋ० ३/१५/३

१८. आयांत्विन्द्रः स्वपतिमदाय।

१९. स्तोतं राधानांपत। ऋग्वेद १/३०/५

२०. ग्वामय व्रजं वृधि। ऋग्वेद १/१०/६

२१. ग्वामय-व्रजं वृधि। ऋग्वेद १/१०/६

२२. त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वी कृष्णास्वग्न अरुषो विभर्ति।

२३. तमेदताधारयः कृष्णारोहिणीषु। ऋ० १/९३/१३

२४. कृष्णा रूपाणि अर्जुना विवामदे। ऋ० १०/२१/३

२५. सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनुस्मृति १/२

२६. सूर और उसका साहित्य - डॉ० हरवंश शर्मा - पृ० १२५

२७. भारतीय साधना और सूर साहित्य - डॉ० मुंशीराम शर्मा - पृ० १६९

२८. आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। श्रीमद् भगवद्गीता - १०/२१
२९. वेदानां सामवेदोस्मि देवानामस्मि वासवः। श्रीमद् भगवदगीता - १०/२२
३०. सूर के कृष्ण एक अनुशीलन - शशि तिवारी पृ० १७
३१. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥ तैत्तिरीय-आरण्यक
३२. कृष्णो हि तदाङ्गिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श। को०ब्रा०
३३. अथ हास्या एतत्कृष्ण हारितो। वाम्ब्रह्मणामित्रोपोदाहरित इति॥ - ऐतरेय आरण्यक
मध्यकालीन कृष्णनाट्य में रूप सौंदर्य - पुरुषोत्तम अग्रवाल - पृ० १३-१४
३४. सूर के कृष्ण एक अनुशीलन - शशि तिवारी - पृ० १६
३५. कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्।
एव प्रकृतिरत्यक्ता कर्त्ता चैव सनातनः॥ सभापर्व ३८/२३२
३६. सूर के कृष्ण एक अनुशीलन - शशि तिवारी - पृ० १६
३७. सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यविधिमाश्रितः।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते॥ शांति पर्व ३४७/७४
३८. महाभारत ५२/८९
३९. महाभारत-शांतिपर्व ३४१/३४२
४०. मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य और रूप सौन्दर्य - डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल - पृ० २०
४१. वैष्णव धर्म का संक्षिप्त इतिहास - पु०के० शास्त्री - पृ० ३९
४२. यद्ययं जगतः कर्त्ता यथैनम्मूर्ख मन्यते।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति॥ महाभारत २/४३/६११
४३. The Cultural Heritage of India Vo.-II Page 85 by Dr. rama Swami Aiyar
४४. भक्ति का विकास - डॉ० मुंशीराम शर्मा - पृ० १२४
४५. Collected work's of Sir R.G. Bhandarker Vo/IV Page 49
४६. श्रीमद् भागवत पुराण। १/३/२७
४७. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्यों पर पुराणों का प्रभाव - डॉ० शशि अग्रवाल - पृ० ३९
४८. ब्रह्मवैवर्त पुराण - श्री कृष्ण जन्म खंड - २०/४ से ५१
४९. ब्रह्मवैवर्त पुराण - श्री कृष्ण जन्म खंड - १/३६
५०. रेफोति कोटि जन्मान्ध कर्मयोग शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवासं स मृत्युं रोगमुत्सृजम्॥ ब्र०वै०पु० जन्मखण्ड १५/५६-६९
५१. श्रीमद् भागवत १/३/२८ एते चाशं कृत्वा पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।
५२. श्रीमद् भागवत १०/८५/३१
५३. श्रीमद् भागवत ४/७/४९ से ५२

५४. श्रीमद् भागवत पुराण ४/२२/४०
५५. मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप सौन्दर्य - डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल - पृ० २९
५६. श्रीमद् भागवत १०/५९
५७. काचिद् भ्रूभंगरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्।
विलोक्य नेत्रमृगाभ्यां पपौ तन्मुखपंकजम्॥ विष्णु पुराण १३/४५
५८. भारतीय साधना और सूर साहित्य - डॉ० मुंशीराम शर्मा - पृ० १५६
५९. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति एवं वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १९
६०. J.R.A.S. में हिन्दुओं पर मिटोरियन ईसाइयों का ऋण - शीर्षक लेख
६१. कल्याण (कृष्णांक) वर्ष १९३२ पृ० ३५१
६२. सूर-सौरभ डॉ० मुंशीराम शर्मा पृ० ७९
६३. कल्याण (कृष्णांक) वर्ष १९३२ पृ० ३५२-३५३
६४. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर जूलीजियस सिस्टम - डॉ० भण्डारनायके पृ० ३७-३८
६५. सूर-साहित्य-डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ८
६६. सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० १३
६७. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० २०
६८. आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्ध और कृष्ण काव्य-डॉ० मलिक मोहम्मद पृ० ३४ से ३७
६९. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर जूलीजियस सिस्टम - डॉ० भण्डारनायके पृ० ४८
७०. सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० २५
७१. सूर के कृष्ण - शशि तिवारी - पृ० २६
७२. हिन्दी पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव - सरनाम सिंह पृ० ७१
७३. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारीसिंह दिनकर - पृ० ६२
७४. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - राजनाथ शर्मा - पृ० १३०
७५. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - रामकुमार वर्मा - पृ० ३०७
७६. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - ले० राजनाथ शर्मा - पृ० २३४
७७. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० ३६
७८. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ० १०९
७९. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० २९७
८०. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर पृ० १६२
८१. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० नगेन्द्र - पृ० २२२
८२. चौरासी वैष्णव की वार्ता - गोकुलदास - पृ० ६२
८३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० २२९

८४. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १८०
८५. भाव प्रकाश - हरिराय कृत
८६. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० नगेन्द्र - पृ० २२२
८७. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १८०
८८. कृष्णदास पद संग्रह - पद सं० ५९
८९. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - संतोष पाराशर - पृ० २०३
९०. छीतस्वामी पद संग्रह - पद ५३
९१. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० नगेन्द्र - २२७
९२. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० मो०मा० चौहान - पृ० १२९
९३. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल - पृ० १३०
९४. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० नगेन्द्र - पृ० २३८
९५. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - डॉ० रामकुमार वर्मा - पृ० ३२८
९६. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल - पृ० १२८
९७. मीराँ के जीवनवृत्त - ले० मुंशी देवीप्रसाद - पृ०
९८. मीराँ एक अध्ययन - ले० शबनम - पृ० १५
९९. मीराँ स्मृतिग्रन्थ - ले० विद्यानव - पृ० ५१
१००. मीराँबाई पदावली - ले० परशुराम चतुर्वेदी - पृ० २५
१०१. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल - पृ० १३३
१०२. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल - पृ० २४७
१०३. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल - पृ० २३९
१०४. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ० २४४
१०५. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्म इतिहास - रामकुमार वर्मा - पृ० ३६०
१०६. कृष्ण कथा कोश - डॉ० रामचरण गौड़ - पृ० १३९-१४०
१०७. आधुनिक कृष्ण काव्य में पौराणिक आख्यान - डॉ० रामशरण गौड़ - पृ० ५१
१०८. आधुनिक कृष्ण काव्य में पौराणिक आख्यान - डॉ० रामशरण गौड़ - पृ० ५२
१०९. रविषेण कृत पद्मपुराण और तुलसीकृत रामचरित मानस - डॉ० रमाकान्त शुक्ल - पृ० ९
११०. हिन्दुत्व - रामदास गौड़ - पृष्ठ ४११
१११. जैन साहित्य में कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० १४
११२. जैन साहित्य में कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० १५
११३. प्राकृत साहित्य का इतिहास - डॉ० जगदीशचन्द्र जैन - पृ० ३८१
११४. जैन साहित्य का इतिहास - नाथूराम प्रेमी - पृ० १४०

११५. जैन साहित्य का इतिहास - नाथूराम प्रेमी - पृ० १४०

११६. जैन साहित्य का इतिहास - नाथूराम प्रेमी - पृ० ४१२

११७. जैन साहित्य में कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० २७

११८. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० २५०

११९. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन - राजाराम जैन - पृ० १८०-२०७

१२०. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३०

१२१. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३२

१२२. प्रद्युम्न चरित्र - छन्द ५३९-४१

१२३. राजस्थान के जैन कवि - व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल - पृ० ८५

१२४. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३५

१२५. एक प्रति श्री पल्लीवाल दिगम्बर जैन मन्दिर पूलियागंज आगरा में उपलब्ध है। जिसकी प्रतिलिपि संवत् १८०८ की है। दूसरी प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में है जिसकी प्रतिलिपि संवत् १६५९ की है।

१२६. जैन साहित्य में कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३९-४०

१२७. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० १८ से २३

२

१. आचार्य जिनसेन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जैन विद्वानों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं में विशाल साहित्य का निर्माण किया गया है। इन्होंने न केवल धर्म-सिद्धान्त वरन् आचार, स्तोत्र, नीति, पूजा-पाठ, काव्य, पुराण, दर्शन, अध्यात्म, कथा-साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित एवं मंत्र-शास्त्र जैसे विभिन्न विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाकर जैन साहित्यागार को समृद्ध बनाया है परन्तु दुर्भाग्य से भारतीय विद्वानों द्वारा इन ग्रन्थों की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। आज भी सैकड़ों नहीं, हजारों ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हैं।

"जैनों के इन शास्त्रागारों में संस्कृत भाषा के सैकड़ों उत्कृष्ट ग्रन्थ संग्रहित पड़े हैं जिनके आधार पर साहित्यिक जगत के नहीं किन्तु इतिहास, संस्कृति एवं कला के भी नये पृष्ठ खुल सकते हैं एवं जिनका अध्ययन भारतीय साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध हो सकती है।"[१]

इन जैन साहित्यकारों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत में "पुराण-साहित्य" अत्यधिक लिखा है, जिनका जैन समाज में विशेष उल्लेखनीय, प्रशंसनीय एवं लोकप्रिय स्थान रहा है। पिछले एक हजार वर्षों से भी अधिक समय से इनका पठन-पाठन तथा स्वाध्याय का कार्य जैन-जगत में हो रहा है। जैनों के इस पुराण साहित्य में इनके सम्प्रदाय में वर्णित तिरेसठ शलाकापुरुषों तथा अन्य विशिष्ट पुण्यात्माओं को उल्लेखित किया गया है।

वैसे तो पुराण संज्ञक अनेक ग्रन्थ जैन समाज में प्रख्यात रहे हैं परन्तु इन पुराणों में महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तथा पाण्डवपुराण को सर्वाधिक ख्याति मिली है। महापुराण के आदिपुराण तथा उत्तरपुराण के दो भाग हैं। काव्य, चरित-कथा एवं नाटक जैसी अनेक चरित-प्रधान कृतियों का मूल स्रोत इसी पुराण साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं अनेक भारतीय भाषाओं में ये पुराण ग्रन्थ निरूपित हैं परन्तु जैनों के संस्कृत भाषा में लिखे महत्त्वपूर्ण, लोकप्रिय तथा विशेष उल्लेखित पुराण-ग्रन्थ निम्न हैं—

१.	आदिपुराण	–	जिनसेनाचार्य
२.	आदिपुराण	–	अरुणमणि
३.	उत्तरपुराण	–	गुणभद्राचार्य

४.	पद्मपुराण	-	रविषेणाचार्य
५.	पद्मपुराण	-	भट्टारक सोमसेन
६.	पद्मपुराण	-	धर्मकीर्ति
७.	पाण्डवपुराण	-	ब्र० जिनदास
८.	पाण्डवपुराण	-	भट्टारक शुभचन्द्र
९.	मुनिसुव्रतपुराण	-	ब्र० कृष्णदास
१०.	हरिवंशपुराण	-	जिनसेनाचार्य
११.	हरिवंशपुराण	-	ब्र० जिनदास
१२.	हरिवंशपुराण	-	पण्डित नेमिदत्त
१३.	हरिवंशपुराण	-	भट्टारक श्रीभूषण
१४.	विमलनाथपुराण	-	ब्र० कृष्णदास[२]

इन पुराणों का साहित्य जगत में अपना अनूठा स्थान है। कोशकारों ने पुराणों के पांच लक्षण माने हैं अर्थात् पुराण वह है जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों की परम्पराओं का वर्णन है।[३] इन पाँचों लक्षणों की विशद व्याख्या भागवतपुराण में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

इन पाँचों लक्षणों का निर्वाह करते हुए जैन पुराण अपने-अपने काल के विश्व-कोश हैं। इनमें नाना कथानकों, तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति तथा उस समय की संस्कृति का सुन्दर निरूपण हुआ है। इसके साथ-साथ तत्कालीन रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, जाति-व्यवस्था, जीवनादर्श इत्यादि के सम्बन्ध में भी सविस्तार चर्चा की गई है। ये ग्रन्थ पुराण नाम से प्रसिद्ध होने के बावजूद भी मनोरम काव्य-ग्रन्थ हैं जिनमें जीवन-मरण, विवाह, उत्सव, सन्तानोत्पत्ति, जलक्रीड़ा, वन-क्रीड़ा, संयोग-वियोग, आक्रमण, शांति इत्यादि के चित्रण मिलते हैं। इसके साथ-साथ पुराणकारों ने इन ग्रन्थों में जैन दर्शन का निरूपण भी बड़ी सहजता के साथ किया है, जो उल्लेख्य है।

जैनों की संस्कृत पुराण-परम्परा में जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण को उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस पुराण का प्रभाव जैनों की अनेक पुराण आदि कृतियों पर स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता जिनसेनाचार्य का व्यक्तित्व एवं कृतित्व हम इस परिच्छेद में देखेंगे।

आचार्य जिनसेन-व्यक्तित्व :-

जैन-समाज में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर, दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी दिगम्बर-सम्प्रदाय से सम्बन्धित मुनि थे। इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में अपने संघ

का परिचय दिया है कि ये "पुन्नाट-संघ" के आचार्य थे एवं इनके गुरु का नाम "कीर्तिषेण" तथा दादा गुरु का नाम "जयसेन" था। इनका समयकाल विक्रम संवत् ८०० से ९०० के बीच का माना जाता है। जिनसेन के जन्म, माता-पिता, जन्मस्थान, शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध नहीं होती है परन्तु इनका "पुन्नाट संघ" कर्नाटक से सम्बन्धित था जिसके बारे में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं।

पुन्नाट संघ :-

जिनसेन स्वामी पुन्नाट-संघ-परम्परा में हुए थे, जैसा कि ग्रन्थ प्रशस्ति से विदित होता है।

व्युत्सृष्टापरसंघसंततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये॥ ६४/५४

"हरिषेण स्वामी ने अपने कथाकोष में लिखा है कि भद्रबाहुस्वामी के आज्ञानुसार उनका सारा संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ "पुन्नाट" देश में गया। दक्षिणापथ का यह "पुन्नाट" "कर्नाटक" ही है।"[४]

वामन शिवराम आप्टे ने भी अपने संस्कृत इंग्लिश कोश में पुन्नाट का अर्थ "कर्नाटक" देश दिया है। कई संस्कृत कोशों में "नाट" शब्द भी मिलता है। उसका अर्थ भी "कर्नाटक" किया गया है। अत: नाट तथा पुन्नाट दोनों शब्द पर्याय है जिनका अर्थ कर्नाटक होता है। प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता "टालेमी" ने पुन्नाट को पौन्नट नाम से उल्लेखित किया है जिसका अर्थ भी कर्नाटक होता है।[५] कन्नड़ साहित्य में भी पुन्नाट राज्य की प्रचुरता के साथ उल्लेख मिलता है। इस देश के जैन-मुनि संघ का नाम पुन्नाट संघ था। वर्तमान मैसूर जिले की "होग्गेडवन्कोट" नाम की तहसील में किंतुर नाम का ग्राम है जिसका प्राचीन नाम "कीर्तिपुर" था। यही पुन्नाट राज्य की राजधानी था। पुन्नाट नाम से ही वहाँ का मुनि संघ "पुन्नाट संघ" से प्रसिद्ध था। देशों के नाम को धारण करने वाले और भी कई संघ प्रसिद्ध हैं, जैसे द्रविड़ देश का संघ "द्रविड़ संघ" मथुरा का माथुर संघ आदि। पुन्नाट की राजधानी किंतुर होने के कारण यह संघ किंतुर संघ भी कहलाता था। श्रवणबेलगोला के १९४ वें नम्बर के शिलालेख (जो शक संवत् ६२२ के लगभग लिखा हुआ है) में किंतुर संघ का उल्लेख है। प्रोफेसर हीरालाल इसे पुन्नाट संघ का ही दूसरा नाम होने का अनुमान करते हैं जो सर्वथा ठीक है।

"पुन्नाट" शब्द का एक अर्थ नागकेसर भी होता है। "दी-स्टेण्डर्ड संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी" के सम्पादक एल.आर. वैद्य ने पुन्नाट संघ का अर्थ नागकेसर किया है। "कर्नाटक प्रान्त में नागकेसर होती है। वहाँ नागकेसर के जंगल के जंगल नजर आने के कारण इस देश को पुन्नाट संघ की संज्ञा प्राप्त हुई होगी।"[६]

दिगम्बर-सम्प्रदाय एवं हरिवंशपुराण :-

आचार्य जिनसेन कृत "हरिवंशपुराण" दिगम्बर सम्प्रदाय के पुराण साहित्य में अपना मूर्धन्य स्थान रखता है। विवेचनात्मक दृष्टिकोण से इसका प्रमुख स्थान है परन्तु जैन संस्कृत पुराणों में समय की दृष्टि से इसका दूसरा स्थान है। पहला रविषेणाचार्य का "पद्मचरित" दूसरा जटासिंहनन्दि का "वरांगचरित" और तीसरा यह।[७] आचार्य जिनसेन ने भी अपने ग्रन्थ में रविषेण के "पद्म-पुराण" का स्पष्ट उल्लेख किया है :—

कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रियाः॥ १/३४

इसके अलावा "पार्श्वाभ्युदय" ग्रन्थ के कर्त्ता जिनसेन स्वामी का उल्लेख भी हरिवंशपुराण के प्रथम सर्ग में मिलता है, जिन्होंने महापुराण की रचना की। इस तथ्य से हरिवंशपुराण महापुराण से परवर्ती होना चाहिए।

परन्तु वास्तव में हरिवंशपुराण में जिनसेन (प्रथम) के "पार्श्वाभ्युदय" ग्रन्थ का ही उल्लेख किया गया है, महापुराण की चर्चा कहीं पर भी नहीं है। ये दोनों कवि समकालीन थे, परन्तु हरिवंशपुराण की रचना के समय इस महापुराण की रचना नहीं हुई होगी, क्योंकि महापुराण जिनसेन (प्रथम) के जीवन की अन्तिम रचना है तथा वह भी उनके द्वारा पूर्ण न होने के कारण उनके पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य ने उसे पूर्ण किया था। इसलिए हरिवंशपुराण-कार ने इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया होगा।

हरिवंशपुराणकार जिनसेन, आदिपुराणकर्त्ता जिनसेन से भिन्न :-

हरिवंशपुराण-कर्त्ता जिनसेन एवं आदिपुराण के रचयिता जिनसेन का नाम-साम्य तथा समकालीन होने के कारण कई विद्वानों ने इन दोनों व्यक्तियों को एक ही समझ लिया है परन्तु कई विद्वानों ने इन दोनों कवियों को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। इनका व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा तथा इनकी कृतियाँ आदि का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों अलग-अलग मुनि थे। नाम-साम्य के अलावा इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। डॉ० प्रेमचन्द जैन ने इन दोनों कवियों का पार्थक्य निम्न बिन्दुओं के आधार पर भली-भाँति किया है।[८]

(१) दोनों के गुरु भिन्न-भिन्न थे। हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन के गुरु का नाम कीर्तिषेण तथा दादा गुरु का नाम जयसेन था जबकि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के गुरु का नाम वीरसेन तथा दादा गुरु का नाम आर्यनंदि था। इस प्रकार दोनों मनीषियों की गुरु-परम्परा अलग-अलग थी।

(२) हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य "पुन्नाटसंघ" के आचार्य थे तथा आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन "सेनसंघ" या "पंचस्तूपान्वय" के आचार्य थे।

(३) हरिवंशपुराणकार जिनसेन स्वामी ने अपने पुराण के प्रथम अध्याय में ३९-४० वें श्लोक में "पार्श्वाभ्युदय" के कर्त्ता जिनसेन तथा उनके गुरु वीरसेन की स्तुति की है—

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते॥ १/३९
यामिताऽभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः॥ १/४०

इससे दोनों का पृथक्करण स्पष्ट हो जाता है क्योंकि पार्श्वाभ्युदय के कर्त्ता जिनसेन ही आदिपुराण के कर्त्ता थे।

(४) दोनों ग्रन्थों के विस्तृत अध्ययन-मनन से भी भली-भाँति समझ में आ जाता है कि इनके रचयिता भिन्न-भिन्न थे। हरिवंशपुराण में तीनों लोकों का, संगीत का, व्रतविधान आदि का जो बीच-बीच में विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे कथा के सौन्दर्य में हानि पहुँची है, जबकि आदिपुराण में इनके विस्तार को छोड़कर प्रसंगानुसार संक्षिप्त में वर्णन किया है। काव्य-सौष्ठव को देखने पर भी हरिवंशपुराण से महापुराण उत्कृष्ट रचना दिखाई देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं में नाम-साम्य के अलावा कोई साम्य नहीं है। अतः दोनों अलग-अलग कवि थे, इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाईश नहीं है।

हरिवंशपुराण का रचनाकाल :—

वैदिक एवं पौराणिक कृतियों के रचयिताओं, उनका रचना स्थल, रचना का समय आदि के सम्बन्ध में अनेक विवाद तथा अनिश्चयात्मक स्थिति पाई जाती है। विशेषकर पौराणिक कृतियों में उनके रचनाकाल एवं कर्त्ता के नामों का उल्लेख नहीं पाया जाता है। जिससे उनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना कठिन हो जाता है लेकिन जैन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में काल एवं निर्देश की प्रवृत्ति को अपनाया है। इनके प्रसिद्ध पुराणों में न केवल रचयिताओं के नाम वरन् रचनाकाल का भी उल्लेख मिलता है जिससे किसी भी महत्त्वपूर्ण रचना के रचनाकाल को जानने में कठिनाइ नहीं होती।

सौभाग्य से हरिवंशपुराण-कर्त्ता : जिनसेनचार्य ने भी इसी सुन्दर प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए आलोच्य कृति के रचनाकाल को इंगित किया है। हरिवंशपुराण के छासठवें सर्ग के ५२ वें श्लोक में ग्रन्थ के रचनाकाल का उल्लेख है—

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां।
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥ ६६/५२

इन्होंने अपनी रचना शक सम्वत् ७०५ अर्थात् विक्रम संवत् ८४० में पूर्ण की। कवि द्वारा वर्णित भौगोलिक स्थिति तथा उनकी गुरु परम्परा से भी यह बात निर्विवाद साबित होती है। जैन-पुराणों का उल्लेख करते हुए श्री परमानन्दजी (जिन्होंने जैन जगत में प्रकाशित पुराणों उसके रचयिताओं तथा रचनाकाल का उल्लेख किया है।) ने भी इसी बात की पुष्टि की है कि "जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ की रचना है।" पुराणकार ने अपने ग्रन्थ की रचना का समय शक संवत् में दिया है। शायद दक्षिण भारत में शक संवत् का प्रचलन रहा होगा। अतः उन्होंने विक्रम संवत् का उल्लेख न करके शक संवत् को उल्लेखित करना समुचित समझा होगा।

हरिवंशपुराण का रचना-स्थल :-

आलोच्य कृति में इस ग्रन्थ के रचना-स्थल का भी कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। हरिवंशपुराण के अन्तिम सर्ग में लिखा है कि इस ग्रन्थ का प्रारम्भ वर्धमानपुर में नन्नराज द्वारा निर्मित श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में हुआ था एवं इसका समापन "दोस्तटिका" नगर के भगवान् श्री शांतिनाथजी के मन्दिर में हुआ :—

कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्री पार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तेगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम्॥ ६६/५३

इस प्रकार हरिवंशपुराण की रचना वर्धमानपुर में हुई। जिनसेनाचार्य का पुन्नाट संघ से सम्बन्धित होने के कारण कई विद्वानों ने "वर्धमानपुर" को कर्नाटक राज्य में होने का भ्रम किया है परन्तु यह शहर कहाँ था? इसका अभी तक कुछ निर्णय नहीं हो सका है। लेकिन हरिवंश में वर्णित उल्लेख के अनुसार यह वर्धमानपुर गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ में स्थित "वढ़वाण" ही उचित प्रतीत होता है।

वर्धमानपुर उस समय का एक विशाल नगर था तथा वहाँ जैन धर्म के अनुयायियों का प्राचुर्य था। "आचार्य हरिषेण" जिन्होंने शक संवत् ८५३ अर्थात् विक्रम संवत् ९८९ में इसी शहर में "कथा-कोश" नामक ग्रन्थ की रचना कर उसे पूर्ण किया था। जिनसेनाचार्य ने वर्धमानपुर को "कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्री" तथा "हरिषेण" ने "कार्त्तस्वरापूर्णजनाधिवासं" कहा है। "कल्याण" तथा "कार्त्तस्वर" दोनों शब्दों का अर्थ सुवर्ण या सोना होता है। सुवर्ण के शब्द में कल्याण शब्द संस्कृत कोशों में भी मिलता है परन्तु वाङ्मय में इसका विशेष उपयोग नहीं हुआ है। दोनों के कथनानुसार जिसमें अनेक जैन मन्दिरों का समूह था। चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति चमकते महल थे, सोने से परिपूर्ण जन-निवास थे, ऐसा वह वर्धमान शहर था।[९]

हरिवंशपुराण में वर्धमानपुर की भौगोलिक स्थिति तथा उस समय के आसपास के राजाओं का जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि वर्धमानपुर को काठियावाड़ का "वढ़वाण" मानना कहाँ तक न्याय संगत है? जिनसेनाचार्य ने हरिवंशपुराण के अन्तिम सर्ग के ५२ व ५३ वें श्लोक में वर्धमानपुर का वर्णन करते हुए कहा है कि—

"सात सौ पाँच शक संवत् में जबकि उत्तर दिशा का इन्द्रायुध, दक्षिण का कृष्णराज का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्वदिशा का श्रीमान् अवन्तिराज तथा पश्चिम का सौरों के अधिमण्डल सौराष्ट्र का वीर जयवराह पालन करता था, तब कल्याणों से निरन्तर बढ़ने वाली लक्ष्मी से युक्त श्री वर्धमानपुर में नन्नराज द्वारा निर्मित श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में पहले इस हरिवंशपुराण की रचना प्रारम्भ की गई थी परन्तु वहाँ यह पूर्ण नहीं हो सकी। पर्याप्त भाग शेष बचा रहा तब पीछे दोस्तटिका नगरी की प्रजा के द्वारा रचित उत्कृष्ट अर्चन और पूजा-स्तुति से युक्त वहाँ श्री शांतिनाथ भगवान् के शांतिपूर्ण मन्दिर में इसकी रचना पूर्ण हुई।"[१०]

जहाँ तक दोस्तटिका का सवाल है तो वढ़वाण से गिरनार जाते समय जो "दोत्तडि" नामक स्थान आता है, वही हरिवंश में उल्लेखित "दोस्तटिका" प्रतीत होता है। प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (गायकवाड़ सीरिज) में प्रकाशित अमुलकृत चर्चरिका में एक यात्री ने भी गिरनार यात्रा के प्रसंग में "दोन्तड़ि" को "दोस्तटिका" के नाम से उल्लेखित किया है। यह यात्री सर्वप्रथम "वढ़वाण" पहुँचता है, फिर क्रम से रेनदुलई, सहजिपुर, गंगिलपुर तथा लखमीथरु पहुँचता है। फिर विषम दोताड़ि पहुँचकर बहुत सी नदियों तथा पहाड़ों को पार करता हुआ "करिवंदियाल" पहुँचता है। वह फिर अनन्तपुर से जाता हुआ झालण में अपनी यात्रा पूर्ण करता है एवं वहाँ से ऊँचा गिरनार पर्वत दिखने लगता है।[११]

इस प्रसंग से "दोस्तटिका" को काठियावाड़ का दोत्तड़ि मानने में कोई सन्देह नहीं रहता।

वैसे पुन्नाट कर्नाटक का पर्याय शब्द है परन्तु जैन मुनियों के विहार प्रिय होने के कारण सौराष्ट्र की ओर आगमन सम्भव है। सिद्धि क्षेत्र के गिरनार पर्वत की वंदना के उद्देश्य से शायद पुन्नाट संघ के मुनियों ने सौराष्ट्र की तरफ प्रयाण किया होगा। जिनसेन ने अपनी गुरु परम्परा में अमितसेन को पुन्नाट संघ का अग्रणी तथा शतवर्षजीवी बताया है। इससे भी यह प्रतीत होता है कि यह संघ अमितसेन के नेतृत्व में ही पुन्नाट प्रदेश छोड़कर सौराष्ट्र की तरफ आया होगा एवं वढ़वाण जैसे तत्कालीन भव्य-शहर में बस गया होगा।

काठियावाड़ के "वढ़वाण" को ही हरिवंशपुराण का रचना स्थल मानने पर उक्त चारों दिशाओं के राजाओं का मेल भी युक्ति-संगत बैठता है, अन्यथा नहीं।[१२]

वर्धमानपुर के चारों ओर तत्कालीन राजाओं का विवरण अधोलिखित प्रकार से है—

(१) इन्द्रायुध :–

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि इन्द्रायुध एवं चक्रायुध किस वंश के थे, यह ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु सम्भव है कि वे राठौड़ हों[१३]। लेकिन स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इन्हें मण्डिकुल का कहा है। इस मण्डिकुल को वर्मवंश भी कहा जाता है।[१४] इसी इन्द्रायुध के पुत्र चक्रायुध से प्रतिहारवंशी राजा वत्सराज के पुत्र नागभट्ट दूसरे ने विक्रम संवत् ८५७ में कन्नौज का राज्य छिना था। हरिवंशपुराण के अनुसार इन्द्रायुध वढ़वाण से उत्तर की ओर था। वढ़वाण के उत्तर में मारवाड़ प्रदेश पड़ता है अर्थात् इन्द्रायुध का साम्राज्य मारवाड़ से लेकर कन्नौज तक फैला हुआ विशाल राज्य था।

(२) श्रीवल्लभ :–

यह दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावी में मिले ताम्रपत्र[१५] में इसे गोविन्द न लिखकर "वल्लभ" ही बताया है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह गोविन्द (द्वितीय) ही था तथा वर्धमानपुर के दक्षिण दिशा में इसका साम्राज्य फैला हुआ था। शक संवत् ६९२ (वि०सं० ८२७) का अर्थात् हरिवंश की रचना से १३ वर्ष पहले का इसका "ताम्रपत्र"[१६] भी मिला है।

(३) अवन्तिभूभृत् वत्सराज :–

यह प्रतिहार वंश का राजा था और उस नागावलोक या नागभट्ट दूसरे का पिता था जिसने चक्रायुध को परास्त किया था। वत्सराज ने गौड़ तथा बंगाल के राजाओं को भी परास्त किया था और उनके दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन छत्रों को राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वितीय) या श्रीवल्लभ के छोटे भाई ध्रुवराज ने चढ़ाई कर वत्सराज से छीनकर उसे मारवाड़ की तरफ भागने पर मजबूर किया था।

ओझाजी ने लिखा है कि उक्त वत्सराज ने मालवे के राजा पर चढ़ाई की और मालवराज को बचाने के लिए लिए ध्रुवराज ने उस पर चढ़ाई कर दी। ७०५ में तो मालवा वत्सराज के ही अधिकार में था क्योंकि ध्रुवराज का राज्यारोहण काल शक संवत् ७०७ के आसपास माना जाता है। उसके पहले ७०५ में तो गोविन्द द्वितीय ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराज ने उक्त आक्रमण किया होगा।

"कुवलयमाला" के रचयिता "उद्योत न सूरि" ने जाबालिपुर या जालौर (मारवाड़) में, शक संवत् ७०० में जब एक दिन बाकी था उस समय उक्त रचना की समाप्ति की थी। उस समय वहाँ वत्सराज का राज्य था। इस प्रकार "हरिवंश" की रचना के समय तो उत्तरदिशा का मारवाड़ इन्द्रायुध के अधिकार में था तथा पूर्व का मालवा वत्सराज के अधीन था।[१७]

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वत्सराज ने मारवाड़ से आकर ही मालवा पर कब्जा किया होगा तथा बाद में ध्रुवराज के आक्रमण के समय पर वह फिर मारवाड़ की तरफ भाग गया होगा। "अवन्तिका" भी वढ़वाण से पूर्व दिशा में स्थित है परन्तु उस समय वहाँ कौन राजा था, उसका पता नहीं चलता है कि जिसकी सहायता के लिए ध्रुवराज दौड़ा था। ध्रुवराज शक संवत् ७०७ के आसपास गद्दी पर बैठा था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि हरिवंश की रचना के समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में श्रीवल्लभ तथा पूर्व में वत्सराज का राज्य होना उचित प्रतीत होता है।

(४) वीर जयवराह :-

यह पश्चिम में सौरों के अधिमण्डल का राजा था। सौरों के अधिमण्डल का अर्थ सौराष्ट्र से किया जाता है जो काठियावाड़ वढ़वाण से दक्षिण में है। "सौर" लोगों का राष्ट्र सौर-राष्ट्र था। सौराष्ट्र से वढ़वाण और उसके पश्चिम की ओर का प्रदेश ही ग्रन्थकर्त्ता को अभीष्ट है। यह राजा किस वंश का था, इसके बारे में ठीक पता नहीं चलता परन्तु कई विद्वानों ने इन्हें चालुक्य वंश का राजा स्वीकार किया है। इनके नाम के आगे "वराह" का प्रयोग इसी तरह होता होगा, जिस तरह कीर्तिवर्मा (द्वितीय) के साथ महावराह का। राष्ट्रकूटों के पहले चालुक्य सार्वभौम राजा थे तथा काठियावाड़ पर भी इनका अधिकार था। उनका यह सार्वभौमत्व शक संवत् ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटों ने छीना था, इसलिये ज्यादा सम्भव यही है कि हरिवंश की रचना के समय सौराष्ट्र पर चालुक्य वंश की ही किसी शाखा का अधिकार हो और इसी को तब "वराह" लिखा हो। पूरा नाम जयसिंह हो और वराह उसका विशेषण।

प्रतिहार राजा "महीपाल" के समय का एक दानपत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) में शक संवत् ८३६ का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय वढ़वाण में "धरणीवराह" का अधिकार था जो चावड़ा वंश का था। उन प्रतिहारों का करद राजा था। इससे यह सम्भावना व्यक्त की है कि शायद "जयवराह" उनके चार छः पीढ़ी का पूर्वज रहा होगा।[१८]

काठियावाड़ के वढ़वाण में पुन्नाट संघ :-

वैसे जैन मुनिजनों में सर्वत्र विहार करने की प्रवृत्ति परम्परा से चली आ रही है। लेकिन सुदूर कर्नाटक से उपर्युक्त "पुन्नाट संघ" का काठियावाड़ में पहुँचना तथा वहाँ कई वर्षों तक स्थाई रहना असाधारण प्रतीत होता है। इसका सम्बन्ध दक्षिण के चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं के कारण ही जान पड़ता है, जिनका शासन गुजरात तथा काठियावाड़ पर बहुत समय तक रहा तथा उनकी जैन-धर्म पर असीम कृपा दृष्टि रही। अनेक चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं ने तथा उनके माण्डलिकों ने जैन मुनियों को दान दिये हैं और आदर किया है। उनके बहुत से अमात्य, मंत्री, सेनापति इत्यादि जैन धर्म के अनुयायी रहे हैं।

ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि पुन्नाट संघ के कुछ मुनि उन लोगों की प्रार्थना या अनुग्रह से सुदूर काठियावाड़ तक पहुँचे। "हरिषेण" तक यह संघ काठियावाड़ में रहा उसके बाद में इसका काठियावाड़ में रहने का कोई पता नहीं चला है।

हरिवंशपुराण के अंतिम सर्ग में कवि ने वर्धमानपुर (वढ़वाण) में नन्नराज वसति या उसके किसी वंशधर के द्वारा बनवाये गये जैन मन्दिर का उल्लेख है।[१९] कन्नड़ में नकार के प्रयोगों की दृष्टि से यह नन्नराज नाम भी "कन्नड़" का प्रतीत होता है क्योंकि इस नाम को धारण करने वाले कुछ राष्ट्रकूट राजा भी हुए हैं।[२०] इन राष्ट्रकूट राजाओं के प्रसिद्ध नामों के साथ उनके घरू नाम कुछ और भी रहते। जैसे—कन्न, कन्नर, अण्ण, बौद्दण, तुडंग, बद्दिग आदि। यह नाम भी ऐसा ही घरेलु नाम जान पड़ता है।[२१]

"पुन्नाट संघ" का इन दो ग्रन्थों के सिवाय अभी तक और कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। कर्नाटक प्रान्त का यह संघ था परन्तु वहाँ के शिलालेख इत्यादि में भी इसका उल्लेख नहीं मिला है। इससे यह प्रतीत होता है कि पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर जाने पर ही संघ "पुन्नाट संघ" कहलाया जिस प्रकार कि आजकल कोई एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाकर रहते हैं तब वह अपने पूर्व स्थान वाला कहलाने लगता है। जैसे—मारवाड़ के लोग जब गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि में रहने पर वहाँ वे मारवाड़ी कहलाने लगते हैं।

पुराणकार जिनसेन स्वामी ने समीपवर्ती गिरनार की सिंहवाहिनी माँ अम्बादेवी का भी उल्लेख किया है तथा उसे विघ्नों का नाश करने वाली शासनदेवी बतलाया है।

गृहीतचक्राऽप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभावन्ति शासने॥ ६६/४४

इससे यह पता चलता है कि उस समय में भी गिरनार पर्वत पर अम्बादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर रहा होगा।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का प्रसिद्ध शहर वढ़वाण ही है, जहाँ जिनसेन ने पार्श्वनाथ के मन्दिर में उपर्युक्त प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की।

जिनसेन द्वारा निर्दिष्ट पूर्ववर्ती विद्वान् :–

आचार्य जिनसेन ने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थ-कर्त्ताओं तथा विद्वानों का नाम स्मरण करते हुए कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उनकी प्रशंसा की है। निम्नांकित पद्यों में कई आचार्यों तथा कवियों का वर्णन प्राप्त होता है।

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥ १/२९

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥ ३०

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्॥ ३१

वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः॥ ३२

महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥ ३३

कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रियाः॥ ३४

वरांगनेव सर्वांगैर्वरांगचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥ ३५

शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः।
कस्य नोद्भाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरंजयेत्॥ ३६

योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः॥ ३७

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥ ३८

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते॥ ३९

याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तयस्यसौ॥ ४०

वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगमास्तयः।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः-स्फुटस्फटिकभित्तिषु॥ १/४१

हरिवंशपुराणकार ने इन पद्यों में जिन आचार्य-कवियों का वर्णन किया है उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

(१) समन्तभद्र :–

जैन साहित्य में स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत कवि और स्तुतिकार हैं। ये कवि होने के साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक भी थे। समन्तभद्र क्षत्रिय-राजपुत्र थे। इनके जन्म का नाम शान्तिवर्मा था किन्तु बाद में आप 'समन्तभद्र' इस प्रसिद्ध एवं

श्रुतिमधुर नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए। इनके गुरु का नाम तथा इनकी गुरु परम्परा अभी तक ज्ञात नहीं है। वादी, वाग्मी तथा कवि होने के साथ-साथ स्तुतिकार होने की ख्याति भी आपको प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्र के तलद्रष्टा और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थे। एक परिचय पद्य में तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होने के साथ आज्ञासिद्ध तथा सिद्ध-सारस्वत भी बतलाया है। आपकी गर्जना से सभी वादी-जन काँपते थे। आपने अनेक देशों में विहार किया तथा अनेक वादियों को पराजित कर उन्हें सन्मार्ग दिखाया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ भी जैन साहित्य में प्रसिद्ध रही हैं वे हैं—बृहत्स्वयंभू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आप्तमीमांसा, स्तुतिविद्या, देवागम स्तोत्र, जीवसिद्धि, तत्वानुशासन, प्राकृत-व्याकरण, प्रमाण-पदार्थ, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्ति महाभाष्य।[२२]

(२) सिद्धसेन :-

जिनसेन द्वारा उल्लेखित सिद्धसेन को श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ अपना मानती हैं। सिद्धसेन का समय विक्रम संवत् ६२५ के आसपास माना जाता है। उनके द्वारा लिखित दो ग्रन्थों का ही अभी तक पता चला है वे दो रचनायें "सन्मतिसूत्र" तथा "कल्याणमन्दिर स्तोत्र" हैं।

सिद्धसेन नामक एक से अधिक विद्वान् हुए हैं। सन्मति सूत्र तथा कल्याण मन्दिर स्तोत्र जैसे जैन ग्रन्थों के रचयिता दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं हैं परन्तु दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार आदि रचनाएँ हैं।[२३]

(३) देवनन्दि :-

देवनन्दि पूज्यपाद का यह दूसरा नाम है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में इनकी स्तुति करते हुए लिखा है कि जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे अथवा जिन्होंने कवियों का पथ प्रदर्शन करने के लिए लक्षण ग्रन्थ की रचना की थी तथा जिनका वचन-रूपी तीर्थ विद्वानों के शब्द-सम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला है ऐसे उन देवनन्दि आचार्य का कौन वर्णन कर सकता है?[२४]

आचार्य जिनसेन (प्रथम) ने पूज्यपाद का स्मरण करते कहा है कि "जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरण का अवलोकन करने वाली है, ऐसी देववन्द्य देवनन्दि की वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है।"

इनका जीवन परिचय चन्द्रय्य कवि के 'पूज्यपाद चरित' तथा देवचन्द्र के "राजवलिकथे" नामक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनके नामों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। इन्हें बुद्धि की प्रखरता के कारण जिनेन्द्र-बुद्धि तथा देवों के द्वारा चरणों की पूजा किये जाने से पूज्यपाद कहा गया है। अब तक

आपके देशभक्ति, जन्माभिषेक, तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) समाधितन्त्र, ईष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण, सिद्धिप्रियस्तोत्र ये सात ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं।

(४) वज्रसूरि :–

पं० नाथूराम प्रेमी के अनुसार ये देवनन्दि या पूज्यपाद के शिष्य थे।[२५] जिनसेन ने इनके विचारों को प्रवक्ताओं या गणधर-देवों के समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत किया है जिसमें बन्ध तथा मोक्ष का सहेतुक विवेचन किया गया है। "दर्शनसार" के उल्लेखानुसार आप छठी शती के प्रारम्भ के विद्वान् ठहरते हैं।

(५) महासेन :–

जिनसेनाचार्य ने आपको "सुलोचनाकथा" का कर्त्ता बतलाया है। इनके बारे में विशिष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है।

(६) रविषेण :–

जैन पौराणिक कथा-ग्रन्थों के रचयिताओं में रविषेणाचार्य का नाम भी प्रसिद्ध रहा है। इन्हें सारस्वताचार्यों में गिना जाता है। ये सेनसंघ या गणगच्छ के थे। इन्होंने अपने पौराणिक ग्रन्थ पद्मपुराण की समाप्ति में निर्देश किया है कि "भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त करने के १२०३ वर्ष ६ माह पश्चात् पद्ममुनि का यह चरित निबद्ध किया। इससे इनकी यह रचना संवत् (ई०सं० ६७७) में पूर्ण हुई थी। वीर निर्वाण संवत् कार्तिक कृष्ण अमावस्या संवत् ४६९ पूर्व से ही भगवान् महावीर के मोक्ष जाने की परम्परा प्रचलित है। इस प्रकार छः माह का समय और जोड़ने पर वैशाख शुक्ल पक्ष विक्रम संवत् ७३४ रचना तिथि आती है।"[२६]

(७) जटासिंहनन्दि :–

जैन पौराणिक काव्य के निर्माताओं में जटाचार्य का नाम भी प्रसिद्ध है। जिनसेन, उद्योतनसूरि आदि प्राचीन आचार्यों ने जटासिंह नन्दि की प्रशंसा की है। जिनसेन ने इनका नामोल्लेख न कर इनके "वरांगचरित" का उल्लेख किया है।[२७] इनका समाधिमरण "कोप्पण" में हुआ था। "कोप्पण" के समीप "पल्लव की गुण्डु" नामक पहाड़ी पर इनके चरण चिह्न भी अंकित हैं और उनके नीचे दो पंक्तियों का पुरानी कन्नड़ भाषा का एक लेख भी उत्कीर्ण है। जिसे "चाप्पय" नाम के व्यक्ति ने तैयार कराया था। इनकी एक मात्र कृति "वरांगचरित" डॉ० ए०एस० उपाध्याय द्वारा सम्पादित होकर माणिक्यचन्द्र ग्रन्थ माला बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। उपाध्यायजी ने जटासिंह नन्दि का समय ७ वीं शती निश्चित किया है।

(८) शान्त :–

आपका पूरा नाम शांतिषेण जान पड़ता है। आपकी उत्प्रेक्षा अलंकार से युक्त वक्रोक्तियों की प्रशंसा पुराणकार ने की है। शायद आपका कोई प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ होगा। जिनसेनाचार्य की गुरु-परम्परा में भी जयसेन से पूर्व एक शांतिषेण आचार्य का नामोल्लेख आता है। सम्भव है कि ये शांत कवि वही शांतिषेण हो।

(९) विशेषवादि :–

इनके किसी गद्य-पद्य मय ग्रन्थ की उक्तियों की बहुत विशेषता का वर्णन करते जिनसेनाचार्य ने इनका उल्लेख किया है। "पार्श्वनाथ चरित" के रचयिता "वादिराज" ने भी इनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनकी रचनाओं को सुनकर अनायास ही पण्डित जन विशेषाभ्युदय को प्राप्त कर लेते हैं।[२८]

(१०) कुमारसेन गुरु :–

जिनकी यशःप्रभा चन्द्र[२९] के समान उज्ज्वल और समुद्र पर्यन्त विस्तृत है, ऐसे "चन्द्रोदय" ग्रन्थ के रचयिता प्रभाचन्द्र आपके गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नहीं है। "चामुण्डरायपुराण" के पद्य नं० १५ में भी आपका स्मरण किया गया है।

(११) वीरसेन गुरु :–

हरिवंशपुराणकार ने कवि चक्रवर्ती के रूप में वीरसेन का स्मरण किया है और कहा है कि जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों में चक्रवर्ती है ऐसे वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है।[३०]

आचार्य वीरसेन न केवल सिद्धान्त के पारंगत विद्वान् थे वरन् गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों का भी मर्मस्पर्शी ज्ञान उन्हें प्राप्त था। इनका बुद्धि-वैभव अत्यन्त अगाध तथा पाण्डित्यपूर्ण था। वीरसेन के शिष्य जिनसेन ने अपने "आदिपुराण" में इनकी "कविवृन्दारक" कह कर स्तुति की है।

वीरसेन "पंचास्तुपान्य" के आचार्य चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दि के शिष्य तथा महापुराण आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता जिनसेन के गुरु थे। आप षट्खंडागम पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका तथा "कषायप्राभृत" पर बीस हजार श्लोक "जयधवला टीका" लिखकर दिवंगत हुए हैं। जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने-आपके द्वारा परलोक विजेता कहकर सुशोभित किया है। आपका समय विक्रम की 9वीं शती का पूर्वार्द्ध है।

(१२) जिनसेन स्वामी :–

आप वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने आपके "पार्श्वाभ्युदय" ग्रन्थ की ही चर्चा की है जबकि आप महापुराण तथा कषाय-प्राभृत की अवशिष्ट चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका के भी कर्त्ता हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये जिनसेन के समकालीन थे तथा हरिवंशपुराण की रचना के समय इन्होंने "पार्श्वाभ्युदय" की ही रचना की होगी। जयधवला और महापुराण की रचना आपकी अंतिम रचना कही जाती है, जिसे स्वयं पूरा न करने से उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया। आपका समय ९वीं शती है। ये हरिवंशपुराणकार जिनसेन के समय में ही हुए थे।

(१३) वर्धमानपुराण के कर्त्ता :–

जिनसेनाचार्य ने वर्धमानपुराण का तो उल्लेख किया है परन्तु इसके कर्त्ता का नामोल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है उनके समय का कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा होगा परन्तु सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

जिनसेनाचार्य की गुरु परम्परा :–

जिनसेन स्वामी ने आलोच्य कृति में कई गुरु-परम्पराओं को विवेचित किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था, उसका शिष्य कौथुमि पुत्र था। कौथुमि का अयरावृत्त, अयरावृत्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिष्ठल, कपिष्ठल का जगस्थामा, जगस्थामा का सरवर, सरवर का शरासन, शरासन का रावण, रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था।[३१] जैन पुराणों में यह परम्परा इस रूप में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती है।

हरिवंश के छासठवें सर्ग में महावीर भगवान् से लेकर लोहाचार्य तक की वही आचार्य परम्परा दी है जो श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में भी मिलती है। वहाँ लिखा है कि महावीर के निर्वाण के बाद ६२ वर्षों में तीन केवली (गौतम, सुधर्मा, जम्बू) हुएँ। उनके बाद सौ वर्षों में पाँच श्रुतकेवली (विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु) हुए। तदुपरान्त १८२ वर्षों में ग्यारह दशपूर्व के पाठी (विशाख, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयनाग, सिद्धार्थ, धृतसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव व धर्मसेन) हुए तथा फिर ११८ वर्ष में समुद्र जयचन्द, यशोगाहु तथा लौहार्य ये चार आचाराङ्गधारी हुए। इस प्रकार वीर निर्वाण के ६८३ वर्षों में ये सब आचार्य हो गये। इसके बाद महातपस्वी विनयंधर, गुप्तश्रुति, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन तथा शांतिसेन

आचार्य हुए। तदन्तर अखण्ड मर्यादा के धारक, षट्खण्डों के (जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड, महाबंध) के ज्ञाता, इन्द्रियजीत एवं कर्मप्रकृति रूप श्रुति के धारक जयसेन नामक गुरु हुए। इनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरणी प्रभावशाली तथा समस्त सिद्धान्तसागर के पारगामी थे। ये ही शतायु पुन्नाट संघ के अग्रसर आचार्य तथा परम तपस्वी थे। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे। आचार्य जिनसेन उनके ही प्रधान शिष्य थे जिन्होंने हरिवंशपुराण की रचना की है।[३२]

वीर निर्वाण की वर्तमान काल गणना के अनुसार विक्रम संवत् २१३ तक लौहार्य का अस्तित्व समय है तथा उसके बाद जिनसेन का समय वि०सं० ८४० है अर्थात् दोनों के बीच में यह जो ६२७ वर्ष का अन्तर है। जिनसेन ने इस कालावधि में २९-३० आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्य का समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो यह अन्तर लगभग ठीक बैठता है।

दूसरी तरफ वीर निर्वाण से लौहार्य तक अठ्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और सब का संयुक्त काल ६८३ वर्ष का है। प्रत्येक आचार्य का औसत काल २५ वर्ष के लगभग पड़ता है। इस तरह दोनों कालों की औसत लगभग समान बैठ जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित हो जाता है कि वीर निर्वाण के बाद से विक्रम सं० ८४० की एक अविच्छिन्न अखण्ड परम्परा को इस ग्रन्थ में सुरक्षित रखा है। ऐसी परम्परा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं देखी गई है अत: इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का पर्याप्त महत्त्व है।

हरिवंशपुराण का मूलाधार :-

कोई भी कृतिकार किसी ग्रन्थ का आधार लेकर अपने ग्रन्थ की रचना करता है जैसे सूरसागर को श्रीमद् भागवत का आधार लेकर बनाया गया है। इसी तरह से जिनसेन (प्रथम) के "महापुराण" का आधार "वागर्थसंग्रह" पुराण रहा है। हरिवंशपुराण का भी कुछ न कुछ आधार अवश्य रहा होगा। जिनसेन ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग में जिस गुरु-परम्परा को वर्णित किया है इससे ज्ञात होता है कि इनके गुरु "कीर्तिषेण" थे। सम्भवत: हरिवंश की कथावस्तु उन्हें अपने गुरुजी से प्राप्त हुई होगी।[३३]

प्रसिद्ध ग्रन्थ "कुवलयमाला" के रचयिता उद्योतनसूरि ने (विक्रम संवत् ८३५) जिस तरह रविषेण के पद्मचरित तथा जटासिंह नन्दि के वरांगचरित की स्तुति की है उसी तरह हरिवंशपुराण की भी वंदना की है। उन्होंने लिखा है कि "मैं हजारों बन्धुजनों के प्रिय हरिवंशोत्पत्तिकारक प्रथम वंदनीय और विमलपद हरिवंश की वन्दना करता हूँ।"[३४] *यहाँ विमल से हरिवंश के "विमल पद" प्रयोगों के साथ 'विमल की रचना' यह ध्वनि* भी प्राप्त होती है। इस ध्वनि से स्पष्ट निर्देश है कि विक्रम की पहली शताब्दी में हुए

आचार्य विमलसूरि रचित 'पउमचरियम्' पद्य चरित्र का आधार कवि ने लिया है। यदि ऐसा है तो हरिवंशपुराण का मूलाधार एवं जिनसेन की अनुभूति का स्रोत विमलसूरि का ग्रन्थ पउमचरियं रहा होगा।

हरिवंशपुराण का लोकविभाग एवं शलाकापुरुषों का वर्णन त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति से मेल खाता है।[३५] हरिवंश का राजनैतिक वर्णन "द्वादशांग" के अनुरूप है। संगीत का वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से अनुप्रकर्णित है तथा दर्शन एवं तत्त्वों का वर्णन सर्वार्थ-सिद्धि तथा तत्वार्थसूत्र के अनुकूल है। कालिदास इत्यादि कवियों का प्रभाव भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य जिनसेन ने इन सब ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन तथा मनन किया था, जिससे इनका स्पष्ट प्रभाव हरिवंशपुराण पर पर्याप्त रूप से पड़ा है।

जिनसेनाचार्य की प्रामाणिक कृति हरिवंशपुराण :–

आचार्य जिनसेन की ख्याति का आधार उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ हरिवंशपुराण है। यह एक पौराणिक कथा ग्रन्थ है जिसका जैन साहित्य में मूर्द्धन्य स्थान है। इस ग्रन्थ में जिनसेनाचार्य ने हरिवंश की एक शाखा यादवकुल में उत्पन्न तीन शलाकापुरुषों श्री कृष्ण, बलदेव एवं अरिष्टनेमि का चरित चित्रण किया है। जैन परम्परानुसार श्री कृष्ण चरित्र का क्रमबद्ध रूप से चित्रण करने वाला यह प्रथम काव्य ग्रन्थ हे। वैसे तो कृष्ण चरित्र वैदिक साहित्य से लगाकर आधुनिक युग तक अनेक काव्य ग्रन्थों में वर्णित किया गया है परन्तु जैनों की मान्यता आगम काल से भिन्न दिखाई देती है। उनके आगम एवं आगमेतर साहित्य में इस चरित्र का वर्णन बहुतायत के साथ किया गया है।

हरिवंशपुराण के कृष्ण न तो भगवान् है तथा न ही वे भगवान् के अवतार हैं परन्तु वे विशिष्ट अतिशयों से सम्पन्न शलाकापुरुष हैं। ये शलाकापुरुष कालक्रमानुसार जन्म धारण करते रहते हैं। परम्परानुसार एक कालखण्ड में त्रिषष्टि शलाकापुरुष होते हैं। श्री कृष्ण इन्हीं शलाकापुरुषों में से "नौवें नारायण" हैं।

जिनसेनाचार्य ने अपने ग्रन्थ में श्री कृष्ण एवं जैनधर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का चित्रण करते हुए अन्य अनेक प्रसंगोपात कथानकों का सुन्दर गुम्फन किया है। यह एक विशालकाय पौराणिक कृति है। इसमें कृष्ण-चरित्र को विस्तृत रूप से निरूपित करते हुए आचार्य जिनसेन ने कृष्ण-जन्म की भविष्यवाणी, श्री कृष्ण का जन्म, पूतना-वध, चाणूर तथा मुष्टिक-वध, श्री कृष्ण द्वारा कंस को मारना, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, श्री कृष्ण के विवाह, उनके पुत्र, उनका वैभवशाली राज्य तथा श्री कृष्ण का परमधामगमन के समस्त वृत्तान्तों का सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। नेमिनाथ चरित्र वर्णन में उनका पैतृक वंश, नेमिनाथ का अलौकिक-बल, कौरवों-पाण्डवों के युद्ध में नेमिनाथ की भूमिका, उनकी आध्यात्मिकता, तप एवं कैवल्यज्ञान इत्यादि का चित्रण मिलता है। इसके अलावा प्रद्युम्न-चरित्र तथा पाण्डव-चरित्र का भी कवि ने यथाप्रसंग सुन्दर समावेश दिखाया है।

इस ग्रन्थ की विषय वस्तु ६६ सर्गों, आठ अधिकारों में विभक्त है। पुराणों में सर्वप्रथम लोक के आकार का वर्णन, फिर राजवंशों की उत्पत्ति, तदनन्तर हरिवंश का अवतार, फिर वासुदेव की चेष्टाओं का कथन, तदनन्तर नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका का निर्माण, युद्ध का वर्णन तथा निर्वाण—ये आठ अधिकार कहे गये हैं।[३६]

इस विशालकाय पौराणिक कृति में आचार्य जिनसेन ने अनेक गणधरों का वर्णन, क्षत्रिय आदि वर्णों का निरूपण, हरिवंश की उत्पत्ति, हरिवंश में उत्पन्न अन्धकवृष्टि का जन्म तथा उसके दस कुमारों का वर्णन, वेदों की उत्पत्ति, राजा सौदास की कथा, बलदेव की उत्पत्ति, जरासंध एवं कंस का अत्याचार, वासुदेव-देवकी का विवाह, अतिमुक्त मुनि की भविष्यवाणी, श्री कृष्ण की उत्पत्ति, गोकुल में उनकी बाल चेष्टाएँ, यमुना में नाग नाथना, कंस-वध, उग्रसेन का राज्य, सत्यभामा का पाणिग्रहण, जरासंध वध, द्वारिका नगरी की वैभवशीलता, रुक्मिणी का हरण, प्रद्युम्न का जन्म, शम्बकुमार की उत्पत्ति, श्री कृष्ण की दिग्विजय, दिव्य रत्नों की उत्पत्ति, कौरवों का पाण्डवों के साथ युद्ध, श्री कृष्ण को नेमिनाथ द्वारा सामर्थ्य का उपदेश, नेमिनाथ की जलक्रीड़ा, नेमिनाथ का विवाह-प्रारम्भ, पशुओं को छुड़ाना, उनकी दीक्षा, राजमति की तपस्या, नेमिनाथ का गिरनार पर आरूढ़ होना, धर्मतीर्थों का विहार, अनेक परिजनों का नेमिनाथ से दीक्षा लेना, द्वारिका-विनाश, बलराम तथा कृष्ण का वहाँ से निकलना, जरत्कुमार के बाण से कृष्ण का अवसान, बलदेव की विरक्ति, पाण्डवों का तप के लिए वन में जाना इत्यादि अनेक प्रसंगों का वर्णन विस्तार से किया गया है। इन समस्त प्रसंगों में कवि ने चक्रवर्तियों, अर्द्ध चक्रवर्तियों, बलभद्रों तथा अनेक महापुरुषों का चरित्र चित्रण करने का सफल प्रयास किया है।

कथा-वस्तु के गुम्फन की दृष्टि से हरिवंशपुराण ग्रन्थ महाकाव्य के गुणों से गुँथा हुआ उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ है। इसमें काव्य के समस्त रसों का सुन्दर चित्रण दृष्टिगोचर होता है। कंसवध, मल्लयुद्ध, रुक्मिणी हरण, जरासंध-वध इत्यादि प्रसंगों में वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है तो कृष्ण का वासुदेव स्वरूप तथा यदुवंशियों के प्रभाव वर्णन में अद्भुत रस का प्रकर्ष है। नेमिनाथ का विवाह, उनका वैराग्य, राजमती का तप तथा कृष्ण के अवसान इत्यादि कई प्रसंग करुण रस से भरे पड़े हैं।

कवि ने संयोग शृंगार एवं विप्रलम्भ शृंगार रस का भी यथोचित वर्णन किया है। काव्य का अन्त शांत रस में होता है। प्रकृति चित्रण में चन्द्रोदय, ऋतुवर्णन, संध्या वर्णन इत्यादि के सुन्दर स्थल दृष्टिगोचर होते हैं, साथ ही उत्कृष्ट एवं उदात्त भाषा में निरूपित यह ग्रन्थ विविध अलंकारों तथा छन्दों से अलंकृत है।

इस ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता जिनसेन बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। न जाने कितने समय तक उन्होंने लोकशास्त्र एवं काव्य का सूक्ष्म अध्ययन किया होगा, जिससे उनके पुराण में समाज के व्यापारों, पाखण्डों, उपद्रवों,

व्यवसायों, लोक-व्यवहारों का सांगोपांग वर्णन सम्भव हो सका। कवि ने कृष्ण-चरित्र-वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

सामाजिक स्थितियों के वर्णन में तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था, चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र, स्त्री वर्ग की स्थिति, स्त्री-शिक्षा, उसका समाज में स्थान, विवाहावस्था, विवाहों के प्रकार, स्वयंवर प्रथा, तत्कालीन कला-कौशल, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, स्त्री और राज्याधिकार इत्यादि विविध तथ्यों का समावेश दिखाई देता है।

राजनैतिक स्थिति के अनेक चित्रों में प्रशासन-व्यवस्था, राजा तथा राजपद, युवराज और उत्तराधिकार, राज्याभिषेक, सैन्य-व्यवस्था, सेना-संगठन, युद्ध के प्रकार, रथ-युद्ध, पदातियुद्ध, मल्लयुद्ध, दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध, स्त्री और युद्ध, परिचायक ध्वजादि, युद्ध-व्यूह के प्रकार (दण्ड-व्यूह, वराह-व्यूह, मकर-व्यूह, सूची-व्यूह, गरुड़-व्यूह), युद्ध के प्रयोगों में लाये जाने वाले शस्त्रास्त्र इत्यादि का वर्णन उल्लेखनीय है। पुराणकालीन आर्थिक दृष्टि से भारतवर्ष की स्थिति को भी कवि ने यथासम्भव विवेचित किया है। लोगों के प्रमुख व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन का उल्लेख करने के सिवाय पुराणकार ने तत्कालीन वाणिज्य-व्यापार, क्रय-विक्रय, यातायात के साधन, वेषभूषा, अलंकार-आभूषण इत्यादि महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी उजागर किया है।

जिनसेनाचार्य का दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध जैन मुनि होने के कारण कवि का मुख्य हेतु जैन विवेचन का रहा है। इस दृष्टिकोण से भी आलोच्य कृति पूर्ण रूप से सफल सिद्ध होती है। आचार्य जिनसेन ने अपने ग्रन्थ का आलोच्य विषय ही जैन धर्म के दिव्य पुरुषों का जीवन चरित्र रखा।

जीवन-चरित्र वर्णन के साथ ही कवि ने श्रावक-धर्म, मुनि-धर्म, स्वाध्याय, आहारदान, विधि, उपवास, व्रत तथा जैन दर्शन का भी विस्तार से निरूपण किया है। जैन धर्म में प्रचलित अनेक उपवास व्रतों में सर्वतोभद्र, त्रिलोकसार, वज्रमध्य, मृदंगमध्य, एकावली, द्विकावली, रत्नावली, कनकावली, सिंहनिष्क्रीडित, मध्यम सिंहनिष्क्रीडित, उत्कृष्टसिंहनिष्क्रीडित, नन्दीश्वर व्रत, मेरुपंक्ति व्रत, विमानपंक्ति व्रत, शातकुम्भ, जघन्यशातकुम्भ, उत्कृष्टशातकुम्भ, चान्द्रायणकुम्भ, सप्त-सप्तम्, आचाम्ल वर्धमान, श्रुतव्रत, दर्शन शुद्धिव्रत, तपशुद्धि, चरित्रशुद्धि, सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रह त्याग महाव्रत, पंच कल्याण महाव्रत, शील कल्याण महाव्रत, भावनाव्रत, पंचविंशति भावना, दुःख-हरण, कर्मक्षय, जिनेन्द्रगुण सम्पत्ति, दिव्य लक्षण पंक्ति, परस्पर कल्याण इत्यादि का उल्लेख आलोच्य कृति में मिलता है, जो पुराणकार के महान् धार्मिक तत्त्वचिंतक स्वरूप को स्पष्ट करता है। कवि ने इन सब उपवासों तथा पंच महाव्रतों का सूक्ष्म निरूपण कर इनकी पार लौकिक-सुख प्रदान करने की क्षमता को उजागर किया है।

सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के वर्णन के उपरान्त हरिवंशपुराण में तत्कालीन भारतीय भौगोलिक स्थिति, अनेक छोटे-मोटे राज्य, अनेक राजाओं की वंशावलियों, तत्कालीन राजा तथा उनका सामर्थ्य, अनेक नगर प्रान्त, जैन श्रावक तथा उनकी गुरु-परम्परा इत्यादि विविध विषयों की भी विस्तृत जानकारी मिलती है।

उपर्युक्त प्रकार से जिनसेनाचार्य की आलोच्य कृति हरिवंशपुराण विषय-वस्तु निरूपण, काव्य-ग्रन्थ, विविध विषयों का विस्तृत वर्णन, जैनधर्म तथा दर्शन, विविध शास्त्रों का निरूपण तथा अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथा सफल ग्रन्थ सिद्ध होता है।

हरिवंशपुराण का मुद्रण तथा प्रकाशन :-

जैनशास्त्र भण्डारों में कई स्थानों पर हरिवंशपुराण की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रामाणिक संस्करण पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थ द्वारा सम्पादित माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन-ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित किया है। ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन से इसके दो संस्करण प्रकाशित हो गये हैं। ज्ञानपीठ से प्रकाशित इसके द्वितीय संस्करण के सम्पादक डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य हैं, जो वि०सं० २०३५ ईसवी सन् १९७८ में प्रकाशित है।

२. महाकवि सूरदास : जीवनवृत्त

किसी भी कवि के जीवनवृत्त को जानने के लिए दो प्रमुख आधार माने गये हैं— अन्तः साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य। अन्तः साक्ष्य में कवि के वे कथन और संकेत आते हैं जिससे कवि के जीवनवृत्त को जानने में सहायता मिलती है। बाह्य साक्ष्य में अन्य विद्वानों द्वारा उल्लेखित सामग्री को लिया जाता है। महाकवि सूरदास की जीवनी को जानने के लिए उनकी रचनाओं में जो कुछ संकेत मिलते हैं, वे अन्तः साक्ष्य है तथा इसके अतिरिक्त पुष्टिमार्ग के उपलब्ध ग्रन्थ, सम-सामयिक कवियों की रचनाएँ, परम्परागत मान्यताएँ तथा जनश्रुतियाँ—आदि सामग्री बाह्य-साक्ष्य के अन्तर्गत आती है। प्राचीन काल के कवियों की जीवनगाथा का आद्योपान्त क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है क्योंकि उसको लिखने का प्रयास न तो स्वयं कवियों ने किया है तथा न ही समकालीन लेखकों ने उस तरफ ध्यान दिया है। सूर का जीवनवृत्त विविध जनश्रुतियों का आधार है। अतः संशोधकों को उनका लौकिक वृत्त स्वल्प मात्रा में मिल सका है। आज जब सूरदास के जीवन-वृत्त को देखने का प्रयास किया जाता है तो विविध जनश्रुतियों के आवरण को दूर कर ऐतिहासिक तथ्यों तक पहुँचना कठिन प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य के अनेक संशोधकों ने सूर के जीवन-वृत्त पर शोधपूर्ण कार्य किया है। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० दीनदयाल गुप्त, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० देशराजसिंह एवं डॉ० भ्रमरलाल जोशी

आदि अनेक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं विद्वानों की लेख-सामग्री के आधार पर सूर के जीवन-वृत्त पर हम यहाँ विचार करेंगे। वैसे सूर-काव्य पर अनेक अनुसंधानात्मक कार्य हो चुके हैं, कई विद्वानों ने इसका तात्त्विक विश्लेषण किया है। सूरदास एवं उनके काव्य के सम्बन्ध में विवेचन वास्तव में उन मनीषियों का जूठन मात्र है। परन्तु हरिवंशपुराण के साथ सूरसागर का तुलनात्मक अध्ययन करने के कारण उनका विश्लेषण करना भी परमावश्यक है। अत: सूर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की प्रामाणिकता के आधार पर हम यहाँ निरूपित करेंगे।

सूरदास नाम एक, व्यक्ति अनेक :-

किसी भी अन्धे व्यक्ति को सूरदास कहना भारतीय जीवन की परम्परा रही है। प्राचीन काल से लेकर आज तक ऐसे कई सूरदास हो गये हैं, जो जनमानस में प्रख्यात थे। ऐसा कुछ विधि का विधान है कि अन्धे व्यक्ति संगीत प्रेमी, गायक तथा कलाप्रेमी होते हैं। एक तो अन्धे, दूसरा ऐसे गुणों का होना, जिससे लोगों में उनको ख्याति मिल जाती है तथा सरलता से लोगों की सहानुभूति भी अर्जित कर लेते हैं।

''वल्लभाचार्य'' के शिष्य तथा अष्टछाप के प्रमुख कवि सूरदास के समकालीन तथा उसके थोड़ा बहुत आगे-पीछे कई सूरदास हो गये हैं जिनके जीवन की बातें भी सूरदास के जीवन के साथ इतनी घुल-मिल गई हैं कि उन्हें पृथक् करना काफी कठिन हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में महाकवि सूरदास की जीवनी देखते समय ऐसे अन्य सूरदासों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा, जिससे सूरदास का सही परिचय प्राप्त किया जा सके।

(१) बिल्वमंगल सूरदास :-

इनके बारे में भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इनका एक चिन्मणि नामक वैश्या पर आसक्त होना उल्लेखनीय है। उसकी फटकार से ही इन्होंने सूजे से अपनी आँखें फोड़ दी, ऐसी किंवदन्ती है। इनका ''श्रीकृष्णकरुणामृत'' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

(२) सूरदास भक्त :-

नाभादासजी के भक्तमाल के छप्पय ३७ में इनका वर्णन मिलता है। ये रामोपासक थे। इन्होंने रामजन्म तथा एकादशी महात्म्य नामक दो ग्रन्थों की रचना की।

(३) सूरदास मदनमोहन :-

नाभादास कृत भक्तमाल के छप्पय संख्या १२६ में इनका गुणानुवाद मिलता है। कहा जाता है कि इनके नेत्र थे, फिर भी इन्हें सूरदास कहा जाता था। इनके बारे में संडीले के अमीन पद पर रहते हुए तेरह लाख की सम्पत्ति का साधु सन्तों में बाँटना

प्रसिद्ध रहा है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने कई पुस्तकों में उल्लेखित शाही दरबार में आने जाने वाले सूरदास इन्हीं को माना है।

(४) भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास :–

वल्लभाचार्य शिष्य, अष्टछाप कवियों में सर्वप्रमुख भक्त शिरोमणि सूरदास उपर्युक्त तीनों सूरदास से सर्वथा भिन्न हैं। भक्तमाल के वर्णन में भी इनको सर्वमान्य, सर्वोपरि महात्म्य युक्त प्रतिपादित किया है। यही सूरदास अपनी कृष्ण-लीलाओं की प्रसिद्ध कृति सूरसागर के लिए प्रख्यात रहे हैं तथा विश्वकवि का सम्मान अर्जित किया है। इन्हीं के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का हमें विवेचन करना है।

सूरदास : वंश-परिचय :–

"भट्ट ब्राह्मण" सूरदास के वंश परिचय से सम्बन्धत प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। "साहित्य लहरी" में पद संख्या ११८ के आधार पर कई विद्वानों ने इन्हें ब्राह्मण माना है तथा हिन्दी के आदि कवि चन्दवरदाई का वंशधर साबित किया है। इस पद के आधार पर इनकी वंशावली भी प्रस्तुत की गई है। जिसका डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० बड़थ्वाल, सरजार्ज ग्रियर्सन, मुंशी देवीप्माद तथा राधाकृष्णदास विद्वानों ने समर्थन किया है।

परन्तु सूर साहित्य पर अनुसंधान करने वाले अनेक विद्वानों ने इस वंशावली की प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। डॉ० दीनदयाल गुप्त के अनुसार—"ज्ञात होता है कि यह पद सरदार कवि तथा भारतेन्दु से भी पहले किसी ने साहित्य-लहरी में मिला दिया है।" इस प्रकार इस पद को प्रक्षिप्त मान कर इसे प्रामाणिक पद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने उक्त पद को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के लिए अनेक सचोट तर्क प्रस्तुत किये तथा "सूरनिर्णय" के लेखकद्वय प्रभुदयाल मित्तल तथा द्वारिकाप्रसाद पारीख ने भी इस मत में अपनी सहमति प्रकट की है।

इस प्रकार से सूरदास को भट्ट ब्राह्मण या राव मानना, यह मत ग्राह्य नहीं है। अगर इस मत में कुछ भी सारतत्त्व होता तो अन्य कई ग्रन्थों में—"चौरासी वैष्णव की वार्ता" या "भावप्रकाश" में इसका अवश्य ही उल्लेख होता। यह पद अवश्य प्रक्षिप्त है। अतः सूरदास को भट्टब्राह्मण कहना असंगत है।

सूर सारस्वत ब्राह्मण :–

हरिराय कृत भावप्रकाश में जो चौरासी वैष्णव की वार्ता के आधार पर लिखा गया है, सूर को सारस्वत ब्राह्मण बताया गया है। सारस्वत शब्द का नामकरण "सरस्वती" के आधार पर हुआ है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में सरस्वती नदी पांचाल देश में बहती हुई गंगा में मिलती थी। उसके आसपास रहने वाले ब्राह्मण सारस्वत कहलाते थे।

अनेक विद्वानों ने भावप्रकाश को प्रामाणिक मानकर सूर को सारस्वत ब्राह्मण माना है जो युक्ति संगत है।

सूरदास की जन्मतिथि :-

महाकवि सूरदास की जन्मतिथि के विषय में न तो निश्चयात्मक सामग्री अन्तः-साक्ष्य में उपलब्ध होती है और न ही बाह्य साक्ष्य में। सूर के जीवन पर प्रकाश डालने वाले प्राचीन ग्रन्थ 'वार्ता साहित्य में' इसका कोई उल्लेख न होने के कारण इस सम्बन्ध में जटिलता और बढ़ गई है। "चौरासी वैष्णव की वार्ता" में भी सूर के जीवन का वह वर्णन मिलता है जब वे गऊघाट पर रहते थे। इससे पहले की शृंखला भावप्रकाश में हरिराय के द्वारा मिलायी गई है।

प्रथम मत :- वि०सं० १५४०

साहित्य-लहरी के पद संख्या १०९ में सूर के रचनाकाल का निर्देश आता है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द कर लिवि सुवन संवत पैख।
नन्दनन्दन मास छै ते हीन त्रितिया बार।
नन्द नन्दन जन्म ते है बान सुख आगार।

आचार्य शुक्ल ने इस दृष्टिकूट पद का विश्लेषण कर साहित्य-लहरी की रचना वि०सं० १६०७ में स्वीकार की है। इस पद में आये कूटार्थ इस प्रकार मान्य बताये गये हैं। मुनि=७, रसन=०, रस=६, दसनगौरीनंद=१। कूट पद में आये अंकों को "अंकानां वामतो गतिः" के अनुसार उक्त संख्या १६०७ बनती है। सूर-सारावली के एक दूसरे पद का आधार मानकर सूर की उस समय की आयु ६७ वर्ष मानी है—

गुरुप्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
सिव विधान तप करेऊ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

इस प्रकार १६०७ में से ६७ वर्ष निकाल देने पर सूर का जन्म वर्ष वि०सं० १५४० रहता है। मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामकुमार वर्मा एवं अनेक विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है तथा इसके पक्ष में अपने विचार प्रकट किये हैं परन्तु आज यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि सूरसारावली तथा साहित्यलहरी की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। जब उपर्युक्त मत इन कृतियों के आधार पर साबित किया गया है परन्तु कृतियों की संदिग्धता होने पर यह मत अपने आप अस्वीकार हो जाता है।

(२) दूसरा मत - वि०सं० १५३० :-

बड़ौदा संस्कृत कॉलेज के आचार्य श्री भट्ट ने दावा किया है कि वे वल्लभाचार्य के सम्बन्धित समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वल्लभाचार्य

का जन्म वि०सं० १५३० में हुआ था। जो संवत् वल्लभाचार्य के जन्म का है, वही सूरदास के जन्म का है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने इस मत का समर्थन किया है।[३७]

परन्तु सूरसाहित्य के अनेक अनुसंधानकर्त्ताओं ने इस मत को अमान्य ठहराया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि इस जन्म संवत् की आचार्य के जीवन की अन्य घटनाओं से संगति नहीं बैठती। डॉ० हरवंशलाल शर्मा लिखते हैं कि "भट्टजी की युक्तियाँ तब तक अकाट्य नहीं मानी जा सकती, जब तक कि वे वल्लभाचार्य के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की इस हेर-फेर के साथ सिद्ध न कर दें।"[३८]

(३) तीसरा मत - वि०सं० १५३५ :-

इस मत के अनुसार सूर का जन्म वैशाख शुक्ल पंचमी वि०सं० १५३५ है। यह सबसे विश्वसनीय एवं प्रामाणिक मत के रूप में स्वीकार्य किया जाता है। पुष्टिमार्ग में यह मत प्रचलित है कि सूरदासजी की आयु वल्लभाचार्य से दस दिन कम थी। "निजवार्ता" में उल्लेख आता है कि "जो सूरदासजी, जब श्री आचार्य जी सो महाप्रभु को प्राकट्य भयो है, तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्यजी सो ये दिन दस छोटे हते।"[३९]

श्रीनाथद्वारा में वल्लभाचार्य के जन्मोत्सव के १० दिन बाद आज भी सूरदास का जन्मोत्सव मनाया जाता है। "वल्लभ-दिग्विजय" के अनुसार वल्लभाचार्य का जन्म रविवार वैशाख कृष्ण ११ संवत् १५३५ (वि०) में हुआ था। इससे दस दिन कम कर देने से सूर की जन्मतिथि वैशाख शुक्ल पंचमी मंगलवार संवत् १५३५ निश्चित होती है। इस मान्यता की पुष्टि में निम्नलिखित पद मिलता है :

प्रगटे भक्त शिरोमणिराय,
माधव शुक्ला पंचमि उपर छट्ठ अधिक सुखदाय।
संवत् पन्द्रह पेतींस वर्षे कृष्ण सखा प्रकटाय।
करिहै लीला फेरी अधिक सुखमय मनोरथ पाय।

सूर-निर्णयकार श्री द्वारकादास पारीख तथा प्रभुदयाल मित्तल ने इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि—"वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के इतिहास की संगति से "सारावली" का रचनाकाल संवत् १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय "गुरुप्रसाद होत यह दरसन" "छासठ बरस प्रवीन" उक्ति के आधार पर सूरदास की आयु ६७ वर्ष थी। संवत् १६०२ से ६७ कम करने पर सूर का जन्म विक्रम संवत् १५३५ ठहरता है।

डॉ० दीनदयाल गुप्त, श्री नलिनिमोहन सान्याल तथा हरवंशलाल शर्मा जैसे सभी विद्वान् इसका समर्थन करते हुए सूर का जन्म संवत् १५३५ स्वीकार करते हैं। अनेक आधुनिक विद्वान् भी इसी मत से अभिमत है।

जन्म स्थान :–

सूर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में ''गोपाचल'', मथुरा प्रान्त का कोई गाँव ''रूनकता'' तथा ''सीही''—ये चार स्थान प्रसिद्ध हैं। ग्वालियर का ही प्राचीन नाम गोपाचल था तथा यही गोपाचल सूर का जन्मस्थान था, ऐसी डॉ० बड़थ्वाल की मान्यता है।[४०] परन्तु इस बात का मूलाधार ''साहित्य-लहरी'' का वंशवृक्ष ही प्रामाणिक न मानकर उसे प्रक्षिप्त मानने पर यह स्वतः ही अमान्य हो जाता है। भक्त कवि मियाँसिंह ने सूर की जन्म भूमि पर लिखा है कि—

मथुराप्रान्त विप्रकर गेहा, मो उत्पन्न भक्त हरि नेहा॥

परन्तु यहाँ मथुरा प्रान्त का उल्लेख है किसी स्थान विशेष का नहीं। अतः इस मत का भी कोई महत्त्व नहीं है।

इसके अलावा कई विद्वानों ने सूर का जन्म स्थान ''रूनकता'' बतलाया है। इस मत को स्वीकार करने वाले विद्वानों में आचार्य शुक्ल, रामकुमार वर्मा, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० मुंशीराम शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इस मत के अनुसार सूरदास का गऊघाट पर रहने का संदर्भ है। गऊघाट से तीन-चार मील की दूरी पर आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर रूनकता ग्राम स्थित है। यहाँ से दो मील दूरी पर ''रेणुका'' का स्थान है तथा ''परशुराम'' का मन्दिर है। आज भी यहाँ खंडहरों के चिह्न पाये जाते हैं। रेणुका क्षेत्र को ही रूनकता कहा जाने लगा। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार ''सूरदास गोपाचल में रहते थे, जो आगरा के निकट है। चौरासी वैष्णव की वार्ता में इसे ही गऊघाट कहा गया है तथा इसकी स्थिति आगरा-मथुरा के बीच बतलाई गई है।''[४१] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि—''चौरासी वैष्णव की वार्ता के अनुसार इनका जन्म स्थान रूनकता या रेणुका क्षेत्र है।''

हरिरायजी ने ''भावप्रकाश'' में जो सूर के १०० वर्ष बाद की रचना है, सूर का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस दूर ''सीही'' ग्राम स्वीकार किया है। यह मत कई विद्वानों द्वारा विश्वसनीय माना जाता है। ''भावप्रकाश'' में लिखा है कि—

''दिल्ली के चार कोस उरे में एक सीही ग्राम है, जहाँ परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने सर्पयज्ञ किया है।''

गोकुलनाथजी के समकालीन प्राणनाथजी ने भी सूर का जन्म स्थान सीही ग्राम ही माना है। श्री प्रभुदयाल मित्तल, डॉ० गुप्त, डॉ० हरवंशलाल वर्मा, डॉ० वेदप्रकाश आर्य इत्यादि अनेक विद्वानों ने अनेक तर्क देकर इसी पक्ष का प्रतिपादन किया है। इस मत की भी कई विद्वानों ने आपत्ति की है कि ''भावप्रकाश'' में लिखा सूर के जन्म स्थान सम्बन्धी तथ्य प्रतिलिपिकार का है तथा जनमेजय के नाग यज्ञ की बात भी सही नहीं है

एवं दिल्ली के पास सीही ग्राम का पता नहीं चलता है परन्तु डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने इन तमाम आपत्तियों का निराकरण करते हुए लिखा है कि—

"दिल्ली के आसपास इस सीही ग्राम का आज कहीं पता नहीं है। कहा जाता है कि जहाँ आज नई दिल्ली है, वहाँ के छोटे-छोटे गाँव उठा दिये गये हैं और वे दूसरे जिलों में जाकर आबाद हो गये। दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभगढ़ के निकट सीही नामक एक ग्राम है। वहाँ यद्यपि सूर सम्बन्धी कोई स्मारक अब विद्यमान नहीं है, तथापि वहाँ के लोगों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि महाकवि सूरदास का जन्म उसी सीही ग्राम में हुआ था।"[४२] हम भी डॉ० शर्मा के इस मत से सहमत हैं।

सूर का अन्धत्व :–

सूरदास निपट अन्धे थे, इस तथ्य का अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य दोनों ही आधार पर सभी आलोचक स्वीकार करते हैं परन्तु सूर जन्मान्ध थे या अमुक उम्र के पश्चात् अन्धे हुए थे, इस पर विद्वानों में मतभेद है।

अन्तः साक्ष्य में सूर ने अपने अनेक पदों में अपने आपको अन्धा कहा है—

१. सूर कहा कहे विविध आँधरों, बिना मोल को चेरो।

२. सूरदास सी बहुत निठुरता नैनहुँ की हानि।

तदुपरान्त वार्ता-साहित्य में भी सूर का अन्धा होना प्रमाणित है। "चौरासी वैष्णव की वार्ता" में यह प्रसंग आता है कि—"दोऊ नैत्र कर हीन ब्रजवासी सूरदास"। एक अन्य प्रसंग में वल्लभाचार्य से भेंट होने पर उन्होंने कहा था कि—"सूर है के ऐसे कहा घिघियातु है"। भावप्रकाश में भी सूर के अन्धे होने का उल्लेख मिलता है। कवि प्राणनाथ की पंक्तियाँ दृष्टव्य है—

"बाहर नैन विहिन सो भीतर नैन विसाल"

नाभादासजी के भक्तमाल में सूर का परिचय देने वाले पद में लिखा है—

प्रतिबिम्बित दिविदृष्टि, हृदय हरिलीला भाखी।

इसके अलावा अनेक जनश्रुतियाँ सूर के अन्धत्व को निर्देशित करती है परन्तु विवाद तो यह है कि सूर जन्मान्ध थे या बाद में अन्धे हुए थे।

आधुनिक काल में सूर साहित्य के अनेक विद्वानों ने सूर की जन्मान्धता का समर्थन किया है। इन विद्वानों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० मुंशीराम शर्मा, श्री प्रभुदास मित्तल, डॉ० हरवंशलाल शर्मा इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध करन का प्रयास किया है कि सूरदास जन्मान्ध थे। सूर की जन्मान्धता के सम्बन्ध में कतिपय पंक्तियाँ अन्तः साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत हैं—

१. सूर की बेरियाँ निठूर होई बैठे, जन्म अंध कर्‌यौ।

२. रह्यो जात एक पतित जनम कौ, आँधरो सूरदास को।

बाह्य साक्ष्यों में श्रीनाथजी भट्ट तो सूरदास के समकालीन माने जाते हैं। उनका "जन्मान्धो सूरदासोऽभूत" लिखा द्रष्टव्य है। श्री रघुनाथसिंह ने "रासरसिकावली" में भी जन्मान्धता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि—

जनमते है नैन विहीना, दिव्यदृष्टि देखहि सूख भीना।

भक्तविनोद में कवि मियाँसिंह ने लिखा है कि—

सो सूरदासजी कै जनमत ही सौ नेत्र नाही है।

श्री हरिराय जी ने "भक्तमाल" में इसी का समर्थन किया है।

इस प्रकार अनेक अन्त: साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने अपने मत का समर्थन देते हुए सूर को जन्मान्ध माना है। इस सम्बन्ध में मुंशीराम शर्मा का मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"यह तो साधारण मनुष्यों की बात है, सूर जैसे उच्च कोटि के सन्त की तो बात ही निराली है। वे भगवद् भक्त थे, अघटित घटना घटा देने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते। साधारण कवि जिस वस्तु को नेत्र रहते हुए भी नहीं देख सकता, उसे क्रान्तदर्शी व्यक्ति एवं महात्मा अनायास ही देख लेते हैं।"[४३]

इस संदर्भ में डॉ० हरवंशलाल शर्मा का मत भी अवलोकनीय है—"यह बात तो नहीं भूलनी चाहिए कि जिन व्यक्तियों के अन्त:करण के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं, वे अन्तर्जगत से बाह्य जगत का साक्षात्कार करने लगते हैं। पाश्चात्य भौतिकवाद एवं जड़वाद से प्रभावित होकर भारतीय ब्रह्म ज्ञान को महत्त्व की छीछालेदार व्याख्या अनुचित है।"[४४]

उपर्युक्त प्रकार से विद्वानों ने भगवत् कृपा तथा दिव्य दृष्टि की चर्चा करते हुए सूर को जन्मान्ध माना है क्योंकि "जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अन्धे को सब कुछ दरसाई"। परन्तु ऐसे कई विद्वान हैं जो सूर की जन्मान्धता को चुनौती देते हैं। इनमें मिश्र बन्धु डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० बेनीप्रसाद, डॉ० ब्रजेश्वर शर्मा, श्री नलिनी मोहन सान्याल, डॉ० राजरतन भटनागर आदि कई विद्वान सूर के सजीव वर्णनों के आधार पर सूर को जन्मान्ध मानने में सहमत नहीं हैं। इन विद्वानों का मत है कि सूर बाद में अन्धे हो गये थे क्योंकि कोई भी जन्मान्ध व्यक्ति इतना सुन्दर सौन्दर्य-वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण नहीं कर सकता है। सूर ने जिस तरह की उपमाओं का वर्णन किया है, उनका, मात्र कल्पना के आधार पर जिसने कभी उन्हें देखा नहीं हो, वह कभी नहीं कर सकता है। मनोवैज्ञानिक

सिद्धान्त के अनुसार भी स्वप्न में भी हम उन्हीं वस्तुओं को देख सकते हैं, जिन्हें कभी किसी न किसी रूप में देखा गया हो। अत: सूरदास जन्मान्ध होकर ऐसा वर्णन नहीं कर सकते हैं।

सूर के पदों में जो "जन्म को आँधरो" शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें जन्म शब्द का लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना श्रेयस्कर है। 'जन्म को आँधरो' से मतलब यह है कि सूरदास का जीवन ही अन्धे होकर बीत गया। सूरदास के द्वारा जन्म शब्द जीवन या जिन्दगी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इन्हें ये विद्वान् जन्मान्धता के साक्ष्य के रूप में ग्रहण करना समुचित नहीं समझते हैं।

इस सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं का मन्तव्य उल्लेखनीय है कि "हमें तो इनके जन्मान्ध होने पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के रंगों और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं तथा उपमाएँ ऐसी चुभती दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों देखे केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से ऐसा वर्णन कर सकता है।"[४५]

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने जन्मान्धता को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि—"सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे क्योंकि शृंगार तथा रंग रूप आदि का जो वर्णन उन्होंने किया है, वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।" डॉ० बेनीप्रसाद का मत भी इस मत का समर्थन है—"प्राकृतिक दृश्य का अनुपम चित्रण किसी प्रकार यह नहीं मानने देता कि वे जन्म से ही अन्धे थे।"[४६]

इस प्रकार सूर के अन्धत्व के सम्बन्ध में तो सभी विद्वान् एक मत हैं परन्तु जन्मान्धता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है परन्तु डॉ० दीनदयाल गुप्त का यह मत कि—"सूर बाल्यावस्था में अन्धे हो गये थे, सर्वथा युक्ति-संगत तथा तर्क पूर्ण प्रतीत होता है।"

सूरदास का बचपन :–

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष मिलता है कि सूर सारस्वत ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। उनका जन्म संवत् १५३५ विक्रमी में हुआ था। सूर का जन्म स्थान वल्लभगढ़ के निकट "सीही" नामक है तथा बाल्यावस्था में ही शीतला रोग या किसी अन्य कारण से उनकी आँखें जाती रहीं।

सूरदास की बाल्यावस्था से ही कुशाग्र बुद्धि थी। इस सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उनकी अन्त: प्रज्ञा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपनी इसी शक्ति के बल पर कुछ लोगों की गुमी हुई वस्तुओं का पता बता दिया था। इन्होंने गान-विद्या भी प्रारम्भ से प्राप्त कर ली थी तथा इसकी निपुणता से ही इनको जल्दी ही प्रसिद्धि मिल गई थी।

हरिराय जी के "भावप्रकाश" के अनुसार ये बाल्यावस्था में ही घर से विरक्त होकर चल दिये थे तथा "सीही" से लगभग चार-पाँच मील दूर किसी अन्य गाँव के तालाब के किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गये थे। इसी वृक्ष के नीचे अठारह वर्ष की आयु तक वे रहे। आसपास के लोग इन्हें बड़ा प्यार करते थे तथा इनके खाने-पीने का प्रबन्ध करते थे तथा कहा जाता है कि जो बातें ये बतलाया करते थे, वे आमतौर पर सत्य निकलती थी। इसी कारण आसपास इनकी ख्याति फैल गई तथा दूर-दूर से भविष्य के विषय में बात पूछने; अनेक लोग इनके पास आने लगे।

इनका कण्ठ भी मधुर था। यहाँ वे गाने का अच्छा अभ्यास करते थे तथा इस हेतु एकान्त में बैठकर गाया करते थे। इनका गाना सुनने अनेक लोग जमा हो जाते थे तथा वे इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे एवं छोटी आयु होने पर भी बड़ा आदर करते थे। आने वाले लोग इन्हें स्वामीजी कहकर पुकारते थे तथा श्रद्धा व प्रेम से अनेक उपहार देते थे, वही इनके जीवन चलाने के लिए पर्याप्त होता था। कई लोग स्वामीजी के शिष्य बन गये और उनसे दक्षिणा में जो मिला, उससे उनके पास यथेष्ट परिमाण में द्रव्य एकत्रित हो गया।

कहा जाता है कि एक दिन रात्रि को सूर ने विचार किया कि वह तो वहाँ फंस कर रह गये। घर से भगवान् की भक्ति को निकले थे तथा उसी के लिए विरक्ति ली थी परन्तु वहाँ माया ने घेर लिया। उन्होंने उसी समय दृढ़ निश्चय किया कि वे तुरन्त उस स्थान को छोड़ देंगे। उस समय उनकी आयु १८ वर्ष थी।

इस प्रकार माया से छुटकारा प्राप्त कर अपने वैराग्य की रक्षा करने हेतु सूर ने एक दिन वह स्थान छोड़ दिया। कहते हैं कि सूर ने वहाँ से जाते कुछ भी साथ में नहीं लिया। जो द्रव्यादि था, वह वहीं छोड़ दिया। यहाँ से चल कर सूर मथुरा आये। मथुरा कृष्ण का जन्मस्थान था। एक बार मन में फिर प्रलोभन आया परन्तु तुरन्त ही ध्यान आया कि मथुरा भारत का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है और यात्रियों के आवागमन के कारण वे मायाजाल से वंचित नहीं रह सकते हैं, ऐसा विचार कर उन्होंने मथुरा में बसना उचित नहीं समझा। एकान्त स्थान की खोज करते ये आगरा तथा मथुरा के निकट गऊघाट पर रहने लगे और यहीं यमुना नदी के किनारे भगवद् भक्ति करने लगे। वे ३१ वर्ष की आयु तक यहाँ पर रहे।

दीक्षा :-

चौरासी वैष्णव की वार्ता के अनुसार संवत् १५६७ (वि०) में महाप्रभु वल्लभाचार्य काशी और अड़ैल (प्रयाग) होते हुए गऊघाट पर रुके थे। उस समय आचार्यजी की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। दक्षिण भारत के साथ ही उत्तर भारत में भी वे मायावाद का खण्डन तथा भक्तिमार्ग की स्थापना कर चुके थे। आचार्यजी से लोगों ने सूर की गान विद्या की चर्चा की। इस पर आचार्यजी ने सूर से मिलने की इच्छा प्रकट की। परिणामस्वरूप लोग सूरदासजी को आचार्य के सन्मुख ले गये। सूर से भेंट करते समय

आचार्यजी ने कहा—''कुछ भगवद् जस वर्णन करो''। सूर ने इस पर विनय के सम्बन्धित इस पद का गान किया—

प्रभु हौ सब पतितन कौ टीको
और पतित सब चार दिना के, हौ तो जनम तही कौ॥ १३८

आचार्य वल्लभ सूर की मधुर वाणी से अत्यधिक प्रभावित हुए परन्तु उन्होंने सूर के जीवन में परिव्याप्त दीनता, निराशा तथा अवसाद को देखकर कहा कि—

सूर ते कै ऐसे काहे को घिघियातु है, कछु भगवान् की लीला का वर्णन करूँ।[४७]

सूर ने अपनी विवशता को प्रकट करते हुए कहा कि 'प्रभु मैं तो नेत्रहीन हूँ, मै कुछ समझता नहीं हूँ।'[४८] इस पर वल्लभाचार्य ने उन्हें दीक्षा प्रदान की तथा अष्टछाप मन्त्र ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' सुनाया एवं समर्पण करवाया। सूर को आश्वस्त करते हुए बताया कि भगवान् की लीला का सम्बन्ध चर्म-चक्षुओं से नहीं वरन् ज्ञान-चक्षुओं से है। इस प्रकार आचार्य ने उन्हें ज्ञान-दृष्टि से मंडित कर पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया।

वहीं से वल्लभाचार्य सूरदास को अपने साथ गोवर्धन ले गये। गोकुल में सूरदासजी ने ''नवनीतप्रियाजी'' के सम्मुख भक्ति के पदों का गान किया। यहीं पर श्रीवल्लभाचार्य के आदेशानुसार लीलापदों का गान एवं लिखना प्रारम्भ हुआ। श्रीवल्लभाचार्य भागवत के जिस भाग का पारायण करे थे, सूरदास उसी पर पदों को लिखने का कार्य प्रारम्भ कर देते थे। आचार्यजी के साथ थोड़े समय तक गोकुल में निवास कर तत्पश्चात् उन्हीं के साथ गोवर्धन चले गये। गोवर्धन में नवनिर्मित श्रीनाथजी के मन्दिर में स्थापित श्रीनाथजी की सेवा में लग गये। वहाँ का कीर्तन-कार्य कुंभनदास करते थे। श्रीनाथजी की सेवा का कार्य बंगाली वैष्णवों के हाथों में था। संवत् १५५६ में पूरणमल खत्री ने श्रीवल्लभाचार्य की प्रेरणा से वैशाख सुदि ३ को एक विशाल मन्दिर बनवाया एवं वहाँ श्री श्रीनाथजी की मूर्ति स्थापित कर सूरदास को प्रमुख कीर्तनिया नियुक्त किया। संवत् १५७६ वैशाख सुदि ३ के बाद में जाकर यह मन्दिर पूर्ण हुआ।[४९]

श्रीनाथजी के कीर्तनिया के रूप में सूर का स्थाई निवास गोवर्धन न होकर उसके पास ''पारसौली'' ग्राम में चन्द्रसरोवर को अपना स्थाई निवास बताया। ''पारसौली'' से सूरदास नित्य श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में आया-जाया करते थे। इन्हीं कीर्तनों में वे सहस्रों नये-नये पद हैं, जिनके संकलन को सूरसागर का नाम दिया गया है।

अष्टछाप की स्थापना :–

श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन का 'मंडान' होने पर सूर उनके प्रथम नियमित कीर्तनीये नियुक्त किये गये। इसके पश्चात् दूसरे कीर्तनिये के रूप में परमानन्द को नियुक्ति प्रदान की गई। वैसे कुंभनदास सूरदास से भी प्राचीन कीर्तनकार थे परन्तु वे गृहस्थ होने

के कारण अनियमित रहा करते थे। फलस्वरूप आचार्य वल्लभ ने सूरदास तथा परमानन्ददास को नियमित कीर्तनिये होने के कारण प्रधान पद प्रदान किया। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग को जनता के सामने लाने में भी सूरदास ने सब से अधिक अपना योगदान दिया। वल्लभाचार्य के बाद गोपीनाथ गद्दी पर बैठे, तब तक यही क्रम चलता रहा। परन्तु संवत् १६०२ में विठ्ठलनाथ के गद्दी पर बैठने पर इस कीर्तन प्रणाली को और भी व्यवस्थित तथा व्यापक रूप प्रदान किया गया। उन्होंने श्रीनाथजी की आठों समय की झाँकियों के अलग-अलग कीर्तनकार नियुक्त किए। उनमें सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास ये चार महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक थे तथा छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास ये चार गोस्वामी विठ्ठलनाथ के सेवक थे। ये आठों मिलकर "अष्टछाप" कहलाए।

"गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने संवत् १६०१ से १६०२ के मध्य अष्टछाप की स्थापना की थी, इसमें सूर प्रमुख थे। 'वार्ता' में लिखा है कि परमप्रभु श्रीनाथजी स्वयं सखाभाव से अष्टछाप कवियों के साथ खेलते थे, इसलिए वे अष्टसखा भी कहे जाते थे।'[५०]

सूरदास का देहावसान :-

मूल वार्ता में सूरदास के महाप्रयाण का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता के साथ विवेचित हुआ है। उसमें लिखा है कि जब सूरदास को श्रीनाथजी की सेवा करते-करते बहुत दिन बीत गये तो एक दिन उन्होंने यह अनुभव किया कि अब भगवान् की इच्छा मुझे बुलाने की है। यह सोचकर वे श्रीठाकुरजी के नित्यलीलाधाम "पारसौली" आ गये और श्रीगोवर्धननाथजी की ध्वजा को साष्टांग प्रणाम कर अपना मुख उसकी ओर करके एक चबूतरे पर लेट गये। उस समय उन्होंने अपने मन से लौकिक बातों को बिल्कुल निकाल दिया परन्तु उनके मन में गोसाईंजी के दर्शन की अपार अभिलाषा उत्पन्न हुई।

जब श्री गोसाईंजी ने श्रीनाथजी का शृंगार किया, उस समय सूरदास को अनुपस्थित देखकर अपने सेवकों से पूछा कि सूरदास कहाँ हैं तो सेवकों द्वारा ज्ञात हुआ कि सूरदास तो मंगल आरती के दर्शन करके तथा सौ सेवकों से भगवत-स्मरण कह "पारसौली" चले गये हैं। इस बात पर गोसाईंजी ने तुरन्त समझ लिया कि अब उनका अवसान सन्निकट है। फलस्वरूप उन्होंने अपने सेवकों को आदेश दिया कि—

"पुष्टिमार्ग का जिहाज जाता है, जा को कछु लेना होय सो लेऊ"।

कहते हैं कि राजभोग तथा आरती से निवृत्त होकर जब गोसाईंजी गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास आदि सेवकों के साथ "पारसौली" गये तो वहाँ सूरदास अचेतावस्था में पड़े थे। गोसाईंजी ने उनका हाथ पकड़कर पूछा—कैसे हो? तब सूरदास ने उठकर उन्हें दण्डवत् किया तथा कहा कि मैं तो आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था। दर्शन देकर आपने मुझे कृतार्थ किया। यह कहकर उन्होंने निम्न पद गाया—

प्रभु को देखो एक सुभाऊ
अति गम्भीर उदार उदधि हरि जान सिरोमनि राई॥

भक्त-विरह कातर करुनामय डोलत पाछे लोग।
सूरदास ऐसे स्वामी को देहि मीठे सो अभोग॥[५१]

इस पद को सुनकर गोसाईंजी अत्यन्त खुश हुए। तब चतुर्भुजदास ने सूरदास से प्रार्थना की कि—"सूरदासजी भगवल्लीला गान तो आजन्म किया, पर महाप्रभु का यश वर्णन नहीं किया।"

इस पर सूर ने कहा कि 'मैं भगवान् और श्रीआचार्यजी में कोई भेद नहीं समझता हूँ। मैंने जिस यश का वर्णन किया है, वह सारा आचार्यजी का ही तो है। यह कहकर उन्होंने यह पद गाकर सुनाया—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो
श्रीवल्लभ नखचन्द छटा बिन सब जग माँझ अंधेरों॥
साधन ओर नाहीं या कलि में जासो होत निबेरों।
सूर कहा कहै दुबिध आँधरो बिना मोल की चेरो॥[५२]

इसके बाद चतुर्भुजदास ने सूरदास से विनती की कि अब संक्षेप में आचार्यजी के पुष्टिमार्ग के स्वरूप का वर्णन कीजिए। तब सूर ने निम्न पद का गान किया—

भजि सखी भाव भाविक देव
कोटि कुमार मांग्यौ कौन कारण सेव॥

वेद विधि को नेम नाहि जहाँ प्रेम की पहिचान।
ब्रज-वधु बस किये मोहन सूर चतुर सुजान॥[५३]

इसके बाद सूरदास पुनः अचेत हो गये। इस पर गोसाईंजी ने सूरदास को पुनः सचेत करके कहा कि—"आपकी नेत्र-वृत्ति कहाँ है?" तो सूर ने उत्तर में अपना अन्तिम पद सुनाया—

खंजन नैन रूप रसमाते
अतिसे चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात स्रवनन के उलट फिरत ताटक फंदाते:
"सूरदास" अंजन गुन अटके नातर अब उडि जाते॥[५४]

यह कहकर सूर ने परमशांति के साथ भगवल्लीला में प्रवेश कर भौतिक शरीर का त्याग किया। उपस्थित वैष्णव बन्धुओं ने "पारसौली" में उनके पार्थिव शरीर की अन्तिम विधि पूर्ण की।

।न:सन्देह सूर के महाप्रयाण का वर्णन अत्यन्त सजीवता तथा मार्मिकता के साथ वर्णित मिलता है। परन्तु, त्रुटि केवल इतनी है कि इसमें देहावसान के संवत् का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। यही कारण है कि सूरदास के देहावसान निर्धारण में विद्वानों में मतभेद है। मिश्रबन्धु और आचार्य शुक्ल ने इनके देहावसान का संवत् १६२०, डॉ० रामकुमार वर्मा १६२४, डॉ० मुंशीराम शर्मा १६२८, डॉ० दीनदयाल गुप्त १६३८-३९, हरवंशलाल शर्मा तथा सूरनिर्णयकार १६४० मानते हैं।[५५] इस सम्बन्ध में थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होता है कि अन्त: साक्ष्य तथा बाह्य-साक्ष्य दोनों में सूर के दीर्घायु होने का उल्लेख मिलता है। मूल-वार्ता के उपर्युक्त विवरण पर भी विचार करें तो पुष्टिमार्ग का जहाज और पुष्टिमार्ग के स्वरूप की व्याख्या का अधिकारी भी कोई वयोवृद्ध ही हो सकता है। सूरसागर में भी ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिसमें सूर के दीर्घायु होने का प्रमाण है—

विनती करत मरत हौं लाज
नख-सिख लौ मेरी यह देही हैं पाप की जहाज।
तीनों पग भरि ओर निबाघ्यों तऊ न आयो बाज॥

इस पद में इन्होंने अपने बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था का स्पष्ट उल्लेख किया है जिससे इनकी लम्बी आयु स्पष्ट सिद्ध होती है।

इसी तरह एक पद और द्रष्टव्य है—

सब दिन गए विषय के हेत
तीनौ पग ऐसे हो खोए, केस भए सिर सेत।
आँखिनि अंध, स्रवन नहीं सुनियत थाके चरन समेत॥[५६]

इसमें भी वृद्धावस्था की चरम सीमा का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा भी अनेक पद इस तरह के मिलते हैं।

यह तो निश्चित है कि सूर के देहावसान के समय गोसाईंजी विठ्ठलनाथ जीवित थे। गोसाईं विठ्ठलनाथजी का तिरोधान संवत् १६४२ को हुआ था। इसी आधार पर अधिकांश विद्वान् सूर का देहावसान संवत् १६४० मानते हैं जो ज्यादा समुचित है क्योंकि दीर्घायु के हिसाब से भी उस समय उनकी आयु एक सौ पाँच वर्षों की हो गई थी।

सूर-निर्णयकारों ने लिखा है कि "गोसाईं विठ्ठलनाथजी के निधन से कुछ समय पूर्व ही सूरदास का देहावसान हुआ होगा। गोसाईंजी का निधन सं० १६४२ निश्चित है अत: सूरदास का देहावसान संवत् १६४० के लगभग सिद्ध होता है।"[५७]

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर सूरदास के जीवन का घटनाक्रम संक्षेप में निम्न प्रकार से है—

सूरदास-जीवन घटनाक्रम :–

(१) संवत् १५३५ में जन्म, जन्मस्थान-सीही ग्राम, वंश सारस्वत ब्राह्मण

(२) संवत् १५४१ में गृह त्याग "सीही" से चार कोस दूर तालाब के निकट पीपल के पेड़ के नीचे वास

(३) संवत् १५५३ में गऊघाट पर आगमन

(४) संवत् १५६७ में वल्लभाचार्यजी से भेंट तथा दीक्षा

(५) संवत् १६०७ वि० में अष्टछाप की स्थापना तथा प्रमुख पद पर प्रतिष्ठित

(६) संवत् १६२६ वि० में महाकवि तुलसीदास से भेंट

(७) संवत् १६३१ वि० में मुगल सम्राट् अकबर से भेंट

(८) संवत् १६४० वि० में महाप्रयाण

सूर की रचनाएँ :–

महाकवि सूरदास के व्यक्तित्व पर विचार करने के बाद अब हम उनके द्वारा निर्मित साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। सूर ने अपने जीवनकाल में अनेक कृतियों की रचना की है जिससे हिन्दी साहित्य में उनका मूर्धन्य स्थान है। वार्ता-साहित्य में सूर के सहस्रावधि पदों का उल्लेख मिलता है, इससे कई विद्वान उनके द्वारा रचित सवा लाख पदों की संभावना प्रकट करते हैं।

"काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट 'इतिहास ग्रन्थ एवं ग्रन्थागारों में सुरक्षित सामग्री' के आधार पर सूर के अधिकाधिक २५ ग्रन्थ माने जाते हैं।"[५८]

(१) सूरसागर	(२) सारावली	(३) साहित्य-लहरी
(४) भागवत-भाषा	(५) सूर-रामायण	(६) दशमस्कन्ध भाषा
(७) सूरसागर-सार	(८) मानलीला	(९) राधारसकेलिकौतुहल
(१०) गोवर्धन-लीला (सरस-लीला)	(११) दानलीला	(१२) भँवरगीत
(१३) नागलीला	(१४) ब्याहलो	(१५) प्राणप्यारी
(१६) दृष्टिकूट के पद	(१७) सूरशतक	(१८) सूरसाठी
(१९) सूर-पच्चीसी	(२०) सेवाफल	(२१) हरिवंश टीका
(२२) सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद		(२३) एकादशी माहात्म्य
(२४) नल-दमयन्ती	(२५) राम-जन्म	

परन्तु ये सभी ग्रन्थ सूरदास के नहीं हो सकते हैं क्योंकि इनमें से कुछ में सूरदास की प्रियशैली तथा विषय की भिन्नता है। कई ग्रन्थ तो सूरसागर के ही कुछ पदों का

संग्रह मात्र है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने सूरसागर, सारावली तथा साहित्यलहरी इन तीनों ग्रन्थों को ही सूरदास कृत माना है।[५९] प्राणप्यारी को संदिग्ध तथा नल-दमयन्ती, हरिवंशटीका, रामजन्म तथा एकादशी महात्म्य इन चारों कृतियों को उन्होंने अप्रामाणिक माना है। शेष १६ कृतियों को डॉ० गुप्त ने सूरसागर तथा साहित्यलहरी का ही अंश माना है तथा उन्हें प्रामाणिक बताया है। दृष्टिकूट ग्रन्थ का उल्लेख डॉ० गुप्त ने नहीं किया है।

सूरनिर्णयकार श्री द्वारकादास पारीख तथा प्रभुदयाल "मित्तल" ने सूरसाठी-सूर पच्चीसी, सेवाफल और "सूरदास के विनय आदि के स्फूट पद" नामक ग्रन्थ की सूरदास की रचनाएँ होने का स्वीकार किया है। इन लेखकों ने इन कृतियों का जो परिचय दिया है, वह निम्न प्रकार है—

(१) सूरसाठी :–

"वार्ता" के अनुसार सूरदास ने इसकी रचना एक बनिये के लिए की थी। अत: यह एक स्वतंत्र रचना है सूरसागर में जिन स्थान पर यह प्राप्त होती है, वहाँ इसकी असंगति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

(२) सूर-पच्चीसी :–

"वार्ता" के अनुसार इसकी रचना सूरदास से अकबर की भेंट के समय हुई थी, अत: यह भी स्वतंत्र रचना है।

(३) सेवाफल :–

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के संस्कृत ग्रन्थ 'सेवाफल' के विवरण स्वरूप सूरदास ने इसकी रचना की थी। महाप्रभुजी ने अपने सेवाफल विवरण नामक ग्रन्थ में कहा है कि—

"सेवाया फलत्रयम्। अलौकिकसामर्थ्यं, सायुज्यं सेवोपयोगिर्देहो वा वैकुंठादिषु।"

सूरदास रचित "सेवाफल" में भी "वैकुंठादिषु" का विशेषत: स्पष्ट उल्लेख होने से यह भी एक स्वतंत्र रचना है।

(४) सूरदास के पद :–

इसमें सूर के स्फुट पदों का संग्रह है। सूरदास ने मन्दिर में प्रार्थना आदि के रूप में तथा कतिपय व्यक्तियों को वैराग्य आदि का उपदेश देते हुए छोटे-छोटे पदों की रचना की थी, उन सब का समावेश इसमें हो जाता है।

कतिपय विद्वानों के अतिरिक्त सभी सूर-साहित्य के आलोचकों ने सूरसारावली, साहित्यलहरी तथा सूरसागर को ही सूर-कृत प्रामाणिक रचनाओं के रूप में स्वीकार किया है। अत: इन कृतियों के विषय में ही विस्तारपूर्वक विचार करना परमावश्यक है।

(१) सूर-सारावली :–

"सूर-सारावली" जैसा कि उनके नाम से ही विदित होता है कि यह स्वतंत्र रचना न होकर सूरसागर की अनुक्रमणिका है। सम्भव है कि स्वयं सूरदास ने इन पदों की रचना कर सूरसागर की भूमिका स्वरूप रख दिया हो परन्तु यदि सारावली तथा सूरसागर की ध्यानपूर्वक तुलना की जाय तो स्पष्ट होता है कि सारावली में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जो सूरसागर में नहीं हैं।

सारावली की प्रामाणिकता :–

सूर के प्राय: सभी आलोचकों ने सारावली की प्रामाणिकता पर गहनता से विचार किया है। इसमें अधिकांश आलोचक "सारावली" को सूरकृत मानने के पक्षधर हैं। डॉ० कृष्णदास, लाला भगवान दीन, डॉ० बेनीप्रसाद, डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० दीनदयाल गुप्त, द्वारकादास पारीख, प्रभुदयाल मित्तल, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, डॉ० भ्रमरलाल जोशी आदि अनेक विद्वान् इस ग्रन्थ को सूर-कृत मानते हैं। परन्तु मिश्र बन्धु तथा डॉ० रामरतन भटनागर इसे संदिग्ध रचना मानते हैं एवं डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा तथा डॉ० प्रेमनारायण टंडन इसको सर्वथा अप्रामाणिक रचना मानते हैं।

डॉ० दीनदयाल गुप्त ने सारावली को सूर की रचना मानने के पक्ष में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनमें से मुख्य इस प्रकार से हैं—

(१) इस ग्रन्थ में व्यक्त विचार वल्लभ-सम्प्रदायी-विचारों से साम्य रखते हैं।

(२) वल्लभाचार्य ने सृष्टि-विकास में २८ तत्त्व माने हैं। सारावली में भी २८ तत्त्वों का निर्देश किया गया है।

(३) सूरसागर एवं सारावली में भाव-साम्य के साथ-साथ आत्मविषयक कथनों में भी साम्य है।

(४) सूर के जैसा ही लालित्य-पूर्ण ब्रजभाषा का स्वरूप सारावली में विद्यमान है।

(५) सूरसागर के अनुरूप भावों के दृष्टिकूट पद सारावली में हैं।

(६) सूर के नाम की जो छापे सूरसागर में हैं, वे सूर सारावली में भी है।

अन्त में आप कहते हैं कि चार छ: शब्दों को पकड़कर जो सम्भवत: अब तक छपे सूरसागरों में नहीं मिलते, इस ग्रन्थ को सूरकृत न कहना उचित नहीं है। "प्रक्षिप्त" शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थों में हो सकते हैं। अतएव यह रचना के विचार से सूरकृत ही है।[६०]

वर्ण्य-विषय :–

सारावली का प्रारम्भ सूरदास के प्रसिद्ध पद "बन्दऊ श्री हरिपद सुखदायी" से

होता है। इसके बाद इसमें "सार" और "सरसी" नाम के ११०७ छन्द हैं। पूर्ण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम के नित्यविहार का उल्लेख करने के बाद कवि ने होली के रूप में सृष्टि रचना का वर्णन किया है। सूर सारावली के प्रतिपाद्य का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(क) ब्रह्म का नित्य विहार :—ब्रह्म का रूप, वृन्दावन का रूप, राधा और कृष्ण का विहार।

(ख) सृष्टि-विस्तार :—ब्रह्म की उत्पत्ति, ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना, देवासुर संग्राम।

(ग) चौबीस अवतार :—वाराह, सनकादि, यज्ञपुरुष, कपिल, दत्तात्रेय, नर-नारायण, हरि, हंस, पृथु, ऋषभदेव, हयग्रीव, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, नारद, मनु, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, व्यास, कल्कि, वामन एवं कृष्ण अवतार।

(घ) श्रीराम-चरित्र :—बाल-चरित्र विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, रामसीता-विवाह, परशुराम-संवाद, अयोध्या गमन, राम-वनवास, सीताहरण, सीता की खोज, लंका-विजय तथा राम-राज्य।

(ङ) श्रीकृष्ण-चरित्र :—जन्म, मथुरा से गोकुल गमन, कंस द्वारा बालिकावध, गोकुल में जन्मोत्सव, पूतनावध, तृणावर्त-वध, नामकरण-संस्कार, कागासूर-वध, बाल-लीला, ऊखल बन्धन, गोकुल से प्रस्थान, ब्रह्मा का मोह, विविध लीलाएँ, कंस का निमंत्रण, मल्लयुद्ध, कंसवध, उग्रसेन को राज्य, गुरुकुलशिक्षा, मथुरा से आने पर ब्रज की स्मृति, उद्धव का ब्रजगमन, उद्धव गोपी संवाद, उद्धव का प्रत्यागमन, जरासंध का मथुरा पर आक्रमण, मुचुकुन्द की कथा, पर्वतदाह, रुक्मिणी से विवाह, अन्य विवाह, गृहस्थ जीवन, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का जन्म, कुरुक्षेत्र स्नान तथा ब्रजवासियों से भेंट, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, शिशुपालवध, दुर्योधन-भ्रम, द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी का अपमान, दूत कार्य, महाभारत का युद्ध तथा भीष्म-प्रतिज्ञा, अन्य लीलाएँ, सुदामा लीला, राजा नृग की कथा, बलदेव का ब्रज आगमन, बलदेव की तीर्थ यात्रा, भूमा पर कृपा तथा बज्रवास की स्मृति।

(च) राधा-कृष्ण का नित्य विहार :—ब्रज की निकुंजलीला, दानलीला, मानलीला, दृष्टकूट कृष्ण विहारलीला, रागरागिनी वर्णन, नित्य विहार, वसन्त खेल (दैनिक क्रम से), होलिकात्सव, वाद्य-वर्णन, होली खेल का शेषांश, वनविहार तथा कृष्ण-चरित्र की परम्परा।[६१]

इस पर विस्तार से दृष्टि डाली जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस कृति का वर्ण्य-विषय सूरसागर के जैसा ही है, केवल आकार में अन्तर है। सूरसागर का विस्तृत वर्णन, सारावली में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। कई आलोचक इसी कारण इसे सूरसागर का सूचीपत्र मानते हैं; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सारावली एक स्वतंत्र रचना है। कवि ने इसमें चौबीस अवतारों का उल्लेख करते हुए रामावतार का विस्तृत

वर्णन किया है परन्तु सर्वाधिक महत्त्व कृष्णावतार को ही दिया है। इसमें कृष्ण-लीला का क्रमिक विकास निरूपित हुआ है। सारावली का उपसंहार करते हुए, इसकी महत्ता की चर्चा करते महाकवि सूर ने बताया है कि "जो इस संवत् सारलीला को गायेंगे और युगल चरण को अपने चित्त में धारण करेंगे, वे गर्भावास के बन्दीखाने फिर नहीं आयेंगे।"

सरस संमतसर लीला-गावें, युगल चित्त लावै।
गरभवास बन्दीखाने में, सूर बहुरि नहि आवै॥

मुद्रण और प्रकाशन :–

संवत् १८९८ वि० (ई०सं० १८४१) में रागकल्पद्रुम के अन्तर्गत छापे सूरसागर के साथ ही सूरसारावली का प्रथम बार प्रकाशन हुआ था। इसका पुनर्मुद्रण नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित सूरसागर के साथ संवत् १९२० वि० (ई०सं० १८६३) में हुआ था। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई के सूरसागर के साथ संवत् १९५३ वि० (ई०सं० १८८६) में सारावली का तीसरी बार प्रकाशन हुआ था। तत्पश्चात् वहाँ से पुन:मुद्रणों में सारावली का निरन्तर प्रकाशन होता रहा। सारावली के इन तीनों मुद्रणों में समानता पाई जाती है। लेकिन बाद के संस्करणों में तत्सम शब्द शुद्ध करके लिखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई के बन्द होने के कारण आगे चलकर इसका प्रकाशन नहीं हुआ परन्तु श्री प्रभुदयाल मित्तल ने संवत् २०१४ वि० (ई०सं० १९५६) में सारावली का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया है। इससे सारावली के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।[६२]

(२) साहित्य-लहरी :–

जिस प्रकार सारावली को कई आलोचक सूर की प्रामाणिक रचना नहीं मानते उसी तरह "साहित्य-लहरी" को भी संदिग्ध रचना मानते हैं। इस कृति में कवि का काव्याचार्य रूप प्रमुख है, उनका भक्त रूप गौण है इसलिए अनेक समीक्षकों ने इसे सूर का ग्रन्थ न मान कर इसकी अप्रामाणिकता घोषित की है। डॉ० ब्रजेश्वर शर्मा ने लिखा है कि—

"एक तो यह साहित्य लहरी के प्रणयन में कवि की मूलप्रेरणा साहित्यिक है-भक्ति नहीं तथा दूसरी बात यह कि इन दृष्टिकूट कहे जाने वाले पदों में राधा और राधा कृष्ण के नखशिख के वर्णन नहीं हैं। कुछ पद श्रृंगार से सम्बद्ध होते हुए भी राधा का उल्लेख नहीं करते तथा कुछ स्पष्टतया राधा और दाम्पत्य रति से असम्बन्ध हैं।"

साहित्य-लहरी में जो श्रृंगार वर्णन किया गया है वह "रसो वै स:" श्रुतिवाक्य के अनुसार भगवान् के ही रसरूप तथा आनन्द रूप की अभिव्यक्ति है, जिसका निरूपण सूर ने इस कृति में किया है।

इस दृष्टि से यह सूर का ग्रन्थ है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा भी इसे सूर की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं। इनके अलावा भी अनेक समीक्षकों ने इसे सूरकृत प्रामाणिक ग्रन्थ माना है जो सर्वथा उचित है।

वर्ण्य विषय :–

सूर ने साहित्य-लहरी में भगवान् की किशोर लीलाओं को ही अपना विषय बनाया है। इस ग्रन्थ में दृष्टिकूट पदों का संग्रह मिलता है। सूरसागर की अपेक्षाकृत इसमें अधिक पाण्डित्य होने के कारण यह एक काव्य शास्त्रीय-ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसमें नायिका भेद, अलंकार, रस-निरूपण आदि के उदाहरण स्वरूप अनेक पद उपस्थित किये गए हैं। नायिका भेद में परकीया भाव का स्वर सब से ऊँचा है। कवि ने नायिकाओं के अनेकानेद भेदों का वर्णन किया है, जो १०८ भेद हैं। लेकिन दृष्टिकूट शैली में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में भगवान् रसिकेश्वर कृष्ण की ही लीलाओं का गान मिलता है। इस कृति में कवि का उद्देश्य भक्ति-भावना के प्रचार की अपेक्षा चमत्कारवादी अधिक रहा है। कवि का प्रौढ़ आचार्यत्व प्रकट करती यह एक प्रसिद्ध काव्य-शास्त्रीय कृति रही है। परन्तु गहनता से देखा जाय तो वैष्णव परम्परा में भक्तिभावना की अभिव्यक्ति की यह एक रीति है। श्रीमद् भागवत् में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है। भगवान् श्री कृष्ण के काव्योक्त प्रकारों से रमण करने के कारण काव्य-कथाओं में भी उसका इस प्रकार निरूपण मिलता है। सूर-निर्णयकारों ने साहित्यलहरी को श्री कृष्ण की रमणलीलाओं की श्रृंखला में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानते हुए लिखा है कि—''साहित्य-लहरी का नाम और उसका बाह्य कलेवर काव्य साहित्य का सूचक होते हुए भी वह भक्ति की उच्चतम भावना से अनुप्राणित है। इससे कवि का उद्देश्य भगवान् श्री कृष्ण की रहस्यमयी लीलाओं का गान करना मात्र था, साहित्य-नेतृत्व करना नहीं।''[६३]

इस प्रकार साहित्यलहरी काव्य ग्रन्थ होते हुए भी भक्ति-भावना से ओत-प्रोत कृति है जिसमें श्री कृष्ण की रमण-लीलाओं का काव्यशास्त्रीय पद्धति से निरूपण किया गया है।

मुद्रण और प्रकाशन :–

साहित्य लहरी की सबसे पुरानी दो सटीक प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उसकी कोई हस्तलिखित कृति अब तक प्राप्त नहीं हुई है। एक प्रति में सूरदास कवि की टीका है तथा दूसरी में सूरदास की टीका के साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की टिप्पणी भी है। इन दोनों प्रतियों में आंशिक अन्तर भी है।

सूरदास कवि की टीका सहित साहित्यलहरी के प्राचीनतम रूप की खोज का श्रेय प्रभुदयाल मित्तल को है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन ई०सं० १८६९ में लाईट-प्रेस (बनारस) में हुआ था। बाद में ई० १८९०, दूसरी बार नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से तथा तीसरी बार ई०सं० १८९५ में खड़गविलास प्रेस, बांकीपुर तथा चौथी बार ई०सं० १९३९ में

पुस्तक भंडार, लहरिया-सराय से उसका प्रकाशन हुआ था। इधर सन् १९८१ मे मित्तलजी ने साहित्यसंस्थान, मथुरा से साहित्यलहरी का संस्करण प्रकाशित कराया था। इसके अतिरिक्त डॉ० मनमोहन गौतम ने भी एक संस्करण का प्रकाशन कराया।[६४]

(३) सूरसागर :–

सूरदास की कीर्ति का आधार सूरसागर है। यह इनका प्रामाणिक तथा प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता ''वार्ता'' से भी ज्ञात होती है इसमें सूर के श्रीमद् भागवत् के आधार पर द्वादश स्कन्धों की रचना करने का उल्लेख है।

सूरसागर वास्तव में सूर की सारी रचनाओं का समुच्चय है जो एक विशाल सागर की भाँति है जिसमें सूर जैसे महान् कवि ने भावनाओं तथा विचारों की मुक्ता भर दी है।

सूरसागर नामकरण :–

चौरासी वैष्णव की वार्ता के अन्दर सूरदास की वार्ता से ज्ञात होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को जब भक्तिमार्ग की दीक्षा दी तो उन्होंने सूरदास को श्रीमद् भागवत, दशमस्कन्ध के सार रूप में रचित अनुक्रमणिका और उसी स्कन्ध की रचित सुबोधिनी नामक टीका के सूक्ष्म ज्ञान से अवगत कराया था। इसके साथ ही उन्होंने उस पुरुषोत्तम के सहस्रनाम ग्रन्थ का तत्त्व भी सूरदास को समझाया था, जिसकी रचना उन्होंने सम्पूर्ण भागवत के सार रूप में की थी। इस ज्ञानराशि को पाकर सूरदास के हृदय में भागवत लीलाओं के गायन की स्फूर्ति का उद्भव हुआ। वल्लभाचार्य की कृपा से भागवत की लीलाओं का रससागर ही भक्त कवि सूर के हृदय में उमड़ पड़ा था। सूरदास के हजारों पद उस रस-सागर की लहरों की भाँति हैं, जो आज भी पाठकों को भाव-विभोर बना देते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य सूर के हृदय की विशालता को लक्ष्य कर उन्हें ''सागर'' कहा करते थे। सूरदास की वार्ता में उल्लेख है कि ''सो सागर काहे ते कहियत है? जामे सब पदारथ होई ताको सागर कहिए''।

आचार्यजी द्वारा प्रदत्त उपाधि के आधार पर आगे चलकर सूरदासजी को ''सागर'' कहा जाने लगा तथा कालान्तर में उनके कृतित्व के लिए सूरसागर का प्रयोग हुआ।

सूरदास अन्धे थे अतः उनके पदों के संकलन का कार्य उनके स्वर-सहायकों ने किया। पहले जो छोटे-छोटे संकलन तैयार हुए, उन्हें सूरपदावली और जो बड़े संकलन तैयार हुए, उन्हें सूरसागर का नाम दिया गया।

पद-संकलन की दृष्टि से सूरसागर के दो रूप मिलते हैं—संग्रहात्मक तथा स्कन्धात्मक। संग्रहात्मक रूप में पदों का संकलन विषय के आधार पर किया गया है जबकि स्कन्धात्मक स्वरूप का मूलाधार श्रीमद् भागवत् है। जिस प्रकार भागवत् का प्रतिपाद्य बारह स्कन्धों में विभक्त है, उसी भाँति सूरसागर के प्रतिपाद्य को भी बारह स्कन्धों में विभक्त किया गया है।

इन दोनों प्रकारों की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं जिसमें अपने-अपने ढंग से विषय का विभाजन किया गया है। सौकर्य की दृष्टि से संग्रहात्मक पाठ के स्थान पर सूर के अध्येताओं ने द्वादश स्कन्धात्मक पाठ ही अधिक ग्राह्य माना है। नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी का स्कन्धात्मक रूप जो सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक माना जाता है, उसमें द्वादश स्कन्धों के आकार विस्तार की विवृति निम्न प्रकार से दी है—

स्कन्ध	पद-संख्या	पृष्ठ-संख्या
प्रथम (अ) विनय के पद	२२३	१ से ६२
(आ) श्रीभागवत प्रसंग	१२०	६३ से ११४
द्वितीय	३८	११५ से १२७
तृतीय	१३	१२८ से १३७
चतुर्थ	१३	१३८ से १४९
पंचम	०४	१५० से १५४
षष्ठ	०८	१५५ से १६१
सप्तम	०८	१६२ से १६९
अष्टम	१७	१७० से १७९
नवम	१७४	१८० से २५४
दशम (अ) पूर्वार्द्ध	४१६०	२५५ से १६४६
(आ) उत्तरार्द्ध	१४९	१६४७ से १७१७
एकादश	०४	१७१८ से १७२०
द्वादश	०५	१७२१ से १७२४
परिशिष्ट (१)[६५]	२०३	१ से ६६
परिशिष्ट (२)[६६]	६७	६७ से ८६

इस प्रकार सूरसागर में प्रथम से द्वादश-स्कन्धों में कुल ४९३६ पद हैं। प्रथम-स्कन्ध में विनय के पद तथा श्रीभागवत के प्रसंगों का कवि ने समावेश किया है। विस्तार की दृष्टि से देखा जाय तो दशम स्कन्ध सबसे बड़ा है जिसमें ४३०९ पद हैं तथा इसमें भी इसका पूर्वार्द्ध सर्वाधिक बड़ा है। अगर परिशिष्ट भागों के ४७३ पदों का योग करें तो सम्पूर्ण ग्रन्थ में ५४०९ पद होते हैं। सूर ने इस विशालकाय ग्रन्थ में मुख्यतः श्रीकृष्णलीलाओं का ही गान किया है परन्तु प्रसंगानुसार दूसरे विषयों के पद भी मिलते हैं। यहाँ हम सूरसागर के सभी स्कन्धों का संक्षेप में विहगावलोकन प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) प्रथम स्कन्ध :–

(अ) विनय के पद :–"चरन कमल बन्दौ हरिराई" की मंगल प्रार्थना के साथ सूरसागर का शुभारम्भ होता है। सर्वप्रथम सूर परमात्मा की असीम अनुकम्पा का उल्लेख करके उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं। दूसरे पद में सूर ने "ब्रह्म का रूपरेख गुन-बिनु" रूप भ्रमात्मक होने से उसे सब विधि अगम घोषित करके सगुन पद गाने की उत्कंठा प्रदर्शित की है। बाद में ईश्वर के भक्त-वात्सल्य का स्मरण कर कर्मों की व्यर्थता, माया-वर्णन, अविद्या-वर्णन, नाम-महिमा, विनती, दीनता, साधनहीनता तथा सांसारिक-असारता इत्यादि विविध तथ्यों का वर्णन किया है। सूर के इन पदों में उनके "आत्म-दैन्य" भाव का सर्वाधिक निरूपण हुआ है। अत: ये पद विनय के पद कहे जाते हैं।

सूर के इन पदों को लेकर विद्वानों ने अनेक अनुमान किये हैं। कई विद्वान इन्हें सूर की प्रारम्भिक रचनाएँ मानना तर्कसंगत मानते हैं। उनके मतानुसार इसमें सूर का विधियान वर्णित है, जिसे वल्लभाचार्य ने छुड़ाया था। कई विद्वान सूर के वृद्धावस्था की रचनाओं के रूप में इन्हें स्वीकार करते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० ब्रजेश्वर शर्मा का मत द्रष्टव्य है जिसे अधिकांश विद्वानों ने उचित माना है। वे लिखते हैं कि–"सूर की प्रारम्भिक दैन्य भावना सर्वथा लुप्त नहीं हो गई थी। कभी-कभी उसका भी प्रकाशन होता रहा होगा। यह भी कहा जा सकता है कि जीवन-सन्ध्या के निकट आते-आते वह दैन्य कदाचित् पुन: कवि के चेतनास्तर पर आकर मुखर हो गया।"[६७]

(आ) श्रीमद्भागवत प्रसंग :–

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में विनय के पदों के पश्चात् श्रीमद्भागवत प्रसंग के १२० पदों में सूर ने भागवत के प्रथम स्कन्ध के १९ अध्यायों की कथा अत्यन्त संक्षेप में निरूपित कर दी है।

भागवत कथा का माहात्म्य प्रदर्शित करते हुए सूरदास ने श्रीशुक जन्म, श्रीमद्भागवत के वक्ता-श्रोता, सूत-शौनक संवाद, व्यास अवतार तथा भागवत अवतार के कारण को उल्लेखित किया है। आगे के पदों में नाम-महिमा, विदुरगृह, भगवान् का भोजन, भगवान् का दुर्योधन से संवाद, द्रोपदी-सहाय, पाण्डव-राज्याभिषेक, युधिष्ठिर प्रति भीष्मोपदेश, महाभारत में भगवान् की भक्त-वत्सलता, अर्जुन-दुर्योधन का दृष्ट गृह-गमन, भीष्म के प्रति दुर्योधन वचन, भीष्म-प्रतिज्ञा, अर्जुन के प्रति भगवान् के वचन, भगवान् का चक्र-धारण, अर्जुन और भीष्म का संवाद, भीष्म का देह-त्याग, भगवान् का द्वारिका-गमन, कुंति का विनय आदि प्रसंगों के पद हैं।

इसके बाद के पदों में धृतराष्ट्र का वैराग्य तथा वनगमन, हरिवियोग पाण्डवों का राज्य त्याग, अर्जुन का द्वारिका जाना तथा कृष्ण के वैकुण्ठ सिधारने के समाचारों से

पाण्डवों को अवगत कराना, गर्भ में परीक्षित रक्षा तथा उसका जन्म, परीक्षित-कथा, मन-प्रबोध तथा चित्त-बुद्धि संवाद का वर्णन मिलता है। सूर ने परीक्षित की मोक्षकामना के प्रसंग में संसार की असारता तथा नश्वरता के अनेक पद रचे हैं जिसमें भगवान् की भक्ति को ही जीवन सार्थक बनाने का मूल मन्त्र माना है।

"विषय की दृष्टि से देखें तो इस स्कन्ध में भक्ति माहात्म्य तथा संसार की नश्वरता का वर्णन सर्वाधिक मिलता है। परन्तु "भागवत" को दृष्टि समक्ष रखकर देखें तो बहुत से अवतारों का वर्णन इसमें नहीं है।"

द्वितीय स्कन्ध :–

"सूरसागर" के द्वितीय स्कन्ध में मात्र ३८ पद हैं। भागवत के दस अध्यायों की विस्तृत कथा को सूर ने यहाँ संक्षेप में विवेचित किया है। कवि ने शुकदेव द्वारा सात दिन हरि कथा के प्रस्ताव से इस स्कन्ध का प्रारम्भ करके भक्ति-महिमा, हरि-विमुख निंदा, सत्संग-महिमा, भक्तिसाधना, वैराग्य-वर्णन, आत्मज्ञान, विराटरूप दर्शन, आरती नृप विचार, श्रीशुकदेव के प्रति परीक्षण वचन, श्रीशुकदेव-वचन, शुकदेव कथित नारद-ब्रह्मा संवाद, चतुर्विंशति अवतार वर्णन, ब्रह्मा-वचन नारद के प्रति, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चतुःश्लोक, श्रीमुख वाक्य इत्यादि का वर्णन कर इस स्कन्ध का समापन किया है।

तृतीय स्कन्ध :–

सूर ने इस स्कन्ध को भी संक्षेप में निरूपित कर भागवत के ३३ अध्यायों का वर्णन मात्र १३ पदों में करने का प्रयास किया है। इस स्कन्ध में श्रीशुक वचन का पश्चात्ताप मैत्रेय-विदुर संवाद, विदुर-जन्म, सनकादिक-रुद्र-उत्पत्ति, वाराह अवतार, जय-विजय की कथा, कपिलदेव अवतार तथा कर्दम का शरीर त्याग, देवहूति-कपिल संवाद, भक्ति विषयक प्रश्नोत्तर, भगवान् का ध्यान, चतुर्विध भक्ति, हरिविमुख की निंदा तथा भक्ति-महिमा का संक्षेप में वर्णन किया है।

चतुर्थ स्कन्ध :–

श्रीमद्भागवत के इस स्कन्ध क ३१ अध्यायों को सूर ने १३ पदों में वर्णित किया है। दत्तात्रेय अवतार से इस स्कन्ध का आरम्भ करके कवि ने इसमें यज्ञपुरुष अवतार, पार्वती-विवाह (संक्षिप्त), ध्रुव कथा, पृथु अवतार, पुरंजन कथा तथा अन्त में ज्ञान-गुरुमहिमा के साथ यह स्कन्ध समाप्त किया है।

पंचम स्कन्ध :–

"सूरसागर" के इस स्कन्ध में मात्र चार पद हैं। इन पदों में ऋषभदेव के अवतार, जड़भरत की कथा तथा जड़भरत-रहूगणसंवाद की कथा का समोवश होता है। यह वर्णन भागवतानुसार है।

षष्ठ स्कन्ध :–

इस स्कन्ध में आठ पद हैं। सूर ने परीक्षित प्रश्न, श्रीशुकदेव उत्तर, अजामिलोद्धार, विश्वरूप और वृत्रासुर की कथाओं का संक्षिप्त वर्णन करते हुए गुरु-सामर्थ्य, सदाचार-शिक्षा (नहुष की कथा) एवं अहल्या की कथा का भी इसी स्कन्ध में सुन्दर समावेश किया है।

सप्तम स्कन्ध :–

षष्ट स्कन्ध की भाँति इस स्कन्ध के भी आठ पद हैं। इसमें श्रीनृसिंह अवतार, भगवान् शिव को साहाय्य प्रदान, नारद उत्पत्ति की कथाएँ निरूपित की गई हैं।

अष्टम स्कन्ध :–

सूरसागर के इस स्कन्ध में १७ पद हैं। इसमें गजमोचन अवतार, कूर्म अवतार, समुद्र-मंथन, अमृत-प्राप्ति, भगवान् का मोहिनी रूप धारण करना, देवों का अमृत-पान, मोहिनी रूप में शंकर को छलना, सुन्द-उपसुन्द वध, वामन अवतार तथा मत्स्यावतार की कथाएँ हैं।

नवम स्कन्ध :–

यह स्कन्ध कुछ बड़ा है इसमें १७४ पदों का समावेश होता है। भागवत के अध्यायानुसार इसमें राजा पुरुरवा का वैराग्य, च्यवन ऋषि, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीष की कथा, सोमरि ऋषि की कथा, श्री गंगा-आगमन, विष्णु-पादोदक स्तुति, परशुराम अवतार तथा इसके बाद राम-कथा का सविस्तार वर्णन है। श्रीमद्भागवत में वर्णित रामकथा से भी सूरसागर में यह कथा अधिक भावपूर्ण एवं विस्तृत रूप से निरूपित हुई है। कवि ने इस कथा में बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्कन्धाकांड, सुन्दरकांड एवं लंका कांड का वर्णन करते समय सम्पूर्ण कथा को क्रमशः वर्णन न करके भाव पूर्ण स्थलों पर स्फुट पदों की मर्मस्पर्शी रचना की है। ऊपर के स्कन्धों में कवि ने मात्र विवरणात्मक शैली में कथाओं का वर्णन किया है परन्तु राम के चरित्र वर्णन में उनका मन रसविभोर हो उठा है। कौशल्या का वात्सल्य तथा राम के 'वज्रादपि' कठोर तथा 'कुसुमादपि' मृदुहृदय को कवि ने खूब निकटता से समझा है।[६८]

राम की कथा के बाद कच-देवयानी तथा देवयानी-ययाति-विवाह प्रसंग की कथाएँ संक्षेप में वर्णित हैं परन्तु भागवतानुसार दुष्यन्त भरत तथा अन्य कई राजवंशों का उल्लेख सूर ने लेशमात्र भी नहीं किया है।

दशम स्कन्ध :–(पूर्वार्द्ध)

सूरसागर का सब से बड़ा स्कन्ध दशम स्कन्ध है। इसके पूर्वार्द्ध में श्री कृष्ण चरित्र को विस्तार से वर्णित किया गया है। सूर को हिन्दी साहित्य में जो मूर्धन्य स्थान

मिला है, उसका एकमात्र श्रेय इसी दशम स्कन्ध को है। श्री कृष्ण लीला-वर्णन में कवि ने कहीं भागवत का सहारा लिया है एवं कहीं पर स्वतंत्र उद्भावनाओं के आधार पर इसको निरूपित किया है। सूर का मन इन्हीं रचनाओं में सर्वाधिक रमा है।

श्री कृष्ण लीला-वर्णन में पूतना वध, श्रीधर अंग-भंग, कागासुर वध, सकटासुर वध, तृणावर्त वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, घुटुरुो चलना, पाँवों चलना, बाल छवि का वर्णन, कर्ण छेदन, चन्द्र प्रस्तान कलेवा वर्णन, क्रीडन पांडे आगमत, शालिग्राम प्रसंग, माखनचोर, उलूखन बन्धन, यमलार्जुन उद्धार की दूसरी कथा, गोदोहन, वृन्दावन-प्रस्ताव, गोचारण, बकासुर वध, अधासुर वध, ब्रह्मा: वत्स-हरण, बाल-वत्स हरण की दूसरी लीला, धेनुक लीला, कालीदाह-जलपान, ब्रजप्रदेश की शोभा, कमलपुष्प माँगना, कालीदमन की लीला, दावानल पान लीला, प्रलम्ब वध, मुरली स्तुति, गोपिका वचन, श्रीराधा-कृष्ण मिलाप सुख विलास, गृहगमन, राधिका का यशोदा गृह गमन, चीरहरण लीला, दूसरी चीर-हरण लीला, यज्ञ पत्नी लीला, यज्ञ पत्नी वचन, गोवर्धन पूजा, गोवर्धन धारण, गिरिधारण लीला, गोवर्धन की दूसरी लीला, गोपादि की बातचीत, अमर स्तुति तथा कृष्णाभिषेक, इन्द्रशरणागमन, वरुण से नन्द को छुड़ाना, रास पंचाध्यायी आरम्भ, श्री कृष्ण विवाह वर्णन, श्री कृष्ण का अन्तर्ध्यान हो जाना, गोपी गीत, रासनृत्य तथा जलक्रीड़ा, विद्याधर-शापमोचन, वृन्दावन विहार, शंखचूड वध, श्री कृष्ण ज्योनार, मुरली के प्रति गोपी वचन, गोपियों के प्रति मुरली वचन, परस्पर गोपी वचन, श्री कृष्ण का ब्रजागमन, वृषभासुर वध, केशीवध, व्यामासुरवध, पनघट लीला, दानलीला, ग्रीष्मलीला, दम्पत्ति विहार, खंडिता प्रकरण, राधा का मान, बड़ी मान लीला, झूलन तथा वसन्त लीला, अक्रूर-ब्रजागमन, गोपिकाओं की उद्विग्नता, श्री कृष्ण के पति यशोदा वचन, परस्पर गोपियों का वचन, अक्रूर द्वारा श्री कृष्ण की स्तुति, अक्रूर प्रत्यागमन, श्री कृष्ण का मथुरागमन, धनुषभंग लीला, कुवलयावध, हस्तीवध, वसुदेव दर्शन, यज्ञोपवीत उत्सव, नन्द विदाई, यशोदा विलाप, गोपी विरह वर्णन, पावस प्रसंग, चन्द्रोपालम्भ, उद्धव ब्रज आगमन, नन्द वचन, उद्धव वचन, ब्रज नर-नारी वचन, उद्धव वचन एवं गोपी वचन, श्याम रंग पर तर्क, यशोदा का संदेश, उद्धव आगमन, संक्षिप्त भ्रमरगीत, उद्धव वचन-गोपी वचन, उद्धव-प्रत्यागमन, श्री कृष्ण वचन, श्री कृष्ण का अक्रूर गृहगमन आदि प्रसंगों का वर्णन मिलता है।

इस विविध प्रसंगों के वर्णन में कवि ने सर्वाधिक १६० पदों की रचना की है। जहाँ तक सूर की नवीन एवं स्वतंत्र उद्भावनाओं का सवाल है, वे निम्न प्रकार से है। डॉ० भ्रमरलाल जोशी ने अपने शोध ग्रन्थ में इनका बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यथा—

(१) भागवत में केवल नामकरण संस्कार का वर्णन है परन्तु सूरसागर में इसके अलावा अन्नप्राशन आदि विविध प्रसंग हैं, जो सूर की मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

(२) कालियदमन की कथा भागवत आधार पर है लेकिन कवि ने अपनी कल्पना से इसे नवीन रूप दिया है जो भागवत से भी स्वभाविक वर्णन बन पड़ा है।

(३) राधा की उद्भावना करके सूर ने कथा का भागवत से अधिक रोचकता प्रदान की है। कवि का राधा-कृष्ण वर्णन मनोवैज्ञानिक धरातल भी सही उतरता है।

(४) यज्ञ-पत्नी-लीला प्रसंग में भी कवि का मौलिक परिवर्तन द्रष्टव्य है।

(५) रासलीला में अन्य गोपियों में राधा की प्रमुखता, कृष्ण के साथ उसका विवाह, राधाकृष्ण-विहार, रास करते हुए राधा-कृष्ण का अन्तर्ध्यान होना आदि सूर की भव्य मौलिकता है।

(६) राधा-कृष्ण की रसकेलि के साथ-साथ कवि ने ब्रजांगनाओं में ललिता, चन्द्रावली और बदरौला का उल्लेख भी मौलिकता के साथ किया है।

(७) श्री कृष्ण-लीलाओं में पनघट-लीला, दानलीला आदि प्रसंग भी भागवत से बिल्कुल स्वतंत्र एवं मौलिक हैं।

(८) झूलना तथा वसन्तलीला भी सूर की अपनी प्रतिभा के परिणाम हैं।

(९) सूरसागर का उद्धव-गोपी संवाद (भ्रमरगीत) कवि की मौलिकता का सब से सुन्दर उदाहरण है। कवि ने इसमें सगुण भक्ति के महत्त्व को एवं प्रेमा भक्ति प्रवाह के सामने ज्ञान को महत्त्वहीन साबित करने में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त की है।[६९]

दशम स्कन्ध (उत्तरार्द्ध) :-

सूरसागर के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में १४९ पद निरूपित हैं। कृष्ण चरित्र के आगे के घटनाक्रम को कवि ने इस भाग में वर्णित किया है। कालयवन दहन से इस स्कन्ध का प्रारम्भ करके द्वारिका प्रवेश, द्वारिका की शोभा, रुक्मिणी पत्रिका-प्राप्ति, रुक्मिणी विवाह की दूसरी लीला, प्रद्युम्न जन्म, जाम्बवती तथा सत्यभामा का विवाह, भौमासुर वध तथा कल्पवृक्ष आनयन, रुक्मिणी परीक्षा, प्रद्युम्न विवाह, अनिरुद्ध विवाह, नृगराज उद्धार, श्रीबलभद्र का ब्रजगमन, पौंड्रक वध, सुदाक्षिण वध, द्विविध वध, साम्ब विवाह, नारद संशय, जरासंध वध, राजाओं की प्रार्थना, पाण्डव यज्ञ, शिशुपाल गति, पाण्डव सभा, दुर्योधन क्रोध, शाल्व वध, दन्तचक्र वध, सुदामा चरित्र, ब्रजनारी-वाक्य पथिक प्रति, कुरुक्षेत्र में श्री कृष्ण, यशोमति गोपी मिलन, श्री कृष्ण का कुरुक्षेत्र आगमन, सखी प्रति राधिका वचन, श्री कृष्ण के प्रति गोपी सन्देश, ब्रजवासियों के प्रति कृष्ण के वचन, ब्रजवासी वचन, ऋषि स्तुति, देवकी पुत्र आनयन, वेद स्तुति, नारद स्तुति, सुभद्रा विवाह, जनक श्रुतदेव और श्री कृष्ण का मिलाप, भस्मासुर वध, भृगु परीक्षा, अर्जुन को निज रूप दर्शन तथा शंखचूड पुत्र आनयन आदि प्रसंगों का समावेश किया है।

इस स्कन्ध में भी कवि ने कई स्थनों पर जैसे ब्रजनारियों द्वारा पथिकों को सन्देश-वाहक बनाना, राधा-रुक्मिणी मिलन, राधा-कृष्ण मिलन आदि में मधुर कल्पना की है जो उनकी मौलिकता की परिचायक है।

एकादश स्कन्ध :–

इस स्कन्ध में कवि के केवल चार पद संग्रहित हैं। प्रथम दो पदों में उद्धव का कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव एवं आगे के दो पदों में क्रमशः नारायण अवतार तथा हंसावतार की संक्षेप में कथाएँ उद्धृत हैं।

द्वादश स्कन्ध :–

सूरसागर के इस स्कन्ध में पाँच पद हैं। इसमें कवि ने संक्षेप में बुद्धावतार, कल्कि अवतार, राजा परीक्षित की हरिपद प्राप्ति, जनमेजय के नाग यज्ञ की कथाओं का समावेश किया है।

सूरसागर और श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला

कई विद्वान ''सूरसागर'' को भागवत भावानुवाद के स्वरूप में स्वीकार करते हैं परन्तु सूरसागर में निरूपित कृष्ण-लीला केवल भागवतानुसार नहीं है अनेक वर्णनों में कवि की मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती है। कवि ने भागवत का आधार केवल सूत्र रूप में ही लिया है अतः सूरसागर को भागवत का भावानुवाद कहना उचित नहीं है।

केवल कृष्णलीला में ही नहीं वरन् रामचरित्र सम्बन्धी विविध पदों में भी कवि की मौलिकता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता। भागवत के अनुवाद-स्वरूप जितने पद मिलते हैं, उसमें कवि का मन नहीं रमा है। वे मात्र पूर्त्ति के पद दिखाई देते हैं। न तो उनमें उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव है और न ही उच्चकोटि की भक्ति-भावना। सूर के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद ही उनकी कीर्ति का मुख्याधार रहे हैं। अतः सूरसागर भागवत का अनुवाद या छायानुवाद नहीं वरन् सूर की मौलिक रचना है।

सूरसागर का मुद्रण और प्रकाशन :–

सूरसागर का मुद्रण और प्रकाशन लीलात्मक तथा स्कन्धात्मक दोनों रूपों में हुआ है। लीला कृत प्रतियाँ अपेक्षाकृत पुरानी हैं।

लीलात्मक संस्करण :–

सूरसागर के मुद्रण का पहला प्रयास ''संगीत राग कल्पद्रुम'' के द्वितीय खण्ड में संवत् १८९८-९९ में हुआ था, जिसका श्रेय महान् संगीतज्ञ श्री कृष्णानन्द व्यास को जाता है। तत्पश्चात् द्वितीय संस्करण संवत् १९२० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ के द्वारा किया गया। इस संस्करण को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। संवत् २०२७ में

''सप्ततरंगात्मक-सूरसागर'' नाम का एक संक्षिप्त संस्मरण मथुरा निवासी ''श्री बालमुकुन्द चतुर्वेदी'' ने करवाया। इसमें मात्र १२४१ पद थे तथा ग्रन्थ को सात तरंगों में विभाजित किया था। बाद में सूर कृत पदों में अनेक सटीक प्रकाशित होते रहे परन्तु इस दिशा में काशी के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान पं० सीताराम चतुर्वेदी का प्रयास सराहनीय रहा। इन्होंने ''सूरसागर'' का चार खण्डों में सटीक संस्करण प्रकाशित करवाया था। इसे अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी ने प्रकाशित किया था, जिसमें ५३९३ पद थे। इनका यह प्रयास काफी हद तक प्रशंसनीय है अब तक के प्रकाशित संस्मरणों में यह संस्करण नि:सन्देह सर्वोत्तम है।

स्कन्धात्मक संस्करण :–

सूरसागर के प्रथम प्रकाशन 'संगीतराग कल्पद्रुम' की लोकप्रियता को देखकर अनेक प्रकाशकों ने सूरसागर का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इनमें ज्यादातर स्कन्धात्मक संस्करण थे। पठन-पाठन की दृष्टि से ये उपयोगी थे अत: मथुरा, आगरा, दिल्ली, जयपुर, बनारस से संवत् १९१४ से १९२२ के बीच अनेक संस्करण निकाले गये, लेकिन त्रुटि-मुद्रण से इन संस्करणों को विशेष ख्याति नहीं मिली।

स्कन्धात्मक संस्करण के प्रकाशन का सर्वप्रथम श्रेय काशी के प्रख्यात साहित्यकार बाबू राधाकृष्णदास को जाता है जिन्होंने संवत् १९५३ में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सूरसागर का संस्करण प्रकाशित करवाया। इसमें सूर की जीवनी प्रकाशित थी। यह एक सफल प्रयास था तथा इसे प्रसिद्धि भी मिली परन्तु इसमें एक ही त्रुटि थी कि इससे इस धारणा को बल मिल रहा था कि सूरसागर भागवत का अनुवाद है।

तत्पश्चात् सूरसागर के संस्करण प्रकाशन में सर्वाधिक श्रेय मिलता है बाबू जगन्नाथदास ''रत्नाकर'' को। उन्होंने अनेक हस्तलिखित प्रतियों का संकलन कर सम्पादन कार्य को आगे बढ़ाया। लेकिन ग्रन्थ की पूर्णता के पहले ही वे स्वर्गवासी हो गये। उनकी इच्छानुसार इस कार्य को ''नागरी प्रचारिणी सभा, काशी'' ने अपने हाथ में लिया तथा संवत् १९९३ में सूरसागर के आठ खण्डों का प्रकाशन किया।

इसमें १४३२ तथा ८४० पृष्ठ थे। द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रकाशन अपूर्ण रह गया। इससे सूर-साहित्य के प्रेमियों को निराशा हुई तथा इस निराशा के निराकरणार्थ ''सूर-समिति'' का गठन किया गया। इस समिति की देखरेख में ''नन्ददुलारे वाजपेयी'' को सूरसागर का एक पाठ, भेदरहित सामान्य संस्करण का कार्य सौंपा। वाजपेयी ने इस कार्य को सम्पूर्ण निष्ठा के साथ पूर्ण किया तथा सूरसागर के प्रथम भाग को सन् १९४८ में तथा दूसरे भाग को सन् १९५० में प्रकाशित किया। इस प्रकाशन में ५२०६ पद हैं, इसमें से ४९३६ पद प्रामाणिक माने जाते हैं, २०३ पद संदिग्ध तथा ६७ पद प्रक्षिप्त हैं। सूरसागर के सभा-संस्करण में बम्बई संस्करण से ११४७ पद ज्यादा हैं।

इस प्रकार सभा संस्करण सूरसागर के समस्त संस्करणों में निःसन्देह उत्तम तथा अपेक्षाकृत सर्वाधिक प्रामाणिक है।

निष्कर्ष :–

उपर्युक्त परिच्छेद के विवेचनानुसार हरिवंशपुराणकार जिनसेन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में प्राप्त सामग्री का अभाव रहा है। उनकी एक मात्र रचना ''हरिवंशपुराण'' की जानकारी तथा उनके गुरु एवं संघ का नाम ज्ञात हुआ है। उनके जन्म स्थान, माता-पिता वंश, शिक्षा-दीक्षा तथा ''हरिवंश'' के अलावा अन्य कृतियों की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है अतः जैन साहित्य के इतिहासों में उपलब्ध सामग्री से उनका व्यक्तित्व-कृतित्व देखने का प्रयास किया गया है। ''सूरदास'' के सम्बन्ध में तो अनेक विद्वानों ने अनेकानेक अनुसंधात्मक कार्य किये हैं। इन विद्वानों द्वारा विवेचित साहित्य के आधार पर हमने सूर के व्यक्तित्व का पुनर्मूल्यांकन करने का तटस्थ प्रयास किया है।

टिप्पणियाँ :–

१. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - प्रस्तावना डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल - पृ० ५

२. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - प्रस्तावना - डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्॥ (वि०पु०)
पुराण विमर्श - बलदेव उपाध्याय - पृ० १२७

४. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० ११४

५. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० ११४

६. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० २४

७. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० ११३

८. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० १८

९. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० १९-२०

१०. हरिवंशपुराण - सम्पादक - पन्नालाल जैन - पृ० ८१०

११. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० २०

१२. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० १८

१३. *डॉ० हीरालाल जी ने अपने लेख (इण्डियन कल्चर, अप्रैल - १९४६) धार राज्य के वदनावर स्थान को वर्धमानपुर का अनुमान किया है। क्योंकि वदनावर में वर्धमान पुरान्वय मुनियों के*

अनेक लेख उपलब्ध हैं। परन्तु इससे इतना ही मालूम होता है कि मुनि उस अन्वय के थे जो वर्धमानपुर या बढवाण से चलकर बदनावर पहुँचा था। जिस तरह पुन्नाट से बढ़वाण आकर जिनसेन का मुनिसंघ पुन्नाटान्वयी हुआ।

१४. हिन्दू भारत का उत्कर्ष - ले० सी०वी० वैद्य - पृ० १७५

१५. इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द - ५, पृ० १४६

१६. एपिग्राफिया इण्डिका - जिल्द - ६, पृष्ठ २६९

१७. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० २१-२२

१८. जैन साहित्य का इतिहास - नाथूराम प्रेमी - पृ० ११८

१९. हरिवंशपुराण - सर्ग - ६६/५

२०. मूलतई (बेतूल - म०प्र०) में राष्ट्रकूटों की जो दो प्रशस्तियाँ मिली हैं उनमें दुर्गराज, गोविन्दराज, स्वामिकराज और नन्नराज नाम के चार राष्ट्रकूट राजाओं के नाम दिये हैं। सौन्दति के राष्ट्रकूटों की दूसरी शाखा के भी एक राजा का नाम नन्न था। बुद्धगया से राष्ट्रकूटों का एक लेख मिला है उसमें भी पहले राजा का नाम नन्न है। ओझाजी ने दन्तिवर्मा का समय वि०सं० ६५० के आसपास माना है। उनके बाद इन्द्रराजा गोविन्दराज कर्कराज हुए। कर्क के इन्द्र, ध्रुव, कृष्ण और नन्नराज चार पुत्र हुए। हरिवंशपुराण और कथाकोश में वर्णित नन्नराज वसति इन्हीं नन्नराज के नाम से होंगी।

२१. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० २५

२२. हरिवंशपुराण

२३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री - पृ० २१२

२४. आदिपुराण-जिनसेन - प्रथम सर्ग श्लोक - ५२

२५. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी, संस्करण - १९५६, पृ० १२३

२६. तीर्थंकरण महावीर स्वामी और उनकी आचार्य परम्परा - डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री - पृ० २७७

२७. हरिवंशपुराण - प्रस्तावना - पृ० १५

२८. विशेषवादिर्गुम्फिश्रवणाबद्धयः।
अक्लेशादधिगच्छति विशेषाभ्युदयं बुधाः॥ पार्श्वनाथ चरित - २९

२९. चन्द्रांशशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥ आदिपुराण - जिनसेन - ३७

३०. हरिवंशपुराण - सर्ग - १/३९

३१. हरिवंशपुराण - सर्ग - ४५/४५-४७

३२. हरिवंशपुराण - सर्ग - ६६/२५-३३

३३. हरिवंश का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० ३१

३४. बुहजण सहस्सदइयं हरिवंसुप्पत्तिं कारयं पढमम्।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवंश चैव विमलपयं॥ कुवलयमाला - श्लोक - ३८

३५. ब्रह्मचारी जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर से प्रकाशित त्रिलोक्यप्रज्ञप्ति के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में उसके सम्पादक डॉ० हीरालाल जी तथा स्व० डॉ० ए०एन० उपाध्याय ने त्रिलोक्यप्रज्ञप्ति की अन्य ग्रन्थों के साथ तुलना करते हुए हरिवंश के साथ उसकी तुलना की है और दोनों के वर्णन में कहाँ साम्य है? कहाँ विषमता है? इसकी अच्छी चर्चा की है।

३६. हरिवंशपुराण - सर्ग - १/७१-७२

३७. सूरदास और नरसी मेहता (तुलनात्मक अध्ययन) डॉ० भ्रमरलाल जोशी - पृ० ३

३८. सूर और उनका साहित्य - डॉ० हरवंशलाल शर्मा - पृ० २५

३९. सूर साहित्य और सिद्धान्त - यज्ञदत्त - पृ० १५

४०. "सूर-सौरभ" - डॉ० मुंशीराम शर्मा - पृ०

४१. सूरदास - डॉ० बड़थ्वाल - पृ० २५

४२. सूर और उसका साहित्य - डॉ० हरवंशलाल शर्मा - पृ० २५

४३. सूर-सौरभ - डॉ० मुंशीराम शर्मा - पृ०

४४. सूर और उसका साहित्य - डॉ० हरवंशलाल शर्मा - पृ०

४५. सूरदास और उसका साहित्य - डॉ० देशराजसिंह भाटी - पृ० २०

४६. सूरदास और उसका साहित्य - डॉ० देशराजसिंह भाटी - पृ० २०

४७. "अष्टछाप" श्री गोकुलनाथ कृत - संकलनकर्त्ता - धीरेन्द्र वर्मा - पृ० ४ (चतुर्थ संस्करण)

४८. "अष्टछाप" श्री गोकुलनाथ कृत - संकलनकर्त्ता - धीरेन्द्र वर्मा - पृ० ४ (चतुर्थ संस्करण)

४९. सूर साहित्य और सिद्धान्त - यज्ञदत्त शर्मा - पृ० २३

५०. सूरनिर्णय - द्वारकादास परीख एवं प्रभुदयाल मित्तल - पृ० ८६

५१. सूरसागर पद सं० ८ - पृ० ३

५२. अष्टछाप गोस्वामी गोकुलनाथ - पृ० १८

५३. चौरासी वैष्णव की वार्ता

५४. अष्टछाप श्री गोकुलनाथ कृत - पृ० १८

५५. *सूरदास और उनका साहित्य - देशराजसिंह भाटी* - पृ० २५

५६. सूरसागर पद सं० ४३५६ - पृ० १३८३

५७. सूर निर्णय - मित्तल तथा परीख - पृ० ९३
५८. सूरदास और नरसी मेहता (तुलनात्मक अध्ययन) - भ्रमरलाल जोशी - पृ० २५
५९. सूरदास और नरसी मेहता (तुलनात्मक अध्ययन) - भ्रमरलाल जोशी - पृ० २५
६०. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० २९०
६१. सूरदास और उनका साहित्य - देशराजसिंह भाटी - पृ० ३८
६२. सूरदास व्यक्तित्व और कृतित्व - वेदप्रकाश आर्य - पृ० ३७
६३. सूरदास और उसका साहित्य - देशराजसिंह भाटी - पृ० ४५
६४. सूरदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ० वेदप्रकाश आर्य - पृ० ४१
६५. परिशिष्ट-१ में वे पद रखे गये हैं जो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त नहीं माने गए या जिनके सम्बन्ध में संशय और जिज्ञासा को स्थान है-सूरसागर - परिशिष्ट-१
६६. परिशिष्ट-२ में वे पद हैं जो संपादक की दृष्टि से निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं। सूरसागर - परिशिष्ट-२
६७. सूरदास - ब्रजेश्वर शर्मा - पृ० ३७
६८. सूरदास और नरसिंह मेहता - डॉ० भ्रमरलाल जोशी - पृ० २९
६९. सूरदास और नरसिंह मेहता - डॉ० भ्रमरलाल जोशी - पृ० ३०

३

हरिवंशपुराण और सूरसागर की कथावस्तु

दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन कृत हरिवंशपुराण और सूरदास रचित सूरसागर दोनों विशालकाय ग्रन्थों में मुख्यत: श्री कृष्ण-चरित्र लीला वर्णन है। हरिवंशपुराण में कवि ने हरिवंश में उत्पन्न समस्त चरित्र-वर्णनों का समावेश किया है जिसमें अरिष्टनेमि उल्लेखनीय है। महाकवि सूर ने भागवत के अनेक प्रसंगों को सूरसागर में निरूपित किया है परन्तु उनका मन-मयूर कृष्णलीला वर्णन में ही अत्यधिक रमा है। उन्होंने अपने समस्त सांसारिक भावों को श्रीकृष्ण चरण-कमलों में समर्पित कर उनकी मधुर लीलाओं का गान करना ही अपना सर्वोत्तम लक्ष्य माना है। हरिवंशपुराण में कृष्ण-चरित्र के अनेक प्रसंगों को कवि ने विस्तार से चित्रित किया है। श्री कृष्ण का राजनैतिक स्वरूप, आध्यात्मिक स्वरूप तथा शलाकापुरुष के स्वरूप में उनकी नवीन उद्भावनाएँ द्रष्टव्य हैं।

हरिवंशपुराण तथा सूरसागर में कृष्ण-चरित्र के अलावा भी अनेक अवान्तर प्रसंग उल्लेखित हैं परन्तु शोध विषय की मर्यादानुसार यहाँ मात्र श्री कृष्ण चरित्र वर्णन का ही तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास होगा। श्री कृष्ण-चरित्र लीला वर्णन में अन्य प्रासंगिक घटनाओं को निरूपित करते हुए दोनों कृतिकारों के मूलभाव एवं उनके द्वारा वर्णित श्री कृष्ण के स्वरूप को देखने का ही इस परिच्छेद का मूल हेतु है।

हरिवंशपुराण जैन परम्परा में लिखा प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ है। यह प्रबन्धशैली से लिखा गया विशालकाय चरित्र-महाकाव्य है। परन्तु सूरसागर मुक्तशैली से लिखा काव्य-ग्रन्थ है। हरिवंशपुराण में जैन परम्परानुसार श्री कृष्ण चरित्र का वर्णन मिलता है जबकि सूरसागर में भागवतानुसार श्री कृष्ण-चरित्र को चित्रित किया है। दोनों ग्रन्थों में धार्मिक मान्यतानुसार भी अनेक भिन्नताएँ हैं, उन्हें भी इसी परिच्छेद में देखा जायेगा।

इन दोनों काव्य-ग्रन्थों का क्षेत्र अलग-अलग है। सूर ने तो द्वारिकेश कृष्ण की अपेक्षा यशोदानन्दन तथा गोपीवल्लभ कृष्ण को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके काव्य में श्री कृष्ण की बाल-किशोरलीलाएँ ही सूक्ष्मतम अनुभूतियों के साथ निरूपित हैं, जबकि हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य ने यशोदानन्दन एवं गोपीवल्लभ कृष्ण की अपेक्षा भौतिक लीला के विस्तारक वीरपुरुष के रूप में उन्हें अधिक चित्रित किया है। इनके काव्य में श्री कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन चरित्र व्यवस्थित व क्रमबद्ध रूप से विवेचित है।

वैसे जिनसेनाचार्य ने कृष्ण की बाल-किशोर लीलाओं का भी वर्णन किया है परन्तु वह सूर जैसी गहराई से नहीं है। उन्होंने वीर योद्धा, द्वारिका के सम्राट तथा महान् कूटनीतिज्ञ कृष्ण के निरूपण में ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। बालकृष्ण के वर्णन में भी कवि ने वीरता दिखाने का प्रयास कर उनके शलाकापुरुष स्वरूप की पूर्व-पीठिका बाँधी है। उनके आगे के वर्णनों में भी श्री कृष्ण के साहस, शौर्य, बहादुरी तथा वीरता आदि गुणों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। कृष्ण चरित्र वर्णन में हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण की वंश-परम्परा, उनका जन्म, उनकी किशोरावस्था, उनके अनेक विवाह, उनके पुत्र इत्यादि विविध प्रसंगों को विविधता के साथ वर्णित किया गया है। उन्होंने श्री कृष्ण को आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत एक महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

तात्पर्य यह है कि दोनों कृतियों में श्री कृष्ण चरित्र के विविध पहलुओं को साम्य-विषमता के साथ निरूपित किया गया है। कथावस्तु के अध्ययन में हम क्रमबद्धता को ध्यान में रखकर श्री कृष्ण चरित्र के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध का विवेचन करेंगे। पूर्वार्द्ध के विवेचन में कृष्ण के जन्म से लेकर कंस वध तक की घटनाओं का समावेश किया गया है - जिनका क्रम निम्न प्रकार से है—

कथावस्तु का पूर्वार्द्ध

१. जन्मलीला

२. बाललीला

३. श्री कृष्ण के लोकोत्तर पराक्रम

   क. पूतना वध

   ख. कागासुर वध

   ग. शकट-भंजन

   घ. तृणावर्त-उद्धार

४. ऊखल बन्धन तथा यमलार्जुन उद्धार

५. गोचारण-प्रसंग

६. कालियनाग-दमन

७. गोवर्धन-धारण

८. दावानल-पान-लीला

९. श्री कृष्ण की रसिक लीलाएँ

   क. रासलीला

ख. पनघटलीला

ग. दानलीला

घ. हिंडौला

ङ. चीरहरण लीला

च. बसन्त लीला

१०. अक्रूर का ब्रज गमन

११. रजक वृत्तान्त एवं कुब्जा उद्धार

१२. कुवलयापीड-वध

१३. चाणूर तथा मुष्टिक-वध

१४. कंस-वध

श्री कृष्ण जन्म-लीला :–

हरिवंशपुराण तथा सूरसागर दोनों में श्रीजन्म विषयक श्लोक एवं पद आते हैं जिनमें श्री कृष्ण के जन्म, वसुदेव-देवकी की चिन्ता एवं कृष्ण को नन्द के यहाँ पहुँचाने इत्यादि का वर्णन है। दोनों कवियों ने अपनी स्वतंत्र उद्भावना के आधार पर इस प्रसंग को वर्णित किया है। दोनों कवियों ने श्री कृष्ण का जन्म कंस के कारावास में बताया है एवं जन्म के पश्चात नन्द के घर पहुँचाने का उल्लेख किया है।

सूरसागर में श्री कृष्ण का जन्म भाद्रपद की कृष्णाष्टमी रात्रि को घनघोर अन्धकार में होना बताया है। वे देवकी की आठवीं सन्तान थे। उनके दैविक चिह्न थे तथा उनका प्रतापशाली वेष था। देवकी की प्रेरणा से वसुदेव ने कृष्ण को लेकर गोकुल में नन्द के यहाँ पहुँचाया। सूर के अनुसार दैवीय सहायता से जेल के द्वार खुल गये थे। जमुना का जल कम हो गया था। इस प्रकार एक रहस्यमय शक्ति को व्यक्त करते हुए महाकवि सूर ने श्री कृष्ण का जन्म परमात्मा का अवतार बताया है, जो अन्तर्यामी असुर-संहारक तथा त्रिभुवनराय है।[१] सूर ने कृष्ण जन्म के अनेक प्रसंगों को सविस्तार वर्णित किया है। इनमें नन्दोत्सव, गोप-गोपियों का हर्षोल्लास इत्यादि प्रसंग सूक्ष्म तथा प्रभावोत्पादक हैं। देवकी को भगवान् द्वारा बताया गया स्वरूप एवं वार्तालाप द्रष्टव्य है—

देवकी मन-मन चकित भई।
देखहु आइ पुत्र मुख काहे न ऐसी कहुँ देखी न दई॥
सिर पर मुकुट, पीत उपरैना, भृगु-पद उर भुज चारि धरे।
पूरब कथा सुनाइ कही हरि तुम माँग्यों इहि भेष करे॥

छोरे निगड़ सोआए पहरु, द्वारे को कपाट उघर्‌यौ।
तुरत मोहिं गोकुल पहुँचावहु, यह कहि के सिसु वेष धर्‌यौ॥
तब वसुदेव उठे यह सुनतहिं हरषवंत नँद-भवन गए।
बालक धरि लै सुरदेवी कौं, आइ सूर मधुपुरी ठए॥[२]

देवकी की हर्षातिरेक की अभिव्यंजना में, उसकी मनोदशा को सूर ने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वर्णित किया है।

पुराणकार जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण जन्म-कथा को कुछ भिन्नता के साथ इस प्रकार कहा है। श्री कृष्ण का जन्म श्रवण-नक्षत्र में भाद्रमास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को हुआ था। वे वसुदेव तथा देवकी की आठवीं सन्तान थे एवं सातवें मास में ही अलक्षित रूप से उत्पन्न हो गये थे। उनका शरीर दिव्य उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था।[३] घनघोर वर्षा में श्री कृष्ण के प्रभाव से कंस के सुभट रात्रि को गहरी नींद में निमग्न हो गये थे तथा जेल के किवाड़ भी खुल गये थे। यमुना का महाप्रभाव भी कृष्ण के प्रभाव से खण्डित हो गया था। उस समय पानी की एक बूंद बालक के नाक में घुस गई जिससे उसे छींक आई। उस छींक का शब्द बिजली तथा वायु के शब्द के समान अत्यन्त गम्भीर था। उसी समय आकाशवाणी हुई कि—"तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रहे"। यह आशीर्वाद कंस के पिता उग्रसेन ने दिया।[४] बलदेव तथा वसुदेव शिशु कृष्ण को लेकर वृन्दावन गये। वहाँ नन्द के यहाँ उसे सौंपकर नन्द की पुत्री लेकर वापस आये।

धुनीं समुत्तीर्य ततोऽभिगम्य वनं च वृन्दावनमत्र गोष्ठे।
सुनन्दगोपं सयशोदमाप्तं क्रमागतं तौ निशि दृष्टवन्तौ॥
समर्प्य ताभ्यामहरस्यभेदं प्रवर्द्धनीयं निजपुत्रबुद्धया।
शिशुं विशालेक्षणमीक्षणानां महामृतं कान्तिमयं स्रवन्तम्॥ ३५/२८-२९

सूरसागर में श्री कृष्ण जन्मप्रसंग में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का वर्णन मिलता है, जो प्रभावोत्पादक बन पड़ा है, जिसका हरिवंशपुराण में अभाव है। सूर को हर्ष, शोक, पुलक इत्यादि भावों के स्वाभाविक निरूपण में पूर्ण सफलता मिली है। श्री कृष्ण को उन्होंने अमर-उद्धारक, दुष्ट-विदारक आदि बताकर उन्हें अमानवीय लीलाकारी पुरुष के रूप में चित्रित किया है।[५]

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण जन्म-प्रसंग में कृष्ण को दिव्य लक्षणों से युक्त स्वीकार किया है परन्तु सूरसागर की भाँति यह प्रसंग इतना मनोरम नहीं बन पड़ा है।

सूरदास ने कृष्ण जन्म-प्रसंग में नन्द-यशोदा-ब्रज की खुशी का भी विस्तार से वर्णन किया है। सभी ओर से नन्द के यहाँ बधाईयाँ आती हैं। समस्त आबाल-वृद्ध हर्षमत्त बनकर नाचने लगते हैं। सभी गोपियाँ सोलह शृंगार किये नन्द के घर मंगलाचार

करती हैं। तरह-तरह के बाजे बजने लगते हैं। सूर का नन्दोत्सव बड़ा ही स्वभाविक बन पड़ा है—

आज गृह नन्द महर कैं बधाई।
प्रति समय मोहन मुख निरखत कोटि चंद-छवि पाइ।
मिलि ब्रज-नागरि मंगल गावतिं, नंद-भवन मैं आई॥
देतिं असीस, जियो जसुदा-सुत कोटिन बरष कन्हाई।
अति आनन्द बढ़यौ गोकुल मैं, उपमा कही न जाइ।
सूरदास धनि नंदघरनी देखत नैन सिराई॥[6]

सूर की भाँति जिनसेनाचार्य ने भी बाल-कृष्ण की सुन्दरता तथा गोपियों के असीम आनन्द का वर्णन किया है। बाल-कृष्ण चित्त पड़ा हुआ गदा, खड्ग, चक्र, अंकुश, शंख तथा पद्म आदि चिह्नों की प्रशस्त रेखाओं से चिह्नित लाल-लाल हाथ पैर चलाता था, तब वह गोप-गोपियों के मन को बरबस खींच लेता था। नील कमल जैसी सुन्दर शोभा को धारण करने वाले मनोहर बालक को गोपिकाएँ अतृप्त नेत्रों से टक-टकी लगाकर देखती रहती थी।

गदासिचक्राङ्कुशशंखपद्मप्रशस्तरेखारुणपाणिपादः।
स गोपगोपीजनमानसानि सकाममुत्तानशयो जहार॥
सुरूपमिन्दीवरवर्णशोभं स्तनप्रदानव्यपदेशगोप्यः।
अहंभवः पूर्णपयोधरास्तमतृप्तनेत्राः पपुरेकतानम्॥[7] ३५/३५-३६

समीक्षा :-

पुत्र जन्म समय के विविध लोकाचारों तथा उत्सवों का जैसा भावपूर्ण विशद वर्णन सूरसागर में है, वैसा हरिवंशपुराण में नहीं मिलता है। इस क्षेत्र में जिनसेनाचार्य सूरदास से पीछे हैं। दोनों कवियों ने अपनी कल्पना के आधार पर श्री कृष्ण जन्म कथा को वर्णित किया है परन्तु नवीन प्रसंगों की उद्भावना, भावों की सूक्ष्मता, वर्णन-वैविध्य की दृष्टि से सूर का वर्णन श्रेष्ठ है। जिनसेन स्वामी ने जहाँ इस प्रसंग को कुछ नवीनताएँ देकर संक्षेप में कथाक्रम की दृष्टि से वर्णित किया है, वहाँ सूर ने अत्यन्त भावपूर्ण और विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है।

बालक्रीड़ा :-

हरिवंशपुराणकार ने श्री कृष्ण की बालसुलभ क्रीड़ाओं का वर्णन संक्षेप में किया है। सूरसागर की अपेक्षा यह वर्णन स्वल्प है। दोनों ग्रन्थों में बालक्रीड़ाओं को नन्द-यशोदा की अभूतपूर्व प्रीति को बढ़ने वाली तथा सम्पूर्ण ब्रजवासियों की खुशी का मूलाधार बताया गया है। उनकी यह लीलाएँ गोप-गोपियों के मन को आनन्द-विभोर कर देती है।

सूरसागर में श्री कृष्ण की बाललीला सम्बन्धी अनेक पद मिलते हैं। महाकवि सूर ने इन पदों में कृष्ण के शिशुस्वभाव की सरलता, चंचलता, उनकी हठ, श्री कृष्ण के घुटनों के बल चलना, पैरों से चलना, आँगन में खेलना आदि कई मनोवैज्ञानिक वर्णन किये हैं-जो अन्यत्र दुर्लभ है।

जसोदा हरि पालनैं झुलावैं।
हलरावै, दुलराइ-मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आऊ निंदरिया काहे न आनि बुलावै।

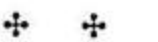

सौ सुख सूर अमर मुनि दुलर्भ सो नंद भामिनि पावे॥[८]

बालकृष्ण की विविध लीलाओं में बालक कृष्ण का मणिमय आँगन में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उसे पकड़ने दौड़ना, अपनी छाया को पकड़ने की इच्छा, हँसते हुए अपने दाँतों को चमकाना, अंगूठा-चूसना, ओठ-फड़काना, उलट जाना, उनके हाथों-पैरों की अनुपम शोभा इत्यादि का जो सुन्दर एवं स्वाभाविक वर्णन सूरसागर में हुआ है वास्तव में वह अद्वितीय है। सूर के इस वर्णन में उनका वात्सल्य रस निरूपण द्रष्टव्य है। उनके "शोभित कर नवनीत लिए" तथा "किलकत कान्ह घुटुरिवन आवत" आदि पद देखते ही बनते हैं। सूर का बाललीला वर्णन न केवल मनोरम, मनोवैज्ञानिक, अनोखा एवं अद्वितीय है वरन् यह वर्णन साहित्य की चरमोत्कर्ष उपलब्धि है। सूर ने कृष्ण जन्मोत्सव के पश्चात् ब्रज में अबाध उत्सवों का वर्णन किया है। कृष्ण का पालना बनाना, नन्द के घर बधाइयाँ बजना,[९] कृष्ण का अन्नप्राशन,[१०] उनकी वर्ष-गाँठ,[११] कर्ण-वेध आदि को निरूपित करके लोकरीति का भी कवि ने सविध वर्णन किया है। कर्णछेदन का एक पद द्रष्टव्य है—

कंचन के द्वैदुंर मँगाइ लिए, कहौ कहा छेदति आतुर की।
लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानि, दियौ तुरत नौआ को घुरकी।
हँसत नंद, गोपी सब बिहँसीं, झमकि चलीं सब भीतर दुरकी॥[१२]

कृष्ण द्वारा अपने माँ यशोदा से रुष्ट हो जाने का सूर ने अत्यन्त ही स्वाभाविक बाल-सुलभ वर्णन किया है। कृष्ण अपनी माँ से कहते हैं कि "तू मुझे हमेशा कच्चा दूध पीने को बाध्य करती है परन्तु माखन रोटी नहीं देती, इतने दिनों से दूध पीने के बावजूद भी देख, मेरी यह चोटी नहीं बढ़ी है। हे माँ! मेरी यह चोटी कब बढ़ेगी"—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
काचौ दूध पियावत पचि-पचि, देत न माखन रोटी।[१३]

हरिवंशपुराण में कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं का यह वर्णन इतना विस्तृत न मिलकर, अत्यन्त संक्षेप में मिलता है। जिनसेनाचार्य ने कृष्ण के नामकरण संस्कार तथा जात-संस्कार का स्पष्ट उल्लेख किया है—

ततो व्रजस्थः कृतजातकर्मा स्तनंधयोऽसौ कृतकृष्णनामा।
प्रवर्धते नन्दयशोदयोस्तु प्रवर्धयन् प्रीतिमभूतपूर्वाम्॥[१४] ३५/३४

उनके अनुसार "श्री कृष्ण की बाललीलाओं" से सम्पूर्ण ब्रजवासियों की प्रसन्नता तथा उनके आनन्द में वृद्धि होती थी। उसकी क्रीड़ाएँ असीम, अभूतपूर्व प्रीति को बढ़ाने वाली थीं।

समीक्षा :–

उपर्युक्त प्रकार से हरिवंशपुराण तथा सूरसागर दोनों ग्रन्थों में श्री कृष्ण के बाल सुलभ लीलाओं का निरूपण मिलता है। सूरसागर में जहाँ श्री कृष्ण के बाल जीवन की अनेक मनोहारिणी चेष्टाओं का वर्णन हुआ है। वहाँ हरिवंशपुराण में मात्र कथा-वर्णन के निर्वाह की दृष्टि से इन्हें चित्रित किया है।

सूर का यह सौन्दर्य-वर्णन शब्दों से परे है, जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनका यह वर्णन हृदयग्राही बन पड़ा है। उन्होंने श्री कृष्ण के बालजीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवेगों का अतुलनीय वर्णन किया है। सूरसागर में श्री कृष्ण के बाल-जीवन का क्रमिक विकास दिखाई देता है जो यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक धरातल को पकड़े हुए है। सूरदास ने बाल-कृष्ण के वर्णन में मधुरता का सविशेष उल्लेख किया है जबकि जिनसेनाचार्य में इसका नितान्त अभाव रहा है। जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण की अलौकिक शक्तियों के निरूपण में ही अपने मन को रमाया है, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे।

श्री कृष्ण का चन्द्रप्रस्ताव :–

श्री कृष्ण की बालचेष्टाओं में सूरसागर का यह प्रसंग प्रसिद्ध रहा है कि जब बालक कृष्ण रुदन कर रहा होता है, उस समय माँ यशोदा उसे शांत करने के लिए चन्द्र को दिखाती है। बालकृष्ण चन्द्र को कोई मीठी वस्तु समझ कर उसे खाने की इच्छा प्रकट करते हैं तथा तदुपरान्त उसे कोई सुन्दर खिलौना समझकर उसे प्राप्त करने के लिए हठ करने लगते हैं। माँ उन्हें शांत करने के लिए अनेक प्रयास करती है परन्तु बालकृण अपनी हठ को छोड़ते नहीं हैं। अन्त में माँ कृष्ण से कहती है कि कन्हैया! तेरे से ही यह चन्द्र दूर-दूर भागा जा रहा है। तत्पश्चात् जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर माता उसे दिखाकर कृष्ण को चुप करने का प्रयास करती है परन्तु कृष्ण माँ की इस चाल को जान जाते हैं तथा वे कहते हैं कि जल के भीतर के चन्द्र को मैं कैसे प्राप्त करूँगा। मुझे तो वे चन्द्र चाहिए, जो आकाश में चमक रहा है। सूर का यह पद देखिये, जिसमें इसी भाव का चित्रण है—

मैया री मैं चंद लहौंगो।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ, बाहर ब्यौं कि गहौंगौ।
यह झलमलात झकझोरत कैसे कै जु लहौंगौ।
वह तो निपट निकटहीं देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगौ।
तुम्हरो प्रेम प्रकट मैं जान्यौं, बौराऐ न बहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि-तन-दाय दहौंगौ।[१५]

हरिवंशपुराण में ऐसे मनोहारी दृश्यों तथा बाल-सुलभ स्वाभाविक हठ इत्यादि प्रसंगों का अभाव है।

श्री बालकृष्ण के लोकोत्तर पराक्रम

(क) पूतना-वध :-

सूरसागर एवं हरिवंशपुराण दोनों में यह प्रसंग उल्लेखित है कि पूतना एक भयंकर राक्षसी थी, जिसे कंस ने बालक कृष्ण को मारने के लिए गोकुल में भेजा था। यह एक सुंदर युवती का स्वरूप धारण कर गोकुल में नन्दबाबा के घर में घुस गई एवं सोये हुए कृष्ण को उसने अपनी गोद में ले लिया। बाल कृष्ण को अपना स्तनपान करवाकर वह उन्हें मारना चाहती थी परन्तु कृष्ण उसके इरादे को जान गये। उन्होंने अपने मुख को कठोर करके इतने जोर से स्तन-पान किया कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। वह धरती पर गिर पड़ी। ब्रजवासियों ने पूतना के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले एवं गोकुल के बाहर ले जाकर उसे जला डाला।

सूरसागर में यह प्रसंग अपेक्षाकृत विस्तृत स्वरूप से आया है। सूर ने अपने अनेक पदों में इस प्रसंग को उल्लेखित कर श्री कृष्ण की अलौकिक शक्ति को वर्णित किया है। कृष्ण द्वारा पूतना के स्तन-पान करते ही प्राण निकल जाता है। वह एक योजन दूर गिर जाती है।[१६] सारे ब्रज में हर्षोल्लास छा जाता है। उधर मथुरा के राजा कंस को जब इस घटना की जानकारी मिलती है, तब वह अत्यन्त विस्मय में पड़ जाता है। वह सोच करने लगता है और बाल-कृष्ण को मारने के दूसरे उपाय सोचने लगता है।

हरिवंशपुराण में मथुरानरेश कंस द्वारा प्रेरित असुरों के वध की कथा कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत की गई है।

पूतना वध के प्रसंग में जब मथुरा में उत्पात बढ़ने लगे तो कंस ने सात देवियों को अपने शत्रु को मारने भेजा। उनमें से पूतना नाम की एक देवी थी। वह कृष्ण को दूध पिलाकर मारने के उद्देश्य से नन्द के घर पहुँची। परन्तु श्री कृष्ण की रक्षा लिए तत्पर दूसरी देवी ने उसके स्तनों में पीड़ा कर वहाँ से उसे भगा दिया। कंस ने उपवास करके

पूर्वभव में इन देवियों को प्रसन्न किया था। उस समय उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर कंस को समय पर सहायता का वचन दिया था। इनमें से ही एक देवी पूतना के स्वरूप में बालकृष्ण को मारने आई थी।

कुपुतना पूतनभूतमूर्तिः प्रपाययन्ती सविषस्तनौ तम्।
स देवताधिष्ठितनिष्ठुरास्यो व्यरीरटच्चूचुकचूषणेन॥[१७] ३५-४२

समीक्षा :–

पूतना वध-प्रसंग में सूरदास श्री कृष्ण को भगवान् का अवतार स्वीकार करते हैं लेकिन जिनसेनाचार्य ने उन्हें देवताओं के अधिष्ठित स्वरूप में निरूपित किया है। सूर का यह वर्णन अत्यन्त रोचकता को प्राप्त कर गया है जबकि जिनसेनाचार्य में इसका अभाव रहा है लेकिन इनका कथा-प्रवाह प्रशंसनीय रहा है।

पूतना का प्रतीकात्मक स्वरूप :–

कृष्णोपनिषद् के अनुसार पूतना को दैत्य या अविद्या का प्रतीक माना गया है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष आदि पाँच पर्व कहे गये हैं। पूतना का वध पाँच पर्वों से समृद्ध अविद्या का विनाश है। श्री कृष्ण (वेद या ज्ञान) द्वारा अविद्या रूपी पूतना का विनाश किया जाता है।[१८]

"पूतना को वासना का प्रतीक भी माना जाता है। जब हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं—विषयों में जाती हैं तब वासना का आगमन होता है। वासना जीवन के लिए विष का काम करती है। इस वासना को वशीभूत करना, उससे उपराम बनना कृष्ण जैसे देवोपम बनने के लिए नितान्त आवश्यक है।"[१९]

(ख) कागासुर वध :–

बालकृष्ण की अलौकिक लीलाओं में एक प्रसंग कागासुर वध का आता है जिसे दोनों कृतिकारों ने कुछ विषमता के साथ चित्रित किया है। श्रीमद्भागवत में यह कथा नहीं है परन्तु ब्रह्मपुराण तथा विष्णुपुराण में इसका वर्णन है। सूरदास ने इस कथा का सांगोपांग वर्णन किया है। उन्होंने काग को भी अन्य असुरों की भाँति कंस से प्रेरित बताया है।

बालकृष्ण को मारने के लिए कंस एक राक्षस को भेजता है जो पक्षी का स्वरूप धारण कर कृष्ण को मारने का प्रयास करता है। परन्तु कृष्ण द्वारा वह भी मारा जाता है। काग रूप धारी उस असुर को कृष्ण पालना में लेटे ही चोंच पकड़ कर फैंक देते हैं जो बेहाल होकर कंस के पास जाकर गिरता है।

काग-रूप इक दनुज धरयौ।
नृप आयुस लै धरि माथे पर, हरषवत उर गरब भरयौ।

कितिक बात प्रभु तुम आयुस तें, वह जानी मो जात मरयौ।
सूरदास प्रभु कंस निकंदन, भक्त हेतु अवतार धरयौ।[२०]

हरिवंशपुराण में पूतना की भाँति एक देवी भयंकर पक्षी का रूप धारण कर कृष्ण को मारने के लिए आती है लेकिन कृष्ण उसकी चोंच पकड़कर इतनी जोर से दबाते हैं कि वह भाग जाती है—

इतीरितं ताः प्रतिपद्य याताः प्रदृश्य चैकोग्रशकुन्तरूपा।
प्रनुद्य हन्त्री हरिणात्ततुण्डा प्रचण्डनादा प्रणनाश भीता॥[२१] ३५-४१

समीक्षा :–

दोनों कवियों का यह वर्णन बालकृष्ण की अनुपम शक्ति को प्रदर्शित करता है। सूर ने इस प्रसंग को दो पदों में वर्णित किया है जबकि जिनसेन ने इस ओर भी संक्षिप्त रूप प्रदान किया है।

प्रतीकात्मकता :–

कागासुर वध के प्रतीकात्मक अर्थ की बात करें तो कौआ मूलतः दुष्ट, कटुभाषी तथा समस्त आंतरिक कलुषता का परिचायक है, जिसको हटाना आवश्यक है।

(ग) शकट-भंजन :–

इस प्रसंग में एक असुर शकट (छकड़े) का रूप धारण कर बाल कृष्ण को मारने आता है। उत्सव के दिन यशोदा कृष्ण को छकड़े के नीचे शय्या पर सुला देती है। उस समय कृष्ण रोते-रोते अपना पाँव छकड़े में मारते हैं। श्री कृष्ण के पाँव लगते ही यह विशाल छकड़ा उलट जाता है। इस प्रकार श्री कृष्ण की लातों से उस असुर का संहार हो जाता है।

सूरसागर के इस प्रसंग में शकटासुर द्वारा किये गये अहकार का वर्णन आता है। उसकी बात को सुनकर कंस अत्यन्त हर्षित होकर कृष्ण को मारने का बीड़ा उसे देता है। बीड़ा लेकर वह गर्व के साथ शकट का रूप धारण कर बालकृष्ण को मारने ब्रज में आता है। उसे देखकर ब्रज के लोग अत्यन्त चलित होकर डर जाते हैं परन्तु कृष्ण की एक लात से ही उसका संहार हो जाता है।

पान लै चल्यौ नृप आन कीन्हौ।
गयो सिर नारू मन गरबहि बढ़ाइ कै, सकट को रूपधरि असुर लीन्हौ।
सुनत घहरानि ब्रजलोग चकित भए, कहा आघात धुनि करत आवै।
नैंकु फटक्यौ लात, सबद भयौ आघात, गिरयौ भहरात सकटा सँहारयौ।
सूर प्रभु नंदलाल, मारयौ दनुज ख्याल, मेटि जंजाल ब्रजजन उबारयौ॥[२२]

हरिवंशपुराणानुसार यह राक्षस न होकर एक पिशाची होती है जो गाड़ी का स्वरूप धारण कर बालक श्री कृष्ण के ऊपर दौड़ती आती है परन्तु उसे कृष्ण अपने दोनों पैरों द्वारा तोड़ देते हैं।

अनःशरीरामपरां पिशाचीं स चापतन्तीं घनपादघाती।
विभीर्बभंजाञ्जनशैलशोभी पृथूदयस्तां पृथकोऽपि कोऽपि॥[२३] ३५-४४

दोनों ग्रन्थों का यह प्रसंग समानता पर आधारित है। इसमें बालकृष्ण का लोकोत्तर पराक्रम विवेचित हुआ है। कृष्ण को निर्भय, अत्यधिक शक्तियों का भण्डार और अनिर्वचनीय पुरुष के रूप में निरूपण का यह सफल प्रयास है।

प्रतीक अर्थ :–

"शकट को एक असुर भाव में ग्रहण किया गया है। ग्रहण किए लौकिक पदार्थों को न छोड़ पाना मोहजनित असुर भाव या अभिनिवेश माना जाता है। इस व्यवहार अभिनिवेश का नाश ही शकट-भंजन है तथा इस असुर भाव का नाश श्री कृष्ण (वेद) ही कर सकते हैं।"[२४]

श्री कृष्ण के पदाक्षेप से शकट के चक्र, अक्ष व जूआ इत्यादि टूट गये। भगवान् के चरण स्पर्श से जहाँ भार वाहनता नष्ट हो जाती है, वहाँ संसार व काल-चक्र को जोड़ने वाला अक्ष-दण्ड (अहंकार) भी टूट जाता है और काल-चक्र व संसार-चक्र के बन्धन नष्ट हो जाते हैं।[२५]

तृणावर्त-वध :–

सूरसागर में बालकृष्ण द्वारा एक और राक्षस मारने की कथा आती है। तृणावर्त नाम का यह दैत्य कंस का सेवक था। कंस की प्रेरणा से यह कृष्ण को मारने के लिए एक भयंकर आँधी बवंडर के रूप में नन्द-गाँव में आया। सारे ब्रज में हा-हाकार मच गया। वह बालक श्री कृष्ण को आकाश में उड़ाकर ले गया। यशोदा व्याकुल होकर 'श्याम, श्याम' पुकारने लगी। तदुपरान्त श्री कृष्ण ने उस राक्षस को धरती पर पछाड़ कर मार दिया।

कंस द्वारा कृष्ण को मारने का यह प्रयास भी असफल गया। सूर के इस प्रसंग में कल्पनाशीलता दिखाई देती है। "तृणावर्त वध" का यह प्रसंग हरिवंशपुराण में नहीं मिलता है।

प्रतीक अर्थ :–

तृणावर्त अज्ञान का प्रतीक माना गया है। चेतन स्वरूप ब्रह्म द्वारा ही अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान अपने आश्रय, ज्ञान स्वरूप आश्रय का आवृत्त किये रहता है और ज्ञान के सक्रिय होने पर अज्ञान तिरोहित हो जाता है।[२६]

तृणावर्त को कामक्रोधादि रजोगुण की आँधी का प्रतीक भी माना जा सकता है।

अन्य असुरादि-वध :-

श्री बालकृष्ण के अलौकिक पराक्रम वर्णन में अनेक दानवों को मारने का वर्णन मिलता है। ये राक्षस ब्रज-भूमि में उपद्रव करते थे एवं अपने भयंकर स्वरूप से लोगों को डराते थे। इनमें प्रलम्बासुर, वत्सासुर, शंखचूड, वृषभासुर, केशी, व्योमासुर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। ये सभी राक्षस कंस द्वारा कृष्ण को मारने के लिए भेजे गये थे परन्तु वे सभी कृष्ण द्वारा मारे गये।

सूरसागर में बकासुर के चार पद मिलते हैं एवं अघासुर वध के भी पाँच पद वर्णित हैं। इन पदों में सूर ने बालकृष्ण की वीरता का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।

हरिवंशपुराण में वर्णित सात देवियाँ, पूतना इत्यादि अनेक राक्षसों के स्वरूप में क्रमशः कृष्ण को मारने के लिए आती हैं परन्तु उनका ही नाश होता है। धेनकासुर का प्रसंग वर्णित है कि किसी दिन कोई देवी बैल का रूप धारण कर आई। वह बैल बड़ा अहंकारी था, गोपालों की बस्ती में वह जहाँ-जहाँ दिखाइ देता था, जोरदार शब्द से लोगों को डराता था, परन्तु सुन्दर कण्ठ के धारक श्री कृष्ण ने उसकी गरदन मरोड़ कर उसे नष्ट कर दिया।

स गोपतिं दुग्धमशेषघोषमितस्ततो दृष्टमुदग्रघोषम्।
महार्णवं वा प्रतिपूर्णयन्तं जघान कण्ठोद्बलनात्सुकण्ठः॥[२७] ३५-४७

इस प्रकार से सूरसागर तथा हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण द्वारा अनेक दानवों को मारने का वर्णन मिलता है। सूर का यह वर्णन कृष्ण को भगवान् एवं सर्वशक्ति सम्पन्न स्वरूप प्रदान करता है जबकि जिनसेनाचार्य के वर्णन में बालकृष्ण के देवोपम सामर्थ्य का चित्रण है।

आज के इस बौद्धिक एवं वैज्ञानिक युग में ये चमत्कारी वर्णन किसी महान् मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं करते वरन् अनास्था उत्पन्न करने के ही निमित्त बनते हैं। सच्चे अर्थों में देखा जाय तो इन दैत्यों के वध के पीछे मानवीय विकारों को दूर करने की बात कही गई है। कवि ने इन विकारों को दूर करने हेतु रोचक कथाओं का सुन्दर स्वरूप प्रदान किया है। जैसे पूतना अज्ञान, अविद्या तथा वासना की प्रतीक है, उसी तरह ये सभी राक्षस दंभ, अहंकार, पाप, अनर्थकारी प्रवृत्तियों तथा देहाध्याय इत्यादि के प्रतीक माने जा सकते हैं।

ऊखल-बन्धन तथा यमलार्जुन-उद्धार :-

बाल कृष्ण अत्यन्त ही चंचल तथा नटखट थे। जब उनके उपद्रव गोकुल में बढ़ गये तो यशोदा ने कृष्ण के इस व्यवहार से अप्रसन्न होकर उन्हें ऊखल से बाँध दिया। बाल कृष्ण को इस कार्य में भी लीला करनी थी। श्री कृष्ण उस ऊखल को घसीटते हुए

पास में खड़े यमलार्जुन नामक वृक्षों के बीच में घुस गये। वे तो दूसरी ओर निकल गये परन्तु ऊखल टेड़ा होकर अटक गया। उन्होंने पीछे लुढ़कते हुए ऊखल को ज्यों ही जोर से खींचा तो दोनों पेड़ तड़-तड़कर भूमि पर गिर पड़े। इस प्रकार का यह प्रसंग कुछ अन्तर के साथ दोनों आलोच्य कृतियों में उपलब्ध है।

सूरसागर में यह प्रसंग यथाक्रम तथा विशद रूप से वर्णित है। कृष्ण की रुचि शैशवकाल से ही माखन की ओर विशेष रही थी। वे अपने सखाओं के साथ ब्रज में जहाँ भी अवसर पाते, वहीं घुसकर माखन खाया करते थे। उनके घर में अपने सखाओं के साथ उन्हें माखन खाने में अत्यधिक आनन्द मिलता था। सूर की एक गोपी कृष्ण के इस कृत्य से परेशान हो गई। वह कृष्ण को पकड़ लेती है परन्तु सूर के शब्दों में नटखट कृष्ण बड़े ही निर्भीक होकर जो उत्तर देते हैं, वह देखते ही बनता है—

जसोदा कहँ लौ कीजै कानि।
दिन-प्रति दिन कैसें सही परत है, दूध दही की हानि।
अपने या बालक की करनी, जो तुम देखौ आनि।
गोरस खाइ खवावै लरिकन, भाजत-भाजन भानि।
मैं अपने मन्दिर के कोने, माखन राख्यौ छानि।
सोई जाइ तिहरि ढोटा, लीन्हों है पहिचानि।
बुझि-ग्वालि निजगृह मैं आयौ, नैकुँ न संका मानि।
सूर स्याम तब उत्तर बनायो, चींटीं काढ़त पानि॥[२८]

सूरसागर में गोपियों द्वारा यशोदा को शिकायत के ऐसे अनेक पद मिलते हैं। यशोदा ऐसे उलाहनों से ऊब जाती है। वह कृष्ण को अनेक बार समझाने का अथक प्रयास करती है परन्तु कृष्ण अपनी हरकतों से बाज नहीं आते हैं। दिन-प्रतिदिन माखन चोरी एवं अन्य उद्दण्डताएँ बढ़ती ही जाती हैं, तब माँ यशोदा उन्हें दण्ड देने के लिए ऊखल से बाँध देती है। सूरसागर के लगभग ५० पदों में इस प्रसंग का वर्णन मिलता है जो यमलार्जुन उद्धार के साथ पूर्ण होता है। इस प्रसंग में सूर ने माता को शिकायत, यशोदा का कृष्ण के प्रति खीझना, कृष्ण को दण्डित करना, गोपियों का पश्चात्ताप उनके द्वारा कृष्ण मुक्ति की प्रार्थना एवं वात्सल्य भाव से युक्त पदों का समावेश होता है।

जसोदा ऊखल बाँधे स्याम।
मन मोहन बाहिर ही छाँड़े, आपु गई गृह काम।
दह्यो मथति, मुख ते कछु बकरति गारी दे लै नाम।
घर-घर डोलत माखन चोरत षट रस मेरैं धाम।
ब्रज के लरकिन मारि भजत हैं, जाहु तुमहु बलराम।
सूर स्याम ऊखल सो बाँधे, निरखहिँ ब्रज की बाम।[२९] ३५-४५

हरिवंशपुराण में भी बालकृष्ण की नटखटता का वर्णन मिलता है। किसी दिन उपद्रव की अधिकता के कारण यशोदा ने कृष्ण को कसकर ऊखल से बाँध दिया। उसी दिन कंस की दो देवियाँ यमल तथा अर्जुन उन्हें पीड़ा पहुँचाने के लिए वहाँ आई परन्तु कृष्ण ने उस दशा में भी दोनों देवियों को मार भगाया।

यशोदया दामगुणेन जातु यदृच्छयोदूखलबद्धपादः।
निपीडयन्तौ रिपुदेवतागौ न्यपातयत्तौ यमलार्जुनौ सः॥[३०] ३५-४५

समीक्षा :–

सूरसागर में यमलार्जुन नामक वृक्षों को कुबेर के दो पुत्र माना है। ये शाप वश वृक्ष बन गये थे। इनको बालकृष्ण ऊखल में अटकाकर भूमि पर गिरा देते हैं एवं इनका उद्धार हो जाता है। परन्तु हरिवंशपुराण में ये दो वृक्ष शत्रु की देवियाँ थी। उनके द्वारा कृष्ण को पीड़ा पहुँचाने पर कृष्ण उन्हें मार भगाते हैं। सूरसागर का यह वर्णन जितना स्वाभाविक, मार्मिक एवं हृदयग्राही बन पड़ा है, वैसा हरिवंशपुराण में नहीं। सूर का यह वर्णन सुन्दर, कल्पनाशीलता एवं भागवतानुसार है जबकि पुराणकार ने इसे संक्षेप में निरूपित कर कृष्ण-कथा प्रवाह में इसका संकेत मात्र किया है।

प्रतीकात्मकता :–

श्रीमद्भागवत पुराण में ऊखल बन्धन की प्रतीकात्मकता क ऊपर सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है कि इस लीला में भगवान् की भक्ति वश्यता का पता चलता है। विश्व जिस भगवान् के विधान, मर्यादा तथा माया से बँधा हुआ है उसे भगवान् का स्वयं ही रस्सी से बंध जाना इस बात का द्योतक है कि भगवान् स्वयं ही हमेशा भक्त के वश में रहते हैं।[३१]

गोचारण प्रसंग :–

श्री कृष्ण के जीवन में गोचारण का पर्याप्त महत्त्व रहा है। सूरदासजी ने अपनी मौलिकता के आधार पर इस संदर्भ में श्री कृष्ण का गोचारण करने जाना, मित्रों के साथ खेलना, छाक आरोगना, गोधूलि बेला में पुनः घर आना इत्यादि अनेक भावपूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। यह सभी प्रसंग भागवतानुसार हैं परन्तु सूरसागर में वर्णित ये प्रसंग भागवत से भी सुन्दर बन पड़े हैं। सूर ने इन प्रसंगों में क्रमबद्धता का निर्वाह किया है।

सूर के "आज मै गाइ चरावन जेहों" पद से यह प्रसंग आरम्भ होता है। माँ यशोदा कृष्ण को रोकने का प्रयास करती है परन्तु बाल कन्हैया अपनी हठ को पूरी कर छोड़ते हैं। सूर का यह वर्णन स्वाभाविक जान पड़ता है। इस वर्णन में कृष्ण के लौकिक रूप के साथ उनकी अलौकिकता का भी सुन्दर समावेश हुआ है, जहाँ वे जंगलों में अनेक राक्षसों का दमन करते हैं।

प्रकृति की सुन्दर पृष्ठभूमि पर गोचारण में अत्यन्त मनोरम दृश्य अंकित हुए हैं। ग्वाल बालों की सरल चित्तवृत्ति देखते ही बनती है। पहाड़ी पर चढ़कर बालकों को टेरना, छाक का भोजन, ये नित्य के कार्यक्रम बन जाते हैं। कन्हैया को ग्वालों से इतनी ममता है कि वे उनका जूँठा खाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते। कृष्ण का यह प्रसंग आडम्बर रहित जीवन एवं पारस्परिक स्नेह का सुन्दर उदाहरण है।

ग्वालिन कर तैं कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सबनि के मुख कौ, अपने मुख लै नावत।
षटरस के पकवान धरे सब, तिमें रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि माँगी लेत हैं, कहत मोहिं अति भावत।[३२]

मैत्री का मधुर आस्वाद जितना अपूर्ण है, उतना ही दुर्लभ भी। संध्या के समय माँ यशोदा का आकुल-व्याकुल होना, कृष्ण को दूर से ही देखकर तत्परता के साथ दौड़कर उसे गले लगाना आदि दृश्यों में कवि की सूक्ष्म दृष्टि परिलक्षित होती है।

मेरे नैन निरखि सुख पावत।
संध्या समय गोप गोधन संग बन तैं बनि ब्रज आवत।
उर गुंजा वनमाल, मुकुट सिर, बेनु रसाल बजावत।[३३]

सूरसागर इस प्रसंग के अनेक पदों से भरा पड़ा है जिसमें कृष्ण के गोचारण का उल्लेख है।

हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य ने भी इस प्रसंग का स्पष्ट उल्लेख किया है। कृष्ण की विविध लीलाओं के वर्णन में यह प्रसंग निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि कृष्ण वन में सफेद तथा कृष्ण वर्ण की गायों के समूह को ग्वाल बालों के साथ चराने जाते हैं। वहाँ वे सुन्दर कण्ठ के धारक कृष्ण अत्यन्त मधुर गीत गाते हैं। गायें वृन्दावन में घास-पानी से पूर्णतः सन्तुष्ट थीं। उनके थनों से अनेक बछड़े लगे हुए थे।[३४] कई ग्वाल बाल उन्हें दूहते थे।

गोपाल कृष्ण की सुन्दरता का चित्र जिनसेनाचार्य ने इस प्रकार खींचा है कि कृष्ण ने पीले रंग के दो वस्त्र पहने हुए हैं। वन के मध्य में उन्होंने मयूरपिच्छ की कलंगी लगाई है। उनके सिर पर अखण्ड नील कमल भी सुशोभित है। सुवर्ण के कर्णाभरणों से उनकी आभा अत्यन्त ही उज्ज्वल हो रही है। उनकी कलाइयों में सुवर्ण के सुन्दर देदीप्यमान कड़े हैं। उनकी ललाट पर दुपहारियों के फूल लटक रहे हैं तथा उनके साथ कई गोपाल बालक हैं—

सुपीतवासोयुगलं वसानं वने वतंसीकृतबर्हिबर्हम्।
अखण्डनीलोत्पतमुण्डमालं सुकण्ठिकाभूषितकम्बुकण्ठम्।
सुवर्णकर्णाभरणोज्ज्वलाभं सुबन्धुजीवालिकमुच्चमौलिम्।
हिरण्मयोचिर्वलयप्रकोष्ठं सुपादगोपालकसानुवंशम्॥[३५] ३५/५५-५९

सूरसागर में गोपाल कृष्ण का सुन्दर स्वरूप निम्न प्रकार से चित्रित किया गया है जो अत्यन्त ही मनोभावन है—

देखि सखी बन तै जु बने ब्रज आवत हैं नन्द-नन्दन।
सिखी सिखंड सीस मुख मुरली, बन्यौ तिलक, उर चंदन।
कुटिल अलक मुख चंचल लोचन निरखत अति आनंदन।
कमल मध्य मनु द्वै खग खंजन-बँधे आई उड़ि फंदन॥
अरुन अधर-छबि दसन बिराजत जब गावत कल मंदन।
मुक्ता मनौ नीलमनि-मय-पुट, धरें भुरकि बर बंदन।
गौप वेष गोकुल गौ चारत है हरि असुर-निकंदन।
सूरदास प्रभु सुजत बखानत नेति नेति श्रुति छंदन॥[३६]

यद्यपि दोनों कृतियों में गोचारण प्रसंग निरूपित हुआ है परन्तु सूरसागर का भाव निरूपण अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। सूर हमें जहाँ भावविभोर कर देते हैं, वहाँ जिनसेनाचार्य के श्लोक कोरे वर्णनात्मक प्रतीत होते हैं।

कालियनाग-दमन :–

श्री कृष्ण से सम्बन्धी यह बहुत ही लोकप्रिय घटना रही है। यह प्रसंग भी श्री कृष्ण के अलौकिक बल का परिचायक है। हरिवंशपुराण तथा सूरसागर दोनों ग्रन्थों में यह घटना कुछ भिन्नता के साथ उल्लेखित है कि कालिय नामक नाग का बाल कृष्ण ने दमन किया था।

सूरसागर में इस सम्बन्ध में कथा आती है कि एक बार कृष्ण अपने सखाओं के साथ यमुना नदी के किनारे कन्दुक-क्रीड़ा करते हैं। कन्दुक खेलते-खेलते श्री कृष्ण द्वारा उनके सखा श्रीदामा की गेंद यमुना में गिर जाती है। श्रीदामा अपनी गेंद लाने के कृष्ण से हठ करते हैं तब श्री कृष्ण अपना वास्तविक उद्देश्य बताकर तटवर्ती कदम्ब से कूद कर उस भयंकर दह में प्रवेश करते हैं, जहाँ कालिय नामक भयंकर नाग रहता है।[३७] नागपत्नियों के साथ उनका वार्तालाप होता है, यमुना के उस ह्रद में योगेश्वर कृष्ण महाभयंकर कालिय नाग को नाथते हैं। नाग को नाथने पर नाग एवं नागिनियाँ श्री कृष्ण के चरणों में गिरकर वन्दना करने लगती हैं। श्री कृष्ण उन्हें यमुना छोड़कर अन्यत्र चले जाने को कहकर यमुना-दह से बाहर आते हैं।

सूरसागर के अनुसार कालियनाग-दमन का महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि यह नाग *जहाँ रहता था, वहाँ का पानी पीने से पशु-पक्षी चिर-निद्रा में सो जाते थे। उस विषाक्त* पानी को निरापद करने हेतु श्री कृष्ण को उस नाग का दमन करना पड़ा। कृष्ण द्वारा नाग नाथने का दृश्य सूर के शब्दों में द्रष्टव्य है—

झिरकि कै नारि दै गारि गिरिधारी तब,
पूँछ पर लात दे अहि जगायौ।
उठ्यौ अकुलाइ, डरपाइ खग-राइ कौं,
देखि बालक गरब अति बढ़ायौ।

करत फन-घात, विष जात उतरात अति,
नीर जरि जात, नहिं गात परसै।
सूर के स्याम प्रभु, लोक अभिराम,
बिनु जान अहिराज विष ज्वाल बरसै॥[३८]

हरिवंशपुराण में यह घटना कुछ इस तरह से निरूपित की गई है। मथुरा में कंस के यहाँ जब "पांचजन्य" नामक शंख, सिंहवाहिनी शैय्या एवं अजितजय नामक धनुष प्रकट हुआ, तब ज्योतिषियों के अनुसार कंस ने यह घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति सिंहवाहिनी शैय्या पर चढ़कर अजितजय धनुष की डोरी चढ़ायेगा तथा पांचजन्य शंख को फूँकेगा, वह उत्तम होगा। कृष्ण ने यह कार्य कर दिखाया, तब कंस ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से गोपाल को यमुना नदी के उस स्थान से कमल लाने के लिए कहा, जहाँ जाना प्राणियों के लिए दुर्गम था क्योंकि वहाँ विषम साँप लहलहाते थे। कृष्ण उस ह्रद में घुसकर गये, जहाँ महाभयंकर कालिय नाग रहता था। वह अत्यन्त काला था। उसके फण पर मणियों का समूह अग्नि की तिलगी के समान लग रहा था। कृष्ण ने शीघ्र ही उस नाग का मर्दन किया तथा वहाँ से कमल लेकर लौट आये।

निजभुजबलशाली हेलयैवावगाह्य ह्रदमपि कुपितोत्थं कालियाहिं महोग्रम्।
फणमणि किरणौघोद्गीर्णवह्निस्फुलिङ्गव्यतिकरमतिकृष्णं मंक्षु कृष्णो ममर्द।
तटरुहविटपाग्रव्यग्रगोपप्रणादस्फुटहलधरधीरध्वानसंहृष्टदेहः।
भुजनिहतभुजंगः संसमुच्छित्य पद्मानुपतटमटति स्म द्राक् मरुत्वानिवासौ॥[३९] ३६/७-८

अन्य प्रसंगों की भाँति सूरसागर में यह प्रसंग भी विस्तृत स्वरूप से निरूपित हुआ है। सूर ने कालिय नाग का उपद्रव, कंदुक क्रीड़ा, ग्वाल बालों के साथ नंद-यशोदा तथा ब्रजवासियों की चिन्ता, उनकी मनोव्यथा, नागपत्नियों द्वारा कृष्ण की स्तुति, नाग के साथ कृष्ण का युद्ध, उसके फणों को नाथना, नाग द्वारा क्षमा-याचना, कृष्ण का यमुना-दह से बाहर आना एवं नंद-यशोदा का आनन्द इत्यादि प्रसंगों में कवि ने बड़े ही रोचक दृश्य उपस्थित किए हैं।

नाथत ब्याल विलम्ब न कीन्हौं।
पग सौ चाँपि धीसि बल तौरयो, नाक फोरि गहि लीन्हौ।
कूदि चढ़े ताकि माथे-पर माली करत विचार।

✣ ✣ ✣

बार कहि सरन पुकारयौ राखि राखि गोपाल।
सूरदास प्रभु प्रकट भए जब देख्यो ब्याल बिहाल॥[४०]

यद्यपि हरिवंशपुराण में यह प्रसंग सूरसागर जैसा विस्तृत नहीं है। परन्तु जिनसेनाचार्य ने इस प्रसंग को नव्य उद्भावना के आधार पर रोचकता के साथ विवेचित किया है। इस प्रसंग में कृष्ण द्वारा किये गये वीरोचित कार्य को बड़े ही भाव-पूर्ण ढ़ंग से वर्णित किया गया है। दोनों कवियों की भाव योजना साम्य रखती है एवं कृष्ण के पराक्रम दर्शाने में दोनों कृतिकारों को समान सफलता मिली है।

प्रतीकात्मकता :–

स्वामी रामतीर्थ ने कालियनाग दमन के प्रतीक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए इसके प्रतीकार्थ की निम्न प्रकार से विवेचना की है—"उन्होंने यमुना नदी को चित्त का, मन को झील का प्रतीक माना है। कृष्ण (ईश्वर) बनने के लिए व्यक्ति को अपने आप में ही गंभीर गोता लगाना पड़ता है। अपने चित्त की झील में उतरना पड़ता है। उसे अपने ही स्वरूप में गहरी डुबकी लगानी पड़ती है। जहाँ पर राग-द्वेष और इच्छा को जहरीले साँप का, दुनियादारी में फँसे हुए मन का, विषधर भुजंग का प्रतीक माना है। ज्यों-ज्यों मनुष्य हृदय तल में डुबकी लगाता है, उसे राग-द्वेष और इच्छा के जहरीले सर्पों के साथ-साथ चंचल मन रूपी विषधर का सामना करना पड़ता है। साधक को अपने हृदय में रहने वाले इन सभी विषधरों का और मन रूपी भयंकर विषधर के अनेक इच्छारूपी सिरों का मर्दन करना पड़ता है। तभी साधक का हृदय स्वच्छ हो सकता है।"[४१]

कालिय दमन को काम-विजय की कथा भी कहा जा सकता है। "काम-जीत जगत-जीत" काम पर विजय प्राप्त करके कृष्ण जैसा देवोपम व्यक्तित्व निखर सकता है और तभी मानव में देवत्व की ओज-झलक दिखाई दे सकती है। कालिय नाग काम-विकार का प्रतीक है। काम को गीता में नरक द्वार कहा गया है।[४२]

काम के कारण ही मनुष्य दुःखी और अशांत होता है। अनेक समस्याओं का मूलाधार यही "काम" है अतः कृष्ण अपने कर्म एवं आचरण द्वारा काम पर विजय प्राप्त करने का इस कालिय-नाग दमन द्वारा सुन्दर सन्देश प्रदान करते हैं।

गोवर्धन-धारण :–

श्री कृष्ण चरित्र वर्णन में गोवर्धन-धारण-लीला का पर्याप्त महत्त्व है जिसमें उनकी अपरिमेय शक्ति का परिचय मिलता है। गोवर्धन-लीला का यह प्रसंग दोनों आलोच्य कृतियों में पर्याप्त अन्तर के साथ मिलता है।

श्रीमद् भागवत पुराण के अनुसार सूरसागर में कृष्ण ब्रज के लोगों को इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा का प्रस्ताव रखते हैं। समस्त लोग उनकी सलाह के अनुसार गिरि की पूजा करते हैं। इस घटना से देवराज इन्द्र को बड़ा क्रोध आता है। वे ब्रजवासियों द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने के लिए मेघ को आदेश देते हैं कि अपनी शक्ति से ब्रज में प्रलय मचा दे। बादलों द्वारा ब्रज में मूसलाधार वर्षा होने के कारण सर्वत्र हा-हाकार मच जाता है। ऐसे समय में श्री कृष्ण इस संकटापन्न अवस्था से ब्रज को बचाने के लिए अपने हाथ से गोवर्धन को उठा लेते हैं। यह गिरि गिर न पड़े ताकि सभी ग्वाले भी अपनी लकड़ियों का टेका रखते हैं। परन्तु अन्त में इन्द्र अपनी हार मानकर चला जाता है।[४३]

सूरसागर में यह प्रसंग भी विस्तार लिए हुए है। ब्रज में इन्द्र की पूजा हेतु तैयारी, कृष्ण द्वारा इन्द्र पूजा का विरोध, गोवर्धन-पूजा, देवराज का क्रोध, ब्रजवासियों पर संकट इत्यादि प्रसंगों में उत्पन्न हर्ष, आश्चर्य, भय, आतंक, पश्चात्ताप आदि भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है। ब्रज के लोगों द्वारा गिरि पूजन के लिए जाने का दृश्य द्रष्टव्य है—

बहुत जुरे ब्रजवासी लोग।
सुरपति पूजा मेटि, गोवर्धन पूजा कै संजोग।
जोजन बीस एक अरु अगरौ, डेरा इंहि अनुमान।
ब्रजवासी नर-नारी अंत नहिं, मानौ सिन्धु समान।
इक आवत ब्रज तैं इतही कौं, इक इततैं ब्रज जात।
नंद लिए सब ग्वाल सूर प्रभु, आइ गए तहँ प्रात॥[४४]

इन्द्र द्वारा कोप करने पर ब्रज पर आये भयंकर बरसात का वर्णन भी सूरसागर में देखते ही बनता है—

(गगन) मेघ घहरात थहरात गाता।
चपला चमचमाति चमकि नभ भहरात राखि क्यौं न ब्रज नंद-ताता।

✣ ✣ ✣

करज कैं अग्र भुज बाम गिरिवर धरयौ, नभ गिरिधर भक्त काजैं।
सूर प्रभु कहत ब्रज-बासि-बासिनिनि राखि तुम लियौ गिरिराजराजैं।[४५]

हरिवंशपुराण में जिनसेनाचार्य ने कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण का अन्य रूप बताया है। कंस ने कृष्ण को मारने के लिए एक देवी को भेजा। उस देवी (पिशाची) ने श्री कृष्ण को मारने के लिए ब्रज पर तीव्र पाषाणमयी वर्षा की, कृष्ण इन पत्थरों की वर्षा से तनिक भी नहीं घबराये वरन् उन्होंने गोकुल की रक्षा के लिए अपनी विशाल भुजाओं से गोवर्धन पर्वत को ऊँचा उठाया एवं उसके नीचे सब की रक्षा की।

कुदेवपाषाणमयातिवर्षैरनाकुलो व्याकुलगोकुलाय।
दधार गोवर्धनमूर्ध्वमुच्चैः सभूधरं भूधरणोरुदोर्भ्याम्॥[४६] ३५/४८

सूरसागर में इस घटना से सम्बन्धित दो लीलाओं का वर्णन मिलता है। उनका यह वर्णन भी विस्तृत स्वरूप पा गया है। हरिवंशपुराण में इस घटना के सम्बन्ध में मात्र एक श्लोक मिलता है। दोनों कवियों ने श्री कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण की बात कही है परन्तु गिरिधारण के कारण अलग-अलग है। हरिवंशपुराण में कृष्ण अकेले गोवर्धन को उठाते हैं जबकि सूरसागर में वे सब के सहयोग से इस भगीरथ कार्य को करते हुए दिखाई देते हैं। सूरसागर का यह प्रसंग हरिवंशपुराण से सूक्ष्म अभिव्यंजना की दृष्टि से उच्च कोटि का है।

प्रतीक अर्थ :–

गोवर्धन-लीला का निरूपण श्री कृष्ण के महत्त्व प्रतिपादन की दृष्टि से किया गया है। यह सेवा हरिसेवा के लिए प्रोत्साहित करती है। हरि सभी संकटों से अपने स्वजनों की रक्षा करते हैं अतः सभी अवस्थाओं में हरि की सेवा करनी चाहिए।

प्रसिद्ध भागवत कथा प्रवचनकार श्री डोंगरे महाराज ने इस लीला के सम्बन्ध में कहा है कि—"इस लीला का यथार्थ संदर्भ यह है कि गोवर्धन में गो का मतलब होता है-'भक्ति या ज्ञान'। गोवर्धन-लीला अर्थात् ज्ञान और भक्ति को बढ़ाने वाली लीला। ज्ञान और भक्ति को बढ़ाने से ही देह का अभिमान दूर होता है।"[४७]

प्रस्तुत लीला में संगठन एवं सहयोग का भी सुन्दर भाव व्यक्त हुआ है। श्री कृष्ण के साथ सभी ने उस पर्वत को उठाने में अपना सहयोग दिया था। सहयोग से कठिन कार्य भी आसानी से हल हो सकता है, उसका यह सुन्दर उदाहरण है।

श्री कृष्ण द्वारा दावानल-पान :–

श्रीमद् भागवत में यह कथा आती है कि एक बार ब्रजवासी अपनी गायों सहित यमुना तट पर सो गये। आधी रात के समय वहाँ भयंकर आग लग गई। आकाश में अग्नि की भयंकर ज्वालाएँ उठने लगीं। आग ने उन सब को चारों ओर से घेर लिया और उन्हें जलाने लगी। तब सभी श्री कृष्ण की शरण में गये और उससे बचाने के लिए प्रार्थना करने लगे। उस समय श्री कृष्ण उस भयंकर आग का पान कर गये।[४८]

सूरसागर में कवि ने इस घटना को अपनी मौलिकता के आधार पर कंस से सम्बन्धित बताया है। दसों दिशाओं में आग का फैलना, आग की लपटों से भयभीत ब्रजवासी, कृष्ण द्वारा सांत्वना तथा दावानल-पान करना इत्यादि प्रसंग इस लीला में निरूपित किये गये हैं। ब्रज के लोगों की अकुलाहट का दृश्य देखिये—

ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि, दसहुँ दिसा कहुँ पार न पाइ।
झरहरात ब्रज-पात गिरत तरु, धरनी तराकि सुनाइ।
जल बरबत गिरिवर-तर बाँचे, अब कैसैं गिरि होत सहाइ।
उचटत भरि अंगार गगन लौं, सूर निरखि ब्रज-जन बेहाल॥[४९]

महाकवि सूर ने जहाँ इस प्रसंग को बड़े मनोयोग से चित्रित किया है। वहाँ जिनसेनाचार्य ने इसे उल्लेखित नहीं किया है। यह घटना भी श्री कृष्ण की शक्ति सम्पन्नता एवं अपरिमेय बल की परिचायक है।

प्रतीक अर्थ :–

दावाग्नि को प्राणाध्याय का प्रतीक माना जाता है। प्राणात्मवादी प्राण को ही आत्मा मानते हैं। भूख-प्यास एवं पाचन क्रिया प्राण का धर्म है। अत: प्राण को अग्नि कहा जाता है। साधक का प्राणों का पोषण करना भी असुर भाव या पशुता है।

भूख-प्यास को ही मिटाने वाला साधक कभी सफल नहीं हो सकता है अत: प्राणों को संतुलित रखने के लिए साधना मार्ग के व्रत-उपवास, प्राणायाम आदि आवश्यक अंग माने गये हैं। श्री कृष्ण रूपी भावना या ज्ञान इस प्राणाध्यास (दावानल) का पान कर भक्ति की सफलता का मार्ग प्रशस्त करते हैं एवं मुक्ति के मार्ग को अवसर देते हैं।[५०]

दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो—"अग्नि का कार्य जलाना है। योग भी अग्नि है जो विकर्मों, पापों को भस्म कर देती है। श्री कृष्ण जैसा देवोपम व्यक्ति भी इस अग्नि में तपकर उसका पान कर ही निखर सकता है।"[५१]

श्री कृष्ण की रसिक लीलाएँ :–

जब बालक्रीड़ा यौवन-क्रीड़ा में बदल जाती है और बालजीवन के साथी यौवनानुभूतियों के संवाहक बन जाते हैं तो कृष्ण के एक सर्वथा नये स्वरूप का उदय होता है। यह रूप काव्य में श्रृंगार और भक्ति के मधुररस के नाम से उल्लेखित किया गया है। महाकवि सूरदास ने तो इस रस के दोनों पक्षों (संयोग तथा वियोग) का बड़ा खूबी के साथ वर्णन किया है। श्रृंगार रस का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है, जिसे सूर ने अपनी बंद आँखों से भली प्रकार से न देख लिया हो। उनके श्रृंगार के भाव अपने एक स्वाभाविक क्रम में पुष्ट होकर विकास की पूर्ण दशा तक पहुँचे हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का मधुर भाव जीवन के प्रभात से ही विकसित होकर संभोग की विविध लीलाओं में शनैः-शनैः पुष्ट होकर अन्त में विप्रलम्भ की आँच में निखर कर परमोज्ज्वलता को प्राप्त करता है।[५२]

यद्यपि जिनसेनाचार्य शृंगार के कवि नहीं हैं परन्तु उनकी कृति में इस रस का भी यत्र-तत्र सुन्दर परिपाक मिलता है। उन्होंने श्री कृष्ण की इन रसिक लीलाओं का सूर जैसा विशद एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर परिपुष्ट वर्णन नहीं किया है। ये घटनाएँ भी सूरसागर के अनुसार श्री कृष्ण के जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर हमें विचारने को विवश करती हैं। इन प्रसंगों का वास्तविक रहस्य क्या है? इसे भी समझना परमावश्यक है अतः हरिवंशपुराण में इन घटनाओं का स्वल्प वर्णन होने के उपरान्त भी सूरसागर के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करने का यहाँ प्रयास किया जायेगा।

सूरसागर में गोपियों के साथ में श्री कृष्ण के प्रेम-विकास का क्रमबद्ध निरूपण मिलता है, जिसका हरिवंशपुराण में अभाव है। रसिकलीलाओं में भी हरिवंशपुराण सूरसागर से पीछे है। इन्हीं विशेषताओं को दृष्टि में रखकर कृष्ण की इन लीलाओं का हम यहाँ विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

रासलीला :–

शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्र शुभ आकाश पर चढ़कर कृष्ण की रासलीला देखने को आतुर हो रहा है। ऐसी पूर्ण चन्द्रमयी रात्रि में श्री कृष्ण गोपियों के आह्वान के लिए वेणु-वादन करते हैं। मुरली का स्वर सुनते ही गोपियाँ भाव-विह्वल हो जाती हैं। वे अपने पति इत्यादि की मर्यादाओं को तोड़कर शीघ्र कृष्ण के पास दौड़ी आती है, जैसे बीन विमोहित सर्प बीन की ध्वनि पर गारूड़ी के पास पहुँच जाता है। यमुना का मनोरम तट और चारों ओर अपनी सुगन्धमयी मुस्कराहट फैलाते हुए फूल ऐसे मनमोहक वातावरण में लगता है कि प्रकृति भी अपने सुन्दर रंगबिरंगे वस्त्र पहिने अपने सौभाग्य पर मुस्करा रही है। रोम-रोम को पुलकित करने वाला शीतल, मंद, सुगंधित पवन बह रहा है। प्रकृति की प्रसन्नावस्था में मोहन की बंशी-विमोहित मण्डली रास करने जा रही है।

सूरसागर में रासलीला का अत्यधिक रोचक और चित्ताकर्षक वर्णन है। इस वर्णन में कवि शिरोमणि सूर की तन्मयता एवं कल्पनाशीलता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। कृष्ण के वेणुवादन से गोपियाँ इतनी तन्मयता को प्राप्त कर गई हैं, वे इतनी प्रेमान्मत हो गई हैं कि वे वस्त्राभूषण तक स्थानान्तर पर धारण कर लेती हैं। इस लीला में गोपियों की प्रेम जन्य उत्सुकता एवं उत्कटता देखते ही बनती है। गोपियों की अनुरक्ति का सब से बड़ा प्रमाण इसी रास-लीला में मिलता है।

करत शृंगार जुवति भुलाहीं।
अंग-सुधि नहीं उलटे बसन धारहिं एक एकहि कछू सुरति नाहीं।
नैन-अंजन अधर आँजही हरष सौं, स्रवन ताटक उलटे सँवारैं।
सूर प्रभु-मुख-ललित बेनु धुनि बन सुनत चलीं बेहाल अंचल न धारैं।।[५३]

गोपियाँ प्रेमातिरेक में मिलने की संभावना से उत्पन्न हर्ष और अनुराग के कारण शीघ्रता में भूषणादि स्थानान्तर पर धारण कर अर्धरात्रि के समय सहसा घर से बाहर निकलने लगती हैं। उन्हें देखकर उनके स्वजन उन्हें इस अनुचित कार्य के लिए मना करते हैं। गोपियाँ तो पागल बन गईं थी अत: वे निवारित होने पर भी भाद्र-पद के तेज जल प्रवाह की भाँति कृष्ण को मिलने के लिए दौड़ पड़ी।

चली बन बेनु सुनत जब धाइ।
मातु-पिता-बांधव अति त्रासत जाति कहाँ अकुलाइ।
सकुच नहीं संका कछु नहीं, रैनि कहाँ तुम जाति।
जननि कहति दई की घाली, काहे को इतराति।
मानति नहीं और रिस पावति निकसी नातौ तोरि।
जैसे जल-प्रवाह भादौ को, सो को सकै बहोरि॥[५४]

इस पद में गोपियों की उत्कंठा एवं औत्सुक्य का सुन्दर वर्णन हुआ है। जब वे ऐसी अवस्था में कृष्ण के पास पहुँची तो उनके मन में हर्ष का समुद्र लहरें लेने लगा। वे परम आश्वस्त हुई परन्तु श्री कृष्ण भी रसिक ठहरे, उन्होंने कौतुक वश उनके अनन्य माधुर्य भाव की परीक्षा लेने की ठानी। गोपियों के इस अनुचित व्यवहार के लिए वे उन्हें डाँटने लगे। कृष्ण का ऐसा व्यवहार देखकर गोपियाँ निष्प्रभ हो गईं परन्तु कृष्ण की चतुराई को समझकर कहने लगी कि मोहन! तुम्हारी वंशी ने हमें नाम लेकर बुलाया है। कृष्ण कहते हैं कि तुम अच्छे घरों की बहू-बेटियाँ हो, अर्द्धरात्रि को दौड़कर आई हो, तुम सब ने अच्छा नहीं किया। अब भी समय है, अपने-अपने घर चली जाओ। तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हें रोका नहीं?

गोपियाँ कृष्ण के इस प्रकार के प्रतिकूल व्यवहार से अतीव कातर हो उठीं, उनके निष्ठुर व्यवहार से उनका मुख कुम्हला गया। हृदय टूट गया। सूर ने गोपियों के हर्ष एवं विषाद का बड़ा मनभावन निरूपण किया है।

गोपियों का हर्ष :—

देखि स्याम मन हरष बढ़ायौ।
तैसिय सरद चाँदनी निर्मल, तेसोइ रास-रंग उपजायौ।
तैसिय कनक-बरन सब सुंदरि, इहिं सौभा पर मन ललचायौ॥[५५]

गोपियों द्वारा श्री कृष्ण को दिया गया प्रत्युत्तर देखिये सूर के इस पद में :—

कैसे हमको ब्रजहि पठावत।
मन तौ रह्यौ चरन लपटान्यौ, जो इतनी यह देह चलावत।
अटकै नैन माधुरी मुसुकति अमृत वचन स्रवननि को भावत।
इनको करि लीन्हें, अपने तुम तो क्यौं हम नहीं जिय भावत।
सूर सैन दे सरबस लुट्यौ, मुरली लै-लै नाम बुलावत॥[५६]

गोपियाँ श्री कृष्ण को कहती हैं कि—आप कृपासिन्धु हैं, आप अपने इस विरुद की लज्जा रखो। तुम्हें पाकर हम वापस कैसे लौट जाए। हमने अपना सर्वस्व तुम्हें माना है, इसलिए हम यहाँ आई हैं। हम अपने प्राण त्याग देंगी, परन्तु हमें वापस जाने पर विवश मत करो। हमारे पर अनुकम्पा करके हमसे प्रेमपूर्वक बात करो।

गोपियों की ऐसी करुणता देखकर कृष्ण ने जान लिया कि ये परीक्षा की कसौटी में सम्पूर्ण रूप से खरी उतरी हैं। गोपियों की ऐसी अन्धता से प्रसन्न होकर कृष्ण उन्हें रास के लिए प्रस्तुत हो जाने का आदेश देते हैं। रास की यह आज्ञा सुनते ही बादल में बिजली की भाँति गोपिकाओं के बदन हर्ष से चमक उठे। गोपियों और कृष्ण का यह संवाद सूर ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता के आधार पर एवं नाटकीयता के साथ निरूपित किया है। इस लीला में कृष्ण चरित्र में जहाँ गौरवशीलता एवं मर्यादा का मिश्रण है, यहाँ गोपियों में प्रेम-कातरता, स्नेहशीलता एवं दयनीयता का अनुपम संयोग है।

रास के आदेश से गोपियों में ऐसा हर्षावेश हो गया, जो वर्णनातीत है। प्रस्तुत है सूरसागर का यह पद—

हरि-मुख देखि भूले नैन।
हृदय हरषित प्रेम गदगद, मुख न आवत बैन॥
काम-आतुर भजीं गोपी हरि मिले तिहिं भाइ।

मिलति इक-इक भुजति भरि-भरि रास रुचि जिय आनि।
तिहि समय सुख स्याम-स्यामा, सूर क्यौं कहे गानि॥[५७]

श्री कृष्ण भी अपने रास प्रस्ताव के पश्चात् स्वयं की ढिठाई पर पश्चात्ताप करते हैं तथा अत्यन्त विनम्र एवं दीन बनकर गोपियों से क्षमायाचना करते हैं। वे स्वयं को असाधु और गोपियों को साधु घोषित करते हैं—

स्याम हंसि बोले प्रभुता डारि।
बारबार विनय कर जोरत, कटि-पट गोद पसारि।
तुम सनमुख मैं विमुख तुम्हारौं, मैं असाधु तुम साध।
धन्य धन्य कहि कहि जुवतिनि कौं, आपु करत अनुराध॥[५८]

इसके पश्चात् रास शुरु होता है। कवि ने अपनी मौलिकता के आधार पर मधुर भावों की बड़ी भावपूर्ण अभिव्यंजना की है। इसमें संभोग शृंगार तथा विप्रलंभ शृंगार के समस्त भावों का निरूपण हुआ है। जब गोपियों को अहम् हो गया तो भगवान् अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। गोपियाँ कृष्ण-वियोग में विह्वल होकर वन-वन भटकती हैं। वे सभी लता-द्रुम से कृष्ण के बारे में पूछती हैं। उधर राधा भी अत्यन्त व्याकुल तथा विक्षिप्त अवस्था में मिलती है। राधा की व्याकुलता का भावपूर्ण अंकन देखिये—

जौ देखैं द्रुम के तरै मुरझी सुकुमारी।
चकित भउ सब सुंदरी यह तो राधा री।
याहि कौं खोजति सबै, यह रही कहाँ री।
धाइ परीं सब सुन्दरी, जो जहाँ-तहाँ री।
तन की तनकहुँ सुधि नहीं व्याकुल भई बाला।
यह तौ अति बेहाल है, कहँ गए गोपाला॥[५९]

इसके पश्चात् कृष्ण पुनः प्रकट होते हैं, महारास प्रारम्भ होता है। महारास में संभोग के अनेक भाव निरूपित हैं। उसके पश्चात् जल-विहार का भी वर्णन आता है।

जिनसेनाचार्य ने अपनी कृति हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण की इस मधुर लीला का स्पष्ट उल्लेख किया है। परन्तु यह वर्णन सूरसागर जैसा न तो भावपूर्ण है और न ही विस्तृत। आचार्यजी ने इस प्रसंग में संयोग-वियोग दोनों दशाओं को संक्षेप में निरूपित किया है।

श्रीकृष्ण जब कुमारावस्था को प्राप्त करते हैं, उस समय वे अत्यन्त ही निर्विकार और कोमल हृदय को धारण कर अतिशय यौवन के उन्माद से भरी एवं प्रस्फुटित स्तनों वाली गोप-कन्याओं के साथ रास-क्रीड़ा करते थे। इस रास-क्रीड़ा के समय वे गोपकन्याओं के लिए अपने हाथ की अंगुलियों के स्पर्श का सुख प्रदान कराते थे परन्तु वे स्वयं अत्यन्त निर्लिप्त रहते थे। जैसे अंगुठी में जड़ी हुई मणि स्त्री के हाथ की अंगुली से स्पर्श करने के बावजूद भी निर्विकार रहती है।

स बालभावात्सुकुमारभावस्तथैवमुद्भिन्नकुचाः कुमारः।
सुयौवनोन्मादभराः सुरासैररीरमत्केलिषु गोपकन्याः॥
करांगुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो मुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः॥[६०] ३५/६५-६६

इस रासलीला के समय गोपियों को कृष्ण से मिलने का अत्यधिक अनुराग सुख मिलता था। रास-लीला सबके मन को आनन्द देने वाली थी। इस लीला से सभी की प्रसन्नता बढ़ जाती थी परन्तु इसका अभाव सभी को विरहजन्य संताप प्रदान करने वाला था।

जिनसेनाचार्य ने रासलीला की मधुरता को स्वीकार करने के बाद श्री कृष्ण को इस लीला में संलग्न होने पर भी उन्हें निर्लिप्त बताया है। कवि ने कृष्ण की गौरवता एवं चरित्रता को बड़े ही सुन्दरता के साथ वर्णित किया है। रासलीला समस्त गोपियों के लिए हर्ष को बढ़ाने वाली थी परन्तु उनका विरहानुराग भी विह्वलता से युक्त था। पुराणकार ने गोपियों के हर्ष अथवा शोक के मनोभावों को प्रकट नहीं किया है वरन् उन्होंने इसका उल्लेख या संकेत मात्र किया है।

यथा हरौ भूरिजनानुरागो जगाम वृद्धिं हृदि वृद्धिसूची।
तथास्य तेने विरहानुरागो विहारकाले विरहातुरस्य॥

सूरसागर में संयोग एवं वियोग के अनेक मनोभावों युक्त रास-लीला को वर्णित किया गया है वैसे ही हरिवंशपुराण भी श्री कृष्ण की इस मधुर लीला को स्वीकारता है। जिनसेनाचार्य ने इस वर्णन में सूरदास जैसे अत्यन्त विस्तृत एवं वैदग्ध्य युक्त चित्रण प्रस्तुत नहीं किये हैं। परन्तु उनका रासलीला-चित्रण तथा श्री कृष्ण की निर्लिप्तता का भाव साम्य रखता है।

रासलीला का प्रतीक अर्थ :–

श्री कृष्ण की रासलीला के सम्बन्ध में उन पर अनेक आक्षेप लगाये जाते हैं परन्तु वास्तव में यदि रासलीला के प्रतीक अर्थ को समझा जाय तो यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यह लौकिक कामनाओं से युक्त न होकर जीव और ईश्वर का अलौकिक मिलन है। अनेक दार्शनिक ग्रन्थों में इसके प्रतीकार्थ का सविस्तार विवेचन मिलता है। उन्होंने रास-लीला को ब्रह्मानन्द से उत्कृष्ट मानकर इसे भजनानंद की संज्ञा दी है।

भागवत की रास पंचाध्यायी को भक्तगण भागवत के पाँच प्राण मानते हैं। गोपियों को ''वल्लभाचार्य'' ने भगवान् की सिद्धि स्वरूपा शक्तियाँ माना है तथा इनके साथ क्रीड़ा करने को भगवान् का अपरोक्ष-भोग कहा है। गोपियों का परिवार व समाज व्यवहार को त्याग कर जाना उनका धर्म, अर्थ तथा काम का परित्याग है। भगवान् के रमणरूपी फल को प्राप्त करने के लिए विवेक और वैराग्य साधनों की सिद्धता आवश्यक है। गोपियों ने अपने गृह-व्यवहारों का त्याग कर इन्हीं विवेक और वैराग्य साधनों को सिद्ध किया।[६१]

गौडीय सम्प्रदाय के अनुसार ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति-विशेष द्वारा श्री कृष्ण एवं गोपियों के परस्पर प्रीति-विधान का नाम रमणलीला है। जीव को संसार में भेजकर वहाँ दुःख भोगने के द्वारा संसार की अनित्यता और असारता को अच्छी तरह समझकर उसे सुखमय चिद्घन स्वरूप आत्मस्वरूप में सुप्रतिष्ठित करने में प्रधान हेतु रूप उसकी सुखानुभूति की जो इच्छा है-यह इच्छा ही भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष है।[६२]

पनघट लीला :–

रासलीला के पश्चात् कृष्ण की मधुरलीलाओं में दूसरी लीला पनघट लीला है। सूरसागर में रास-लीला की तरह इस लीला में भी संभोग शृंगार के सभी भावों एवं अनुभावों की प्रभावोत्पादक अभिव्यंजना है। श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं के वर्णन में सूरसागर हरिवंशपुराण से अत्यधिक आगे है। हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण की रसिक लीलाओं में मात्र रासलीला का वर्णन मिलता है परन्तु सूरसागर में तो ऐसी अनेकानेक लीलाओं का सुन्दर विवेचन है। सूरसागर की ऐसी लीलाओं में पनघट-लीला भी एक है।

यह लीला सूर की मौलिक सूझ है। रसिकेश्वर श्री कृष्ण ने जब अपना समय छेड़-छाड़ में व्यतीत करना प्रारम्भ किया, उस समय अपनी गतिविधियों का केन्द्र "पनघट" बनाया। वे यमुना जल को भरकर आने वाली गोपियों के गागर को ढ़रका देते हैं। किसी की इंडुरी फैंक देते हैं तो किसी की गागर फोड़ देते हैं एवं किसी के चित्त को चुरा लेते हैं।

काहू की गगरी ढ़रकावैं। काहू की इंडुरी फटकावैं।
काहू की गगरी धरि फोरैं। काहू के चित्त चितवन चोरैं॥[६३]

इससे भी आगे बढ़कर श्री कृष्ण किसी की बाँह मरोड़ देते हैं, किसी की अलकें पकड़ लेते हैं, बरजोरी से किसी को अपने भुजापाश में आबद्ध कर देते हैं। गोपियाँ कृष्ण की इन शरारतों से बाहर से खीझ प्रकट करती हैं परन्तु इतना होने पर भी वे अन्दर से इतनी मुग्ध हैं कि उन्हें कृष्ण की लीलाएँ अत्यधिक आनन्द प्रदान करने वाली लगती हैं। ऐसी मुग्ध अवस्था में वे अपना मार्ग भटक जाती हैं। एक गोपिका के बाहर से संकुचित होने पर भी भीतर से पुलकित होने का चित्रण द्रष्टव्य है—

छाँड़ि देहु मेरी लट मोहन।
कुच परसत पुनि-पुनि सकुचत नहिं कत आई तजि गोहन।
जुवति आनि देखि है कोऊ, कहति बंक करि भौंहन।
बार-बार कही वीर दुहाई, तुम मानत नहिं सौंहन।
इतने ही को सोह दिखावति, मैं आयो मुख जोहन।
सुर स्याम नागरि बस कीन्ही विबस चली घर कोह न।[६४]

इससे आगे गोपिका अपनी मुग्धावस्था में मार्ग भटक जाने पर अपनी लट पर रोष प्रकट करती है। वह सोचती है कि मनमोहन कृष्ण ने इसी को छटका मेरी यह दशा की है। सूर की भावपूर्ण अभिव्यंजना देखते ही बनती है—

चली भवन मन हरि-हरि लीन्हौं।
पग द्वे जाति ठठकि फिरि हेरति, जिय यह कहति कहा हरि कीन्हौं।
मारग भूलि गई जिहिं आई, आवत कै नहिं पावति चीन्हौं।
रिस करि खीझि खीझि लट झूटकति स्याम-भूजनि छुटकायौ इन्हौं।
प्रेम-सिन्धु मैं मगन भई तिय हरि कैं रंग भयौ उर लीनौ।
सूरदास-प्रभु सो चित अँटक्यौ, आवत नहिं इत उतहिं पतीनौं।[६५]

सूरदास ने इस प्रसंग में गोपिका का ठिठकना, बारम्बार पीछे मुड़कर देखना, अपना मार्ग भटकना तथा अपनी विचित्र मनोदशा इत्यादि का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है।

कवि शिरोमणि सूर ने जल भर के ठिठक-ठिठक कर चलती, अपने नेत्रों को मटकाती, अपने मुख को डुलाती, अपनी बंकिम भौंहों को चलाती हुई गोपियों के विविध हाव-भावों का अप्रतिम वर्णन किया है।

सूर ने गोपियों की चाल को मदमस्त हथिनियों की उपमा दी है तथा कृष्ण को गजपति के रूप में चित्रित किया है। ऐसा भावपूर्ण चित्रण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गोपियाँ कृष्ण के इस धृष्टतायुक्त कृत्य से परेशान हैं परन्तु उनके अन्तर्गत माधुर्य का स्रोत भी छिपा हुआ है।

श्री कृष्ण की इस पनघट लीला में दो प्रसंग उल्लेखनीय हैं। एक प्रसंग में गोपियाँ कृष्ण की उद्दण्डता की शिकायत करने के लिए यशोदा के पास जाती हैं। यशोदा उन्हें समझा-बुझाकर घर लौटाती हैं। कृष्ण को भी डर होता है कि आज मेरी शिकायत अवश्य होगी, वे सकुचाते घर लौट रहे होते हैं कि गोपियाँ उन्हें घर से बाहर ही मिल जाती हैं। कृष्ण अपने शिकायत के प्रत्युत्तर के लिए बड़ी चतुरता के साथ माँ यशोदा से कहते हैं कि—हे माँ! तू मुझे ही डाँटना तथा मारना जानती है। उन सब की शरारतों को नहीं समझती। वे मुझे ही बुलाती हैं तथा अनेक बातें गढ़-गढ़ कर तुझे भी कुछ कह कर चली जाती हैं और तू मान लेती है। उनके मटकने से उनकी गागर गिर गयी। इसमें मेरा क्या दोष? कृष्ण की ऐसी बातें सुनकर माँ का क्रोध दूर हो जाता है। तब वह यह कहती है कि गोपियाँ झूठी बातें बनाकर मेरे तनक से कन्हैया पर दोष लगाती हैं परन्तु वे सब यौवन-मद की मतवारी हैं।

चतुर कृष्ण द्वारा माँ को गोपियों के दोष का चित्रण सूर के इस पद में देखिये—

तू मोहीं कौं मारन जानति
उनके चरित कहा कोउ जानै, उनहिं कही तू मानति।
कदम-तीर तै मोहि बुलायौ गढ़ि-गढ़ि बातै बानति।
मटकत गिरि गागरी सिर तैं, अब ऐसी बुधि ठानति।
सूर सुतहि देखत ही रिसगई, मुख चूमति उर आनति।[६६]

दूसरे प्रसंग में एक गोपिका यमुना तट पर जल भरने गई। श्री कृष्ण वृक्ष की ओट में छिप गये। जैसे ही वह युवती गागर भर के घर की ओर चलने लगी, कृष्ण ने उसकी गागर को ढ़रका दिया। गोपिका भी अत्यन्त चतुर निकली, उसने कृष्ण की कनक लकुटी को छिन लिया। वह कहने लगी, जब तक यह घड़ा तुम मुझे यमुना जल से भरकर नहीं दोंगे, मैं यह लकुटी नहीं दूँगी। कृष्ण अनुनय करने लगे कि, मैं तुम्हें जल भर दे दूँगा पर तू मेरी लकुटी वापस कर। अन्त में कृष्ण उसे उस दिन की बात याद कराके लकुटी देने पर विवश करते हैं जिस दिन उन्होंने सबके चीर हर लिये थे। यह बात सुनते ही गोपिका भावमग्न हो जाती है, उसके हाथ से लकुटी कब छूट पड़ती है, उसे कुछ पता नहीं।

(क) जुवति इक आवति देखी स्याम।
द्रुम कै ओट रहे हरि आपुन, जमुना तट गई बाम।
जल हलोरि गागरि भरि नागरि, जबहीं सीस उठायौ।
घर कौं चली जाए ता पाछै सिर तैं घट ढरकायौ।
चतुर ग्वालि करि गह्यौं स्याम कौ, कनक लकुटिया पाई।
औरनि सौ करि रेह अचगरी, मोसौं लगत कन्हाई।
गागरि लै हँसि देत ग्वारि कर रीतौं घट नहिं लेहौं।
सूर स्याम ह्यौं आनि देहु भरि तबहि लकुट कर देहौं॥[६७]

(ख) घट भरि देहु लकुट तब देहौं।
हौं हू बड़े महर की बेटी, तुम सौं नही डरेहौं।
मेरी कनक-लकुटिया दे री, मैं भरि देहौं नीर।
बिसरि गई सुधि ता दिन की, तोहिं हरे सबन के चीर।
यह बानी सुनि ग्वारि बिबस भई, तनको सुधि बिसराई।
सूर लकुट कर गिरत न जानी, स्याम ठगौरी लाई।[६८]

गोपिका की विचित्र दशा देखकर कृष्ण गागर भरकर उसके सिर पर रख देते हैं। वह चलने को प्रस्तुत होती है परन्तु ऐसी मनोदशा के कारण उसे रास्ते में कुछ नहीं सूझता। उसकी आँखों में तो कृष्ण ही समाये हुए हैं। वह जहाँ भी दृष्टि फैंकती है, उसे कृष्ण ही कृष्ण दीख पड़ते हैं। वह किन आँखों से अपने मार्ग को निहारे।[६९] कृष्ण के प्रति गोपिका के अंतिम तल्लीनावस्था का भाव चित्रण देखते ही बनता है।

उपर्युक्त विवेचनानुसार सूरसागर में पनघट लीला का बड़ा ही नाटकीय एवं नैसर्गिक भाव विकास मिलता है। सूर को इस वर्णन में बड़ी सफलता मिली है।

प्रतीक अर्थ :-

महाकवि सूर ने इस प्रसंग को बड़ा ही रसिक एवं शृंगारपरक बनाया है परन्तु जहाँ तक इसके प्रतीक अर्थ की बात है तो यह भौतिक शरीर मिट्टी का घड़ा है, जो एक कंकरी की चोट से फूट जाता है। यह नश्वर है, क्षण-भंगुर है। इस पर गर्व कैसा? सनातन सत्य तो उस घड़े में छिपी आत्मा है जो ईश्वरीय प्रेम-रस से सिक्त है। घड़े रूपी शरीर के मिथ्याभिमान को छोड़े बिना आत्मा का प्रभु से मिलन सम्भव नहीं है। परमात्मा ही इस घड़े से उपरान्त आत्मस्थिति का वास्तविक अनुभव कराता है।

दानलीला :-

भागवत इत्यादि जिन ग्रन्थों में श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, उनमें दान-लीला का प्रसंग नहीं है परन्तु सूरदासजी ने अपनी कृति में इन लीलाओं को पर्याप्त स्थान

दिया है। पनघट-लीला की तरह यह लीला भी सूर की मौलिक सूझ है। पनघट पर पानी भरती युवतियों की मटकियाँ फोड़-फोड़ कर कृष्ण और भी ठीढ़ हो गये हैं। उनकी शरारतें और भी बढ़ गई हैं। जब गोकुल की स्त्रियाँ मक्खन लेकर मथुरा में बेचने जाती हैं तो श्री कृष्ण एक दल बनाकर उन स्त्रियों को लूटना तथा लूट का माल बाँटकर खाना प्रारम्भ करते हैं। लूट रुपयों, पैसों की नहीं वरन् मक्खन की होती है। कृष्ण उन गोपियों का मार्ग रोककर उनसे पहले दान माँगा करते थे। वे गोपियों से दान याचना निम्न प्रकार से करते हैं—

दान दिये बिनु जान न पैहों।
जब देहौं ढराइ सब गोरस तबहिं दान तुम देहौं।[७०]

गोपियाँ कृष्ण की इस बात पर आश्चर्य व्यक्त करती है और उत्तर देती है कि—तुम कब से दान माँगने वाले हो गये हो। हम तो नंद बाबा के लिहाज से तुझे छोड़ रही है वरना अपने किए का स्वाद कभी का चखा दिया होता।

तुम कबके जु भए हौ दानी।
मटुकी फोरि हार गहि तौरयों इन बातनि पहिचानी।
नंद महर की कानि करति हौं न तु करती मेहमानी।[७१]

दानलीला के प्रसंग में गोपियों तथा कृष्ण के बीच कलह बढ़ जाता है। गोपियाँ कृष्ण पर नाराज हो जाती है, कृष्ण को अनेक उपालम्भ देती हैं। कृष्ण को बुरी तरह से झिड़कती है परन्तु कृष्ण पर इन सबका प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता है। वे अत्यन्त खीझकर किसी के गले का हार तोड़ देते हैं, किसी की कंचुकी फाड़ डालते हैं, किसी का दहिमाखन, किसी के बर्तन नीचे लुढ़का देते हैं। कृष्ण की ऐसी शरारतों से बाज न आने पर गोपियाँ माँ यशोदा के पास जाती हैं परन्तु यशोदा उलटा उन्हें झिड़कती है—

मैं तुम्हरें मन की सब जानी।
आपु सबै इतराति फिर तिहीं, दूषन देति स्याम कौ आनि।
मेरो हरि कहँ दसहिं बरस को, तुम री जोबन मद उमदानी।
लाज नहीं आवति इन लँगरिनि, कैसे द्यौं कही आवति बानी।
आपुहिं तोरि हार चोली बँद, उर नख-घात बनाई निसानी।[७२]

यशोदा की ऐसी बात सुनकर गोपियाँ बेचारी क्या करतीं? वे चुपचाप वापस लौट आती हैं। कृष्ण अब अपने सखाओं के साथ गोपियों से दान माँगना प्रारम्भ करते हैं। वे उनसे कहते हैं कि—ऐसी छोटी-सी बात को बड़ी बनाना अच्छा नहीं है। हम जो तुमसे माँग रहे हैं, उसे तुरंत देकर इस झंझट से मुक्ति पाओ। इसी में तुम्हारी भलाई है—

मोसों बात सुनहु ब्रज नारी।
इक उपखान चलत त्रिभुवन मैं, तुमसो कहो उघारी।
कबहूँ बालक मुँह न दीजिये, मुँह न दीजियै नारी।[७३]

गोपियाँ श्री कृष्ण की ऐसी बातें सुनकर और भी क्रुद्ध हो जाती है। वे उनके द्वारा की गई माखन चोरी तथा उखल बन्धन की बातें करके कहती हैं कि कृष्ण अब तो अपनी शरारतों को छोड़कर कुछ सभ्य बनो। तब कृष्ण अपने द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने इत्यादि अलौकिक बातों की चर्चा करते हैं परन्तु गोपियाँ कृष्ण की हर बात पर उपहास करती हैं। कृष्ण फिर भी उनका मार्ग रोके खड़े रहते हैं, तब वे अपने पतियों को बुलाने की धमकी देती है। श्री कृष्ण कहते हैं कि अपने घर वालों को ही नहीं, मथुरा के राजा कंस को बुला लो, मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। इस पर गोपियाँ कहती हैं जो तुम दान माँगने वाले राजा हो तो अपने मोर मुकुट तथा पिताम्बर छोड़कर चँवर छत्रधारी किसी राजसिंहासन पर क्यों नहीं बैठते?[७४] राजधानी "नीकी" है। कृष्ण की ऐसी प्रेम भरी बातें सुनकर भोली-भाली गोपियाँ दधि-दान के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं परन्तु अब कृष्ण कुछ और ही दान माँगते हैं—

लैहों दान इनि कौ तुम सौं
मत्त गयंद, हंस हम सौं हैं, कहा दुरावति हम सौं।
केहरि, कनक कलस अमृत के, कैसें दुरैं दुरावती।
विद्रुम हेम ब्रज के मनुका नाहिन हमहि सुनावति॥
खग, कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग जानति।
मनि कंचन के चक्र जरे हैं एते पर नाहिं मानति॥
सायक चाप तुरय बनि जति हौ लिये सबै तुम जाहु।
चंदन चँवर सुगन्ध जहाँ तहँ केसैं होत निबाहु॥[७५]

गोपियाँ कृष्ण की इस बात को समझ नहीं पाती हैं। वे कहती है कि हमारे पास यह वस्तुएँ कहाँ हैं? तब कृष्ण उन्हें उनके अंगों के उपर्युक्त उपमानों को इस प्रकार समझाते हैं—

चिकुर चमर घूँघट हय-बर, बर भुव सारंग दिखराऊँ।
बान कटाच्छ नैन खंजन, मृग नासा सुक उपमाऊँ।
तरिवन चक्र अधर विद्रुम-छबि, दसन ब्रज-कन ठाऊँ।
ग्रीव कपोत कोकिला बानी, कुच-घट-कनक सुभाऊँ।
जोबन-मद रस अमृत भरे हैं, रूप रंग झलकाऊँ।
अंग सुगंध बास पाटंबर, गनि-गनि तुमहिं सुनाऊँ।[७६]

श्री कृष्ण की ऐसी दुराशय भरी बातें सुनकर गोपियाँ वापस झल्ला जाती हैं। वे

कृष्ण को कहती हैं कि पर स्त्री को छेड़ना अच्छी बात नहीं है। तुमने लोक मर्यादा के विरुद्ध बात कही है अत: ऐसे कृत्यों से रहना ही तुम्हारे अहित में है।

माँगत ऐसो दान कन्हाई।
अब समुझी हम बात तुम्हारी, प्रकट भई कछु धौं तरूनाई॥
इहि लालच अँकवारि भरत हौ, हार तेरि चोली झटकाई।
अपनी ओर देखि धौं लीजे, ता पाछे करियै बरियाई॥
सखा लिए तुम घेरत पुनि-पुनि, बन भीतर सब नारि पराई।
सूर स्याम ऐसी न बूझियै, इन बातनि मरजाद नसाई॥[७७]

अन्त में विवाद समाप्त करने के लिए कृष्ण कहते हैं कि मैं कामदेव की आज्ञा से तुमसे जीवन दान माँगने आया हूँ। तुम्हें यह मुझे देना ही होगा। यह सुन गोपियाँ अपना सर्वस्व देने के लिए व्याकुल हो गई क्योंकि उन्हें भी काम नृपति ने चोट लगाई। वे मन ही मन कहने लगी कि—यह देह भी तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। श्री कृष्ण उनका आत्मसमर्पण स्वीकार करते हैं। सूरसागर का यह वार्तालाप बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। महाकवि सूर कहते हैं कि अन्तर्यामी कृष्ण ने सबके मन में मिलकर अत्यन्त सुख प्रदान किया। जब गोपियों को अपने तन का भान आया तो वन में अपने आपको देखकर वे सकुचा गईं।

अंतरजामी जानि लई।
मन मैं मिले सबनि सुख दीन्हौं, तब तनु की कछु सुरति भई।
जब जान्यौं बन मैं हम ठाढीं, तन निरख्यो मन सकुचि गई।

सूरदास प्रभु अंतरजामी, गुप्तहिं जोवन-दान लयौ।[७८]

तदुपरान्त श्री कृष्ण समस्त बाल ग्वाल के संग दही तथा माखन खाते हैं। गोपियाँ प्रेम के साथ ग्वाल बालों को गोरस खिलाने लगती हैं। अब ये गोपियाँ भी इतनी भाव विभोर बन जाती हैं कि कृष्ण के कहने पर भी घर जाने को तैयार नहीं होती। वे कहने लगती हैं कि—बिना मन घर कैसे जा सकती हैं, हमारा मन तो तुम्हारे पास है।

घर तनु मन बिना नहीं जात
आपु हँसि कहत हौ जू चतुरई की बात।

तनहि पर मनहि राजा, जोइ करे सोइ-होइ।
कहौ घर हम जाहि कैसे, मन धयौ तुम गोइ॥[७९]

इसके बाद गोपिका का प्रेमोन्माद देखते ही बनता है। वे आत्म-विस्मृत अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। गोपियाँ कृष्ण मय होकर जड़-चेतन का अंतर भूल जाती हैं। वे

रीती मटकी सिर पर रखे वन-वन भटकती हैं। उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता। पेड़ों को घर के द्वार समझकर दही लेने की आवाज लगाती हैं। कभी तो "दही लो" के स्थान पर "गोपाल लो" "गोपाल लो" कहती फिरती हैं।

कोउ माई लेहै री गोपालहिं।
दधि को नाम स्यामसुन्दर-रस, बिसरी गयौ ब्रज-बालहिं।
मटुकी सीस फिरति ब्रज-बीथिनि बोलति बचन रसालहिं।[८०]

इस प्रसंग में गोपियों का प्रेम, रूप-क्रीड़ा और लीला की आसक्ति से प्रारम्भ होकर कुल-लोक-वेद की मर्यादा का उल्लंघन, लज्जा का परित्याग एवं सांसारिक वैभव की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति की ओर अग्रसर होता है।[८१]

सूरसागर का यह प्रसंग अत्यन्त ही क्रम-बद्ध काव्यात्मक एवं संवादात्मक युक्त है। इसमें अनेक सुन्दर भावों का समावेश मिलता है जो शृंगार रस को अंतिम दशा में पहुँचाते हैं। सूरदास ने इस प्रसंग को विस्तार से निरूपित कर इसके महत्त्व को बढ़ाया है।

प्रतीकात्मकता :–

दानलीला की यथार्थता यह है कि—"सच्चे दिल से हमें अपना सर्वस्व परमात्मा को अर्पण करना चाहिए।" तभी वे हमारी नौका को पार लगायेंगे। भगवान् को अपने मन का समर्पण करना है। मक्खन के समान कोमल मन को प्रभु-चिंतन में लगाने से ही अपने को स्वीकार करते हैं। निर्मल हृदय की गोपिकाएँ इसी सात्विकता को लिए हुए है। उनका प्रेम इसी निष्कलुषता पर आधारित है। इसी से गोपियाँ अन्तर्जगत में कृष्ण के साथ एकाकार हो जाती हैं एवं अलौकिक सुख की प्राप्ति करती हैं। माखन कोमल वृत्तियों का परिचायक है, ब्रह्म जीव की इन्हीं कोमल वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। संक्षेप में कहे तो इस लीला के पीछे आत्मा का समर्पण तथा प्रेमोन्मत्तता का ही वास्तविक रहस्य छिपा हुआ है।

हिंडोला :–

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें श्री कृष्ण का गोपिकाओं के साथ झूला-झूलने का वर्णन किया गया है। जब वर्षा ऋतु में सर्वत्र मनमोहक हरियाली छा जाती है, उस समय गोपियाँ सजधज कर अपने प्रियतम कृष्ण के पास जाकर उनसे झूला-झूलने के लिए इच्छा प्रकट करती हैं। सूरदासजी ने इस लीला का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। सूरसागर में गोपिकाएँ कृष्ण के सामने झूला हेतु इस प्रकार प्रार्थना करती हैं—

बार-बार विनय करति, मुख निरखति पाउ परति।
पुनि पुनि कर धरति, हरति पिय के मन काजे॥

विहँसति प्यारी समीप, घन दामिनि संग रूप,
कंठ गहति कहति कंत, झूलन की साधा।[८२]

यहाँ श्री कृष्ण को मनाने हेतु गोपियों के मनोभाव का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। एक प्रसंग में कृष्ण राधा को साथ झुला रहे हैं। उनका झूला ऊँचा पहुँच जाता है। राधा अत्यन्त ही डर जाती है, वह झूला रोकने के लिए प्रार्थना करती है। परन्तु श्री कृष्ण और भी जोर से झूले को ऊँचा बढ़ाते ही जाते हैं। राधा डर कर कृष्ण को कसकर पकड़ लेती है। झूलते हुए राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का कवि ने बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है।

झूलत विह्वल स्याम स्यामा, सीस मुकुलित केस।
ताटंक तिलक सुदेस झलकत, खचित चूनी लाल।
नव अकृत विकृत बदन प्रहसित, कमल नैन बिसाल॥
करज मुद्रिका किंकिनी कटि चाल गज गति बाल।
सूर मुररिपु रंग रंगे, सखी सहित गुपाल॥[८३]

इतना ही नहीं झूला-झूलते समय आसपास के सुरम्य वातावरण के निरूपित करने में भी कवि ने कोई कमी नहीं रखी है। सुन्दर यमुना तट, झरमर-झरमर बरसता मेह, बादलों के बीच चमकती बिजली, मोर, पपैहे, दादुर के मीठे स्वर इत्यादि समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य के भावानुकूल चित्र अंकित किए हैं।

सूरसागर में यह प्रसंग भी विशदता के साथ वर्णित मिलता है। राधा के साथ कृष्ण का मिलन, उनका एक साथ झूला-झूलना, मनमोहक प्राकृतिक दृश्य, हिंडौले का अप्रतिम सौन्दर्य एवं लोकोत्तर निर्माण इत्यादि अनेक घटनाओं का इसमें विवेचन मिलता है। झूला-झूलते समय राधा के नूपुरों की ध्वनि किंकिनियों की झंकार एवं कंकणों की खन-खनाहट का भाव पूर्ण चित्रण देखिये—

कनक नुपुर कुनित कंकन, किंकिनी झनकार।
तहँ कुवरि वृषभानु कैं, संग सौहैं नन्दकुमार॥[८४]

चीर-हरण लीला :–

सूरसागर में निरूपित श्री कृष्ण की रसिक लीलाओं में चीर-हरण का प्रसंग भी उल्लेखनीय है। यह प्रसंग भागवतानुसार है परन्तु सूर ने इसे अतिरंजकता से रंग दिया है।

सूर के कृष्ण अत्यन्त चंचल है। उनका मन किसी न किसी शरारत में लगा रहता है। गोपियाँ श्यामसुन्दर को पति के रूप में पाने के लिए गौरी-पति शंकर की आराधना करती हैं। वे जब स्नान करने जल में उतरती हैं उस समय में भी कृष्ण को पति के रूप में पाने की अभिलाषा करती हैं। कृष्ण उन्हें सताने के लिए जल में

सबके पीछे प्रकट होकर स्नान करती गोपियों की पीठ मलते हैं। निर्वसन गोपियाँ उन्हें लज्जित हो धिक्कारती हैं।

प्रकट भए प्रभु जल के भीतर देखि सबन को प्रेम।
मीड़त पीठ सबन के पाछैं, पूरण कीन्हौं नेम॥[८५]

वे कृष्ण की यह शिकायत यशोदा से करती हैं तथा कहती हैं कि तुम्हारा सुत अब बहुत लम्पटता दिखा रहा है। परन्तु यशोदा उनकी बात नहीं मानती है। वह कहती है कि तुम मेरे लाड़ले पर झूठा आरोप लगाती हो, पहले भी इसे एक बार तुमने उसे ऊखल से बँधवाया था। चोरी का आरोप लगाते-लगाते उसके चरित्र पर दोष लगा रही हो—

बिना भीति तुम चित्र लिखति ही सो कैसैं निबहैरी।
चोरी रही, छिनारो अब भयो, जान्यों ज्ञान तुम्हारी।
औरे गोप-सुतनि नहीं देख्यौं, सूर स्याम हैं बारो॥[८६]

इतना होने के उपरान्त भी गोपियों में श्री कृष्ण के दर्शन की लालसा रहती है। जब वे दूसरी बार स्नान करने जाती हैं, उस समय अपने वस्त्रों को घाट पर रखकर सभी सखियाँ यमुना में केली करने लगती हैं। श्री कृष्ण मौका पाकर उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब पर चढ़ जाते हैं—

सोरह सहस गोप सुकुमारी। सबके बसन हेर बनवारी।
हरत बसन कछु बार न लागी। जल-भीतर जुवति सब माँगी।
भूषन बसन सबै हरि ल्याए। कदम-डार जहँ-तहँ लटकाए।
ऐसौ नीप-वृच्छ विस्तारा। चीर हार धौं कितक हजारा॥[८७]

युवतियाँ स्नान करके जब तट के निकट आकर देखती हैं कि उनके वस्त्राभूषण कुछ भी नहीं हैं, तो उन्हें आश्चर्य होता है कि हमारे वस्त्र कौन ले गया? तब श्री कृष्ण कदम्ब की डाल पर बैठे-बैठे कहते हैं कि—गोप-कुमारियो! तुम्हारा व्रत पूर्ण हुआ, अब तुम जल के बाहर आ जाओ। इस पर गोपियाँ श्री कृष्ण से अनुनय-विनय करती हैं कि हम बिना वस्त्र कैसे बाहर आयें, हमें लज्जा आती है। हमारा शरीर शीत से काँप रहा है, तुम हमारे वस्त्र वापस कर दो। अन्त में उनकी प्रार्थना पर भक्त वत्सल श्री कृष्ण प्रसन्न हो जाते हैं। सबको वस्त्र लौटाकर कदम्ब के नीचे बुलाते हैं तथा वस्त्राभूषण पहन कर घर लौटने की आज्ञा करते हैं।

यह लीला श्री कृष्ण की कामोत्तेजना पर आधारित न होकर उनकी बाल सुलभ चपलता पर आधारित है। कई लोग इस लीला का स्थूल शृंगार अर्थ लेते हैं परन्तु यह शोभास्पद नहीं है।

डॉ. ब्रजेश्वर शर्मा के अनुसार—"इस लीला में कृष्ण के चांचल्यपूर्ण लीला-कौतुक

और गोपियों के प्रेमपूर्ण उपालम्भ द्वारा गोपियों के माधुर्य भाव की व्यंजना की गई है।"[८८]

प्रतीक अर्थ :–

इस लीला की यथार्थता यह है कि गोपियाँ ब्रह्मान्वेषकारिणी भक्ति-साधिकाएँ हैं। अनेक जन्मों के पुण्य स्वरूप उन्हें परमात्मा श्री कृष्ण प्राप्त हुए हैं। उनकी इस अहं बुद्धि को छुड़ाने के लिए भगवान् ने यह लीला की। इसलिए अन्त में वे उन्हें साधना के सिद्ध होने की सूचना कर शरद्-रास में आमंत्रित करते हैं।[८९]

चीरहरण में कोई लौकिक वस्तु की चोरी नहीं वरन् बुद्धिगत काम-वासना की चोरी है। अर्थात् इस शरीर को भूलने की बात है, जब हम शरीर का भाव भूल जायेंगे तभी भगवान् के पास जा सकेंगे। अशरीरी बनने पर ही जीव और शिव का मिलन सम्भव है। शरीर ही वह चीर-वस्त्र है, जिसका परमात्मा हरण करता है। वास्तव में शरीर के धर्म छोड़ने पर ही अज्ञान रूपी अन्धकार दूर हो सकेगा। तभी ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होगा। श्रीमद् भागवत गीता में भी श्री कृष्ण अर्जुन को यही कहते हैं कि, "परधर्म दुःखदायी है एवं स्वधर्म सुखदायी है।"[९०] अर्थात् इसमें विषय-वासना एवं विकारों को त्यागने की बात है तथा आत्मा की पवित्रता शुद्धता व निर्मलता पर जोर दिया गया है।

वसंत लीला :–

इस लीला में ब्रज में बसन्त ऋतु के आगमन पर उसकी अपूर्व मादकता एवं गोप-गोपियों के साथ फाग खेलने का चित्रण मिलता है। वे अपनी मान-मर्यादा को भूलकर वह बसन्त क्रीड़ाएँ करते हैं। सूरसागर में बसन्त लीला में मग्न ब्रज को उपमा सागर की गई है, जो अपनी सभी मर्यादाओं को छोड़ चुका है।

मानहुँ प्रेम समुद्ध सूर बल उमंगि तजी मरजाद।[९१]

प्रकृति के सुरम्य एवं मादक वातावरण से इस लीला का प्रारम्भ होता है। मृंदग, बीन, डफ, मुरली इत्यादि विविध वाद्यों की मनमोहक ध्वनि में श्री कृष्ण अपने सखाओं के साथ होली खेलने में मस्त है। गोपियाँ भी वहाँ आती है तथा उन्हें गालियाँ देती हैं। एक ओर श्री कृष्ण तथा उनके सखा एवं दूसरी ओर गोपियाँ एक दूसरे पर अबीर, गुलाल, आदि झोलियाँ भर-भरके डालते हैं। बसन्त का सुन्दर चित्रण कवि के शब्दों में दृष्टव्य है—

खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहिं राधिका गौरी।
बाजत ताल मृदंग झांझ डफ, बीच बीच बांसुरी धुनि थोरी॥
गावत दै दे गारी परस्पर, उत हरि इत वृषभानु किसोरी।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै मिलै मथि घोरी॥[९२]

इस प्रसंग में गोपियाँ श्री कृष्ण की समस्त शरारतों का बदला लेती दिखाई देती हैं। वे गालियाँ देकर ही चैन नहीं लेती वरन् श्री कृष्ण को पकड़कर किसी गोपी के वस्त्राभूषण पहना देती हैं। गोपियाँ कृष्ण के पैरों में नूपुर, नाक में नथ, कटि में मेखला धारण करवाती हैं एवं कंचुकि में दो पुष्प रखती हैं। जब यशोदा उन्हें वस्त्र मेवा आदि नेग देती हैं, तब गोपियाँ कृष्ण को अपनी पकड़ से छोड़ती हैं। सूर का यह वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक बन पड़ा है—

बेनी गूथि माँग सिर पारी, बधू बधू कहि गाई।
प्यारी हँसति देखि मोहन मुख, जुवती बने बनाई।
स्याम अंग कुसुमी नई सारी अपनै कर पहिराई।

नंद सुनत हाँसी महरि पठाई, जसुमति धाई आई।
पर मैवा दे स्याम छुड़ायौ, सूरदास बलि जाई॥[९३]

सूरसागर में वर्णित बसन्त लीला से ऐसा प्रतीत होता है कि श्री कृष्ण ने जैसे माखन चोरी, चीर हरण, पनघट लीला इत्यादि अवसरों पर जो उद्दण्डता एवं धृष्टताएँ की थीं, उसका गोपियों ने एक साथ बदला लिया है। सूर की गोपियाँ कृष्ण को इस प्रसंग में याद दिलाती हैं कि क्या तुम भूल गये हो जिस दिन हमारे घरों में घुसकर गोरस की चोरी की थी, यमुना तट पर हमारे वस्त्रों का हरण किया था, आज उसका दाव लेने की बारी आई है। या तो राधा गौरी के पाँव पड़ो वरना आज हम तुम्हारी दशा और भी बिगाड़ देंगी।

तब तुम चीर हरे जमुना तट, सुधि बिसरे माखन चोरी की।
अब हम दाऊँ आपनौ ले है, पाउ परौ राधा गोरी की।[९४]

इस प्रकार सूरसागर का यह प्रसंग बड़ा ही मनोरम बन पड़ा है। सूरसागर में श्री कृष्ण की अनेक रसिक लीलाओं का उल्लेख मिलता है जिसका हरिवंशपुराणकार ने विवेचित नहीं किया। सूर ने इन लीलाओं में संभोग शृंगार के अनेक दृश्यों का निरूपण किया है परन्तु उन सबका चित्रण करना यहाँ सम्भव नहीं हो सकता।

अक्रूर का ब्रज-गमन :–

श्री कृष्ण द्वारा पूतना, वृषभासुर, धेनुक, प्रलम्ब इत्यादि अनेक दानवों का संहार करने पर नारद ने एक दिन मथुरा नरेश कंस को यशोदा एवं देवकी द्वारा उसके बालकों के परिवर्तन का सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया। इस पर कंस ने श्री कृष्ण एवं बलराम को मारने की योजना बनाई तथा अक्रूर को बुलाकर गोकुल से श्री कृष्ण व बलराम को मथुरा लाने के लिए भेजा। तदनुसार अक्रूर गोकुल गये तथा कृष्ण व बलराम से मिलकर उन्हें

कंस का सन्देश सुनाया। श्री कृष्ण ने मथुरा आने की सहमति प्रकट की, इस पर सम्पूर्ण ब्रजवासी व्याकुल हो गये। जिस प्रकार आँधी का झोंका प्रशान्त महासागर में हलचल मचा देता है, उसी प्रकार श्री कृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनकर सम्पूर्ण ब्रज दुःख की महानदी में डूबने लगा। कंस के प्रति अविश्वास होने के कारण वे अत्यन्त ही कर्त्तव्यशून्य हो गये। सूरसागर में अक्रूर के आगमन से ब्रज की व्याकुलता का चित्रण सूर के शब्दों में द्रष्टव्य है—

(क) व्याकुल भए ब्रज के लोग।
स्याम मन नहि नैकुँ आनत, ब्रह्मपूरन जोग।[१५]

(ख) देखि अक्रूर नर नारि बिलखे।
धनुर्भजन यज्ञ हेत बोले इन्हैं, और डर नही सब कहि संतोषे।
मरि व्याकुल दौरि पाइँ गहि लै परी, नंद उपनंद संग जाहु लैं के।

✣ ✣ ✣

सूर नृप क्रुर अक्रुर क्रुरै भए, धनुष देखन कह्यो कपटी महा है।[१६]

श्री कृष्ण यशोदा एवं नन्द को सांत्वना देकर उनको भाँति-भाँति से समझाकर ब्रज के सारे सम्बन्धों को एक क्षण में तोड़कर शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथ में बैठकर अक्रूर के साथ चल देते हैं।

रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण प्रेमसागर में डूबी ब्रज युवतियों को अपने कर्त्तव्य के सामने उनके सारे प्रेम सम्बन्धों को छोड़कर मथुरा को प्रयाण करते हैं। वे कर्त्तव्य के आगे अपनी प्रेयसी राधा की भी सुधी तक नहीं लेते हैं। वे कर्त्तव्य की बलीवेदी पर अपने बालपन के सम्पूर्ण प्यार का उत्सर्ग कर देते हैं। सूरदासजी ने इस वृत्तान्त का विशद वर्णन किया है।

जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण के मथुरागमन का कारण इस प्रकार से वर्णित किया है कि जब श्री कृष्ण ने यमुना नदी के उस ह्रद में प्रवेश कर जहाँ अनेक विषम साँप लहलहाते थे, कमल लाकर कंस को दे दिये तो उनका वैरी कंस अत्यन्त क्रोधित हुआ एवं नंद को अपने पुत्रों के साथ मल्ल-युद्ध के लिए अविलम्ब तैयार रहने की सूचना दी। स्थिर बुद्धि के धारक वसुदेव शत्रु की इस चेष्टा को समझ गये तथा उन्होंने अपने समस्त भाइयों को शीघ्र मथुरा उपस्थित होने की खबर भेजी। वसुदेव के नौ बड़े भाई अपने रथों से मथुरा पहुँच गये।[१७] उधर बलदेव ने श्री कृष्ण को समस्त हरिवंश, पिता, गुरु, बन्धु तथा भाईयों के साथ उपस्थित होने की बात कही। तदुपरान्त उन्होंने सुन्दर वेष धारण कर कंस को मारने का निश्चय कर अतिशय भयानक मल्लों के वेग से अनेक गोपों के साथ मथुरा की ओर चल पड़े।

विविधकरणदक्षौ मल्लविद्यानवद्यौ कृतचलनसुवेषौ नीलपीताम्बराभ्याम्।
बृहदुरसि विधायोदारसिन्दूरधूलीरभिनववनमालामालतीमुण्डमालौ॥
स्थिरमनसि विधाय ध्वंसनं कंसशत्रोश्चलचरणनिघातैर्धारिणीं क्षोभयन्तौ।
सममरमतिघोरैर्मल्लवेषैः सवर्गैः पुरमभि मथुरां तौ चेलतुर्गोपवर्गैः॥[९८] ३६/२९-३०

जिनसेनाचार्य ने यहाँ श्री कृष्ण को महान् योद्धा स्वरूप का निरूपण किया है, सूरसागर की भाँति नंद-यशोदा की चिन्ता, बृजवासियों की व्याकुलता इत्यादि के चित्रण का हरिवंशपुराण में पूर्ण रूप से अभाव रहा है। न तो यहाँ कृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर ब्रज जाते हैं और न ही उनके साथ मथुरा आते हैं। परन्तु कृष्ण अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु समय पर मथुरा को प्रयाण करते हैं। इसमें दोनों कृतियों में साम्य दिखाई देता है।

रजक-वृत्तान्त :-

सूरसागर के अनुसार जब श्री कृष्ण एवं बलराम अक्रूर के साथ पहुँचे तो वे लीला करते मथुरा में घूम रहे थे। वहाँ भ्रमण करते हुए उन्होंने एक रंगरेज धोबी को देखा एवं उन्होंने उससे अपने अनुरूप वस्त्रों की याचना की। वह कंस का धोबी था। अतः उसने कृष्ण व बलराम को कठोर वचन कहे। उस समय श्री कृष्ण ने उस धोबी का हाथ के प्रहार से वध कर दिया एवं कंस के वस्त्रों को लूट लिया।

रजक मारि हरि प्रथम ही नृप वसन लुटाए।
रंग-रंग बहु भाँति के गोपिन पति राए॥[९९]

आगे जाने पर कृष्ण ने मथुरा के राजमार्ग पर नवयौवना कुब्जा को चन्दन-केसर आदि के पात्र ले जाते हुए देखा। उससे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह महाराज कंस के अनुलेप के लिए घिसा हुआ चन्दन ले जा रही है। श्री कृष्ण ने वह चन्दन उससे माँग कर अपने शरीर पर लगा दिया तथा उन्होंने अपने हाथ की दो अंगुलियों को कुब्जा की ठुड्डी में लगाकर ऊपर उठा लिया तथा उसके पैरों को अपने पैरों से दबा दिया। कुब्जा का शरीर पहले टेढ़ा था परन्तु श्री कृष्ण ने उसे इस प्रकार सीधा कर दिया, वह रमणी हो गई—

कुबरी नारि सुन्दरी किन्हीं।
भाव मैं बास बिनु भाव नहि पाइयै,
जानि हिरदै हेत भावि लीन्हीं।
ग्रीव पर परसि पग पीठी तापर दियौ,
उबरसी रूप परतरहि दीन्हीं॥[१००]

सूरसागर में वर्णित इन दोनों घटनाओं को जिनसेनाचार्य ने उल्लेखित नहीं किया। सूर के कृष्ण मथुरा जाने पर भी अपनी चंचलता के कारण धोबी से महाराज कंस

के वस्त्र लूट लेते हैं तथा कुब्जा पर अनुकम्पा कर उसे उर्वशी के समान युवति बना देते हैं।

कुवलयापीड वध :–

कुब्जा उद्धार के पश्चात् श्री कृष्ण कंस की धनुषशाला में गये और वहाँ उन्होंने धनुष को बलपूर्वक खींचा जिससे वह धनुष टूट गया। धनुष के टूटने की भयंकर आवाज से अनेक रक्षकों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया परन्तु श्री कृष्ण व बलराम ने उन सैनिकों को मार भगाया।[१०१]

धनुष-भंग तथा रक्षकों के वध की बात सुन कर कंस ने मल्ल-युद्ध का आदेश दिया तथा उन दोनों कुमारों को रंगभूमि में आमंत्रित किया। कृष्ण कंस के आमंत्रणानुसार रंगशाला में पहुँचने के लिए जाते हैं। तब एक महावत दरवाजे पर हाथी लेकर खड़ा होता है। वह कृष्ण को आता देखकर उस "कुवलयापीड" हाथी को आगे बढ़ाता है। श्री कृष्ण उसके इरादे को तत्काल जान जाते हैं एवं हाथी की सूंड पकड़कर उसे धरती पर पटक देते हैं तथा उसके दाँत तोड़कर अस्त्र-शस्त्र बना देते हैं।

(क) क्रोध गजराज गजपाल कीन्हीं।
गरजि-घुमरात मद भार गंडनि स्रवन, पवन तैं बेग तिहि समय चीन्हीं।[१०२]

(ख) हँसत हँसत स्याम प्रबल-कुबलया संहारयौ।
तुरत दंत लिए उपारि, कंधनि पर चले धारि,
निरखत नर नारि मुदित चक्रित गज मारयौ॥[१०३]

सूर ने कृष्ण व बलराम का हाथी के साथ युद्ध, कंस की रंगभूमि, लोगों की उत्सुकता तथा कृष्ण बलराम की सुन्दरता इत्यादि का भी इस प्रसंग में भावपूर्ण चित्रण किया है। श्री कृष्ण का कुवलयापीड हाथी के साथ युद्ध वर्णन तो देखते ही बनता है।

हरिवंशपुराण के अनुसार जब दोनों भाई बलराम तथा श्री कृष्ण कंस की रंगशाला के द्वार पहुँचे तो कंस की आज्ञा से उन पर "चम्पक" तथा "पादाभार" नामक दो हाथी एक साथ हूल दिये। उस समय बलभद्र ने चम्पक हाथी को तथा श्री कृष्ण ने "पादाभार" हाथी को मार गिराया तथा उसके दाँत उखाड़ दिये—

नगरमभिविशन्तौ द्वारितौ वारणेन्द्रावविरतमदलेखामण्डितापाण्डुगण्डौ।
युगपदरिनियोगादापतन्तौ विदित्वा तुतुषतुरिव दृष्ट्वा युद्धरंगादिमल्लौ॥
सललितमभितस्थौ चम्पकं शीरपाणिः फणिरिपुरवि नागं तत्र पादाभराख्यम्।
अभवदभिनवं तद्विस्मयापादि पुसां नरवरकरिमल्ल द्वन्द्वयोर्द्वन्द्वयुद्धम्॥[१०४] ३६/३२-३३

हरिवंशपुराण की अपेक्षा सूरसागर में यह प्रसंग विस्तार से मिलता है परन्तु दोनों कृतियों में श्री कृष्ण एवं बलराम द्वारा हाथियों के मारने का वीरोचित कार्य साम्य के साथ वर्णित है। हरिवंशपुराण का युद्ध वर्णन भी अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है।

चाणूर एवं मुष्टिक वध :–

कुवलयापीड की मृत्यु का समाचार सुनकर कंस ने चाणूर तथा मुष्टिक नामक दो मल्लों को मल्लयुद्ध में उन दोनों को मारने के लिए प्रेरित किया। जब श्री कृष्ण व बलराम ने कंस की सभा में प्रवेश किया, उस समय राजगण अपने अनुचरों के साथ मंचों पर बैठे थे। कंस एक ऊँचे स्थान पर विराजमान था। सर्वप्रथम चाणूर श्री कृष्ण के पास आया। पहले दाव में श्री कृष्ण कोमल लगे। उसके मन में गर्व हो गया कि इस बालक को मारना कौनसी बड़ी बात है। किन्तु दूसरे दाँव में उसने उनके बल को जान लिया। कृष्ण ने सिंह के समान भयंकर गर्जना की। उस समय चाणूर की दशा सूर के शब्दों में द्रष्टव्य है—

हाँक सुनत सब कौड़ भुलानौ, थर-थराइ चानूर सकानौ।
सूर स्याम महिमा तब जान्यौं, निहचै मृत्यु आपनी मान्यौ॥[१०५]

चाणूर ने निश्चय कर लिया कि आज मेरी मृत्यु आ गई है। उधर मुष्टिक पहलवान बलराम से मल्लयुद्ध करने के लिए आया। बलराम ने मुष्टिक के ऊपर मुष्टिक का प्रहार करके उसकी छाती पर घुटने से वार किया तथा उसे धराशायी कर दिया।

जिनसेनाचार्य ने भी चाणूर तथा मुष्टिक वध का विवेचन किया है। जब साधारण मल्लों का युद्ध हो चुका, तब कंस ने कृष्ण से युद्ध करने के लिए चाणूर मल्ल को आज्ञा प्रदान की। श्री कृष्ण ने चाणूर को जो भीमकाय शरीर वाला था अपने वक्षस्स्थल से लगाकर भुजयंत्र के द्वारा इतना दबाया कि उससे अत्यधिक रुधिर की धारा बहने लगी और वह निष्प्राण हो गया।

जब श्री कृष्ण चाणूर से युद्ध कर रहे थे, उस समय उन्हें मारने के लिए मुष्टिक पीछे से दौड़ा। उस समय बलदेव ने उसके सिर में जोर से मुक्का मार कर प्राण रहित कर दिया—

कुलिशकठिनमुष्टिं मुष्टिकं पृष्ठतस्तं समपतितुसकामं राममल्लः सलीलम्।
अलमलमिह तावत्तिष्ठ तिष्ठेति साशीः शिरसि करतलेनाक्रम्य चक्रे गतासुम्॥
हरिरपि हरिशक्तिः शक्तचाणूरकं तं द्विगुणितमुरसि स्वे हारिहुंकारगर्भः।
व्यतनुत भुजयन्त्राक्रान्तनीरन्ध्रनिर्यद्बहलरुधिरधारोद्गारमुदगीर्णजीवम्॥[१०६] ३६/४२-४३

इस प्रकार हरिवंशपुराण का यह वर्णन वीररस से परिपूर्ण है। मल्लों की उछलकूद, उनका अहंकार, उनका भीमकाय शरीर, परस्पर मुक्काबाजी आदि के दृश्य कवि ने सूक्ष्मता के साथ निरूपित किए हैं।

कंसवध :–

जब चाणूर तथा मुष्टिक जैसे महान् मल्लों को श्री कृष्ण बलभद्र द्वारा धराशायी कर

दिया गया, तब कंस अपनी सारी योजनाओं को धूल-धूसरित होते देख और भी परेशान हो गया। रंग-भूमि में बैठा वह अपने प्राणों की गिनती करने लगा। वह घबराकर भागने की सोचने लगा परन्तु सामने श्री कृष्ण को देखकर उसमें वह साहस न रहा, क्योंकि श्री कृष्ण की वीरता की धाक पहले ही जम चुकी थी। इतने में श्री कृष्ण छलांग मारकर मंच पर चढ़ गये और उसके बाल पकड़कर उसे धरती पर पटक दिया एवं मुष्टिकों के प्रहार से उसे प्राणरहित कर दिया। कंस की देह-लीला समाप्त हो गई। श्री कृष्ण के इस कृत्य पर देवताओं ने पुष्प वर्षा की। समस्त मथुरा नगरी में आनन्द ही आनन्द छा गया।

जै जै धुनि तिहुँ लोक भई।
मारयौ कंस धरनि उद्धरयौ, ओक-ओक आनंद भई।
रजक मारि को दंड विभंज्यो, खेल करत गज प्रान लियौ।
मल्ल पछारि असुर संहारे, तुरत सबनि सुरलोक दियौ॥
पुर नर नारिनि कों सुख दिन्हौं, जो जैसो फल सोइ लह्यौ।
सूर धन्य जदुवंस उजागर, धन्य धन्य धुनि घुमरि रहयौ॥[१०७]

हरिवंशपुराण में इस घटना को इस प्रकार से उल्लेखित किया गया है कि—कंस ने जब श्री कृष्ण द्वारा चाणूर तथा बलभद्र द्वारा मुष्टिक का वध होते देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। वह अपने हाथ में तलवार लेकर जोरदार शब्द करता हुआ उठ खड़ा हुआ। श्री कृष्ण ने उसके सामने आते ही उसके हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से बाल पकड़कर पृथ्वी पर पटक दिया एवं उसके पैर पकड़ कर पत्थर पर पछाड़कर मार डाला—

अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्य केशेष्वतिदृढमति गृह्याहत्य भूमौ सरोषम्।
विहितपरुषपादाकर्षणास्तं शिलायां तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास॥[१०८] ३६/४५

उपर्युक्त विवेचनानुसार सूरसागर तथा हरिवंशपुराण दोनों ग्रन्थों में श्री कृष्ण द्वारा कंसवध का वर्णन मिलता है। सूरसागर में कंस घबराकर भागने की सोचता है जबकि हरिवंशपुराण में वह क्रोधित होकर तलवार ले कृष्ण को मारने दौड़ता है। महाकवि सूर ने इस वर्णन में श्री कृष्ण की अलौकिकता को प्रकट की है परन्तु जिनसेनानुसार श्री कृष्ण का यह कृत्य एक वीरोचित कार्य है।

हरिवंशपुराण और सूरसागर की कथावस्तु (उत्तरार्द्ध) :–

श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा रसिक-लीलाओं के पश्चात् उनके जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण विवेचन आता है। इस जीवन का शुभारम्भ उनके द्वारा मथुरा-नरेश कंस-वध के पश्चात् होता है। कृष्ण चरित्र का यह वह भाग है जिसमें उन्होंने महान् कूटनीतिज्ञ, योद्धा, सफल राजपुरुष तथा आध्यात्मिक महापुरुष की भूमिका निभाई है। हरिवंशपुराण तथा सूरसागर में कृष्ण चरित्र के इस भाग का कुछ साम्य-वैषम्य के

साथ विशद वर्णन मिलता है। वैसे महाकवि सूर ने श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा रसिक-लीलाओं में ही अपना मन सविशेष रमाया है परन्तु कृष्ण जीवन के परवर्ती प्रसंगों को भी उन्होंने संक्षेप में विवेचित किया है। हरिवंशपुराणकार ने श्री कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात् की घटनाओं का विस्तृत चित्रण किया है, जिनमें उनके शलाकापुरुष तथा आध्यात्मिक राजपुरुष रूप के दर्शन होते हैं। आलोच्य कृतियों की कथावस्तु के उत्तरार्द्ध में हम इन्हीं घटनाओं का निरूपण करेंगे, जो श्री कृष्ण के जीवन की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं।

श्री कृष्ण द्वारा उग्रसेन का राज्याभिषेक :-

सूरसागर के अनुसार मथुरा नरेश कंस का वध होने पर उनकी पत्नियाँ विलाप करने लगीं। इस पर श्री कृष्ण ने उन सबको समझाकर सांत्वना प्रदान की। वे अक्रूर को साथ लेकर कारागार में वहाँ अपने माता-पिता वसुदेव एवं देवकी से मिले। उन्होंने उग्रसेन सहित देवकी-वसुदेव को बन्धन-मुक्त कराया। कालनेमि वंशज उग्रसेन ने भगवान् श्री कृष्ण की स्तुति की। श्री कृष्ण ने उग्रसेन को मथुरा के राजसिंहासन पर बिठाया तथा उनका राज्याभिषेक किया। सारे नगर में आनन्द छा गया। श्री कृष्ण स्वयं उग्रसेन का चँवर डुलाने लगे। जो राजा-महाराजा कंस के डर से चले गये थे, वे सभी यादववंशी राजा उस समय वहाँ उपस्थित हो गये।

उग्रसेन कौं दियो हरि राज।
आनंद मगन सकल पुरवासी, चँवर डुलावत श्री ब्रजराज॥
जहाँ-तहाँ तैं जादव आए कंस डरनि जे गए पराइ।
मागध सूत करत सब अस्तुति, जै जै जै श्री जादवराइ॥
जुग-जग बिरद यहै चलि आयो, भए के द्वारे प्रतिहार।
सूरदास प्रभु अज अविनासी भक्तनि हेत लेत अवतार॥[१०९]

हरिवंशपुराण में भी यह प्रसंग उल्लेखित है कि कृष्ण ने उग्रसेन की बेड़ियाँ काटकर उन्हें मथुरा का राजा बनाया तथा वे चिरकाल तक इस राज्य-लक्ष्मी का सेवन करते रहे—

गतनिगलकलंकः कंसशंकाविमुक्तश्चिरविरहकृशाङ्गं राज्यलक्ष्मीकलत्रम्।
यदुनिवहनियोगादुग्रसेनस्तदानीमभजत मथुरायां कंसमाथिप्रदत्तम्॥[११०] ३६/५१

हरिवंशपुराण में वर्णित कृष्ण का यह कृत्य मानवेतर कार्य है जबकि सूरसागर के इस प्रसंग में भी कृष्ण लीलावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम लगते हैं। उग्रसेन द्वारा श्री कृष्ण की स्तुति में यह कहा गया है। दोनों कवियों का अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है और उसी के प्रकाश में ये प्रत्येक घटना का वर्णन करते चले हैं।

नंद को ब्रज लौटाना :–

सूरसागर के अनुसार मथुरा के राज्य सिंहासन पर उग्रसेन का राज्याभिषेक करने के पश्चात् नंद बाबा कृष्ण को ब्रज लौटने का अनुरोध करते हैं परन्तु श्री कृष्ण नंदबाबा को इन्कार करते हुए कहते हैं कि—अब हमारे और आपके बीच पिता-पुत्र के सम्बन्ध का अन्त आ गया है। मैं जहाँ भी रहूँगा आपको कभी नहीं भूलूँगा। कृष्ण के इस निष्ठुर उत्तर से नन्द की दशा बड़ी विचित्र हो जाती है। वे आकुल-व्याकुल हो जाते हैं। वे कहने लगते हैं कि—मोहन! मैं तुम्हारे बिना ब्रज नहीं जाऊँगा। वे मन ही मन अक्रूर पर भी क्रोध करने लगते हैं कि इसी ने यह सब चरित किया है। देखिये सूर के शब्दों में नंद की व्याकुलता—

यह सुनि भए व्याकुल नन्द।
निठुर बानी कही हरि जब, परिगए दुख फंद।
निरखि मुख, मुख रेह चकित, सखा अरु सब गोप।
चरित ए अक्रूर कीन्हें, करत मन मन कोप।[१११]

नंद तथा गोप-सखाओं के अत्यन्त आग्रह को देखकर श्री कृष्ण उन्हें पुनः समझाते हैं कि ब्रज और मथुरा में अन्तर ही कितना है। मैं आपसे कहाँ दूर जा रहा हूँ, इसमें आपको व्याकुल होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार भाँति-भाँति से समझाकर वे नंद को गोपों सहित ब्रज लौटा देते हैं। सजल नयनों से सब विदा होते हैं। सूर का यह वर्णन अत्यन्त ही मार्मिक बन पड़ा है। यहाँ पर श्री कृष्ण के रसिक चरित्र की बजाय उनमें धीर उदात्त तथा कर्त्तव्यपरायण नायक का स्वरूप निरूपित हुआ है।

ब्रज में दिखाई देने वाला नन्द-नन्दन का वह स्वरूप यहाँ वसुदेव तथा देवकी के साथ नहीं दिखाई देता। कृष्ण के व्यवहार में यहाँ से ही विनोद और चंचलता की जगह गंभीरता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण भावना के दर्शन होते हैं।

नन्द के ब्रज जाने पर ब्रज की दशा का महाकवि सूर ने विशद वर्णन किया है। जब मथुरा से नन्द कृष्ण को लेकर नहीं लौटते उस समय सारा ब्रज कृष्ण के विरह में व्याकुल हो उठता है। यशोदा और ब्रज के लोग नन्द से पूछने लगते हैं कि कुमार को कहाँ छोड़ा? वे यहाँ क्यों नहीं आये? हमारे जीवन-प्राण कहाँ हैं? इस प्रकार के प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। सारे ब्रजवासियों का गला भर जाता है एवं उनकी आँखों से अश्रुओं की धाराएँ बहती हैं। यशोदा तो मूर्छित हो जाती है। सूरसागर में ब्रजवासियों के विरह का विशद निरूपण किया है—

(क) तब तै मिटे सब आनन्द।
या ब्रज के सब भाग संपदा, लै जु गए नँद नँद॥
विह्वल भई जसोदा डोलति, दुखित नंद उपनंद।

धेनु नहीं पय स्रवतिँ रूचिर मुख, चरति नहीं तृण कंद॥
विषम वियोग दहत उर सजनी, बढि रेह दुख दंद।
सीतल कौन करै माई, नाहिं इहाँ ब्रज चन्द॥[११२]

(ख) ब्रज री मनौ अनाथ कियौ।
सुनि री सखी जसोदानंदन सुख संदेह दियौ॥[११३]

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण द्वारा नंद को समझाकर ब्रज लौटाना तथा ब्रजवासियों की विरह-व्यथा का नितान्त अभाव है जबकि सूर ने इस प्रसंग को बड़े ही मनोयोग से वर्णित किया है।

उद्धव की ब्रज यात्रा :–

जिस दिन से श्री कृष्ण ने ब्रज को छोड़ा उसी दिन से ब्रज की विकलता बढ़ गई है। सूरसागर के अनुसार श्री कृष्ण के बिना सारा ब्रज न केवल सूना हो गया बल्कि उजाड़ हो गया। ब्रज की आनन्द-प्रदान करने वाली प्रकृति भी अब भयावह लगने लगी। लोग एक क्षण भी कृष्ण को नहीं भूल रहे हैं। गोपियों को भौरों की गुनगुन एवं पपीहे के बोल से माधव की स्मृति आ घेरती है। ऐसे समय में उन्हें कृष्ण की मुरली याद आ रही है, उसे सुनने के लिए वे परेशान हैं। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी भी उनको दाहकता प्रदान कर रही है—

कर धनु लै चँदहि मारी।[११४]

गोपियाँ कृष्ण को व्यंग्य कसने से भी नहीं चूकती। वे कुब्जा की ओर संकेत कर कृष्ण का परिहास करती हैं—

स्याम विनोदी रे मधु बनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे कौं आवत, भावति नव जोबनियाँ।
वे दिन माधो भूलि गए जब, लिए फिरावति कनियाँ॥[११५]

वे कृष्ण को भाँति-भाँति के ताने देकर अपना हृदय शान्त करती हैं, लेकिन उनके हृदय में लगा शूल तो गड़ा ही रहता है। वे प्रतिदिन मथुरा से आने वाले मार्ग को निहारती हैं कि न जाने कब श्री कृष्ण लौट आये। मथुरा ब्रज से पाँच मील दूर होने पर भी गोपियाँ मथुरा नहीं जाती क्योंकि उनका प्रेम मान पर आधारित है। उनका प्रेम विरहाग्नि में तप कर और शुद्ध हो रहा है। वह प्रेमी की पीठ फिरना भी सहन नहीं कर सकता, स्थानान्तर तो बहुत बड़ी बात है[११६]—

अँखिया हरि दरसन की भूखीं।
कैसे रहति रूप रंच रांची, ये बतियाँ सुनि रूखीं।
अवधि गनत इकटक मग जोवत, तब इतनौ नहिं झूखीं॥[११७]

उधर श्री कृष्ण भी बचपन के सुखपूर्वक बिताये दिनों को कैसे भूल सकते हैं? उन्हें भी समस्त ब्रजवासियों की मधुर याद सताती रहती है। एक दिन वे अपने परम सखा उद्धव को ब्रज भेजते हैं। गोपिकाएँ उद्धव को जब ब्रज की ओर आते देखती हैं, उस समय वे अत्यन्त भाव-विह्वल हो जाती हैं। वेश-साम्य होने के कारण उद्धव को थोड़े समय के लिए कृष्ण मान लिया था। परन्तु जब उद्धव का रथ नन्द के द्वार पर रुकता है तब वे उन्हें भलिभाँति जान लेती हैं एवं दु:खभार से आक्रान्त हो मूर्छित हो गिर पड़ती है। इसके पश्चात् उद्धव गोपिकाओं को कृष्ण का पत्र देते हैं। गोपियाँ अपने प्रिय के हस्ताक्षरों को देख कर भावपरायण बन जाती हैं। सूर के शब्दों में देखिए—

निरखत अंग स्याम सुन्दर के, बार बार लावति लै छाति।
लोचन-जल कागद मसि मिलि के, ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।[११८]

तदुपरान्त ब्रज के लोग नन्द-यशोदा उद्धव को घेर लेते हैं तथा स्याम की कुशलता के समाचार पूछते हैं। उद्धव सबको कहते हैं कि चार-पाँच दिन में बलदेव और वे यहाँ आने वाले हैं। इसके पश्चात् वे गोपियों को ज्ञान-योग एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना का संदेश देते हैं। इससे गोपियों का विरह और भी धधक जाता है। इस संदेश से उनके मन पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, उसका "भ्रमरगीत प्रसंग" में सूर ने बड़ा ही विशद एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है।

भ्रमर को लक्ष्य बनाकर गोपियाँ कृष्ण की बेवफाई की जोरदार खबर लेती हैं। कृष्ण को वे चंचल, लम्पट, स्वार्थी, रस-लुब्ध इत्यादि सम्बोधनों से सम्बोधित करती हैं। कृष्ण व कुब्जा का नाता, गोपियों के लिए असह्य है। विरह की इतनी सूक्ष्म अभिव्यंजना सूर के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। उद्धव का रूखा ज्ञान गोपियों की प्रेमा-भक्ति के आगे झुक जाता है। अब उद्धव भी गोपियों के रंग में रंग कर उनका संदेशा ले मथुरा में कृष्ण के पास लौटते हैं। वे कृष्ण से कहते हैं कि आप अविलम्ब ब्रज लौट जाइये। आपके बिना सारा ब्रज विरहाग्नि में जल रहा है। हे माधव! आप उनके दु:ख को दूर करो। वे अपनी ब्रज-यात्रा का सम्पूर्ण वृत्तान्त उनको सुनाते हैं—

सुनिये ब्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत पर भूषन, देखतही उठि धाईं॥
जो तुम कही जोग की बातैं, सो हम सबै बताईं।
श्रवन मूदि गुन कर्म तुम्हारे, प्रेम मगन मन गाईं॥
औरौ कछू संदेश सखी इक, कहत दूरि लौ आईं।
हुतौ कछू हमहूं सौ नातौ निपट कहा बिसराईं॥
सूरदास प्रभु बन विनोद करि, जे तुम गाइ चराईं।
ते गाईं अब ग्वाल न घेरत, मानौ भईं पराईं॥[११९]

श्री कृष्ण जब उद्धव से ब्रज की प्रेम विह्वल दशा तथा विरहाकुलता की कहानी सुनते हैं, तब उनके हृदय से जो उद्‌गार प्रस्फुटित होते हैं, वे उनके यथार्थ व्यक्तित्व के सर्वथा सफल परिचायक हैं। श्री कृष्ण उद्धव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—

उद्धौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी अरु कुँजनि की छाहीं॥
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवति वर सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु-लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥[१२०]

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि श्री कृष्ण का चित्त ब्रज भूमि से अटका हुआ है। उनके मन में आज भी ब्रज के प्रति ममत्व एवं आकर्षण है।

इस प्रकार सूरसागर में वर्णित यह प्रसंग अत्यन्त ही मार्मिक, मनोवैज्ञानिक, वाग्वैदग्ध्य से परिपूर्ण एवं सूर की मौलिक उद्भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। सूरसागर के इस प्रसंग के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि—सूरदास का सबसे मर्मस्पर्शी तथा वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है, जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। ऐसा सुन्दर उपालम्भ काव्य और कहीं नहीं मिलता।[१२१]

अन्य प्रसंगों की भाँति आचार्य जिनसेन ने इस भ्रमरगीत प्रसंग का भी हरिवंशपुराण में उल्लेख नहीं किया है जबकि सूर का यह प्रसंग तो अत्यधिक विख्यात है—जो विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है। भागवत से भावसूत्र-ग्रहण कर सूर द्वारा सर्वप्रथम इस प्रसंग में लिखने के बाद हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत की एक परम्परा चल पड़ी है जो आधुनिक युग तक अनेक रंगों में पल्लवित होती आयी है।

कालयवन-वध :—

कालयवन, गर्ग ऋषि से उत्पन्न म्लेच्छों के राजा का पुत्र था। पाण्डवों द्वारा अपमानित होने पर गर्ग ऋषि ने शिव के वरदान से इस पुत्र की प्राप्ति की। जब जरासंध ने कंस-वध का समाचार सुन कर उसका बदला लेने के लिए श्री कृष्ण के साथ युद्ध किया, वह इस युद्ध में सत्रह बार पराजित हुआ। तब वह अत्यन्त लज्जित हो गया। इस पर इसने खिस्याकर कालयवन को अपने साथ लिया जिससे मथुरावासियों को पराजित किया जा सके, क्योंकि मथुरावासी वरदान के कारण कालयवन का वध करने में असमर्थ थे।

अत: श्री कृष्ण ने छल से कालयवन का वध किया। सूरसागर के अनुसार नि:शस्त्र होकर श्री कृष्ण कालयवन के सामने पहुँचे। उन्हें देखकर कालयवन श्री कृष्ण की ओर दौड़ा। श्री कृष्ण भागने लगे तो कालयवन ने उनका पीछा किया। श्री कृष्ण भागते हुए एक गुफा में छिप गये। वहाँ पर मुचुकुन्द राजा सो रहा था। उसने देवताओं से यह वरदान लिया था कि—जो मुझे सोते हुए उठायेगा, वह भस्म हो जाय। कालयवन ने सोते हुए मुचुकुन्द को श्री कृष्ण समझकर उसको पैर मारा जिससे देवताओं के वरदानानुसार वह स्वयं भस्म हो गया।

बार सत्तरह जरासंध मथुरा चढ़ि आयौ।
गयौ सो सब दिन हारि जात घर बहुत लजायौ॥
तब खिस्याइ के कालयवन, अपने संग ल्यायौ।

कालयवन मुचुकंदहिं सौं, हरि भस्म करायौ।
बहुरि आइ भरमाई, अचल रिपु ताहि जरायौ।[१२२]

हरिवंशपुराण के अनुसार कंस वध के पश्चात् जरासंध की पुत्री जीवयशा ने अपने पिता से जाकर शिकायत की कि उसके पति को श्री कृष्ण ने मार डाला है। इस पर जरासंध ने अपने पुत्र कालयवन को श्री कृष्ण के साथ युद्ध के लिए भेजा। उसने यादवों के साथ सत्रह बार युद्ध किया परन्तु उन्हें जीत नहीं सका। अन्त में कालावर्त पर्वत पर यादवों के हाथों से उसकी मृत्यु हुई। उसके बाद राजा जरासंध ने शीघ्र ही अपने भाई अपराजित को भेजा, जो महाबलशाली एवं पराक्रमी था। उसने यादवों के याथ तीन सौ छियालीस बार युद्ध किया परन्तु अन्त में वह श्री कृष्ण के बाणों के अग्रभाग से निष्प्राण हो धरती पर गिर पड़ा।

(क) चलजलधिसमानेनाभ्यमित्रं बलेन द्विपचतुरतुरंगस्यन्दनाद्येन गत्वा।
स लघु दश च सप्ताप्युग्रयुद्धानि युद्धवा यदुभिरतुलमालावर्तशैले ननाश॥[१२३] ३६-७१

(ख) तुमुलरणशतानि त्रीणि स प्रीणितास्तैर्यदुभिररिषु चत्वारिंशतं षट् च युद्धवा।
श्रमनुदमिव वीरो वीरशय्यां यशस्वी हरिशरमुखपीतप्राणसारोऽध्यशेत॥[१२४] ३६-७३

सूरसागर में वर्णित यह प्रसंग भागवतानुसार है जिसमें कालयवन को ऋषि-पुत्र बताया है, जिसका श्री कृष्ण ने छल द्वारा वध करवाया था। जबकि हरिवंशपुराण में कालयवन को जरासंध का पुत्र बताया गया है। यही यादवों के साथ सत्रह बार युद्ध करके अन्त में मृत्यु को वरण करता है। सूरसागर के अनुसार जरासंध ने सत्रह बार मथुरा पर चढ़ाई की थी न कि कालयवन ने। पुराणकार इस प्रसंग को इससे भी आगे ले जाकर जरासंध के भाई अपराजित द्वारा तीन सौ छियालीस बार यादवों के युद्ध को स्वीकार करते

हैं। सूरसागर में कालयवन वध का मात्र एक पद मिलता है जबकि हरिवंशपुराण में अपेक्षाकृत इसे विस्तृतता प्रदान की गई है। पुराणकार का युद्ध वर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है। इस प्रसंग को जिनसेनाचार्य ने अपनी नव्य मौलिकता के साथ विवेचित किया है। इतना होने पर भी दोनों कवियों की कथा मूल-रूप से साम्यता पर आधारित है।

श्री कृष्ण का द्वारिका-गमन :–

भागवत पुराण में उपर्युक्त प्रसंग के वर्णन में उल्लेखित है कि श्री कृष्ण ने कालयवन की सेना का संहार करके उसका समस्त धन छीनकर उसे मनुष्यों और बैलों पर लादकर द्वारका की ओर प्रस्थान किया। महाकवि सूर ने इस प्रसंग को उसी रूप में निरूपित किया है।

कंस-वध के पश्चात् मगध नरेश जरासंध अठारह बार तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की। शत्रु-सेना का प्रबल-वेग देखकर श्री कृष्ण एवं बलराम ने मनुष्य-लीलाकर उसके सामने भाग खड़े हुए। जरासंध ने उनका पीछा किया। महाकवि सूर ने जरासंध के साथ युद्ध का सजीव चित्र उपस्थित किया है—

मानहु मेघ घटा अति बाढ़ी।
बरषत बानबूंद सेना पर महानदी रनगाढ़ी।
बरन बरन बादर बनैत अरु दामिनि कर करवार।
गरज निसान घोर संख ध्वनि, हय गय हींस चिघार॥

उड़त जु धुजा पताक छत्ररथ तरुवर टूटत तीर।
परम निसंक समर सरिता तट, क्रीड़त यादव वीर॥[१२५]

तत्पश्चात् श्री कृष्ण व बलराम ऊँचे प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ गये। जरासंध ने जब यह देखा कि दोनों भाई पर्वत में छिप गए हैं तो उसने पर्वत को आग लगवा दी। श्री कृष्ण व बलराम पर्वत से नीचे कूद पड़े। परन्तु जरासंध व उसके सैनिकों ने उन्हें यह करते नहीं देखा। उस समय दोनों भाई वहाँ से चलकर समुद्र से घिरी द्वारकापुरी को चले। उधर जरासंध उन्हें जला हुआ समझकर मगध को चला गया।[१२६] द्वारका समुद्र के बीच में आई हुई नगरी थी। यहाँ जरासंध के आक्रमण का भय नहीं था। इसकी अनुपम शोभा थी। द्वारिका में स्थित सुन्दर बाग-तड़ाग, वन-उपवन, पशु-पक्षी सभी के मन में असीम आनन्द उत्पन्न करने वाले थे।

दिन द्वारावति देखन आवत।
नारदादि सनकादि महामुनि, तेउ अवलोकि प्रीति उपजावत॥
विद्रुम फटिक पची कंचन खचि, मनिमय मंदिर बने बनावत।

निसि दिन रहत विमानरूढरूचि, सुर बनितानि संग सब आवत।
सूर स्याम कीड़त कौतुहल, अमरनि अपनी भवन न भावत॥

तदुपरानत देवताओं को भी लालायित करने वाली सोने की नगरी द्वारिका में श्री कृष्ण का राज्याभिषेक किया गया। नगर के सभी लोग कृष्ण जैसे राजा को प्राप्त कर अत्यन्त आनन्द के साथ प्रभु गुण गाते वहाँ रहने लगे। सूरसागर में इस प्रसंग को संक्षेप में ही निरूपित किया है।

जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण के अनुसार श्री कृष्ण के द्वारका-गमन प्रसंग में कुछ नवीनताएँ हैं। जब जरासंध के पुत्र कालयवन एवं भाई अपराजित का श्री कृष्ण हाथों वध हो गया, तब यह समाचार सुन मगध नरेश जरासंध अत्यन्त क्रोधित हो गया। वह सारी सेना लेकर यादवों को नष्ट करने के लिए सौर्यपुर की ओर चल पड़ा। जब यादवों को यह पता चला कि जरासंध हमारे पीछे आ रहा है तो उन्होंने परस्पर मंत्रणा कर सौर्यपुर छोड़कर पश्चिम दिशा की तरफ प्रयाण किया। विन्ध्याचल के एक वन में एक देवी ने कृत्रिम चिताएँ जलाकर तथा यादवों के नष्ट होने के मिथ्या समाचार देकर जरासंध को वापस कर दिया। जरासंध वापस लौटकर मृतक जनों को श्रद्धांजलि अर्पित कर कृत-कृत्य की तरह निश्चिन्त रहने लगा।

द्राग् निवृत्य निजं स्थानं साऽध्यास्य सह बान्धवैः।
विपन्नेभ्यो जलं दत्त्वा कृतकृत्य इव स्थितः॥[१२७]

उधर सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से गौतम नामक शक्तिशाली देव ने समुद्र को शीघ्र ही हटा दिया तथा तदनन्तर श्री कृष्ण के पुण्य और नेमिनाथ तीर्थंकर की सातिशय भक्ति से कुबेर ने वहाँ शीघ्र ही द्वारका नाम की उत्तरपुरी की रचना कर दी।

यह नगरी विस्तृत भू-भाग में फैली हुई थी तथा रत्न व स्वर्ण से निर्मित अनेक महलों से सुशोभित अलकापुरी के समान प्रतीत हो रही थी। हरिवंशपुराण ने द्वारका का शोभा का बड़ा मनोरम वर्णन किया है।

इस सुन्दर नगरी में कुबेर ने कृष्ण को अनुपम मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभ मणि, दो पीत वस्त्र, लोक में अत्यन्त दुर्लभ नक्षत्रमाला आदि आभूषण, कुमुद्वति नामक गदा, शक्तिनन्दन नामक खड्ग, शार्ङ्ग नाम का धनुष, दो तरकश, वज्रमय बाण, सब प्रकार के शस्त्रों से युक्त एवं गरुड़ की ध्वजा युक्त दिव्य रथ प्रदान कर नारायण के रूप में स्थापित किया।[१२८] साथ ही बलदेव के लिए दो नील वस्त्र, माला-मुकुट, गदा, हल, मुसल, धनुषबाणों से युक्त दो तरकश, दिव्य अस्त्रों से परिपूर्ण एक ताल की ऊँची ध्वजा से सबल रथ और छत्र आदि प्रदान कर बलभद्र के रूप में स्थापित कर चले गये।

मेचकं वस्त्रयुगलं मालां च मुकुटं गदाम्।
लागंलं मुसलं चापं सशरं शरधिद्वयम्॥
रथं दिव्यास्त्रसंपूर्णमुच्चैस्तालध्वजोर्जितम्।
कुबेरः कामपालाय ददौ छत्रादिभिः सह॥[१२९]

तदन्तर यादवों के साथ संघ ने समुद्र के तट पर श्री कृष्ण एवं बलदेव का अभिषेक किया। वे हर्षित हो उनका जय-जयकार करने लगे तथा बड़े ही सुखपूर्वक उस नगरी में रहने लगे।

उपर्युक्त विवेचनानुसार दोनों ही ग्रन्थों में जरासंध के डर से श्री कृष्ण द्वारा भागकर कुबेर द्वारा निर्मित द्वारका नगरी में प्रवेश का वर्णन मिलता है। सूरसागर के अनुसार जरासंध द्वारा लगाई गई आग में से श्री कृष्ण व बलराम झांसा देकर भाग निकले, जबकि हरिवंशपुराण में एक देवी ने आग का कृत्रिम दृश्य बताकर जरासंध को वापस कर दिया। तदुपरान्त उन्होंने द्वारका को गमन किया। हरिवंशपुराण का यह प्रसंग सूरसागर की अपेक्षा अधिक विस्तृत, कलात्मक और रोचक है। द्वारका की शोभा का वर्णन भी जिनसेनाचार्य ने अत्यधिक किया है जबकि सूरसागर के दो-चार पदों में ही इसका उल्लेख मिलता है।

श्री कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण :-

रुक्मिणी विदर्भ देश के कुण्डिन नगर के राजा भीष्मक की पुत्री थी। कृष्ण रुक्मिणी को चाहते थे एवं रुक्मिणी श्री कृष्ण को चाहती थी।

ईर्ष्या के कारण भीष्मक के पुत्र रुक्मी ने जरासंध के कथनानुसार रुक्मिणी का विवाह श्री कृष्ण के साथ न करके चेटी नरेश शिशुपाल के साथ करना तय किया। जब रुक्मिणी को इस बात की जानकारी मिली कि उसका भाई उसका विवाह श्री कृष्ण से न करके शिशुपाल के साथ करवाना चाहता है, तब उसने एक ब्राह्मण के साथ श्री कृष्ण के पास सन्देशा भेजा। उसने पत्र में लिखा कि—वह उनको पति के रूप में वरण कर चुकी है। आप अविलम्ब इस पत्र को पढ़ते ही कुण्डिनपुर पधारो। आपके बिना मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। हे माधव! आप मेरी दीनता पर तरस खाकर मुझे स्वीकार करो। मुझे आप पर पूर्ण भरोसा है। हे गिरिधारी! आप मेरी लाज रखना।

द्विज पाती दे कहियो स्यामहिं।
कुंडिनपुर की कुंवरी रुकमिनी, जपति तिहारे नामहिं।
पालागौं तुम जाहु द्वारिका, नँद नंदन के धामहिं।
कंचन-चीर पटंबर देहौं कर कंकन जु इनामहिं।
यह सिसुपाल असुचि अज्ञानी हरत पराई बामहिं।
सूर स्याम प्रभु तुम्हारी भरोसो लाज करो किन नामहिं॥[१३०]

तदुपरान्त उस विप्र ने द्वारिका में श्री कृष्ण को रुक्मिणी का पत्र देकर उसका संदेशा कह सुनाया कि सिंह को दुर्बल देखकर उसका भोजन सियार ले जा रहा है। आज हंस के भाग को कौआ ले जा रहा है। हे मधुसुदन! आप जल्दी उठो, रथ चढ़ाकर कुण्डिनपुर का प्रयाण करो। अगर शिशुपाल के साथ रुक्मी ने रुक्मिणी का हाथ दे दिया तो वह अग्नि में स्नान कर लेगी।

तातै में द्विज बेगि पठायो, नेम धरम मरजादा जात।
सूरदास सिसुपाल पानि गहै, पावक रचौं करौं अपघात॥[१३१]

श्री कृष्ण ने तत्काल रथ जोड़कर ब्राह्मण के साथ कुण्डिनपुर की तरफ प्रयाण किया। जाते समय बलभद्र से कहा कि आप सेना लेकर कुण्डिनपुर की तरफ चढ़ाई करो, मैं जल्दी वहाँ पहुँच रहा हूँ। वहाँ पहुँच कर कृष्ण ने उस ब्राह्मण के साथ रुक्मिणी को समाचार पहुँचाया कि वे वहाँ आ गये हैं। रुक्मिणी ने उपर्युक्त समाचार सुनकर अत्यन्त आनन्द की अनुभूति की। वह मन ही मन विचार करने लगी कि अब मेरा नंद-नंदन श्री कृष्ण से मिलन कब होगा।

रुक्मिणी योजनानुसार अपनी सखियों के साथ पूजा करने हेतु देवी मन्दिर में आई। रुक्मी ने उसकी रक्षा के लिए कई सैनिकों को साथ भेजा। रुक्मिणी ने मन्दिर में जाकर देवी की पूजा कर उससे श्री कृष्ण को वर देने का वर माँगा। प्रसाद लेकर जैसे ही रुक्मिणी देवी मन्दिर से बाहर आई, उसी समय श्री कृष्ण वहाँ आये एवं उसे अपने रथ-चढ़ाकर हर ले गये।

पाइ प्रसाद अंबिका मन्दिर रुक्मिणी बाहर आई।
सुभट देखि सुन्दरता मोहे, धरनि गिरे मुरझाई॥
इहिं अंतर जादोपति आए रुकमिनि रथ बैठाई।[१३२]

उधर शिशुपाल भी अपनी सेना सहित बारात लेकर पहले ही कुण्डिनपुर पहुँच चुका था। जब उसे कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण की जानकारी मिली, तब उसने द्रतचक्र तथा वाराणसी के राजा के साथ श्री कृष्ण का पीछा किया। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। सूरसागर में इस युद्ध का कवि ने बड़ा रोचक वर्णन किया है—

साँग कहे झलक चहुँ दिसा चपला चमक,
गज गरज सुनत दिग्गज डराए।
स्याम बलराम सुधि पाइ सन्मुख भए,
बान बरषा लगे करब सारे॥

✣ ✣ ✣

राम हल मुसल संभारी धारयौ बहुरि,
पेलि के रथ सुभट बहु संहारे।

रुंड भकरुंड झुकि परे धर धरनि पर,
गिरत ज्यों बेग करि बज्र मारे॥[१३३]

रुक्मिणी ऐसे भयंकर युद्ध को देखकर घबरा गई। श्री कृष्ण ने उसे धैर्य प्रदान किया। अनेक राजा-महाराजा प्राण लेकर भागने लगे। लड़ते-लड़ते प्रातः काल होने आया एवं सूर्योदय होने लगा। भगवान् श्री कृष्ण ने शिशुपाल को यह कहकर जीवित छोड़ दिया कि—पुरुष का रणक्षेत्र से भागना ही मरने जैसा है। अतः मैं तुझे छोड़ रहा हूँ। शिशुपाल खिस्याकर वहाँ से चल दिया।

जब रुक्मी ने श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल को पराजित करने की बात जानी तो उसने भी श्री कृष्ण पर युद्ध कर बाणों की वर्षा शुरु कर दी। श्री कृष्ण ने क्षण भर में उसके बाणों को काटकर उसके रथ की ध्वजा काट दी एवं रथ के घोड़े एवं सारथि को मार गिराया। रुक्मी धरती पर गिर पड़ा। उसने तुरंत उठकर हरि से पुनः युद्ध प्रारम्भ किया। श्री कृष्ण ने जल्दी ही उसके सारे शस्त्रों को निवार दिया। अब वे क्रोधित होकर जैसे ही तलवार लेकर उसे मारने लगे तो रुक्मिणी ने प्रार्थना कर उसे जीवन-दान दिलवा दिया। रुक्मी श्री कृष्ण के चरणों में गिर पड़ा तथा कहने लगा कि हे प्रभु! मैंने अहंकार वश आपके मर्म को नहीं जाना था, मुझे क्षमा करें।

तत्पश्चात् श्री कृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारिका आये। द्वारिकावासियों ने जब यह सुना कि श्री कृष्ण अनेक शत्रुओं को जीतकर रुक्मिणी को लेकर नगर में आ रहे हैं तो सारे नगर में भव्य उत्सव का आयोजन किया गया। नगर-जन मंगलाचरण करने लगे। जगह-जगह सोने के कलशों में जल भरकर उनकी वंदना होने लगी। श्री कृष्ण ने रुक्मिणी से विधिवत् विवाह कर उसे पटरानी बनाई।

इस प्रकार सूरसागर में वर्णित यह प्रसंग भागवतानुसार है परन्तु सूर ने अपनी मौलिकता से इस प्रसंग को और भी सुन्दर बना दिया है। कवि ने इसे दो लीलाओं में वर्णित किया है। रुक्मिणी के पत्र एवं सन्देशों में तथा शिशुपाल के साथ श्री कृष्ण के युद्ध में कवि ने भाव-पूर्ण चित्र अंकित किए हैं।

आचार्य जिनसेन ने भी इस प्रसंग का विस्तार से निरूपण किया है। यह प्रसंग सूरसागर में कुछ भिन्नता पर आधारित है। आचार्यजी ने रुक्मिणी-हरण का कारण यह बताया है कि एक बार नारद मुनि कृष्ण के अन्तःपुर में गये वहाँ पर अपनी सजावट में लीन सत्यभामा ने उनका सत्कार नहीं किया। तब वे सत्यभामा का मान भंग करने हेतु एक सुंदर कन्या की खोज करने लगे। एक दिन फिरते-फिरते वे कुण्डिनपुर पहुँचे। वहाँ राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी को देखकर उन्होंने उसे श्री कृष्ण के लिए उपयुक्त जाना। नारद ने वहाँ श्री कृष्ण की प्रशंसा कर रुक्मिणी का अनुराग श्री कृष्ण में बढ़ाया तथा रुक्मिणी का चित्रपट लेकर श्री कृष्ण के पास पहुँच कर श्री कृष्ण का मन रुक्मिणी की ओर आकृष्ट किया।[१३४]

उधर रुक्मिणी के फुआ ने उसे अवधिज्ञान-धारक अतिमुक्तक मुनि द्वारा कही गई बात सुनाई तथा कहा कि—नारद मुनि की बात सत्य होगी परन्तु तेरा भाई तुझे उसके मित्र शिशुपाल को देना चाहता है।

इस पर रुक्मिणी के कथनानुसार उसकी फुआ ने एक विश्वासपात्र व्यक्ति को पत्र देकर गुप्त रूप से श्री कृष्ण के पास द्वारिका भेजा। पत्र में लिखा था कि—हे कृष्ण, रुक्मिणी आपमें अनुरक्त है तथा आपके नाम रूपी आहार से सन्तुष्ट हो प्राण धारण कर रही है। यह आपके द्वारा अपना हरण चाहती है। हे माधव! यदि माघ-शुक्ला अष्टमी के दिन आप आकर शीघ्र ही रुक्मिणी का हरण कर ले जाते हैं तो निस्सन्देह यह आपकी होगी। अन्यथा पिता और बान्धवजन के द्वारा यह शिशुपाल को दे दी जायेगी और उस दशा में आपकी प्राप्ति न होने से मरना ही इसे शरण रह जायेगा अर्थात् यह आत्मघात कर मर जायेगी। यह नागदेव की पूजा के बहाने आपको नगर के बाह्य उद्यान मन्दिर में मिलेगी सो आप दयालु हो, अवश्य ही आकर इसे स्वीकृत करें।[१३५]

श्री कृष्ण उस पत्र को पढ़कर बलदेव के साथ गुप्त रूप से कुण्डिनपुर पहुँच गये। उधर शिशुपाल भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ पहले ही पहुँच गया था। रुक्मिणी नागदेव की पूजा कर उद्यान में पहले ही खड़ी थी। कृष्ण ने वहाँ आकर उसे अच्छी तरह से देखा एवं कहा कि—हे भद्रे! मैं तुम्हारे लिए ही आया हूँ और जो तुम्हारे हृदय में है, वही मैं हूँ। यदि सचमुच ही तूने मुझसे अपना अनुपम प्रेम लगा रखा है तो हे मेरे मनोरथों को पूर्ण करने वाली प्रिये! आओ रथ पर सवार हो जाओ। इस प्रकार श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया। तदनन्तर उन्होंने रुक्मिणी के भाई रुक्मी, शिशुपाल तथा भीष्मक को रुक्मिणी हरण समाचार देकर अपना रथ आगे बढ़ा दिया।

समाचार प्राप्त होते ही दोनों महावीरों ने अपनी विशाल सेना के साथ श्री कृष्ण का पीछा किया। सेना को निकट आते देख रुक्मिणी भयभीत हो गई परन्तु श्री कृष्ण ने उसे शान्त किया। जैसे ही शिशुपाल एवं रुक्मी के साथ शत्रु सेना उनके पास आई उस समय वेग के साथ श्री कृष्ण व बलराम ने अपने रथों को मोड़ लिया। तदन्तर रोष से भरे हुए इन दोनों के बाणों से शत्रु सेना चारों ओर भाग कर नष्ट हो गई तथा उसका अहंकार नष्ट-भ्रष्ट हो गया। तदनन्तर श्री कृष्ण ने गिरनार पर्वत पर रुक्मिणी से विवाह किया।

रुष्टयोः शरजालेन द्विष्टसैन्यं ततोऽनयोः।
भ्रिष्टं ननाश विध्वस्तक्लिष्टदर्पमभिद्रुतम्॥
हरिणेव रणे रौद्रे हरिणा दमघोषजः।
हलिना भीष्मजो राजा भीष्माकारः पुरस्कृतः॥[१३६] **४२/९२-९३**

उपर्युक्त विवेचनानुसार हरिवंशपुराण में निरूपित यह प्रसंग सूरसागर से कुछ वैषम्य पर आधारित है। इसमें नारदमुनि का सत्यभामा-मानभंग प्रसंग, रुक्मिणी की उसकी

फुआ द्वारा सहायता व इसी प्रसंग में श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल वध[१३७] इत्यादि घटनाएँ नवीनता को लिए हुए है। जिनसेनाचार्य ने इस प्रसंग को विशदता के साथ विवेचित किया है। कवि ने युद्ध वर्णन के सजीव दृश्य उपस्थित किए हैं। वर्णन-कौशल एवं रोचकता की दृष्टि से हरिवंशपुराण का निरूपण अपेक्षाकृत ज्यादा सुन्दर बन पड़ा है। सूरसागर में रुक्मिणी हरण, द्वारिका-आनन्दोत्सव का जो वर्णन मिलता है, उसका हरिवंशपुराण में अभाव रहा है।

श्री कृष्ण के अन्य विवाह :-

श्रीमद्भागवतपुराण के कथानुसार सूरसागर में महाकवि सूर ने श्री कृष्ण की आठ पटरानियों का उल्लेख किया है। इसमें सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा, लक्ष्मणा एवं रुक्मिणी के नाम आते हैं। श्री कृष्ण ने इनके साथ अलग-अलग प्रसंगों में विवाह किया उसका कवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

जाम्बवती एवं सत्यभामा के साथ श्री कृष्ण के विवाह प्रसंग में स्यमन्तक मणि की कथा आती है जो निम्न प्रकार है—

विघ्न के पुत्र सत्राजित ने सूर्य से एक दिव्य मणि प्राप्त की थी जो स्यमन्तक-मणि के रूप में जानी जाती थी। उस मणि को श्री कृष्ण प्राप्त करना चाहते थे परन्तु वह उन्हें न मिली। एक दिन सत्राजित का भाई प्रसेन उस मणि को पहनकर शिकार खेलने गया। वहाँ पर एक शेर ने उसे मार गिराया एवं वह मणि को लेकर चला गया। ऋक्षराज जाम्बवंत ने उस शेर को मारकर, वह मणि हमेशा के लिए अपनी गुफा में रख दी। उधर सत्राजित ने श्री कृष्ण पर अपने भाई प्रसेन-वध तथा मणि लेने का आरोप लगाया, तब श्री कृष्ण वन में गये तथा जाम्बवंत से युद्ध कर उसे हराया और उसकी जाम्बवती के साथ स्यमन्तक मणि को प्राप्त किया। श्री कृष्ण ने यह मणि सत्राजित को दी। सत्राजित ने श्री कृष्ण पर लगाये आरोप से लज्जित होकर अपनी कन्या सत्यभामा का विवाह श्री कृष्ण के साथ कर दिया। इस प्रकार श्री कृष्ण ने जाम्बवती व सत्यभामा को प्राप्त कर उसे अपनी रानियाँ बनाई।

हरि दरसन सत्राजित आयौ।
लोगनि जान्यौ आदित आवत हरि सो जाइ सुनायौ॥
जांबवती समेत मनि दे पुनि अपनौ रोष छमायौ।
मनि सत्राजित को प्रभु दीन्ही, रहयौं सु सीस नवाइ।
सत्यभामा समेत लै आयो मनि कौं हरि सिर नाइ॥[१३८]

रुक्मिणी, जाम्बवती तथा सत्यभामा के अलावा श्री कृष्ण की पाँच पटरानियों का उल्लेख करते हुए सूर ने लिखा है कि हरि के स्मरण करने से श्री कृष्ण ने कालिन्दी को वर दिये तथा उसके साथ पाणि-ग्रहण कर उसे सब प्रकार का सुख दिया। जब "मित्रविन्दा"

ने श्री कृष्ण का ध्यान किया, तब श्री कृष्ण ने अविलम्ब उससे विवाह कर उसके सकल मनोरथ पूर्ण किये। हरि के चरणों का चित्त लगाने से "सत्या" के साथ श्री कृष्ण ने विवाह किया एवं इसी प्रकार भद्रा ने श्री कृष्ण ने स्मरण किया तो त्रिभुवनराम ने तुरंत ही उसकी मनोइच्छा पूर्ण की। अन्य रानियों की भाँति लक्ष्मणा ने भी हरि का ध्यान किया तो श्री कृष्ण ने स्वयंवर में उसे प्राप्त कर लिया। इस प्रकार श्री कृष्ण ने इन सब कन्याओं को प्राप्त कर उन्हें अपनी पटरानियाँ बनाया तथा सुखपूर्वक रहने लगे।[१३९]

श्री कृष्ण की आठ पटरानियों के सिवाय सूरसागर में नारद-संशय तथा भौमासुर-वध प्रसंग में उनकी सोलह हजार रानियों का वर्णन मिलता है। नारद मुनि को एक बार अपने मन में यह होता है कि—

जाकै गृह द्वे नारि हैं, ताहि कलह नित होइ,
हरि बिहारी किहि विधि करत, नैननि देखो जोई।[१४०]

और वे कृष्ण के प्रत्येक महल में जाकर देखते हैं तो वहाँ श्री कृ॰, विराजमान हैं। वे सोचते हैं शायद श्री कृष्ण जल्दी दौड़कर मेरे से पहले दूसरे महल में चले जाते हैं। इसी से वे तेजी से दूसरे महल में पहुँचते हैं तो देखते हैं कि श्री कृष्ण बालकों से खेल रहे हैं। इस प्रकार श्री कृष्ण उन्हें हर जगह दिखाई देते हैं।

इसी प्रकार श्री कृष्ण द्वारा भौमासुर को मारकर उसके यहाँ बन्दी सोलह हजार कुमारियों को छुड़ाकर उनसे विवाह का वर्णन भी मिलता है।

षष्ठ दस सहस कन्या असुर बंदि मैं,
नींद अरू मुख अहनिसि बिसारी।
बहुरि बहु रूप धरि गए सबन घर,
ब्याह करि सबनि की आस पूरी।
सबनि कै भवन हरि रहत सब रैनि दिन,
सबनि सौ नैकु नहिं होत दूरी॥[१४१]

इस प्रकार सूरसागर में श्री कृष्ण की सोलह हजार रानियों तथा आठ पटरानियों का उल्लेख मिलता है जिसे कवि ने वर्णनात्मक शैली से विवेचित किया है। इस प्रसंग के निरूपण में सूर के भाव एवं भाषा में सरलता परिलक्षित होती है।

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण के अनेक विवाहों का उल्लेख किया गया है परन्तु यह चित्रण सूरसागर से सर्वथा भिन्न है। सत्यभामा के साथ श्री कृष्ण के विवाह का प्रसंग जिनसेनाचार्य ने इस प्रकार कहा है कि—सत्यभामा रथनूपुर चक्रवाल नगर के राजा सुकेतु की पुत्री थी। कृष्ण के शौर्य के समाचार मिलने पर सुकेतु ने एक दूत श्री कृष्ण के पास भेजा तथा मथुरा से सन्देश मिलने पर सत्यभामा को मथुरा ले जाकर उसका विवाह श्री कृष्ण के साथ कर दिया।

अतिमुदितसुकेतुः सत्यभामां प्रभायाः,
स्वयमुपपदवत्वा गर्भजां केशवाय॥[१४२] ३६/६१

हरिवंशपुराण के अनुसार श्री कृष्ण के अन्तःपुर में सोलह हजार योग्य गुणों से युक्त रानियाँ थी, जिसमें आठ पटरानियाँ थीं। श्री कृष्ण के दूसरी पटरानी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि—एक दिन नारद ने श्री कृष्ण से कहा कि—विजयार्ध पर्वत की दक्षिण-श्रेणि में जम्बपुर नामक नगर में जाम्बव नाम का विद्याधर रहता है। उसकी जाम्बवती नाम की कन्या अत्यन्त रूपवती मानो साक्षात् लक्ष्मी है। वह इस समय सखियों के साथ स्नान करने गंगा में उतरी है। श्री कृष्ण ने वहाँ जाकर स्नान क्रीड़ा को प्रारम्भ करने वाली जाम्बवती को देखा। दोनों की निगाहें मिली एवं प्रेम हो गया। फलतः श्री कृष्ण उस कन्या को हर ले गये तथा उससे विधिवत् विवाह कर लिया। कन्याहरण के कारण सखियों के जोरदार रुदन के स्वर को सुनकर कन्या का पिता जाम्बव हाथ में तलवार ढाल लेकर शीघ्र ही आकाश मार्ग से चल पड़ा। आकाशगामी अनावृष्टि ने शीघ्र उसके साथ युद्ध किया तथा उसे बांध दिया। इस घटना से जाम्बव को वैराग्य हो गया तथा वह वन में चला गया। उधर श्री कृष्ण जाम्बवती के साथ परमानंद प्राप्त कर द्वारिका गये।

जाम्बवत्या विवाहेन परमानन्दमाश्रितः।
विश्वक्सेनयुतो विष्णुर्द्वारिकामगमन्निजाम्॥[१४३] ४४-१६

श्री कृष्ण के एक अन्य विवाह प्रसंग में आता है कि—किसी समय सिंहलद्वीप में सूक्ष्मबुद्धि का धारक शूक्ष्णरोम नामक राजा रहता था। उसे वश करने के लिए किसी समय श्री कृष्ण ने अपना दूत भेजा परन्तु दूत ने वापस आकर उसके प्रतिकूल होने की खबर दी तथा साथ में यह भी कहा कि उसके उत्तम लक्षणों से युक्त लक्ष्मणा नाम की कन्या है। तदन्तर हर्ष युक्त श्री कृष्ण बलदेव के साथ वहाँ गये। वहाँ उन्होंने स्नान के लिए समुद्र में आई हुई मृगलोचनी लक्ष्मणा को देखा। श्री कृष्ण के रूप पर वह मोहित हो गई। श्री कृष्ण ने यहाँ महाशक्तिशाली सेनापति द्रुमसेन को युद्ध में हराकर उस रूपवती लक्ष्मणा का हरण कर लिया। द्वारका में आकर उसके साथ विधिपूर्वक विवाह किया एवं उसे महल दे रमण करने लगे।

द्रुमसेनं महावीर्यं हत्वा सेनापतिं युधा।
हृत्वा चेतः स्वरूपेण रूपिणीमहरत्पुनः॥[१४४] ४४-२३

उसी समय सुराष्ट्र देश में एक राष्ट्रवर्धन नामक राजा था। उसके एक सुसीमा नाम की पुत्री थी जो कि उत्तम गुणों से युक्त अप्सराओं के समान लगती थी। उसके एक भाई था। जिसका नाम नमुचि था, वह अत्यन्त पराक्रमी था। एक दिन युवराज नमुचि तथा उसकी बहिन सुसीमा स्नान करने समुद्र तट पर आये। इधर नारदमुनि ने श्री कृष्ण को

उन दोनों की खबर दी। श्री कृष्ण खबर पाते ही बलदेव के साथ वहाँ आये तथा प्रभासतीर्थ पर, जिसकी सेना ठहरी हुई थी ऐसे समय उस नमुचि को मारकर कन्या सुसीमा का हरण कर द्वारका आये।[१४५]

श्री कृष्ण की गौरी नामक पटरानी से विवाह का उल्लेख करते हुए जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि—सिन्धु देश के वीतभय नामक नगर में इक्ष्वाकु वंश को बढ़ाने वाला मेरु नाम का राजा राज्य करता था। उसके गौरी नाम की एक कन्या थी, जो गौर वर्ण थी। एक बार निमित्तज्ञानी ने बताया कि यह कन्या नौवें नारायण श्री कृष्ण की पत्नी होगी। इसलिए उसके वचनों का स्मरण रखने वाला राजा मेरु ने पहले तो श्री कृष्ण के पास एक दूत भेजा एवं तदुपरान्त मृगलोचनी गौरी को भेजा। श्री कृष्ण ने मन को हरने वाली गौरी से विवाह कर उसके लिए एक सुन्दर भवन प्रदान कर दिया।

परिणीय हरिर्गौरीं मनोहरणकारिणीम्।
सुसीमासदनाभ्यर्णं प्रादात्प्रासादमुच्चकैः॥[१४६] ४४-३६

उसी समय बलदेव के मामा हिरण्यनाभ अरिष्टपुर नगर में राज्य करते थे। उनके पद्मावती नामक उत्तम कन्या थी, जो साक्षात् लक्ष्मी जान पड़ती थी। जब उसका स्वयंवर हो रहा था उस समय श्री कृष्ण व बलराम वहाँ गये। स्वयंवर के समय युद्ध-निपुण श्री कृष्ण ने हठपूर्वक उसका हरण कर लिया तथा जिन्होंने युद्ध में शूरवीरता दिखलाई, उन्हें शीघ्र ही नष्ट कर डाला।

स्वयंवरे प्रवृत्तेऽत्र हृत्वा पद्मावतीं हठात्।
रणशौण्डान्ममर्दाशु शौरिराहवदक्षिणः॥[१४७] ४४-४२

हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण की आठवीं पटरानी "गान्धारी" को बताया है। इसके साथ श्री कृष्ण के विवाह प्रसंग को उल्लेखित करते हुए जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि—गान्धार देश की पुष्यकलावती नगर में एक इन्द्रगिरि नाम का राजा राज्य करता था। उसके गान्धारी नाम की एक पुत्री थी, जो गन्धर्व-कलाओं में निपुण थी। नारदमुनि द्वारा श्री कृष्ण को जब यह ज्ञात हुआ कि गान्धारी का भाई उसे हयपुरी के राजा सुमुख को दे रहा है, तब वे शीघ्र ही जाकर रणांगण में प्रतिकूल हिमगिरि को मारकर गान्धारी को हर लाये एवं उस सौम्यमुखी से विवाह कर अत्यन्त हर्षित हुए।[१४८]

इस प्रकार हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण के अनेक विवाहों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक कन्या के साथ श्री कृष्ण के विवाह में पुराणकार ने उनकी वीरता का चित्रण किया है। जबकि सूरसागर में पाँच कन्याओं के साथ उनका विवाह भक्ति-भाव होने के कारण होता है। हरिवंशपुराण में वर्णित यह प्रसंग कवि की मौलिकता पर आधारित है। श्री कृष्ण के विवाहों का ऐसा उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। दोनों कृतियों में वर्णित इस प्रसंग में पर्याप्त वैषम्य होने के बावजूद भी कुछ साम्य है। दोनों कवियों ने श्री

कृष्ण की आठ पटरानियों का उल्लेख किया है जिसमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती तथा लक्ष्मणा के नाम साम्य हैं। सूरसागर में वर्णित कामिन्दी, मित्रा, सत्या व भद्रा के स्थान पर जिनसेनाचार्य ने गौरी, सुसीमा, पद्मावती तथा गान्धारी का निरूपण किया है। हरिवंशपुराण का यह प्रसंग सूरसागर की अपेक्षा विस्तृत, रोचक तथा विभिन्न प्रदेशों के भौगोलिक ज्ञान-सभर है।

प्रद्युम्न जन्म और विवाह :–

दोनों ही आलोच्य कृतियों में श्री कृष्ण के अनेक पुत्रों का वर्णन मिलता है, जिसमें प्रद्युम्न उल्लेखनीय है। सूरसागर के अनुसार कामदेव ने प्रद्युम्न के रूप में रुक्मिणी के उदर से जन्म लिया। उसी समय कामदेव की पत्नी रति मायादेवी के रूप में उत्पन्न होकर शम्बासुर की पत्नी बन उसके पास रहने लगी। जब प्रद्युम्न छः दिन का हुआ, उस समय शम्बासुर ने उसका हरण कर उसे समुद्र में फैंक दिया। बाल प्रद्युम्न को एक मच्छ निगल गया। उस मच्छ को एक मछुआरे ने पकड़ा तथा उसे शम्बासुर को भेंट दे दिया।

पृथ्वी पर असुर संबर भयौ अति प्रबल,
तिन उदधि माँहि तिहिं डारी दीन्हौं।
मच्छ लियो-भच्छि सो मच्छ मछबी गह्यौ,
असुरपति को सु लै भेंट कीन्हौं॥[१४९]

तदन्तर मायावती ने जब उस मछली का पेट चीरा तो उसमें से वह बालक निकला। तब उसने नारदमुनि के वचनों को याद कर उसका पालन-पोषण किया। समयानुसार वह पूर्ण यौवन को प्राप्त हुआ, उस समय मायावती उसके रूप-लावण्य पर अनुरक्त हो गई। उसने उसके माता-पिता के बारे में जानकारी दी तथा कहा कि मैं रति हूँ तथा तू कामदेव का अवतार है। मैं तुझे विद्या सिखाती हूँ, उसके बल पर तू इस राक्षस को मार गिरा। प्रद्युम्न ने उससे सभी प्रकार की विद्या सीख कर उस असुर के साथ युद्ध किया एवं अपनी तलवार से उसे काट डाला। तत्पश्चात् वह आकाशमार्ग से शीघ्र ही द्वारिका आया। उसके आगमन से समस्त यादववंशी अत्यन्त हर्षित हुए तथा उन्होंने उस खुशी में एक भव्य उत्सव का आयोजन किया।

बहुरि आकास मग जाइ द्वारावती,
मातु मनमोद अति ही बढ़ायौ।
भयौ जदुवंश अति रहस मनु जनम भयौ,
सूर जन मंगलाचार गायौ।[१५०]

प्रद्युम्न के जन्म एवं उसके विद्याध्ययन की भाँति उसके विवाह का उल्लेख भी सूरसागर में मिलता है। उसके अनुसार एक बार श्री कृष्ण व बलराम प्रद्युम्न के विवाह हेतु रुक्म के यहाँ गये। वहाँ कलिंग के राजा ने बलराम को जुएँ में पराजित करने की

उसे सलाह दी। कपट द्वारा लक्ष्मी ने बलराम को जुए में हरा दिया एवं वह उनकी हँसी उड़ाने लगा। इस पर क्रोधित हो बलराम ने फिर बाजी लगाई तो वे जीत गये, लेकिन रुक्मी ने कहा कि जीत मेरी हुई है। तब बलराम ने क्रुद्ध होकर रुक्मी को तथा कलिंग के राजा को मार डाला एवं उन्होंने रुक्मी की पुत्री के साथ प्रद्युम्न का विवाह कर द्वारिका को प्रयाण किया।

रुक्म अरु कलिंग को राउ मारयौ प्रथम, बहुरि तिनके बहु सुभट मारे।
सूर प्रभु स्याम बलराम रनजीत भए, ब्याहि प्रद्युम्न निज पुर सिधारे॥[१५१]

हरिवंशपुराण में प्रद्युम्न-चरित्र का विस्तृत वर्णन आता है। पुराण के ४३ वें सर्ग में प्रद्युम्न के जन्म की कथा आती है। इसके अनुसार प्रद्युम्न श्री कृष्ण की रानी रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र था। जन्म की छठी रात्रि में धूमकेतु नामक एक राक्षस ने बालक प्रद्युम्न का अपहरण किया तथा उसे एक शिला के पास रख भाग गया। उसी समय कालसंवर नामक विद्याधर ने बालक प्रद्युम्न को उठा लिया। उसकी पत्नी कंचनमाला ने उसका पालन-पोषण किया। युवा होने पर प्रद्युम्न अतिशय रूपवान, बलशाली व प्रतिभाशाली बना। उसने कालसंवर के शत्रु सिंहरथ को पराजित किया। कालसंवर के अन्य पुत्र उससे जलने लगे व उसको मारने का उपाय सोचने लगे। परन्तु प्रद्युम्न ने निर्भय होकर सभी विपत्तियों का सामना किया तथा अने विद्याएँ सीख ली। उसके रूप-सौन्दर्य एवं साहस पर कालसंवर की पत्नी कंचनमाला अनुरक्त हो गई। उसने उसे तीन विद्याएँ सिखाई एवं उससे आलिंगन सुख हेतु अनेक काम चेष्टाएँ की। पालन-पोषण करने वाली माता स्वरूपा कंचनमाला के ऐसे विचार जान प्रद्युम्न ने उसे माता व पुत्र सम्बन्ध बतलाने का प्रयास किया।

वैपरीत्यं ततो ज्ञात्वा निन्दित्वा कर्मचेष्टितम्
स मात्रपत्यसंबन्धप्रत्यायनपरोऽभवत्॥[१५२] ४७-५८

इस पर कंचनमाला ने उसे उसकी प्राप्ति का वृत्तान्त सुनाया तथा बार-बार उससे सहवास की कामना की। प्रद्युम्न उसमें सहमत नहीं हुआ तो इससे कुपित हो कंचनमाला ने कालसंवर को उसके विरुद्ध उकसाया। कालसंवर तथा प्रद्युम्न के बीच भयंकर युद्ध हुआ, तभी नारद ने आकर बीच बचाव किया। तदन्तर वास्तविक वृत्तान्त जान वह आकाशमार्ग से द्वारिका की ओर रवाना हुआ। मार्ग में हस्तिनापुर की शोभा देख वह उस नगरी को देखने नीचे उतरा। वहाँ प्रद्युम्न ने हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन की पुत्री उदधि कुमारी से मोहित हो विवाह किया। तत्पश्चात् वह मथुरा होते हुए द्वारिका लौटा।

द्वारिका आकर उसने अपनी विमाता सत्यभामा व उसके पुत्र भानुकुमार को अपनी विद्याओं से परेशान किया। ब्रह्मचारी का वेश बनाकर वह अपनी माता रुक्मिणी के पास गया तथा मायामयी रुक्मिणी बनाकर उसे कृष्ण की सभा के आगे खींचते हुए ले जाकर

कृष्ण को ललकारा। कृष्ण और प्रद्युम्न में भयंकर युद्ध हुआ। तब नारद ने आकर प्रद्युम्न का परिचय दिया। सभी बड़े प्रसन्न हुए। नगर में उत्सव मनाया गया।

ततः प्रणतमाघ्रिष्य प्रद्युम्नं प्रमदी हरिः।
आनन्दाश्रुपरीताक्षः समयोजयदाशिषाः॥

✣ ✣ ✣

रुक्मिणीजाम्बवत्यौ ते जातपुत्रसमागमे।
तदाचीकरतां तोषादुत्सवं वत्सवत्सले॥[१५३ 'अ' ४७/१३३-१३५]

उपर्युक्त विवेचनानुसार दोनों ही कवियों ने श्री कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न का वर्णन किया है। दोनों ही कृतियों में उसे रुक्मिणी पुत्र स्वीकार किया है। प्रद्युम्न का अपहरण, उसकी आकाशगामी विद्याएँ तथा पालन-पोषण करने वाली माँ की अनुरक्ति इत्यादि प्रसंगों में साम्यता दिखाई देती हैं। सूरसागर में यह प्रसंग मात्र दो पदों में वर्णित है जबकि हरिवंशपुराण में इस कथा को विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है। पुराणकार ने रुक्मिणी का विलाप, प्रद्युम्न का रूप सौन्दर्य, उसका युद्ध-कौशल, उसके द्वारा अनेक विद्याओं की प्राप्ति, उदधिकुमारी के साथ उसका विवाह, कृष्ण-प्रद्युम्न युद्ध, नारद द्वारा परिचय एवं उसका राजसुख इत्यादि विविध प्रसंगों को नवीनता के साथ चित्रित किया है। यह प्रसंग हरिवंशपुराण की मौलिकता है।

शिशुपाल वध :–

श्री कृष्ण द्वारा किये गये कार्यों में शिशुपाल वध प्रसंग भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत पुराण में शिशुपाल के बारे में वृत्तान्त आता है कि वह चेदिराज दमघोष व श्रुतश्रवा का पुत्र था। श्रुतश्रवा श्री कृष्ण की बुआ थी। जन्म के समय उसके तीन आँखें व चार हाथ थे। अतः इसके माता-पिता चिन्तित हुए एवं इसे त्यागने का विचार किया परन्तु उस समय आकाशवाणी हुई कि इस शिशु का पालन करो; यह बहुत ही सम्पन्न व पराक्रमी होगा। अभी इसकी मृत्यु नजदीक नहीं है। इसका वध करने वाला संसार में पैदा हो गया है। यह उसी के हाथों से मृत्यु का वरण करेगा। यह सुन शिशुपाल की माता ने पूछा कि—इसकी मृत्यु किसके हाथों होगी। तब अदृश्य-भूत ने यह कहा कि—इस बच्चे का जिसके द्वारा गोद में लेने से इसके दो हाथ पृथ्वी पर गिर जाएँ एवं तीसरा नेत्र ललाट में छिप जाय, उसी के हाथों से इसकी मृत्यु होगी। तदुपरान्त सूचना मिलने पर श्री कृष्ण एवं बलराम अपनी बुआ श्रुतश्रवा को मिलने चेदि राज्य में गये। वहाँ पर श्रुतश्रवा ने श्री कृष्ण की गोद में अपने पुत्र को डाल दिया। श्री कृष्ण की गोद में बच्चे को डालते ही उसके दोनों हाथ गिर पड़े एवं तीसरा नेत्र मस्तक में समा गया।

इस पर भयभीत हो श्रुतश्रवा ने श्री कृष्ण से यह वर देने का अनुरोध किया कि वे उसके सभी अपराध क्षमा कर देंगे। तब श्री कृष्ण ने श्रुतश्रवा को यह वरदान दिया कि—वे इसके सौ अपराध क्षमा कर देंगे।

जब वह बड़ा हुआ तो रुक्मिणी के पिता ने रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से तय किया। शिशुपाल बारात लेकर रुक्मिणी से विवाह करने हेतु कुण्डिनपुर गया परन्तु वहाँ श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया। जब उसे यह ज्ञात हुआ तब वह सेना लेकर श्री कृष्ण के पीछे गया। वहाँ श्री कृष्ण व बलराम के साथ उसका भयंकर युद्ध हुआ परन्तु उसे पराजित कर श्री कृष्ण ने यह कहा कि—मैं तुझे एक बार और क्षमा करता हूँ। पुरुष का रणक्षेत्र में भागना भी मरने जैसा है। उसी दिन से शिशुपाल श्री कृष्ण से और भी शत्रुता रखने लगा।[१५३ 'ब']

तदुपरान्त इन्द्रप्रस्थ नरेश युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण की सलाह पर राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। उसी समय श्री कृष्ण द्वारिका से नाना प्रकार के उपहार एवं अपनी विशाल सेना लेकर इन्द्रप्रस्थ आये। युधिष्ठिर ने उनका भव्य स्वागत किया तथा यज्ञ की आज्ञा माँगी। श्री कृष्ण की आज्ञा से युधिष्ठिर ने अपने ब्राह्मणों से यज्ञ-दीक्षा लेकर राजसूय यज्ञ प्रारम्भ किया। युधिष्ठिर ने अपने सभी भाईयों व सम्बन्धियों को अलग-अलग कार्यों पर नियुक्त किया। श्री कृष्ण ने ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वीकार किया तथा वे स्वेच्छा से ब्राह्मणों के पद-कदम धोने लगे।

युधिष्ठिर के इस राजसूय यज्ञ में अनेक देशों के राजा-महाराजा व विप्र-गण आने लगे। नारदमुनि भी वहाँ पर आये तथा वे श्री कृष्ण की महिमा का चिन्तन कर यज्ञ में बैठ गये। उसी समय भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से वहाँ पर उपस्थित सभी राजाओं से अर्घ्य निवेदन करके उनकी पूजा करने के लिए कहा तथा जो सभी राजाओं में श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली है, उसको पहले अर्घ्य समर्पित कर अग्रपूजा करने के लिए कहा। यह सुनकर युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि—इन राजाओं में श्रेष्ठ एवं प्रथम पूजने योग्य कौन है? इस पर भीष्म पितामह ने कहा कि—श्री कृष्ण का ही प्रथम पूजन होना चाहिए।[१५४]

तदनुसार युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण की अग्रपूजा की। श्री कृष्ण की इस अग्रपजा को देखकर चेदिराज शिशुपाल भरी सभा में भीष्म व युधिष्ठिर को उलाहना देकर श्री कृष्ण से आक्षेपपूर्ण वचन कहने लगा कि—यहाँ पर अन्य राजाओं के होते हुए वृष्णी-वंश श्री कृष्ण राजाओं के समान पूजा का अधिकारी नहीं है। शिशुपाल के श्री कृष्ण के प्रति ऐसे वचन सुनकर युधिष्ठिर उसके पास गये एवं उसे समझाने लगे। भीष्म ने भी उसे समझाया कि—श्री कृष्ण हमारे लिए पूजनीय हैं। परन्तु श्री कृष्ण के पूजन समाप्त होने के बाद शिशुपाल अन्य अपने सहयोगियों सहित युद्ध करने के लिए उद्यत हो गया। तब श्री कृष्ण ने क्रोधित होकर शिशुपाल का सिर सुदर्शन-चक्र से काट दिया। तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने अपना राजसूय यज्ञ पूर्ण किया।

वैर भाव सुमिरयौ सिसुपाल।
ताहि राजसू मैं गोपाल॥

चक्र सुदरसन करि संहारयौ।
तेज तासु निज मुख मैं धाव्यौ॥[१५५]

जब शिशुपाल वध का समाचार उसके सेनापति को मिला तो उसने द्वारिका की ओर प्रस्थान किया, जिससे वह अपने स्वामी की मृत्यु का बदला ले सके। महाकवि सूर ने शाल्व के द्वारिका आक्रमण का बड़ा रोचक वर्णन किया है। द्वारिका में कृष्ण की अनुपस्थिति में प्रद्युम्न, सात्यकि एवं अन्य वृष्णीवंश राजकुमारों ने उससे युद्ध किया। उधर समाचार प्राप्त होते ही श्री कृष्ण शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थ से द्वारिका आये। तत्पश्चात् दोनों महावीरों में भयंकर युद्ध हुआ। वह आसुरी माया से युद्ध करने लगा परन्तु श्री कृष्ण उसकी सारी माया को दूर कर उसे गदा के प्रहार से मार गिराया।

लख्यो भगवान् करि कपट इन यह कियो,
तासु माया तुरत हरि निवारी।
भागि निज पुर चल्यौ स्याम पहिलै पहुँचि।
खैचि के गदा ता सीस मारि।
गदा युद्ध साल्व कीन्हौ बहुत बेर लौं,
बहुरि हरि साँग ताको चलाई।
लगत ताकैं गए प्रान वाके निकसि,
सुरनि आकास दुँदुभि बजाई॥[१५६]

तदन्तर शिशुपाल का भाई दन्तचक्र श्री कृष्ण के साथ युद्ध करने आया। उसने श्री कृष्ण को ललकार कर उन पर जोरदार गदा प्रहार किया। परन्तु उसका वार निष्फल गया। जब श्री कृष्ण ने उसे गदा मारी तो उसके प्राण-पंखेरू निकल गये—

बहुरि लै गदा परहार कियौ स्याम पर,
लग्यौ ज्यौं लगे अंबुज पहारै।
हरि गदा लगत गए प्रान ताके निकसि,
बहुरि हरि निज बदन माहिं धारे॥[१५७]

इस प्रकार सूरसागर में महाकवि सूर ने शिशुपाल वध प्रसंग को अत्यन्त ही संक्षेप में भागवतानुसार वर्णित किया है। साथ ही शाल्व-वध तथा दन्तचक्र वध को भी निरूपित किया है। श्री कृष्ण द्वारा मारे गये अनेक असुरों में ये भी महत्त्वपूर्ण हैं।

सूरसागर की भाँति हरिवंशपुराण में भी श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल वध का प्रसंग आता है परन्तु यह प्रसंग भिन्न प्रकार से वर्णित है। जिनसेनाचार्य ने शिशुपाल-जन्म इत्यादि का उल्लेख नहीं किया है कि वह श्री कृष्ण की बुआ का पुत्र था। उसके जन्म पर आकाशवाणी हुई थी एवं श्री कृष्ण ने उसके सौ अपराधों को क्षमा करने का अपनी बुआ को वर दिया था, यह भी वर्णन पुराण में नहीं मिलता।

पुराणकार ने शिशुपाल का निरूपण रुक्मिणी हरण प्रसंग में ही किया है। जब श्री कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया, उस समय रुक्मिणी का भाई रुक्मी तथा शिशुपाल दोनों धीर-वीर बड़ी शीघ्रता से रथों पर सवार होकर श्री कृष्ण व बलदेव का सामना करने पहुँच जाते हैं। पुराणकार ने उन्हें अपनी सेना के सा.. युद्ध के लिए उद्यत होने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है कि—साठ हजार रथों, दस हजार हाथियों, वायु वेगशाली तीन लाख घोड़ों और खड्ग, चक्र, धनुष हाथ में लिए कई लाख पैदल सिपाहियों के साथ दिशाओं को ग्रस्त करते हुए दोनों वीर उनकी निकटता को प्राप्त हुए।

रथैः षष्टिसहस्रैस्तैः करिणामयुतेन च।
त्रिभिः शतसहस्रैश्च बाजिनां वायुरंहसाम्॥
असिचक्रधनुः पाणिबहुलक्षपदातिभिः।
ग्रसमानौ दिशः शेषा निकटत्वमुपागतौ॥[१५८] ४२/८१-८२

ऐसी विशाल सेना देखकर रुक्मिणी अत्यन्त ही व्याकुल हो गई। इस पर श्री कृष्ण ने उसे समझाया कि मुझ पराक्रमी के रहते हुए दूसरों की संख्या बहुत होने पर क्या हो सकता है?

तदनन्तर श्री कृष्ण व बलदेव ने अपने रथ घुमाकर सेना के अभिमुख कर दिये। रोष से भरे हुए भयंकर सिंह के समान शूर-वीर श्री कृष्ण ने शिशुपाल को तथा बलदेव ने भयंकर आकार को धारण करने वाले भीष्म पुत्र राजा रुक्मी का सामना किया। द्वन्द्व-युद्ध में श्री कृष्ण ने अपने बाण के द्वारा यश के साथ शिशुपाल का ऊँचा मस्तक दूर गिराया तथा बलदेव ने रथ के साथ रुक्मी को इतना जर्जर कर दिया कि उसके प्राण ही शेष रह गये।

द्वन्द्व-युद्धे शिरस्तुगं शिशुपालस्य पातितम्।
विष्णुना यशसा साकं सायकेन विदूरतः।
हली जर्जरितं कृत्वा रथेन सह रुक्मिणम्।
प्राणशेषमपाकृत्य कृती कृष्णयुतो ययौ॥[१५९] ४२/९४-९५

उपर्युक्त विवेचनानुसार हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल वध का प्रसंग आता है परन्तु यह वध रुक्मिणी-हरण के पश्चात् श्री कृष्ण के साथ युद्ध में होता है। जबकि सूरसागर में शिशुपाल-वध युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्री कृष्ण के सुदर्शन चक्र से होता है। हरिवंशपुराण में शिशुपाल द्वारा बारात लेकर कुण्डिनपुर आना तथा श्री कृष्ण के साथ युद्ध करना आदि घटनाएँ सूरसागर के साम्य हैं परन्तु जिनसेनाचार्य ने शिशुपाल का वध भी वहाँ बताकर इस घटना को नवीन रूप प्रदान किया है। हरिवंशपुराण का युद्ध-वर्णन सूरसागर से अपेक्षाकृत रोचक बन पड़ा है। कवि का सेना-वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण लग रहा है। पुराणकार ने शिशुपाल के सेनापति शाल्व तथा भाई दन्तचक्र के साथ

श्री कृष्ण के युद्ध का चित्रण नहीं किया है जबकि सूर ने इस प्रसंग को मनोयोग से वर्णित किया है।

सुदामा पर श्री कृष्ण की कृपा :–

महाकवि सूर ने श्री कृष्ण की दीनबन्धुता का यह प्रसंग विशदता से निरूपित किया है। उनके अनुसार श्री कृष्ण के जीवन की शुरुआत में ही सुदामा से मित्रता हो गई थी। वह एक दरिद्र ब्राह्मण था परन्तु श्री कृष्ण अपनी समस्त प्रभुता को छोड़कर उस सहपाठी से सहृदय मिलते थे। जब बलराम के साथ श्री कृष्ण ने गुरु सांदीपनि के यहाँ वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों व राजनीति की शिक्षा प्राप्त की थी, तब गुरु के आश्रम में सुदामा नाम का एक ब्राह्मण कुमार भी शिक्षा प्राप्त कर रहा था। वहाँ श्री कृष्ण की मित्रता उसके साथ हो गई।

तदनन्तर सुदामा अपना गृहस्थाश्रम दरिद्रता से गुजार रहे थे। प्रातः उठकर भिक्षा माँगने जाते, तब कहीं उनका भोजन चलता। यदि वे एक दिन भी भिक्षा लेने न जाते तो उनका उपवास होता परन्तु वे भगवान् की भक्ति में तल्लीन रहते थे। उनकी पत्नी "सुशीला" अपने नाम के अनुरूप सुशील, आज्ञाकारी एवं पतिव्रता थी। उसने श्री कृष्ण की उदारता को सुना था परन्तु संकोच के कारण वह अपने पति से यह नहीं कह पाती कि आप दीनबन्धु श्री कृष्ण के पास जाएँ। वह हमेशा यह सोचा करती थी कि कहीं आत्माभिमानी सुदामा के हृदय में चोट न लग जाय। लेकिन उसके कष्टों की सीमा नहीं थी। अतः थककर एक दिन उसने अपने पति से यह कह ही दिया कि—वे परमकृपालु, दीनबन्धु, उदारहृदय अपने सखा श्री कृष्ण के पास क्यों नहीं जाते। द्वारिका कहाँ दूर है?

कंत सिधारौ मधुसुदन पै, सुनियत है वे मीत तुम्हारे।
बालसखा अरु विपत्ति विभंजन, संकट हरन मुकुंद मुरारे॥[१६०]

सुदामा अपनी दरिद्रता के कारण द्वारिका-नरेश श्री कृष्ण के पास जाने में झिझक रहे थे, फिर भी पत्नी का आग्रह मानकर द्वारिका जाने को एक दिन उद्यत हो ही गये। अपने अभिन्न मित्र के पास खाली हाथ जाने में उन्हें शर्म महसूस हो रही थी। तब उनकी पत्नी ने एक फटे अंगोछे में थोड़े से तन्दुल बाँधकर सुदामा को श्री कृष्ण के पास भेजा।

सुदामा विचार करते, सकुचाते, द्वारिका की ओर चल पड़े। उनके मन में कितनी ही कल्पनाएँ आ रही थी कि मैं दीन-हीन व्यक्ति श्री कृष्ण से कैसे मिल पाऊँगा? वे मुझे पहचानेंगे या नहीं? परन्तु सुदामा को रास्ते में अच्छे शकुन हो रहे थे। वे देखते ही देखते द्वारिका पहुँच गये। वहाँ श्री कृष्ण का पता पाना कौन सा कठिन काम था? वे शीघ्र ही राजद्वार पर पहुँच गये—

पहुँचयो जाइ राजद्वारि पर काहूँ नहिं अटकायौ।
इत उत चिते धँस्यो मंदिर में, हरि कौ दरसन पायौ॥[१६१]

श्री कृष्ण उस समय आराम कर रहे थे। सुदामा का आगमन सुनकर वे तुरन्त ही दौड़ते हुए द्वार तक गये एवं उसे अंक में लेकर भेंट की। श्री कृष्ण के आँखों में अश्रु आ गये। उन्होंने आदरपूर्वक उसे अपने सिंहासन पर बैठाया। उससे हालचाल पूछे तथा कहा कि—भाभी ने मेरे लिए क्या भेजा है? गरीब सुदामा श्री कृष्ण के ऐश्वर्य को देखकर तन्दुल की पोटली छिपाने लगे। कृष्ण के मानस-पटल पर गुरु-आश्रम की वह घटना तैर आई जब वे गुरु की पत्नी की आज्ञा से कुछ लकड़ी लेने जंगल पहुँचे थे तथा वहाँ पहुँचते ही आँधी व बरसात ने सारे जंगल को घेर लिया था। सर्वत्र सघन अंधकार छा गया था। सारी रात रास्ता खोजने पर भी नहीं मिला था, हार कर वे एक वृक्ष के नीचे खड़े हुए थे। प्रातःकाल गुरु सांदीपनि वहाँ पधारे थे तथा वे उन्हें घर ले गये थे। श्री कृष्ण सोचने लगे कि यदि उस दिन मेरा यह मित्र सुदामा मेरे साथ न होता तो न जाने मेरी क्या दशा होती? सुदामा के कारण ही वह कष्टदायी रात्रि का समय बीत सका—

गुरु गृह हम जब वन को जात।
तोरत हमरे बदले लकरी, सहि सब दुख निज गात॥
एक दिवस बरसा भई बन मैं, रहि गए ताहीं ठौर

✣ ✣ ✣

प्रति उपकार कहा करो सूरज, भावत आप मुरार।[१६२]

इस प्रकार गुरु-आश्रम की विगत घटनाओं को याद करते हुए श्री कृष्ण ने सुदामा की बगल में दबी चावलों की पोटली को झपट लिया। वे उस पोटली में से मुट्ठी भर-भर के चाव से चावल खाने लगे। सुदामा की प्रेम भावना से अनुरक्त ये चावल श्री कृष्ण को अत्यन्त ही स्वादिष्ट लग रहे थे।

तदनन्तर कई दिनों तक श्री कृष्ण ने सुदामा को अपने यहाँ रखा। तत्पश्चात् सुदामा ने श्री कृष्ण से विदाई लेकर अपने गृह को गमन किया। परन्तु उनके मन में एक ही टीस थी कि श्री कृष्ण ने मेरी दशा पर कुछ भी विचार नहीं किया? मैं अपनी पत्नी के आगे क्या रखूँगा? ऐसे विचार करते-करते उनका हृदय भर आया लेकिन उन्हें एक बात का पूर्ण सन्तोष था कि श्री कृष्ण ने मेरा कितना आदर-सत्कार किया। मुझे कितना मान-सम्मान दिया, कहाँ तो मैं एक दीन-हीन और कहाँ वे द्वारिकापति। परन्तु जैसे ही सुदामा घर लौटे तो वहाँ मानो अचानक उन पर बिजली गिरी हो, ऐसी दशा हो गई। क्योंकि उनकी झौपड़ी का नामो-निशान नहीं था। वे अपना सिर धुनकर, हाथ मरोड़कर सोच करने लगे कि—द्वारिका जाना बेकार हुआ, मेरी तनक-मड़ैया रही-सही झोंपड़ी भी गई, अब क्या करूँ? झोंपड़ी के स्थान पर सुन्दर महल हो गया। मेरी झोंपड़ी तो यहीं थी।

सुदामा मंदिर देखि डरयौ।
इहाँ हुति मेरी तनक मडैया, जाको नृप आनि छरयौ।
सीस धुने दौड़, कर मीडैं, अंतर सोच परयो॥[१६३]

वे विचार करने लगे कि—कहीं मैं दूसरी जगह तो नहीं आ गया या फिर भूल वश कैलास पर तो नहीं पहुँच गया। उन्हें संशय होने लगा कि कहीं वे वापस द्वारिका तो नहीं पहुँच गये। इस प्रकार सुदामा अपने ही द्वार पर खड़े अपने कुटिया को खोज रहे हैं। भक्त-वत्सल भगवान् ने उसे सब कुछ दे दिया परन्तु उन्हें पता ही नहीं चला था कि उन्होंने क्या पाया है।

(क) हों फिरि बहुरि द्वारिका आयौ।
समुझि न परी मोहिं मारग की, कोइ बुझो न बतायौ॥
कहिहैं स्याम सत इन छाँडयौ, उतो राँक ललचायो।[१६४]

अब सुदामा ने श्री कृष्ण की असीम अनुकम्पा से सब कुछ प्राप्त कर लिया था। मणिकंचन की दीवारों से सजा सुन्दर भवन व दास-दासियों को देकर उन्हें ऐश्वर्यशाली बना दिया था। वे अपने वैभव के आगे आँसू भरी आँखें लिए खड़े ही थे कि इतने में उनकी पत्नी उन्हें पहचान गई। वह तुरन्त ही महल से नीचे आकर बड़े आदर के साथ अपने पति को अन्दर ले गई। सुदामा को अपनी बदली हुई दशा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ तथा साथ-साथ में प्रसन्नता भी हुई। उन्होंने श्री कृष्ण को लाख-लाख धन्यवाद दिया। उनकी पत्नी उनसे पूछने लगी कि—हे स्वामी आप द्वारिकापति श्री कृष्ण से कैसे मिले। इस पर सुदामा ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया—

उठिके दौरि अंक भार लीन्हौ, मिलि पूछी इत उत कुसलाती।
पटतै छोरि लिए कर तंदुल, हरि समीप रुकमिणी जहाँ ती॥[१६५]

अब सुदामा को लगने लगा कि हरि के बिना कौन किसी का दारिद्र्य हर सकता है। धनी पुरुष तो मेरे जैसे दीन व्यक्तियों को पहचाननें से भी कतराते हैं। विपत्ति आने पर कुशल क्षेम भी नहीं पूछते, सहायता की बात तो दूर रही। सुदामा की आँखों के सामने द्वारिका के वे दृश्य आने लगे जब श्री कृष्ण ने अपने कर-कमलों से उनके पैर धोए थे। वे बड़े प्यार के साथ उनसे मिले थे। चुपचाप मुँह से कुछ भी न बोलकर उन्हें सब कछ दे दिया था।

श्री कृष्ण के अलावा ऐसा कौन दीनबन्धु हो सकता है जो मेरे जैसे गरीब को सब कुछ दे दे। लेकिन सुदामा यह क्या जाने कि श्री कृष्ण के आगे प्रेम का मूल्य है, छोटे-बड़े का नहीं।

सूरदास ने सुदामा-चरित्र को दो बार वर्णित किया है। एक बार तो यह विस्तार से एकवीस पदों में वर्णित है जबकि दूसरी बार में मात्र एक पद में यह कथा आती है। इस प्रसंग में श्री कृष्ण की महानता, दीनबन्धुता एवं सच्ची मित्रता के गुणों का परिचय मिलता है।

श्रीमद्भागवतानुसार सूरसागर में निरूपित इस प्रसंग को हरिवंशपुराण में कहीं उल्लेख नहीं है। जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण के शलाकापुरुष स्वरूप को ही विशिष्ट महत्त्व दिया है। परन्तु उनकी इस दीनबन्धुता का पर्याप्त महत्त्व है अतः इस प्रसंग का उल्लेख करना यहाँ परमावश्यक था। श्री कृष्ण की दीनबन्धुता गोकुल वृंदावन में रहते ग्वालबालों के साथ खेल-खेलते, गाये-चराते, कलेवा करते इत्यादि प्रसंगों में तथा कुब्जा पर अनुकम्पा के समय देखी जा सकती है।

श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों को सहायता :-

सूरसागर तथा हरिवंशपुराण दोनों ही ग्रन्थों में श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों को प्रदान की गई सहायता का निरूपण मिलता है परन्तु यह वर्णन पर्याप्त भिन्नता पर आधारित है।

सूरसागर में कवि ने इस प्रसंग को सूत्ररूप में वर्णित करने के लिए संक्षेप में ही लिखा है। कृष्ण द्वारा राजसूय यज्ञ में जाना, द्रौपदी की सहायता, महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सहायता तथा पाण्डवों का राज्याभिषेक इत्यादि प्रसंगों का वर्णन महाकवि सूर ने इस कथा-प्रसंग के महत्त्व को बढ़ाया है।

सूरसागर के अनुसार जिस समय इन्द्रप्रस्थ नरेश युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ को प्रारम्भ किया उस समय उनके आमंत्रण को पाकर श्री कृष्ण व बलराम नाना प्रकार के उपहार लेकर वहाँ गये। वहीं पर शिशुपाल द्वारा श्री कृष्ण की अग्रपूजा का विरोध किया गया एवं युद्ध के लिए उद्यत हो जाने पर श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काटा।

एक बार कौरवों ने कपट द्वारा पाण्डवों को हराने के लिए हस्तिनापुर में जुए का आयोजन किया। आमंत्रण पाकर युधिष्ठिर सहित पाँचों पाण्डव वहाँ आए। युधिष्ठिर और दुर्योधन जुआँ खेलने लगे। कपट द्वारा दुर्योधन प्रत्येक बार जीतता गया। जुए के इस खेल में युधिष्ठिर अपना सब कुछ हार गया। राज-पाट, धन-दौलत, नौकर-चाकर, हाथी-घोड़े सबको हार जाने के बाद उसने अपनी पत्नी द्रौपदी को भी बाजी पर लगा दिया। इसको भी वे हार गये। इस पर दुःशासन द्रौपदी को पकड़कर घसीटते हुए राजसभा में ले आया तथा उसके वस्त्राहरण करने लगा। द्रौपदी असहाय होकर श्री कृष्ण से प्रार्थना करने लगी कि—हे मुरारी! अब मेरी लाज रखो। आज इस सभा में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य जैसे महावीर, गुरु तथा अनेक राजा महाराजा बैठे हैं परन्तु कोई मेरी रक्षा की बात नहीं करता। पाण्डव भी नीचे देखकर बैठे हैं। भीम ने अपने हाथ से गदा छोड़ दी है, महान् धनुर्धर अर्जुन भी बेबस है। हे गिरधारी! मेरी प्रार्थना सुनो! मैं अनाथ हूँ। आपने पूर्व में भी अपने भक्तों की रक्षा की है। मैं त्राहि-त्राहि कर रही हूँ, मेरी लाज रखो।

लाज मेरी राखो स्याम हरि।
हा हा करि द्रोपदी हारी, विलम्ब न करो घरी।
दुस्सान अति दारून रिस करि, केसन करि पकरी।

दुष्टसभा पिचास दुरजोधन, चाहत नग्र करी।
भीष्म द्रोन करन सब निरखत, उनतै मौन धरी।
अब मौकौं धरि रहि न कोऊ, एके टेक हरि।
जय जयकार भयो त्रिभुवन मैं, जब द्रोपदी उबरी।
सूरदास प्रभु सिंह सरनगति, स्यारहि कहा डरी।

द्रौपदी की करुणा भरी प्रार्थना सुनकर श्री कृष्ण ने उसकी तत्काल सहायता की। उसके चीर को इतना बढ़ा दिया कि दु:शासन उसे खींचता-खींचता थक गया लेकिन द्रौपदी को नग्र करने में सफल न हो सका। जिसने शेर की शरण ली हो, उसका सियार क्या बिगाड़ सकता है? इस दृश्य को देखकर दुर्योधन को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सिर धुनने लगा तथा अपने हाथ मरोड़ने लगा परन्तु वह क्या कर सकता था। जिस पर करुणामय श्री कृष्ण की कृपा हो, उस दिशा में कौन देख सकता है। उसकी उन्होंने अविलम्ब सहायता की है।

द्रौपदी प्रसन्न हो कहने लगी कि—जा आज श्री कृण न होते तो इस अबला की लाज नहीं रहती। परन्तु उन्होंने समय पर मेरी रक्षा कर अपनी कीर्ति को और भी बढ़ा दिया है। सूरसागर में द्रौपदी-सहाय के भाव-पूर्ण चित्र मिलते हैं। द्रौपदी की व्याकुलता, उसकी प्रार्थना इत्यादि के 16 पद हैं जिसमें श्री कृष्ण द्वारा उसकी सहायता का उल्लेख है।

तदन्तर जुएँ में हार जाने के बाद पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास एवं एक वर्ष का अज्ञात वास भोगना पड़ा। पाण्डवों का यह काल जब पूर्ण होने आया उस समय श्री कृष्ण व बलराम अज्ञात वास में रह रहे पाण्डवों के पास राजा विराट के यहाँ गये। विराट नगरी में युधिष्ठिर के हितैषी राजाओं को श्री कृष्ण ने संगठित किया। श्री कृष्ण ने एक सभा भरकर दुर्योधन द्वारा कपट में हराकर युधिष्ठिर से राज्य लेने की बात कही। इस पर राजाओं ने श्री कृष्ण को दूत के रूप में हस्तिनापुर जाने की बात कही। श्री कृष्ण ने पाण्डवों का यह दौत्य कार्य स्वीकार कर उनमें शांति स्थापित करने हेतु तथा भाईयों का सौहार्द्र बनाये रखने हेतु हस्तिनापुर गये।

भए पांडवनि के हरि दूत, गए जहाँ कौरवपति धूत।[१६६]

उन्होंने राजसभा में जाकर धृतराष्ट्र से कहा कि—पाण्डुपुत्र पाण्डव कुशलपूर्वक हैं, उन्होंने अपना कुशलक्षेम एवं दंडवत सुनाया है। मैं आपमें शांति की स्थापना की प्रार्थना के लिए आया हूँ। न्यायानुसार आप इन्हें अपना आधा राज्य दे दीजिये परन्तु इसमें भी आपको कोई बाधा हो तो आप उन्हें केवल पाँच ग्राम ही दे दीजिए, वे आपके ही कुल-वंश के हैं।

पाँच गाऊ पाँचौ जननि किरपा करि दीजै।
ये तुम्हारे कुल-वंस है हमरी सुनि लीजै॥[१६७]

आप आपस में संधि कर दीजिये। यह संधि आपके व मेरे हाथ में है। कौरव आपके अधीन है एवं पाण्डव मेरे अधीन हैं। श्री कृष्ण की इस बात पर धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने उनसे कहा कि—मैं अपने जीवित रहते हुए पाण्डवों को भूमि का इतना अंश भी नहीं दूँगा जिसमें बारीक सूई भी समा सके।

इस पर श्री कृष्ण ने दुर्योधन को फटकारा कि—तेरी यह कामना कभी पूर्ण नहीं होगी। तू कपट व्यवहार कर रहा है। लेकिन दुर्योधन अपनी हठ पर डटा रहा एवं उसने श्री कृष्ण को कैद करने की योजना बनाई। तदनन्तर श्री कृष्ण ने अपना विराट स्वरूप बतलाया। सारी सभा में सन्नाटा छा गया। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी अद्भुत लीला को समेट लिया एवं पाण्डवों के पास लौट आये।

श्री कृष्ण के दूत कार्य में भी महाकवि सूर ने उनकी दीनबन्धुता का एक प्रसंग वर्णित किया है कि—श्री कृष्ण ने हस्तिनापुर में दुर्योधन के महलों को छोड़कर विदुर के यहाँ बिना बुलाये जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया। विदुर ने संकोचवश कहा कि—महाराज आपके लायक मेरे घर में भोजन नहीं है। परन्तु हरि ने इस पर हँस कर कहा कि मुझे तो साग पत्र भी बहुत प्रिय है, उसके समान अमृत भी नहीं है। मुझे तो वही खिला दो। देखिये सूर के शब्दों में विदुर के घर भोजन ग्रहण करने का प्रसंग—

प्रभु जू तुम हौ अंतरयामी।
तुम लायक भोजन नहिं गृह में, मैं अरू नहीं गृह स्वामी।
हरि कहयौ साग पत्र मोहि अति प्रिय, अम्रित ता सम नाहीं।
बारबार सराति सूर प्रभु, साग विदुर घर खाहीं॥[१६८]

श्री कृष्ण भाव के भूखे थे। उन्हें दर्योधन के घर का मेवा नहीं चाहिए था क्योंकि उसमें भाव का अभाव था।

पाण्डवों के लौटने पर श्री कृष्ण ने सभी बात बताई। अब कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध निश्चित हो गया। युद्ध से पूर्व अर्जुन एवं दुर्योधन श्री कृष्ण के पास युद्ध का निमंत्रण लेकर गये। श्री कृष्ण ने एक ओर अपनी नारायणी सेना कर दी तथा स्वयं आयुध न ग्रहण करने का वचन देकर दूसरी ओर हो गये। अर्जुन ने निःशस्त्र श्री कृष्ण को स्वीकार कर लिया। जब दुर्योधन ने नारायणी सेना तथा निःशस्त्रहरि की बात भीष्म पितामह से कही तो उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि मैं युद्ध में श्री कृष्ण को अस्त्रग्रहण करवा कर ही रहूँगा—

निजपुर आइ राइ भीष्म सो कही जो बातें हरि उचरी।
सूरदास भीष्म परतिज्ञा अस्त्र गवहावन पैज करी॥[१६९]

महाभारत के युद्ध में श्री कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। उन्होंने पाण्डवों को भयंकर कष्टों से बचाया। श्री कृष्ण ने घोड़ों की सेवा की तथा उन्हें पानी तक पिलाया।

युद्ध के प्रारम्भ में अपने विपक्ष में अपने ही बन्धु-बान्धवों को देखकर अर्जुन युद्ध से विमुख हो गया। इस पर श्री कृष्ण ने उसे गीता का उपदेश सुनाकर युद्ध में प्रवृत्त किया। गीता का उपदेश श्री कृष्ण की ज्ञान-गरिमा का प्रतीक है। तदनन्तर युद्ध प्रारम्भ हो गया। पाण्डवों की सेना ने कौरवों की सेना में भगदड़ी मचा दी। कौरव योद्धा हताश हो युद्ध के मैदान से लौटने लगे।

कौरवों की दुर्दशा देखकर एक दिन भीष्म पितामह ने अपनी प्रतिज्ञानुसार दुर्योधन से कहा कि—अगर आज मैं श्री कृष्ण को शस्त्र ग्रहण न कराऊँ तो मुझे गंगा माँ की सौगंध है तथा मैं राजा शान्तनु का पुत्र नहीं। उन्होंने उस दिन भयंकर युद्ध किया। बाणों की वर्षा होने लगी। पार्थ अपने अस्तित्व को भूलने लगा। रुधिर की नदियाँ बहने लगीं। पाण्डवों के दल में हताशा देखकर श्री कृष्ण ने अर्जुन को भीष्म से युद्ध करने को प्रोत्साहित किया परन्तु वह भीष्म के वार को रोक नहीं पाया। इस पर श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र का स्मरण किया।

गोविन्द कोपि चक्र कर लीन्हौं।
रथ ते उतरी अवनि आतुर ह्वै, चले चरन अतिधाए॥
मनु संचित भू भार उतारन चपल भए अकुलाए।[१७०]

वे सुदर्शन चक्र लेकर भीष्म की ओर झपटे। उस समय वे भूल गये कि उन्होंने युद्ध से पूर्व यह वचन लिया था कि—"मैं हथियार धारण नहीं करूँगा।" भीष्म विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा कि अगर मैं आपके हाथों मारा गया तो परलोक जाऊँगा। अर्जुन ने दौड़ कर श्री कृष्ण को शांत किया कि आपकी प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी। मैं सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैं कौरवों का अंत कर डालूँगा। आप अपने क्रोध को शांत कीजिये। इस प्रकार अर्जुन की शपथ पर श्री कृष्ण का रोष शांत हुआ।

तदनन्तर महाभारत के इस भीषण संग्राम में श्री कृष्ण की सलाह अनुसार पाण्डवों ने कौरवों को मार गिराया तथा इस युद्ध में विजयश्री का वरण किया। तत्पश्चात् श्री कृष्ण हस्तिनापुर गये, वहाँ उन्होंने युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करवाया। गान्धारी तथा धृतराष्ट्र को उन्होंने समझाया कि तुम्हारे पुत्रों के अन्याय के कारण महाभारत का यह विनाशकारी युद्ध हुआ। अब भारत में पुनः शांति स्थापित हो सकेगी। धृतराष्ट्र व गान्धारी ने वैराग्य धारण कर वन को गमन किया। तदुपरान्त व्यासमुनि वहाँ आये तथा उन्होंने युधिष्ठिर से अश्वमेघ यज्ञ करने को कहा। बाद में श्री कृष्ण को यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करवा कर यज्ञानुष्ठान को पूर्ण करवाया।

इस प्रकार पाण्डवों को विजय दिलवाकर, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करवा कर एवं उनके अश्वमेघ को पूर्ण कर श्री कृष्ण द्वारिका लौटे। सूरसागर वर्णित यह कथा श्रीमद्भागवत कथानुसार ही है। इस कथा वर्णन में सूर का मन नहीं रमा है। केवल श्री कृष्ण की भक्तवत्सलता के प्रसंगों को उल्लेखित करने हेतु उन्होंने इस कथा को

संकेत रूप में निरूपित किया है। सूरसागर में वर्णित इन प्रसंगों में द्रौपदी-सहाय, पाण्डवों का दूत कार्य, विदुर-गृह भोजन, अर्जुन दुर्योधन का श्री कृष्ण गृहगमन, भीष्म-प्रतिज्ञा, पाण्डवों के लिए चक्रधारण तथा पाण्डवों का राज्याभिषेक इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

सूर ने स्वय इस बात को स्वीकार किया है कि महाभारत में इस कथा का विस्तार है परन्तु मैं श्री कृष्ण की भक्त-वत्सलता का ही वर्णन करूँगा, जो उनकी समस्त कथा का सार है।

भारत माहि कथा यह विस्तृत, कहत होइ विस्तार।
सूर भक्त-वत्सलता वरनौ, सर्व कथा को सार॥[१७१]

सूरसागर के इस प्रसंग में श्री कृष्ण के महान राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ एवं विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय मिलता है। यद्यपि सूर ने इस कथा को संक्षेप में ही निरूपित किया है परन्तु उनका कथा प्रवाह गतिशील रहा है।

दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन ने भी श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों की सहायता का चित्रण किया है। हरिवंशपुराण के पैंतालीसवें सर्ग में पाण्डवों तथा कौरवों के वंश का वर्णन मिलता है। तदुपरान्त कवि ने कौरवों-पाण्डवों के राज्य का बंटवारा, कौरवों की पाण्डवों से ईर्ष्या, उनके घर में आग लगाने का प्रयास, युधिष्ठिर का कुसुमकोमला तथा वसन्तसुन्दरी से विवाह इत्यादि प्रसंगों का निरूपण किया है।

कवि ने सर्वप्रथम कौरवों व पाण्डवों की वंशात्पात्त बताकर तथा उनके राज्य के वैभव का वर्णन कर इस कथा को आगे बढ़ाया है। पुराणकार के अनुसार राज्य के बंटवारे के पश्चात् शकुनि के कहने पर दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जुए खेलने हेतु निमंत्रित किया तथा वह युधिष्ठिर से जुए में जीत गया। हार के क्षोभ के कारण पाण्डव वहाँ से छिपकर बारह वर्ष की लम्बी अवधि हेतु राज्यपाट छोड़ हस्तिनापुर से बाहर निकल गये। जिस प्रकार चाँदनी चन्द्रमा की अनुगामी होती है उसी तरह द्रौपदी भी अपने पति अर्जुन के पीछे-पीछे गई। वे एक के बाद दूसरे वन में गये तथा वहाँ स्थित अनेक राक्षसों को युद्ध में मार गिराया तत्पश्चात् उन्होंने विराट नरेश के यहाँ अज्ञातवास में रहना स्वीकार किया। वहाँ द्रौपदी के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर विकचा का पुत्र कीचक उसके मोह में बँध गया। उसके द्वारा धृष्टता करने पर भीम ने द्रौपदी का वेश धारण कर उसे मुक्कों के प्रहार से चूर-चूर कर दिया।

वारीबन्धमिवायातं स्पर्शान्धं गन्धवारणम्।
कण्ठे जग्राह बाहुभ्यां स्पर्शामीलितलोचनाम्॥
भूमौ निपात्य पादाभ्यामुरस्याक्रम्य कामिनम्।
पिपेष मुष्टिनिर्घातैर्निर्घातैरिव भूधरम्॥[१७२] ४६/३४-३५

तदनन्तर कीचक को वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसने जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार अज्ञातवास पूर्ण होने के पश्चात् पाण्डव पुनः हस्तिनापुर आये तथा वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

ततः पूरितसर्वाशाः सर्वाथामृतवर्षिणः।
तेऽप्यूनुष्यदमत्युच्चैः प्रावृषेण्या इवाम्बुदाः॥[१७३] ४७-४

तदनन्तर दुर्योधन पुनः पाण्डवों से ईर्ष्या करने लगा। संधि में दोष उत्पन्न होने पर भीम, अर्जुन, आदि भाई कौरवों के विरुद्ध उत्तेजित होने लगे परन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें शांत किया। पाण्डव कभी भी कौरवों का अहित नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने अपनी राजधानी को छोड़ कर माता, भाई एवं परिवार के साथ दक्षिण दिशा को प्रयाण किया। चलते-चलते वे विन्ध्यवन पहुँचे, जहाँ उन्होंने महात्मा विदुर की स्तुति की तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। तत्पश्चात् वे द्वारिका पहुँचे। यादवों ने पाण्डवों के आगमन पर उनका भव्य स्वागत किया। समुद्रविजय आदि दशों भाइयों ने अपनी बहिन तथा भानजों को बहुत समय के बाद देखकर परमहर्ष की प्राप्ति की। नेमिनाथ, कृष्ण इत्यादि भी बहुत सन्तुष्ट हुए।[१७४]

तदनन्तर श्री कृष्ण ने उनके रहने के लिए पृथक्-पृथक् पाँच महल प्रदान किये। भोगोपभोग की सब सामग्री युक्त इन महलों में वे सुखपूर्वक रहने लगे। वहाँ युधिष्ठिर ने लक्ष्मीमती, भीम ने शेषवती, अर्जुन ने सुभद्रा, सहदेव ने विजया तथा नकुल ने रति नामक कन्या को प्राप्त किया।

जिस समय जरासंध ने द्वारिका पर आक्रमण किया उस समय पाण्डव श्री कृष्ण की तरफ से युद्ध में शामिल हुए। कौरव जरासंध के पक्ष में थे। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। श्री कृष्ण द्वारा यह निर्णायक युद्ध जीतने पर पाण्डवों को उन्होंने हस्तिनापुर का राज्य दिया। तत्पश्चात् पाण्डवों ने श्री कृष्ण से विदा लेकर हस्तिनापुर को प्रयाण किया।

(क) श्रीहास्तिनपुरं प्रीत्या पाण्डवेभ्यः प्रियं हरिः।
कोशलं रुक्मनाभाय रुधिरात्मजसूनवे॥[१७५] ५३/४६

(ख) विसृष्टाश्च यथास्थानं यातास्ते पाण्डवादयः।
आरेमुर्द्वारिकायां तु यादवास्त्रिदशा यथा॥[१७६] ५३/४८

पाण्डवों ने अपने राज्य में सुखदायक व सुराज का संचालन किया जिससे देश के सभी वर्ग एवं सभी आश्रम आनन्द के साथ रहने लगे।

उपर्युक्त विवेचनानुसार जिनसेनाचार्य ने हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों की सहायता का जो वर्णन किया है वह सूरसागर से सर्वथा भिन्न है। कौरवों की पाण्डवों से ईर्ष्या, जुआ खेलना, विराट देश के यहाँ अज्ञातवास इत्यादि कुछ घटनाओं

में साम्य है परन्तु पाण्डवों का अज्ञातवास के पश्चात् पुनः हस्तिनापुर जाना, कौरवों की ईर्ष्या से द्वारिका- गमन, द्वारिका पर जरासंध का युद्ध, वहाँ कौरवों का जरासंध के पक्ष में तथा पाण्डवों का श्री कृष्ण के पक्ष में युद्ध में शामिल होना, श्री कृष्ण द्वारा जरासंधवध, दुर्योधन का वैराग्य एवं दीक्षा ग्रहण इत्यादि अनेक प्रसंग कवि की मौलिकता पर आधारित है।

इसके अलावा जिनसेनाचार्य ने द्रौपदी के पाँच पति होने की बात स्वीकार नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी। उसमें युधिष्ठिर तथा भीम की बहू जैसी बुद्धि थी तथा सहदेव एवं नकूल उसे माता के समान मानते थे।

स्नुषाबुद्धिरभूदस्यां ज्येष्ठयोरर्जुनस्त्रियाम्।
द्रौपद्यां यमलस्यापि मातरीवानुवर्तनम्॥[१७७] ४६-१५०

जुए के समय युधिष्ठिर अपना राज-पाट एवं द्रौपदी को नहीं हारा था। न ही दु:शासन ने द्रौपदी के वस्त्रहरण का प्रयास किया था। पाण्डव किसी शर्त के अनुसार वन को नहीं गये थे वरन् हार के क्षोभ के कारण उन्होंने यह कृत्य किया था। हरिवंशपुराण के अनुसार पाण्डवों ने अज्ञातवास के पश्चात् पुनः अपने राज्य को प्राप्त किया था। कौरवों तथा पाण्डवों के बीच ईर्ष्या-द्वेष था परन्तु उन्होंने आपस में युद्ध नहीं किया वरन् जरासंध श्री कृष्ण के बीच युद्ध में उन्होंने भाग लिया था। इस प्रकार यह समस्त प्रसंग सूरसागर से भिन्न दृष्टिकोण पर आधारित है।

दोनों कवियों को अपनी विशाल परम्परा विरासत में मिली है। वे इस परम्परानुसार श्री कृष्ण चरित्र का वर्णन करते चले हैं। सूरसागर में महाभारत के युद्ध में कृष्ण की भूमिका का जो वर्णन मिलता है, उसमें हमें उनके कूटनीतिज्ञ तथा गीता के उपदेश के समय आध्यात्मिक पुरुष के दर्शन हैं, जिसका हरिवंशपुराण में पर्याप्त अभाव है। पुराणकार ने महाभारत के युद्ध को भी स्वीकार न कर इस प्रसंग को नवीन रूप प्रदान किया है जो श्री कृष्ण के नौवें नारायण तथा शलाकापुरुष का द्योतक है।

जरासंध-वध :-

श्री कृष्ण द्वारा किये गये पराक्रमों में जरासंध-वध का उल्लेख मिलता है। सूरसागर के अनुसार जरासंध ने अपनी कन्याओं का विवाह कंस के साथ किया था। जब जरासंध ने श्री कृष्ण द्वारा कंस को मारने का समाचार सुना, तब उसने श्री कृष्ण को मारने के लिए कई बार यादवों पर आक्रमण किये। उधर इन्द्रप्रस्थ नरेश युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ के लिए श्री कृष्ण से सलाह पूछी तब उन्होंने बताया कि जब तक जरासंध का वध नहीं किया जाता, तब तक राजसूय यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण नहीं हो सकता। जरासंध उस समय का महान प्रतापी वीर सम्राट था, जिसने सैकड़ों राजाओं पर विजय प्राप्त कर उन्हें कैद कर लिया था।

तत्पश्चात् जरासंध को मारने के लिए श्री कृष्ण, भीम व अर्जुन ने ब्राह्मण का वेश धारण किया तथा जरासंध के द्वार पर जाकर उससे द्वन्द्व युद्ध माँगा। जरासंध ने यह बात स्वीकार कर ली। यद्यपि उसने श्री कृष्ण के कपट को जान लिया था, तथापि अपने वचन के लिए उसने भीम के साथ गदा युद्ध स्वीकार किया। भीम तथा जरासंध के बीच सत्ताईस दिनों तक भयंकर गदायुद्ध चला परन्तु कोई किसी को पराजित न कर सका। अन्त में श्री कृष्ण ने एक तिनके को चीरकर भीम को इशारा किया। तब भीम ने जरासंध को चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये।

स्याम तृन चीरि दिखराइ दियौ भीम को,
भीम तब हरषि ताको पछारयौ।
जरा जरासंध की संधि जोरयौ हुतो,
भीम ता संधि को चीरि डारयो॥[१७८]

तदनन्तर श्री कृष्ण ने समस्त राजाओं को मुक्त किया जो जरासंध के यहाँ कैद थे। उन्होंने सहदेव को वहाँ का राज्य सौंपा तथा वे पुनः इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन ने भी श्री कृष्ण द्वारा जरासंध वध का उल्लेख किया है। हरिवंशपुराण के अनुसार जब श्री कृष्ण ने कंस का वध कर दिया। उस समय अपनी पुत्री जीवयशा के विलाप को सुनकर जरासंध अपने भाई अपराजित को श्री कृष्ण के साथ संग्राम करने भेजा। परन्तु यह श्री कृष्ण के हाथों मारा गया। इस पर जरासंध ने क्रोधित हो यादवों पर आक्रमण किया। उस समय समस्त यादव परस्पर मंत्रणा कर पश्चिम दिशा को प्रयाण कर चुके थे। जरासंध ने यादवों का पीछा किया लेकिन एक देवी के छल कपट से वह समस्त यादवों का नाश मानकर अपने स्थान लौट आया। तत्पश्चात् श्री कृष्ण ने द्वारिका को अपनी राजधानी बनाया। इस कथा का उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

तदनन्तर एक दिन जरासंध को जब इस बात की जानकारी मिली की श्री कृष्ण का नाश नहीं हुआ है वरन् वे तो द्वारिका में राज सुख प्राप्त कर रहे हैं तब उसने पुनः द्वारिका पर चढ़ाई की। वह विशाल सेना लेकर गया जिसमें अनेक राजा, महाराजा शामिल थे। उसने द्वारिका को चारों ओर से घेर लिया। वह यादवों से कहने लगा कि—मैंने आपका क्या अनिष्ट किया है, जिससे भयभीत हो तुम समुद्र के मध्य बस गये। इस पर श्री कृष्ण कुपित हो गये। दोनों ओर भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। हाथी-हाथियों के साथ, घोड़े-घोड़ों के साथ, रथ-रथों के साथ तथा पैदल-पैदलों के साथ युद्ध करने लगे।

गजा गजैः समं लग्नास्तुरंगास्तुरगैः सह।
रथा रथैः समं योद्धुं पत्तयः पत्तिभिः सह॥[१७९] ५१-१६

युद्ध में दोनों ओर से अनेक व्यूहों की रचना की गई। दोनों सेनाएँ परस्पर एक-दूसरे पर घात करने के लिए उद्यत हो गई। श्री कृष्ण ने जरासंध से कहा कि—अब मैं चक्रवर्ती उत्पन्न हो गया हूँ इसलिए आज से तू मेरे शासन में रह।

परन्तु जरासंध ने उनकी एक न मानी। वह श्री कृष्ण को चक्र चलाने के लिए ललकारने लगे। इस पर महान वीर चक्रवती श्री कृष्ण ने अपना चक्र रत्न घुमाकर उसकी ओर फैंका एवं उसने तत्काल ही जाकर जरासंध की वक्षःस्थल रूपी भित्ति को भेद डाला—

इत्युक्ते कुपितश्चक्री चक्रं प्रभ्राम्य सोऽमुचत्।
भूभृतस्तेन गत्वारं वक्षोभित्तिरभिद्यत॥[१८०] ५२-८३

इस प्रकार नौवें नारायण वासुदेव श्री कृष्ण ने क्षण भर में अपने प्रतिवासुदेव जरासंध का वध कर डाला। तदनन्तर जरासंध की समस्त सेना श्री कृष्ण की आज्ञाकारिणी हो गई। राजा दुर्योधन, द्रोण, दुःशासन आदि ने संसार से विरक्त हो मुनिराज विदुर से जिनदीक्षा धारण की। तत्पश्चात् समस्त राजा-महाराजाओं ने अतिशय प्रसिद्ध श्री कृष्ण को अर्ध भरतक्षेत्र के स्वामित्व पर अभिषिक्त किया।

उपर्युक्त विवेचनानुसार हरिवंशपुराण में वर्णित यह प्रसंग सूरसागर से सर्वथा भिन्न है। कंस का जरासंध का दामाद होना एवं कंस-वध पर जरासंध द्वारा यादवों पर आक्रमण में दोनों ग्रन्थ सहमत हैं। श्री कृष्ण को नौवाँ नारायण तथा वासुदेव सिद्ध करने के लिए हरिवंशपुराणकार ने इस प्रसंग को विशद तथा नव्य स्वरूप प्रदान किया है, जिसका सूरसागर में अभाव है।

जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण एवं जरासंध के युद्ध को एक निर्णायक युद्ध बतलाया है सूरसागर में जरासंध का वध कृष्ण की सलाह पर भीम करते हैं जबकि हरिवंशपुराण में जरासंध का वध श्री कृष्ण के हाथों चक्र द्वारा होता है। जिनसेनाचार्य ने युद्ध-वर्णन में सुन्दर चित्र अंकित किए है। सुभटों की वेश-भूषा, अस्त्र-शस्त्र, युद्ध में प्रयुक्त व्यूह रचना तथा अनेक और वीरों की वीरता का वर्णन कर कवि ने इस प्रसंग की महत्ता को और बढ़ा दिया है।

श्री कृष्ण का नारायण स्वरूप :-

वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में श्री कृष्ण को परब्रह्म माना गया है। महाकवि सूर ने अपने साहित्य में कई स्थानों पर श्री कृष्ण के इस स्वरूप को चित्रित किया है। उनके अनुसार ब्रह्मा तथा शंकर भी उस ब्रह्म के माहात्म्य को नहीं समझ पाये हैं। श्रुति, आगम, निगम जिसके गुणों का पार नहीं पा सके, वही सच्चिदानंद परब्रह्म बाल-कृष्ण के स्वरूप में माँ यशोदा की गोदी में खेल रहा है।

पूरन ब्रह्म बखानै, चतुरानन सिव अन्त न जाने।
गुनगुन अगम निगम नहिं पावै, ताँहि जसोदा गोद खिलावै॥[१८१]

वैसे सूरसागर में श्री कृष्ण की लौकिक-लीलाओं की ही प्रधानता रही है परन्तु कवि ने बीच-बीच में उनके इस स्वरूप का भी चित्रण किया है। सूर के अनुसार श्री कृष्ण ही सगुण व निर्गुण दोनों स्वरूप है। निर्गुण स्वरूप में वह गुणातीत, अजर, अमर, अविनाशी, अविगत एवं अगोचर है तो सगुण स्वरूप में यही ब्रह्म लीलाधारी, राधावर, कुंजबिहारी एवं दामोदर है। सगुण का रूप धारण करने के लिए ही उन्होंने ब्रज में अवतार लिया है। उनकी माया अद्भुत है—

आदि निरंजन निराकार, कोऊ हुतो न दूसर।
रचौ सृष्टि विस्तार भई, इच्छा इक औसर॥[१८२]

श्री कृष्ण ही अपनी लीला विस्तार के लिए जड़-चेतन में परिणित होते हैं तथा स्वयं अवतरित होते हैं। यही प्रकृष्ट पुरुषोत्तम अविनाशी एवं सभी प्राणियों की आत्मा है। जगत में जो दृष्टिगोचर होता है, वह सब उन्हीं का अंश है।

आदि सनातन परब्रह्म प्रभु घट-घट अन्तरयामी।
सो तुम्हरै अवतरै आनि कै सूरदास के स्वामी॥[१८३]

परब्रह्म ने ही क्रीडा करने की इच्छा से वृन्दावन, कुंजलता, गोवर्धन पर्वत, गोपिकाओं इत्यादि का परिणमन किया है और वह ब्रह्म श्री कृष्ण है। श्री कृष्ण के विराट स्वरूप का वर्णन करते हुए सूर ने लिखा है कि पाताल उनके चरण, आकाश उनका सिर है तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं पावक सभी उसी से प्रकाशित हो रहे हैं।

नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोइ, जोति रूप अनूप।
चरन सरन पाताल जोक, सीस है आकास।
सूर चन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकास॥[१८४]

इतना ही नहीं श्री कृष्ण स्याम हरि मनसा वाचा कर्मणा अगोचर रूप है। नेत्रों से उन्हें देखा नहीं जा सकता। उनके सगुण रूप को समझना अत्यन्त ही कठिन है। इसी ब्रह्म की स्तुति करते सूरसागर में नारद मुनि कहते हैं कि—हे परमात्मा! तुम्हीं अज हो, अनंत हो, तुम्हारे जैसा ईश अन्य कोई नहीं है, तुम्हीं अनुपम हरि हो—

तब नारद हसि कहयौ, सुनौ त्रिभुवन पति राई।
तुम देवनि के देव देत हो मोहिं बड़ाई॥
विधि महेस सेवत तुम्हें मैं बपुरा किहिं माहिं।
कहै तुम्हें प्रभु देवता या मैं अचरज नाहिं॥[१८५]

परब्रह्म श्री कृष्ण ने भक्त हेतु अवतार धारण किया है। ये ही नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव हैं, ये ही सबके प्रभु और ईश्वर हैं। सूरसागर में परब्रह्म सच्चिदानंदघनस्वरूप के चौबीस अवतारों का संक्षेप में वर्णन मिलता है, जिनमें श्री कृष्ण का लोकरंजनकारी अवतार महत्त्वपूर्ण है। ये ही आदि निरंजन और निराकार हैं, जिन्होंने इस सृष्टि का निर्माण किया है। सूरदास जी के विनय के पदों में श्री कृष्ण के परब्रह्म एवं नारायण रूप का विशेष वर्णन हुआ है। यही परमात्मा आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के निर्माण-कर्त्ता हैं। ये ही समस्त प्राणियों के अग्रज और ज्ञानियों की परमगति है। श्री कृष्ण ही जगत के सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता एवं समस्त कारणों के कारण हैं। सृष्टि का प्रलयरूप अनादि अनंत कालचक्र श्री कृष्ण का ही स्वरूप है जिनकी शेष, महेश आदि देवता भी स्तुति करते हैं—

अलख निरंजन निराकार अच्युत अविनाशी।
सेवत जाहिं महेस सेस, सुर माया दासी॥[१८६]

इस प्रकार सूरसागर में श्री कृष्ण को परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में ही स्वीकार किया गया है। वैसे पुराणों में जिस रूप में श्री कृष्ण का नारायण रूप चित्रित हुआ है वैसा वर्णन सूरसागर में नहीं मिलता है परन्तु श्री कृष्ण की समस्त अलौकिकता में उनका यही रूप दृष्टिगोचर होता है। इतना होने के उपरान्त भी सूर की यह विशेषता रही है कि उन्होंने श्री कृष्ण के चरित्र को एक नवीन मोड़ देकर मानव के अति निकट लाया है।

हरिवंशपुराण :–

सूरसागर की भाँति हरिवंशपुराण में भी श्री कृष्ण के नारायण स्वरूप के दर्शन होते हैं। पुराणकार के अनुसार श्री कृष्ण नौवें नारायण थे। जब श्री कृष्ण जरासंध के साथ युद्ध कर रहे थे, उस समय आकाशवाणी हुई थी कि श्री कृष्ण नौवें-नारायण के रूप में प्रकट हुए हैं।

व्योम्नि दुन्दुभयो नेदुरपतन्पुष्पवृष्टयः।
नवमो वासुदेवोऽयमिति देवा जगुस्तदा॥[१८७] ५२-६७

श्री कृष्ण द्वारा इसी स्वरूप को धारण करने के कारण वे जरासंध को जीत सके। उनके इस कृत्य पर अनेक विद्याधरों ने नारायण-भक्ति से प्रेरित होकर नाना प्रकार से उपहार लेकर उनको भेंट प्रदान की तथा नमस्कार किया। नारायण द्वारा उनके सत्कार पर विद्याधरों ने अपना जन्म सफल माना। श्री कृष्ण ने अपने नारायण स्वरूप में जरासंध को ही नहीं वरन् देव, असुर और सम्पूर्ण दक्षिण भरत क्षेत्र जीता। पुराणकार के अनुसार उन्होंने जीतने योग्य सभी राजाओं को जीतकर कोटिक शिला की ओर गये, जिसे उन्होंने सात नारायणों से चार अंगुल ऊपर उठाया। उस विशाल शिला को उठाने से श्री कृष्ण के शारीरिक बल की जानकारी सभी को मिल गई।

शिलाबलेन विज्ञातो महाकायबलो बलैः।
सोऽनुयातो ययौ चक्री, द्वारिकां प्रतिबान्धवैः॥[१८८] ५३-४०

श्री कृष्ण के इस कृत्य से समस्त राजाओं तथा विद्याधरों ने उन्हें अर्धभरत क्षेत्र के स्वामित्व पर अभिषिक्त किया। उनके पास शत्रुओं का मुख न देखने वाला सुदर्शनचक्र, अपने शब्द से शत्रुपक्ष को कम्पित करने वाला शार्ङ्ग धनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, शत्रुओं पर कभी व्यर्थ नहीं जाने वाली अमोघमूला शक्ति, पांचजन्य शंख और विशाल प्रताप को प्रकट करने वाली कौस्तुभ मणि तथा शंख के चिह्न से चिह्नित सात रत्न थे, जो श्री कृष्ण के नारायण रूप के द्योतक थे।

हरिवंशपुराण में वर्णित श्री कृष्ण का यह नारायण स्वरूप उनके ईश्वरत्व का परिचायक नहीं है। यह उनके शलाकापुरुष का परिचायक है जिसके संयोग से ही वे तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर अर्ध चक्रवर्ती थे। जैनग्रन्थों में शलाकापुरुष को दिव्य पुरुष कहा गया है। शलाकापुरुषों का आशय महाशक्तिशाली पुरुषों से है जिनकी संख्या तिरेसठ है जिनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण तथा नौ बलदेव होते हैं। श्री कृष्ण इन्हीं तिरेसठ शलाकापुरुषों में नौवें नारायण के रूप में वर्णित हुए हैं।

समीक्षा :–

इस प्रकार महाकवि सूर एवं जिनसेनाचार्य दोनों ने श्री कृष्ण के नारायण स्वरूप का चित्रण किया है परन्तु उसके दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्नता रही है। सूरसागर के अनुसार श्री कृष्ण परब्रह्म नारायण स्वरूप है जबकि हरिवंशपुराण के अनुसार वे शलाकापुरुष के द्योतक है। परन्तु श्री कृष्ण की अलौकिकता एवं दिव्य गुणों का दोनों कवियों ने उल्लेख किया है, जो उनकी महानता का स्पष्ट परिचायक है।

यादवों का विनाश :–

श्री कृष्ण का जन्म जिस यादवकुल में हुआ था। उस कुल के विनाश की कथा भी बड़ी रोचक है जिसे सूरदासजी की अपेक्षा जिनसेनाचार्य ने विस्तार से निरूपित की है।

वैष्णव परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् एक बार महर्षि व्यास, विश्वामित्र, कण्व तथा नारदमुनि द्वारिका गये। वहाँ यादवों ने पूर्ण परिहास के साथ व्यवहार किया जिससे ऋषियों ने क्रोधित होकर शाप दिया कि—श्री कृष्ण का पुत्र साम्ब लोहे का एक मूसल पैदा करेगा जिससे वृष्णि और अंधकवंश का विनाश होगा। उससे तुम श्री कृष्ण और बलराम के सिवाय सभी अपने आप का विनाश कर डालेंगे। दूसरे दिन साम्ब ने एक मूसल को जन्म दिया, जिसे उग्रसेन की आज्ञा से कूटवाकर चूर्ण करवाकर समुद्र में डाल दिया तथा सभी को मदिरा सेवन की मनाही की गई। यादव अपने संकट का निवारण चाहते थे परन्तु द्वारिका में भयंकर उत्पात होने लगे। श्री कृष्ण

ने सभी यादवों को तीर्थाटन की सलाह दी तथा प्रभास-क्षेत्र जाने का कहा। तब सभी अंधक व वृष्णि वंशी अपने साथ भाँति-भाँति के मद्य-माँस तैयार करवाकर पत्नियों के साथ प्रभास तीर्थ में रहने लगे। एक दिन उन लोगों ने वहाँ मदिरापान किया। मदिरा के मद से उन्मत्त हो यदुवंशी सात्यकि, अंधकवंशी कृतवर्मा का उपहास करने लगे तथा यादव एक-दूसरे पर वाक्-बाण चलाने लगे। वहाँ क्रोधित हो सात्यकि ने कृतवर्मा का सिर काट डाला। अब तो आपस में युद्ध छिड़ गया। एक-दूसरे पर वे प्रहार करने लगे। इस भयंकर आपसी संहार में मात्र वभ्रु दारुक व श्री कृष्ण ही बचे। श्री कृष्ण ने बलराम को खोजा तो वे एक वृक्ष के नीचे एकांत में ध्यान कर रहे थे।

श्री कृष्ण ने बलराम जी को वहाँ देखकर दारुक को अर्जुन को सूचना देने के लिए कुरुदेश भेजा तथा वभ्रु से द्वारिका जाकर स्त्रियों की रक्षा करने को कहा परन्तु एक व्याध के बाण से वभ्रु का प्राणान्त हो गया। इस पर बलराम को वहीं बिठाकर श्री कृष्ण द्वारिका गये तथा वसुदेव जी से कहा कि अर्जुन के आने की प्रतीक्षा करते हुए कुल की स्त्रियों की रक्षा करें। तदुपरान्त चरण-स्पर्श कर उन्होंने कहा कि अब यादव विहीन द्वारिका में रहना कठिन है अत: वे बलराम के पास जाकर तपस्या करेंगे। वहाँ से श्री कृष्ण बलराम के पास आये तब वे योगासन की समाधि में बैठे थे। उन्होंने देखा तो उनके मुख से एक श्वेत विशालकाय सर्प निकलकर महासागर की ओर गया एवं वहाँ अपने पूर्णरूप को त्याग कर सहस्रों मस्तकों वाला हो गया है। यह देखकर श्री कृष्ण ने बलराम के परमधाम को जाने का सोच लिया।

सूरसागर में वर्णित यादवों के विनाश पर अर्जुन द्वारा द्वारिका जाने का प्रसंग द्रष्टव्य है।

यह कहि पारथ हरि पुर गए।
सुन्यौ सकल यादव छै भए॥
अर्जुन सुनत नैन जल धार।
परयौ धरनि पर खाइ पछार॥
तब दारुक संदेश सुनायौ।
कह्यौ हरि जू जो गीता गायौ॥

आचार्य जिनसेन ने अपनी कृति हरिवंशपुराण में इस प्रसंग को विशदता से वर्णित किया है। यादवों के विनाश की यह घटना द्वारिका ध्वंश नामक प्रसंग में उद्धृत है।

श्री कृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि ने जैन-दीक्षा ग्रहण की थी। एक बार वे गिरनार पर्वत पर समवसरण को सुशोभित करने के लिए ठहरे। वहाँ आये बलदेवजी ने द्वारिका के नाश के बारे में उनसे पूछा, तब नेमिनाथ ने उनसे कहा कि—यह पुरी बारहवें वर्ष में मदिरा के निमित्त द्वैपायनमुनि के द्वारा क्रोध वश भस्म होगी। अंतिम समय में श्री कृष्ण कौशाम्बी वन में शयन करेंगे और जरत्कुमार उनके विनाश में कारण बनेगा।

तत्पश्चात् बलदेवजी ने द्वारिका में प्रवेश कर मद्यपान को बन्द करने की घोषणा करवाई। सभी लोगों ने मदिरा को शिलाओं के बीच बने हुए कुण्ड से युक्त कादम्ब गिरि की गुहा में डाल दिया। बहुत से लोग विनाश की बात सुन परिग्रह का त्याग कर तपोवन को चले गये। द्वारिका में रहने वाले भी व्रत, उपवास, पूजा आदि सत्कार्यों में संलग्न रहने लगे।

एक बार द्वैपायन ऋषि द्वारिका आये। वे द्वारिका के बाहर एक पर्वत के निकट मार्ग में आतापन योग धारण कर प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। उसी समय वन क्रीड़ा को आये एवं प्यास से थके शम्ब आदि कुमारों ने कदम्ब वन के कुण्डों में स्थित शराब को पी लिया। शराब के नशे में वे लड़खड़ाते नाचने लगे। जब वे नगर की ओर गये तथा वहाँ मार्ग में उन्होंने द्वैपायन ऋषि को देखा। उन्हें देखकर वे सोचने लगे कि यही द्वारिका के नाश का कारण होगा। आज यह हमारे आगे से कहाँ जायेगा? ऐसा सोचकर उन पर निर्दयता से पत्थर मार-मार कर उन्हें घायल कर दिया। मुनि क्रोध की अधिकता से अपने होठ डसने लगे तथा अपने तप से उन्हें नष्ट करने के लिए उन्होंने अपनी भृकुटि चढ़ा दी। कुमारों के पास से उपर्युक्त घटना सुन कर श्री कृष्ण व बलराम मुनि का क्रोध शान्त करने के लिए उनके पास दौड़े। उन्होंने मुनि के पास आकर क्षमायाचना की परन्तु वे अपने निश्चय से पीछे नहीं हटे।

ऋषि ने अपनी दो अंगुलियाँ बताकर इशारे से स्पष्ट किया कि तुम दोनों का छुटकारा हो सकता है, अन्य का नहीं। बलदेव व श्री कृष्ण द्वारिका का क्षय निश्चित जान नगर में आये। तत्पश्चात् द्वैपायन मुनि मरकर, अग्निकुमार नामक भवनवासी देव हुए। उसने द्वारिका में उत्पात शुरु किये। वह देव सारी नगरी को जलाने लगा तथा समस्त वृद्ध, स्त्री, बालक, पशु-पक्षियों को पकड़ कर अग्नि में फैंकने लगा। सारी पृथ्वी पर उन प्राणियों की चिल्लाहट सुनाई पड़ने लगी। दिव्य अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण नगर जलने लगा। बलराम व श्री कृष्ण नगर के कोट को फोड़कर समुद्र के प्रवाह से अग्नि को बुझाने लगे परन्तु उनका प्रयास असफल था। इस पर वे अपने माता-पिता तथा बहुत से लोगों को लेकर नगर के बाहर जाने लगे परन्तु उस देव ने कहा कि—तुम दोनों के सिवाय कोई बाहर नहीं जा सकता। वृद्धजनों ने अपना विनाश निश्चित जान उन दोनों भाईयों को दुःखी मन से विदा किया।

ततः पित्रा च मातृभ्यां पुत्रौ यातमितीरितौ।
विनिश्चित्योपसंहारमात्मीयमिति दुःखिभिः॥[१८९] ६१/८७
तान्प्रशाम्य गतौ दीनौ दुःखितौ दुःखपीड़िताम्।
प्रपत्य पादयोर्यातौ गुरुवाक्यकरौ पुरः॥[१९०] ६१/८९

ज्वालाओं के समूह से महल जल रहे थे. श्री कृष्ण व बलराम उस दृश्य को देखकर बहुत देर तक रोते रहे तथा तदनन्तर दक्षिण दिशा की ओर चले। उस देव ने बालक, स्त्री, पशु एवं वृद्धजनों से व्याप्त तथा अनेक द्वारों से शोभायमान द्वारिका नगर को छह मास में भस्म कर नष्ट कर डाला। इस प्रकार द्वारिका के विनाश के साथ समस्त यादव-वंश का नाश हो गया।

श्री कृष्ण का परमधाम गमन :–

यादवों के विनाश के बाद बचे हुए श्री कृष्ण व बलराम भी काल गति के अनुसार परमधाम को सिधारे। दोनों कृतियों में इस प्रसंग को भी पूर्व-प्रसंगों की भाँति कुछ भिन्नता के साथ निरूपित किया है।

सूरसागर में इस प्रसंग का स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है परन्तु कवि ने यादवों के नाश एवं श्री कृष्ण के परमधाम गमन के पश्चात् श्री कृष्ण विहीन द्वारिका का हृदय विदारक वर्णन किया है। ब्राह्मण परम्परा के अनुसार जब श्री कृष्ण ने देखा कि बलराम जी परमधाम चले गये हैं, तब वे सोचते-विचारते, वन में घूमने लगे। वे एक वृक्ष के नीचे बैठकर अतीत की घटनाओं, गान्धारी के शाप, झूठी खीर को शरीर में लगाने के समय दुर्वासा द्वारा कही गई बातें, अंधकवृष्णि व कुरुकुल के विनाश के सम्बन्ध में सोचने लगे तथा वे अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध करने लगे।

उस समय उस वन में जरा नामक व्याध मृगों का शिकार करने आया। उसने पेड़ के नीचे बैठे श्री कृष्ण को मृग समझकर उन पर बाण मारा। बाण श्री कृष्ण के पैर के तलवे में लगा, उससे वे घायल हो गये। व्याध दौड़कर श्री कृष्ण के चरणों में गिर पड़ा। इस पर श्री कृष्ण ने उसे आश्वासन दिया और अपने परमधाम को चले गये।

सूरसागर में हरिविहीन द्वारिका को देखकर अर्जुन की मनो-व्यथा का सुन्दर चित्रण मिलता है।

हरि बिनु को पुरवै मो स्वारथ?
मीडंत हाथ सीस धुनि ढोरत-रुदन करत नृप पारथ।
थकि हस्त चरन गति थाकि अरु थाक्यो पुरुषारथ॥[१९१]

तब अर्जुन पुनः हस्तिनापुर जाते हैं। उस समय पाण्डव उनसे द्वारिका के समाचार पूछते हैं, तब अर्जुन उनसे कहते हैं कि सभी यादव आपस में लड़कर मर गये हैं और श्री कृष्ण भी परमधाम गमन कर गये हैं। श्री कृष्ण के बिना अब हम अनाथ हो गये हैं।

अर्जुन कह्यौ सबै लरि मुए।
हरि बिनु सब अनाथ हम हुए॥
तब अर्जुन नैननि जल डारि।

राजा सो कह्यौ वचन उचारि॥
सुरज प्रभु वैकुंठ सिधारे।
जिन हमरे सब काज सँवारे॥[१९२]

इस प्रकार सूरसागर में श्री कृष्ण के परमधाम गमन के प्रसंग का सूर ने मात्र संकेत कर इसे संक्षेप में वर्णित किया है, जो भागवतानुसार है।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने इस प्रसंग को सविस्तार स्वरूप में निरूपित किया है जो वैष्णव परम्परा से भिन्न है।

द्वारिका के जल जाने के पश्चात् जन्म बलदेव व वसुदेव नगर से बाहर निकल गये तब वे पाण्डवों का लक्ष्य लेकर दक्षिण दिशा में चलने लगे। मार्ग में वे हस्तवप्र नगर पहुँचे। वहाँ श्री कृष्ण तो उद्यान में ठहर गये और बलदेव संकेत कर वस्त्र से अपना समस्त शरीर ढककर अन्नपानी लेने के लिए नगर में प्रविष्ट हुए। नगर का राजा अच्छदन्त धृतराष्ट्र के वंश का था। वह यादवों के छिद्र ढूँढने वाला था। उसे जब बलराम का मालूम हुआ तो उसने उनका वध करने के लिए समस्त सेना को भेज दिया। नगर के द्वार पर बड़ी सेना को देखकर बलदेव ने संकेत से श्री कृष्ण को बुलाया। दोनों भाईयों ने अपने पराक्रम से चतुरंग सेना को मार भगाया। तदनन्तर अन्न-जल लेकर वन में गये एवं विश्राम के बाद वे अन्तस्थ दुर्गम कोशाम्ब नामक भयंकर वन में प्रविष्ट हुए।

उस वन में भयंकर गर्मी थी, ग्रीष्म के उग्र संताप से वायु असह्य थी। श्री कृष्ण ने इस पर बलदेव से कहा कि—मैं प्यास से व्याकुल हूँ, मेरे ओठ व तालु सूख गये हैं अत: मेरी तृष्णा को दूर करने वाला शीतल जल मुझे पिलाइए।

श्री कृष्ण को वहीं बैठाकर बलदेव जी सरोवर से पानी लेने गये। श्री कृष्ण एक वृक्ष की सघन छाया में पहुँचे तथा वहाँ कोमल वस्त्र से शरीर को ढककर मृदु मृत्तिका से युक्त पृथ्वी पर सो गये। अपनी थकान को दूर करने के लिए उन्होंने अपने बायें घुटने पर दाहिना पाँव रखकर क्षण भर इस प्रकार से विश्राम करने की सोची।

उधर जरत्कुमार जो श्री कृष्ण का छोटा भाई था, वह इस भविष्यवाणी से कि तुम्हारे हाथ से तुम्हारे भाई श्री कृष्ण की मृत्यु होगी, उस विकट वन में चला आया था। उसने जब श्री कृष्ण के वस्त्र के छोर को वायु से हिलते देखा तो भ्रांतिवश उसे मृग समझकर तीक्ष्ण बाण मारा, जिससे श्री कृष्ण का पैर विंध गया। पदतल के विद्ध होते ही श्री कृष्ण सहसा उठ बैठे। जरत्कुमार तुरन्त वहाँ आया। जब उसने यह देखा कि ये तो श्री कृष्ण हैं तब वह तुरंत अपने धनुष बाण छोड़ उनके चरणों में गिर पड़ा। वह महाशोक करने लगा। इस पर श्री कृष्ण ने उसे शांत किया तथा कहा कि बड़े भाई बलराम पानी लेने गये हैं। जब तक वे नहीं आते तब तक तुम शीघ्र चले जाओ। उन्होंने कहा कि—तुम जाओ तथा पाण्डवों से यह समाचार कह सुनाओ एवं पहचान के लिए

यह कौस्तुभ मणि लेकर जाओ। इस पर जरत्कुमार वहाँ से चल दिया। तदुपरान्त श्री कृष्ण पृथ्वी-शय्या पर सो गये।

कुछ समय बाद बलदेव जी शीतल जल लेकर वेग से श्री कृष्ण के पास आये। रास्ते में उन्हें अपशकुन होने लगे। श्री कृष्ण को देखकर वे एकदम चीख पड़े। उन्हें मूर्च्छा आ गई। सचेतन होने पर उन्होंने देखा कि—उनके पैर में किसी ने तीक्ष्ण बाण मारा है। इस पर वे कुपित हो गये। उन्होंने सिंहनाद किया कि किसने मेरे छोटे भाई को अकारण मारा है, मेरे सामने आये। परन्तु उन्हें कोई नहीं दिखा। वे सन्ताप करने लगे। उन्होंने श्री कृष्ण के शव को उठा लिया एवं आकुलता के साथ वन में घूमते रहे।

इत्येनकदिनरात्रियापनैः सोऽत्यतन्द्रितमनोवचोवपुः।
प्रत्यहं हरि वपुर्वहन् भ्रमन् प्रत्यपद्यत रतिं न कानने॥[१९३] **६३/४४**

उधर जरत्कुमार श्री कृष्ण की आज्ञानुसार पाण्डवों की सभा में गया। वहाँ उसने रोते हुए सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। समस्त पाण्डव अपने परिवारजनों व सेना के साथ शीघ्रता से उस वन में आये वहाँ उन्होंने बलदेव को प्राप्त किया। उन्होंने बलदेव से श्री कृष्ण के दाह संस्कार की प्रार्थना की परन्तु बलदेव जी ने कृष्ण का मृत शरीर नहीं दिया वरन् उन पर क्रोध किया।

तदनन्तर बहुत समझाने पर छः माह पश्चात् बलदव ने तुंगीगिरि के शिखर पर श्री कृष्ण का दाह संस्कार किया। उन्होंने नेमिनाथ जिनेन्द्र से दीक्षा ग्रहण कर ली एवं चिरकाल तक घोर तप किया।

इत्यशेषितपरीषहारिणा सीरिणा विषयदोषहारिणा।
अभ्यतप्यत तपोऽतिहारिणा जैनसच्चरणभूविहारिणा॥[१९४] **६३/११४**

समीक्षा :–

उपर्युक्त प्रकार से दोनों कृतियों में यह प्रसंग निरूपित हुआ है परन्तु सूरसागर में जहाँ इस प्रसंग का कवि ने संकेत मात्र किया है, वहाँ हरिवंशपुराणकार ने इस प्रसंग को विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है। हरिवंशपुराण के बासठवें एवं तिरसठवें सर्ग में श्री कृष्ण के परमधामगमन एवं बलराम के तप-सिद्धत्व ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। जिनसेनाचार्य ने इस प्रसंग में अपनी मौलिक उद्भावनाओं का समावेश कर सम्पूर्ण घटना का नव्य रूप प्रदान किया है। वैष्णव परम्परा में जहाँ बलराम जी का श्री कृष्ण से पहले परमधाम गमन का उल्लेख मिलता है, वहाँ हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण का बलराम से पहले परमधामगमन बताकर बलदेव जी द्वारा जैन दीक्षा ग्रहण कर तप करने का कहा गया है।

इस प्रसंग में द्वारिका जलने पर श्री कृष्ण व बलदेव का हस्तवज्र नगर में जाना, वहाँ की सेना को पराक्रम द्वारा पराजित करना, तत्पश्चात् कौशाम्ब वन में जाना, श्री कृष्ण

की प्यास एवं बलदेव द्वारा पानी लेने जाना, बलदेव का पश्चात्ताप, पाण्डवों के आने पर श्री कृष्ण का दाह संस्कार, बलदेव जी की दीक्षा एवं तप इत्यादि सभी प्रसंग जिनसेनाचार्य की मौलिकता के प्रतीक हैं।

इतना सब होते हुए भी दोनों ही परम्पराओं में श्री कृष्ण का वध एक व्याध द्वारा उनके तलवे में बाण लगने से बताया है, जो दोनों की एकरूपता को प्रकट करता है। सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण में इस घटना का जो नवीन रूप मिलता है, उससे यह प्रसंग विस्तृत हो गया है।

टिप्पणियाँ :-

१. सूरसागर पद सं० ६२२ - पृ० २५७-५८
२. सूरसागर पद सं० ६२६ - पृ० २६०
३. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/२० - पृ० ४५०
४. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/२१-२५ - पृ० ४५०-४५१
५. सूरसागर पद सं० ६४४ - पृ० २६७
६. सूरसागर पद सं० ६५१ - पृ० २७१
७. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/३५-३६ - पृ० ४५२
८. सूरसागर पद सं० ६६१ - पृ० २७६
९. सूरसागर पद सं० ७०७ - पृ० २९२
१०. सूरसागर पद सं० ७१२ - पृ० २९३
११. सूरसागर पद सं० ७१३ - पृ० २९३
१२. सूरसागर पद सं० ७९८ - पृ० ३२१
१३. सूरसागर पद सं० ७९३ - पृ० ३२०
१४. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/३४ - पृ० ४५२
१५. सूरसागर पद सं० ८१२ - पृ० ३२७
१६. सूरसागर पद सं० ६६८ - पृ० २७८
१७. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४२ - पृ० ४५३
१८. कृष्णोपनिषद् - सुबोधिनी टीका - पृ० १०-११
१९. मध्यकालीन कृष्ण काव्य में निरूपित जीवन मूल्य - "भावना शुक्ल" - पृ० ८७
२०. सूरसागर पद सं० ६७७ - पृ० २८१
२१. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४१ - पृ० ४५३
२२. सूरसागर पद सं० ६८० - पृ० २८२

२३. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४४ - पृ० ४५३
२४. कृष्णोपनिषद्-सुबोधिनी टीका - पृ० १०-११
२५. सिद्धान्तलेश - १०/७१७
२६. सिद्धानतलेश - १०/७१७
२७. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४७ - पृ० ४५३
२८. सूरसागर पद सं० ८९८ - पृ० ३५५
२९. सूरसागर पद सं० ९९७ - पृ० ३८६
३०. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४५ - पृ० ४५३
३१. भागवत पुराण सर्ग १० - श्लोक ९
३२. सूरसागर पद सं० १०८६ - पृ० ४२१
३३. सूरसागर पद सं० १०९७ - पृ० ४२४
३४. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/५०-५१ - पृ० ४५४
३५. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/५५-५६ - पृ० ४५५
३६. सूरसागर पद सं० ११९४ - पृ० ४२३
३७. सूरसागर पद सं० ११५३-५४ - पृ० ४४४-४५
३८. सूरसागर पद सं० ११७० - पृ० ४४९
३९. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/७-८ - पृ० ४६०
४०. सूरसागर पद सं० ११७५ - पृ० ४५
४१. कृष्ण कथा कोश - डॉ० रामचरण गौड़ - पृ० १५७
४२. श्रीमद् भगवद गीता - अध्याय २/६२
४३. सूरसागर पद सं० १४२९ से १४८७ - पृ० ५४२-६६
४४. सूरसागर पद सं० १४४८ - पृ० ५४८
४५. सूरसागर पद सं० १४८८ - पृ० ५७२
४६. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/४८ - पृ० ४५४
४७. श्रीमद् भागवत कथा - श्री डोंगरे महाराज - पृ० ११७
४८. श्रीमद् भागवत - १०/१७
४९. सूरसागर पद सं० १२१२ - पृ० ४७१
५०. सुबोधिनी - टीका १०-२४/२३२
५१. (डॉ० हरीश शुक्ल से मौखिक - वार्तालाप)
५२. "सूरदास और नरसी मेहता" (तुलनात्मक अध्ययन) - डॉ० भ्रमरलाल जोशी - पृ० ८६
५३. सूरसागर पद सं० १६१९ - पृ० ६०६

५४. सूरसागर पद सं० १६२१ - पृ० ६०७
५५. सूरसागर पद सं० १६२८ - पृ० ६०९
५६. सूरसागर पद सं० १६४१ - पृ० ६१३
५७. सूरसागर पद सं० १६५४ - पृ० ६१७
५८. सूरसागर पद सं० १६५१ - पृ० ६१६
५९. सूरसागर पद सं० १७२४ - पृ० ६४१
६०. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/६५-६६ - पृ० ४५६
६१. सुबोधिनी टीका - १०/२६
६२. कल्याण-'शक्तिविशेषाङ्क' - पृ० १८६
६३. सूरसागर पद सं० २०१७ - पृ० ७४६
६४. सूरसागर पद सं० २०६७ - पृ० ७६१
६५. सूरसागर पद सं० २९६८ - पृ० ७६१
६६. सूरसागर पद सं० २०४६ - पृ० ७५४
६७. सूरसागर पद सं० २०२२ - पृ० ७४८
६८. सूरसागर पद सं० २०२४ - पृ० ७४८
६९. सूरसागर पद सं० २०२५ - पृ० ७४८
७०. सूरसागर पद सं० २१२८ - पृ० ७८४
७१. सूरसागर पद सं० २०९८ - पृ० ७७३
७२. सूरसागर पद सं० २१०८ - पृ० ७७६
७३. सूरसागर पद सं० २१३६ - पृ० ७८६
७४. सूरसागर पद सं० २१६४ - पृ० ७९४
७५. सूरसागर पद सं० २१६७ - पृ० ७९५
७६. सूरसागर पद सं० २१७१ - पृ० ७९६
७७. सूरसागर पद सं० २१७२ - पृ० ७९६
७८. सूरसागर पद सं० २२०९ - पृ० ८०७
७९. सूरसागर पद सं० २२३३ - पृ० ८१४
८०. सूरसागर पद सं० २०५७ - पृ० ८२७
८१. सूर के कृष्ण एक अनुशीलन - शशि तिवारी - पृ० ८३
८२. सूरसागर पद सं० ३४४९ - पृ० ११२३
८३. सूरसागर पद सं० ३४६२ - पृ० ११३१
८४. सूरसागर पद सं० ३४५९ - पृ० ११२९

८५. सूरसागर पद सं० १३८६ - पृ० ५२५
८६. सूरसागर पद सं० १३९१ - पृ० ५२६
८७. सूरसागर पद सं० १४१७ - पृ० ५३६
८८. सूरदास - डॉ० ब्रजेश्वर शर्मा - पृ० २७९
८९. सूर के कृष्ण - एक अनुशीलन - शशि तिवारी - पृ० ७२
९०. श्रीमद् भगवद् गीता अध्याय - ३ - श्लोक ३५ तथा १८/९७
९१. सूरसागर पद सं० ३४८९ - पृ० ११४१
९२. सूरसागर पद सं० ३४८८ - पृ० ११४१
९३. सूरसागर पद सं० ३४९९ - पृ० ११४५
९४. सूरसागर पद सं० ३४९२ - पृ० ११४३
९५. सूरसागर पद सं० ३५७८ - पृ० ११८७
९६. सूरसागर पद सं० ३५८७ - पृ० ११८९
९७. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/१३ - पृ० ४६१
९८. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/२९-३० - पृ० ४६३
९९. सूरसागर पद सं० ३०४४ - पृ० १२०८
१००. सूरसागर पद सं० ३६७१ - पृ० १२१०
१०१. सूरसागर पद सं० ३६६९ - पृ० १२०९
१०२. सूरसागर पद सं० ३६७५ - पृ० १२११
१०३. सूरसागर पद सं० ३६८४ - पृ० १२१५
१०४. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/३२-३३ - पृ० ४६४
१०५. सूरसागर पद सं० ३०७२ - पृ० १२१७
१०६. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/४२-४३ - पृ० ४६५
१०७. सूरसागर पद सं० ३७०० - पृ० १२२१
१०८. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/४५ - पृ० ४६५
१०९. सूरसागर पद सं० ३७०५ - पृ० १२२३
११०. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/५१ - पृ० ४६६
१११. सूरसागर पद सं० ३७३७ - पृ० १२३३
११२. सूरसागर पद सं० ३७३६ - पृ० १२३३
११३. सूरसागर पद सं० ३७३७ - पृ० १२३३
११४. सूरसागर पद सं० ३९७३ - पृ० १२८९
११५. सूरसागर पद सं० ३९९७ - पृ० १२९४

११६. सूर की झाँकी - डॉ० सत्येन्द्र - पृ० १७१

११७. सूरसागर पद सं० ४१७७ - पृ० १३३८

११८. सूरसागर पद सं० ४१०७ - पृ० १३२०

११९. सूरसागर पद सं० ४७१८ - पृ० १४७९

१२०. सूरसागर पद सं० ४७७७ - पृ० १४९४

१२१. "सूरदास" - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ०

१२२. सूरसागर पद सं० ४१६४ - पृ० १४९८

१२३. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/७१ - पृ० ४६९

१२४. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/७३ - पृ० ४७०

१२५. सूरसागर पद सं० ४७८२ - पृ० १४९७

१२६. श्रीमद् भागवत पुराण १०/५२

१२७. हरिवंशपुराण - सर्ग ४०/४३

१२८. हरिवंशपुराण - सर्ग ४१/३३ से ३५ - पृ० ५०१

१२९. हरिवंशपुराण - सर्ग ४१/३६ से ३७ - पृ० ५०१

१३०. सूरसागर पद सं० ४७८८ - पृ० १५००

१३१. सूरसागर पद सं० ४७९१ - पृ० १५०१

१३२. सूरसागर पद सं० ४८०१ - पृ० १५०३

१३३. सूरसागर पद सं० ४८०३ - पृ० १५०४

१३४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/४५-४८ - पृ० ५०७

१३५. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/६०-६३ - पृ० ५०८

१३६. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/९२-९३ - पृ० ५११

१३७. नोट :- श्री कृष्ण द्वारा 'शिशुपाल वध' प्रसंग को हम आगे के पृष्ठों में उल्लेखित करेंगे अतः यहाँ इसका मात्र संकेत दिया है।

१३८. सूरसागर पद सं० ४८१० - पृ० १५१२-१३

१३९. सूरसागर पद सं० ४८१२ - पृ० १५१५

१४०. सूरसागर पद सं० ४८२९ - पृ० १५२७

१४१. सूरसागर पद सं० ४८१३ - पृ० १५१७

१४२. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/६१ - पृ० ४६८

१४३. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/१६ - पृ० ५३४

१४४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/२३ - पृ० ५३४

१४५. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/३० - पृ० ५३५

१४६. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/३६ - पृ० ५३५

१४७. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/४२ - पृ० ५३६

१४८. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/४८ - पृ० ५३६

१४९. सूरसागर पद सं० ४८०८ - पृ० १५११

१५०. सूरसागर पद सं० ४८०८ - पृ० १५१२

१५१. सूरसागर पद सं० ४८१५ - पृ० १५१८

१५२. हरिवंशपुराण - सर्ग ४७/५८ - पृ० ५६१

१५३-अ. हरिवंशपुराण - सर्ग ४७/१३३ व १३५ - पृ० ५६७

ब. श्रीमद् भगवत ६०-७०

१५४. ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्धया निश्चित्य वीर्यवान्।
अमन्यत तदा कृष्णमहणीयतमं भुवि॥ महाभारत २/३६-२७

१५५. सूरसागर पद सं० ४८३८ - पृ० १५३२

१५६. सूरसागर पद सं० ४८४० - पृ० १५३४

१५७. सूरसागर पद सं० ४८४१ - पृ० १५३४

१५८. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/८१-८२ - पृ० ५१०

१५९. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/९४-९५ - पृ० ५११

१६०. सूरसागर पद सं० ४८४५ - पृ० १५३७

१६१. सूरसागर पद सं० ४८४६ - पृ० १५३७

१६२. सूरसागर पद सं० ४८५० - पृ० १५३८

१६३. सूरसागर पद सं० ४८५४ - पृ० १५३९

१६४. सूरसागर पद सं० ४८५७ - पृ० १५४०

१६५. सूरसागर पद सं० ४८५९ - पृ० १५४१

१६६. सूरसागर पद सं० २३६ - पृ० ७७

१६७. सूरसागर पद सं० २३६ - पृ० ७७

१६८. सूरसागर पद सं० २४१ - पृ० ७८

१६९. सूरसागर पद सं० २६८ - पृ० ८३

१७०. सूरसागर पद सं० २७३ - पृ० ८८

१७१. सूरसागर पद सं० २६७ - पृ० ८३

१७२. हरिवंशपुराण - सर्ग ४६/३४-३५ - पृ० ५५३

१७३. हरिवंशपुराण - सर्ग ४७/४ - पृ० ५५७

१७४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४७/१०-१४ - पृ० ५५८

१७५. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/४६ - पृ० ६०७

१७६. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/४८ - पृ० ६०७

१७७. हरिवंशपुराण - सर्ग ४५/१५० - पृ० ५४९

१७८. सूरसागर पद सं० ४२१७ - पृ० १५३१

१७९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५१/१६ - पृ० ५९४

१८०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५२/८३ - पृ० ६०२

१८१. सूरसागर पद सं० - पृ०

१८२. सूरसागर पद सं० ६२१ - पृ०

१८३. सूरसागर पद सं० - पृ०

१८४. सूरसागर पद सं० ३७३ - पृ० १२६

१८५. सूरसागर पद सं० ४२१० - पृ० १५२७

१८६. सूरसागर पद सं० ४२१० - पृ० १५२७

१८७. हरिवंशपुराण - सर्ग ५२/६७ - पृ० ६०१

१८८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/४१ - पृ० ६०६

१८९. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/८७ - पृ० ७६०

१९०. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/८९ - पृ० ७६०

१९१. सूरसागर पद सं० - पृ०

१९२. सूरसागर पद सं० - पृ०

१९३. हरिवंशपुराण - सर्ग ६३/४४ - पृ० ७७४

१९४. हरिवंशपुराण - सर्ग ६३/११४ - पृ० ७८३

४

हरिवंशपुराण और सूरसागर में दर्शन

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण आर सूरसागर की साहित्यिक पृष्ठभूमि पर विचार कर लेने के बाद दोनों आलोच्य कृतियों में वर्णित दार्शनिक पक्ष पर विचार किया जायेगा।

आचार्य जिनसेन ने अपनी कृति में न केवल श्री कृष्ण की लीलाओं का ही समावेश किया है वरन् हरिवंश के अनेक महापुरुषों के चरित्र को भी निरूपित किया है। उनका मूल उद्देश्य उन महापुरुषों के लीलागान के साथ जैन-सिद्धान्तों के प्रतिपादन का रहा है। अत: हरिवंशपुराण में जैन-दर्शन का सुन्दर मणि-कांचन समावेश मिलता है।

सूरसागर की रचना का हेतु दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण की अपेक्षा श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं का गान रहा है। परन्तु सूर एक महान भक्त एवं ऐसे सम्प्रदाय से जुड़े थे जो भारतीय-दर्शन की विशेष चिन्तन धारा से सम्बन्धित था। अत: भक्ति के साथ दार्शनिक-सिद्धान्तों से जुड़ा होने के कारण उनका सूरसागर भी उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों से भरा पड़ा है।

हरिवंशपुराण आचार्य जिनसेन दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय से जुड़े एक मुनि थे। उन्होंने अपनी कृति में उसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का तात्त्विक विवेचन किया है। हम जिनसेनाचार्य के दार्शनिक मत को प्रतिपादित करने का प्रयास करेंगे।

जैन-धर्म :–

"जैन" शब्द "जिन" से बिना है। जिन का अर्थ है कि "जिसने मन, वाणी और काया को जीत लिया है।" इस धर्म का आचरण करने वाला-जैन। "जिन" महात्माओं को तीर्थंकर के रूप में पहचाना जाता है। "जैन-शासन" संसार-रूपी नदी को पार करने का किनारा है, तीर्थ है एवं उसे बाँधने वाले-तीर्थंकर। जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं, जिनमें पहले तीर्थंकर "ऋषभ देव" तथा चौबीसवें तीर्थंकर "महावीर स्वामी" के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जैन-धर्म में दो पंथ हैं-एक तो श्वेताम्बर एवं दूसरा दिगम्बर। "श्वेताम्बर" अर्थात् जो श्वेत वस्त्र को धारण करते हैं। जो दिशाओं रूपी वस्त्र को धारण करने वाले हैं, वे "दिगम्बर" कहलाते हैं। इन दोनों पंथों में कुछ तात्त्विक भेद होने के बावजूद भी अहिंसा, संयम इत्यादि मूल-भूत सिद्धान्तों पर वे एक हैं।

जैन-दर्शन :–

जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है कि समस्त संसारी दु:खी हैं एवं वे इस दु:ख से छुटकारा चाहते हैं, परन्तु उन्हें सम्पूर्ण मोक्ष का मार्ग ज्ञात न होने के कारण वे दु:खों से छूट नहीं पाते। जैनागमों में इसी सिद्धान्त के आधार पर मोक्ष मार्ग बतलाया है।

ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म साधना में कर्म, उपासना तथा "ज्ञान" का क्रम स्वीकृत किया गया है। बौद्ध धर्म में वैदिक धर्म से मिलता-जुलता शील, समाधि एवं प्रज्ञा का क्रम स्वीकार किया गया है, जबकि जैन धर्म में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का क्रम अपनाया गया है जिसे त्रिरत्न कहते हैं।[१]

मूल रूप से जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।[२] जिनसेनाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध कृति हरिवंशपुराण में इसी मोक्ष मार्ग को सिद्धान्त और चिन्तनानुसार विश्लेषित किया है। वैसे ये तीनों रत्न घनिष्ठता के साथ एक दूसरे पर अवलंबित हैं, परन्तु तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से इनके प्रमुख तीन भेद किये गये हैं। प्रथम हम जैनागमों के इसी मोक्ष-मार्ग "त्रिरत्न" पर संक्षिप्त में विचार करेंगे, जिसे हरिवंशपुराण में प्रतिपादित किया गया है। तदुपरान्त सूरसागर की दार्शनिकता के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण से इसे उल्लेखित करेंगे।

सम्यग्दर्शन :–

जैनदर्शन के त्रिरत्न में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ है—शास्त्र-वचनों में (आगमग्रन्थ एवं तीर्थंकरों के उपदेश) श्रद्धा होना। इसी कारण आध्यात्मिक विकास के प्रारम्भ में ही ऐसी धर्म-श्रद्धा की परमावश्यकता होती है। इसके अभाव में आध्यात्मिक विकास अवरोधित हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति की इच्छा का उदय भी इसी दर्शन (श्रद्धा) में समाहित है। सम्यग्दर्शन को अनेक जैन ग्रन्थों में कई प्रकार से परिभाषित किया है। "जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग्दर्शन है।"[३] सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।[४] आत्म-श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।[५] सम्यग्दर्शन सम्बन्धित परिभाषाएँ शाब्दिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु गहराई से देखा जाए तो प्रतीत होता है कि इन सबका मूल-भाव एक ही है। मात्र परिभाषित करने का ढंग भिन्न-भिन्न है-मंजिल सबकी एक है। हरिवंशपुराण में जैन दर्शन की मूल मान्यता का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। जिनसेनाचार्य के अनुसार जीवादि सात तत्त्वों का निर्मल तथा शंका आदि अन्तरंग मलों के सम्बन्ध से रहित श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शनमत्रेष्टं तत्त्वश्रद्धानमुज्ज्वलम्।
व्यपोढसंशयाद्यन्तर्निश्शेषमलसङ्करम्॥[६]

यह सम्यग्दर्शन मोहरूपी अन्धकार के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह क्षायिक आदि के भेद से तीन प्रकार का तथा निसर्गज एवं अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-ये सात तत्त्व हैं, इनका अपने-अपने लक्षणों से श्रद्धा करना आवश्यक है।

तच्चदर्शनमोहान्धक्षयोपशममिश्रजम्।
क्षायिकाद्यं त्रिधा द्वेधा निसर्गाधिगमत्वतः॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि श्रद्धेयानि स्वलक्षणैः॥[७]

इस प्रकार मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्ति महल का प्रथम सोपान है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार से बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सम्भव नहीं है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है, जो इससे भ्रष्ट है उसको मुक्ति की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है।[८]

जैन मान्यतानुसार सम्यग्दर्शन ही प्राणियों का हितकारी है, इसी के आधार पर अतीत में महापुरुष मोक्ष में गये हैं और भविष्य में जायेंगे। यही सम्यग्दर्शन का सर्वश्रेष्ठ माहात्म्य है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि प्राणियों का जगत में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और मिथ्या दर्शन की भाँति अहितकारी कोई अन्य नहीं है।[९]

जैन दर्शन के इसी संदर्भ में सात तत्त्वों का विवेचन मिलता है। हरिवंशपुराण ने इन्हीं सात तत्त्वों का तात्विक-विश्लेषण किया है जिसे हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे।

सम्यग्ज्ञान :-

जैन-दर्शन में उल्लेखित त्रिरत्नों में सम्यग्दर्शन के पश्चात् दूसरा स्थान सम्यग्ज्ञान को मिलता है। ज्ञान, आत्मा का गुण है, जानना उसका पर्याय अर्थात् कार्य है। जो सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान है एवं जो मिथ्या दर्शन से युक्त ज्ञान है, वह मिथ्या ज्ञान। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

सम्यक्त्व के द्वारा सम्यग्दर्शन की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढ़ने के लिए दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यक्दर्शन से जिन तत्त्वों में श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान में यह भेद है कि दर्शन का क्षेत्र अन्तरंग है जबकि ज्ञान का क्षेत्र बहिरंग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भाव करता है और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों में परस्पर कारण और कार्य का सम्बन्ध है। सम्यक्ज्ञान की अनेक परिभाषाएँ जैनागमों में उपलब्ध होती है, जिसमें कतिपय दृष्टव्य है—

(१) जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित है, उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है।[१०]

(२) जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनतारहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित जैसा का तैसा, सन्देह रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[११]

(३) आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[१२]

(४) आत्मा के स्वरूप को जानना ही सम्यग्दर्शन है।[१३]

(५) जीवादि सप्त तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[१४]

परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले को संशय कहते हैं। जैसे—वह सीप है या चाँदी? विपर्यय, एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे सीप को चाँदी जान लेना। यह क्या है? या कुछ है? केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—आत्मा कुछ होगा।[१५]

इस भाँति सम्यग्ज्ञान की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं परन्तु इन सब में तात्त्विक दृष्टिकोण से एकरूपता है। उन्हें अलग-अलग ढंग से लिखने के कारण यह अनेकरूपता दिखाई देती है। सब परिभाषाओं का एक ही सार है कि मोक्ष मार्ग में प्रयोजन भूत जीवादि पदार्थों को विशेषकर आत्मा तत्त्व का संशय, विपर्यय एवं अध्यवसाय रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

दर्शन और ज्ञान यह प्रकार के जीवों का स्वभाव धर्म है। यहाँ दर्शन सामान्य ज्ञान मुख्यत: पाँच प्रकार है—

(१) जो इन्द्रियों द्वारा मिलता है वह "मतिज्ञान"।

(२) शास्त्रों और उपदेश द्वारा मिलता ज्ञान "श्रुत ज्ञान"।

(३) इन्द्रियों की मदद के बिना जो प्राप्त होता है वह "अवधिज्ञान"।

(४) दूसरों की मन की अवस्था का ज्ञान "मनपर्याय ज्ञान"।

(५) इन्द्रियों की मदद के बिना मिलता सम्यक्ज्ञान "केवलज्ञान"।

इन्हीं ज्ञान की कक्षाओं के आधार पर जीव मोक्ष की प्राप्ति करता है। हरिवंशपुराणकार ने इस सब ज्ञानों की विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार जो ज्ञान सम्यग्दृष्टि से प्राप्त होता है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा वह पाँच प्रकार का है। मतिज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि पाँच इन्द्रियों तथा मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे—"मतिज्ञान" कहते हैं।

इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं स्यान्मतिज्ञानमनेकधा।
परोक्षमर्थसांनिध्ये प्रत्यक्षं व्यवहारिकम्॥[१६]

यह मतिज्ञान भी अनेक प्रकार का है प्रत्यक्ष एवं परोक्ष है। उन्होंने मतिज्ञान के चौबीस भेद बतलाये हैं। मतिज्ञान के उपरान्त उन्होंने अवधिज्ञान का विश्लेषण किया है परन्तु श्रुत ज्ञान का उल्लेख नहीं किया है। आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी जाती है, जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर, अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष से परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है, उसे अवधि ज्ञान कहते हैं।[१७]

अवधि ज्ञान, कर्म के क्षयोपशय से जीव की शुद्धि होने पर देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधि से तीन प्रकार का होता है। यह अवधिज्ञान देश-प्रत्यक्ष है तथा पुद्गल द्रव्य का विषय करता है।

देश प्रत्यक्षमुदभूतो जीवशुद्धौ त्रिधावधि।
देशः सर्वश्च परमः पुद्गलावधिरिष्यते॥[१८]

मनपर्यव ज्ञान भी देशप्रत्यक्ष ही है। अवधिज्ञान तो केवल परमाणु को जानता है जबकि पर्यवज्ञान उसके अनन्तवें भाग तक जान सकता है। अवधिज्ञान की अपेक्षा यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों को विषय करता है।

जैनमान्यतानुसार सर्वश्रेष्ठ ज्ञान केवलज्ञान है जिसे जिनसेनाचार्य ने अन्तिम ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। यह सर्वप्रत्यक्ष है, अविनाशी है, समस्त पदार्थों को जानने वाला है, यही मोक्ष का कारण है।

पारम्पर्येण मोक्षस्य हेतुर्ज्ञानचतुष्टयम्।
साक्षादेव भवत्येकं केवलज्ञानमव्ययम्॥[१९]

इन पाँचों प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के अनेक साधन हैं, जिनका उल्लेख हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

सम्यक् चारित्र :–

त्रिरत्न के अन्तिम सोपान के रूप में सम्यक् चारित्र को स्वीकार किया गया है। इसका मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हो सकते, वे संसार में भटक सकते हैं। इसका महत्त्व मोक्ष मार्ग में दर्शन और ज्ञान से तनिक भी कम नहीं है। जीव के बन्धक के जो पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें पीछे के चार कारण तो सम्यक् चारित्र से ही दूर किये जा सकते हैं परन्तु चारित्र के अनुसंधान में पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और चार भाव के सम्बन्ध में जानकारी होनी परमावश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत हैं, जिसे मन, वाणी और काया से पालना पड़ता है। मुनियों के

लिए इसे कठोरतापूर्वक पालन करना होता है। ये ही मुनियों के लिए महाव्रत हैं तथा श्रावकों के लिए अणुव्रत। हरिवंशपुराणकार ने इन पाँचों व्रतों के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ बतलाई है। सम्यक् मन, सम्यक् वचन, कायगुप्ति, भोजन का समय देखकर भोजन करना, ईर्या समिति तथा आदान-क्षेपण समिति, ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं।

क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना तथा प्रशस्त वचन बोलना, ये सत्यव्रत की भावनाएँ हैं। शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्मविसंवाद ये पाँच अस्तेयव्रत की भावनाएँ हैं। स्त्रीराग, कथाश्रवण त्याग, उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग करना, शरीर की सजावट का त्याग करना, गरिष्ठ रस का त्याग करना एवं पूर्वकाल में भोगे हुए रति के स्मरण का त्याग करना, ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं। पांच इन्द्रियों के इष्ट, अनिष्ट आदि विषयों में यथायोग्य रागद्वेष का त्याग, ये पाँच अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।

सुवाग्गुप्तिमनोगुप्ती स्वकाले वीक्ष्य भोजनम्।
द्वे चेर्यादाननिक्षेपसमिती प्राग्व्रतस्य ताः॥

इष्टानिष्टेन्द्रियार्थेषु रागद्वेषविमुक्तयः।
यथास्वं पञ्च विज्ञेयाः पञ्च महाव्रतभावनाः॥[२०]

पाँच भावनाओं के पश्चात् जैन दर्शन में तीन प्रकार की गुप्तियों का उल्लेख मिलता है। "गुप्ति" से उनका तात्पर्य "रक्षा" से है। सर्वप्रथम मनोगुप्ति अर्थात् मन में हिंसा और कपट इत्यादि का न करना। दूसरी "वाग्गुप्ति" जिसें असत्यादि युक्त बोलने पर पाबन्दी तथा तीसरे प्रकार की गुप्ति, काय गुप्ति है, जिसमें चोरी न करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना इत्यादि का समावेश होता है। जिनसेनाचार्य ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, उन्होंने इसे संवर का कारण बताया है।[२१] शरीर को शास्त्रोक्त विधि से वश करना, वचन का मेल प्रकार अपरोधन करना तथा मन का सम्यक् निरोधन करना ही तीन प्रकार की गुप्ति समझना चाहिए।[२२]

न केवल पाँच भावनाओं एवं तीन गुप्तियों का वरन् पाँच समितियों एवं दशधर्मों का उल्लेख करते हुए जिनसेनाचार्य ने इसके महत्त्व को भी दर्शाया है। तीन गुप्तियों के पश्चात् पाँच समितियों का वर्णन आता है। सावधान होकर भले प्रकार से गमन तथा आगमन, उत्तम हित योग्य आहर का ग्रहण, पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण तथा यत्नपूर्वक क्षेपण अर्थात् धरना, प्रासुक भूमि देखकर मलमूत्रादि त्याग करना-ये पाँच समितियाँ हैं।[२३]

त्रिसंख्या गुप्तयः पञ्चसंख्याः समितयस्तथा।
दशद्वादश धर्मानुप्रेक्षाश्चारित्रपञ्चकम्॥

द्वाविंशतिभिदा भिन्नपरीषहजयोऽपि च।
हेतवः संवरस्यैते सप्रपञ्चाः समन्विताः॥[२४]

जैन धर्म में वैराग्य का खूब महत्त्व है, उसमें पाँच व्रतों के उपरान्त दश धर्मों का निरूपण विस्तार से मिलता है। जो मुनियों के धर्म हैं परन्तु गृहस्थों को भी इसका यथा-शक्ति पालन करना पड़ता है। इसमें सत्य, अस्तेय, अकिंचनता, ब्रह्मचर्य, शान्ति, मार्दव, आर्जव, त्याग तथा संयम का समावेश होता है।

गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षाव्रतों को मिलाकर द्वादशांग धर्म के पालन का विधान है। इनका पालन मलिनता या मिथ्या दृष्टि से करने पर ये व्रत निरर्थक हो जाते हैं।

इस प्रकार इन जीवादि सात तत्त्वों का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् साधन है।

जीवादिसप्ततत्त्वानामेतेषां ज्ञानसंगतम्।
श्रद्धानं तच्चरित्रं च साक्षान्मोक्षस्य साधनम्॥[२५]

जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त "त्रिरत्न" का हरिवंशपुराण में निरूपण के पश्चात् अब हम सूरसागर और हरिवंशपुराण में निरूपित दार्शनिक तत्त्वों तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। सूरदास आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। उन्होंने उनके द्वारा चित्रित शुद्धाद्वैत दर्शन को ही सूरसागर के दर्शन का मूलाधार स्वीकार किया है परन्तु अपनी मौलिकता का भी यत्र-तत्र निरूपण किया है।

जीव और आत्मा :–

सूरसागर में वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जीव विषयक कहा गया है। जीव चैतन्य स्वरूप है तथा वह प्राणिमात्र के शरीर में व्याप्त है।[२६] प्रदीप्त अग्नि से जिस प्रकार स्फुलिंगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म की इच्छा मात्र से सत् व चित् के अंश से जीव की उत्पत्ति होती है। अतः जीव ब्रह्म का ही अंश है।[२७]

चेतन घट घट है या भाई ज्यों घटघट रवि प्रभा लखाई।
घर उपजै बहुरोनसिजाई रवि नित रहै एक ही भाई॥[२८]

रवि की प्रभा जिस प्रकार प्रत्येक घट में परिलक्षित होती है, वैसे ही अक्षर ब्रह्म भी चेतन स्वरूप में प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। वल्लभ वेदान्त के अनुसार जीव ऐश्वर्यभाव से दीन एवं पराधीन, वीर्याभाव से दुःखी, यशोभाव से दीन, श्रीअभाव से जन्ममरणादि अनेक विध दुःखों से युक्त, ज्ञानाभाव से अहंकारी, वैराग्याभाव से विषयासक्त रहता है। इस प्रकार यह जीव दीन, पराधीन एवं मायालिप्त होकर संसारचक्र में घूमता रहता है। जब वह इस अज्ञान को पहचान लेता है, तब वह चेतन स्वरूप परमात्मा को जान लेता

है तथा ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, ब्रह्म के साथ उसका शाश्वत समबन्ध स्थापित हो जाता है।[२९]

जीव कर्म करि बहु तन पावै, अज्ञानी तिहि देखि भुलावै।
ज्ञानी सदा एक रस जाने, तन के भेद-भेद नहिं माने।
आत्म अजन्म सदा अविनासी, ताकों देह मोह पड़ फाँसी॥[३०]

शरीरस्थ आत्मा ही जीव है। जीव को जब अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब सदा एक रस जाने अर्थात् सर्वत्र ही ब्रह्म को ही व्याप्त देखने लगता है। उसके अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है तब उसे अपनी आत्मा में अविनाशी अजन्म स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है।

वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार जीवों को दो कोटियाँ होती हैं (१) दैवी (२) आसुरी। दैवी कोटि के जीवों को पुष्ट कहते हैं, जिनके दो भेद होते हैं— मर्यादा पुष्ट और पुष्टि-पुष्ट।

मर्यादापुष्ट :—ये वे जीव हैं जो शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करते हुए ईश्वर की उपासना करते हैं। इन जीवों को कर्म एवं ज्ञान के आधार पर मुक्ति मिलती है।

पुष्टिपुष्ट :—ये वे जीव हैं जो ईश्वर के अनन्य प्रेमी होकर, उनकी शरण में जाते हैं। उनका अनुग्रह प्राप्त करने में वे सफल होते हैं। "पोषणं तदनुग्रहः" उक्ति के आधार पर वे सर्वोत्कृष्ट जीव होते हैं। इन जीवों का वर्णन सूर ने किया है—

आनुपनौं आपुन ही मैं पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो, सदगुरु भेद बतायौ।[३१]

आसुरी :—जो जीव माया के बन्धनों से आवृत्त होकर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमित रहते हैं, वे आसुरी कोटि में कहे जाते हैं। इनके भी दो प्रकार हैं—

अज्ञ :—अज्ञ जीव वे होते हैं, जो घोर अनीति में लिप्त रहते हैं। इनका परमात्मा के हाथों संहार होता है।

दुर्ज्ञ :—ये संसारी जीव संसार की माया से भ्रमित रहते हैं तथा विषयासक्ति को ही सर्वस्व मानते हैं। इन जीवों का वर्णन सूरसागर में मिलता है कि वे भ्रमित दशा में हैं इसलिए व्यर्थ प्रयत्नशील होते हुए उन्हें अविद्या से मुक्ति नहीं मिलती।

अपुनपौ आपुन ही बिसरयौं।
जैसे स्वान कांच-मंदिर मे, भ्रमि भ्रमि भूकि पर्यो।
ज्यौं सोरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सुंघि फिर्यो।

ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि के आपुन कूप मर्यौ।
जैसे गज लखि फटिक सिला में, दसननि जाइ अर्यो।
मर्कट मूंठि-छांडि नहिं दीनी घर-घर द्वार फिर्यो।
सूरदास नलिनी के सुवरा, कहि कौन पकर्यो।[३२]

सूरदास जी के अनुसार इन जीवों को सांसारिक दुःखों से एवं मायाजाल से मुक्ति प्राप्त करने हेतु भगवत् स्वरूप का ज्ञान अपेक्षित है। भगवत् स्वरूप का ज्ञान, भगवत् कृपा से ही संभव है। इस प्रकार महाकवि सूर ने शुद्धाद्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंशी व अंश का बताया है। वह भ्रम के कारण इन्द्रिय धर्म को आत्मा का धर्म मानने लगता है, जो राग-द्वेष का मूल-कारण है।

आचार्य जिनसेन ने जैन दर्शनानुसार हरिवंशपुराण में जीव-तत्त्व की विशद चर्चा की है। जैनागमों में जो सात तत्त्व कहे गये हैं,[३३] उनमें अजीव भी महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार जीव का लक्षण उपयोग है और वह उपयोग आठ प्रकार का है। इन भेदों में मति, श्रुति, अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान दोनों रूपों में होते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख-ये चिदात्मक हैं, ये ही जीव के लक्षण हैं क्योंकि इनसे ही चैतन्य स्वरूप की जानकारी होती है।

जीवस्य लक्षणं लक्ष्यमुपयोगोऽष्टधा स च।
मतिश्रुतावधिज्ञानतद्विपर्ययपूर्वकः॥
इच्छा द्वेषः प्रयत्नश्च सुखं दुःखं चिदात्मकम्।
आत्मनो लिंगमेतेन लिङ्ग्यते चेतनो यतः॥[३४]

उन्होंने पृथ्वी आदि भूतों की आकृति मात्र जीव को नहीं कहा है क्योंकि उनके अनुसार वे तो शरीर की अवस्थाएँ हैं। शरीर का चैतन्य के साथ अनेकान्त हैं अर्थात् शरीर यहीं रहता है और चैतन्य दूर हो जाता है। जिस प्रकार बालु इत्यादि से तैल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार से पृथ्वी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। जीव तो संसार का अनादिधन है, कर्म के परवश बना यहाँ दूसरी गति में आता है एवं कर्म परवश बनकर वह दूसरी गति को जाता है।

जीव स्वयं द्रव्य रूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्त्ता है, भोक्ता है, कर्मों का नाश करने वाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है, सदा गुणों से रहित है, असंख्यात प्रदेशी है, संकोच विस्तार स्वरूप है और शरीर प्रमाण है तथा वर्णादि बीस गुणों से रहित है।

द्रव्यभूतः स्वयं जीवो ज्ञाता द्रष्टास्ति कारकः।
भोक्ता मोक्ता व्ययोत्पादयोर्ध्रौव्यवान् गुणवान् सदा॥
असंख्यातप्रदेशात्मा ससंहारविसर्पणः।
स्वशरीरप्रमाणस्तु मुक्तवर्णादिविंशतिः॥[३५]

उन्होंने आत्मा के स्थान एवं उसके कार्य का निरूपण करते हुए हरिवंशपुराण में लिखा है कि—जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ शरीर के किसी निश्चित स्थान में ही कार्य कर सकती है, उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रियाँ भी जहाँ आत्मा होगी वही कार्य कर सकती है, सर्वत्र नहीं अर्थात् आत्मा को शरीर के प्रमाण रूप में ही स्वीकार किया है।

जीव को ढूँढने का मार्ग बताते हुए जिनसेनाचार्य ने उल्लेख किया है कि—यह जीव गति, इन्द्रिय, छह काय, योग वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेष्या, दर्शनसंज्ञित्व, भव्यत्व और आहार इन चौदह मार्गणाओं से खोजा जा सकता है। इस संसारी जीव को जानने के लिए प्रमाण, नय-निक्षेप, सत् संख्या और निर्देश आदि का सहारा लेना चाहिए एवं मुक्त जीव को जानने के लिए अनन्त ज्ञान आदि आत्मगुणों का अवलम्बन लेना चाहिए। इस प्रकार जीव के पुराणकार ने दो भेद किये हैं—(१) संसारी जीव एवं (२) मुक्त जीव।

स गतीन्द्रियषट्काययोगवेदकषायतः।
ज्ञानसंयमसम्यकत्वलेश्यादर्शनसंज्ञिभिः॥
भव्यत्वाहारपर्यन्तमार्गणाभिः स मृग्यते।
चतुर्दशभिराख्यातो गुणस्थानैश्च चेतनः॥
प्रमाणनयनिक्षेपसत्संख्यादिकिमादिभिः।
संसारी प्रतिपत्तव्यो मुक्तोऽपि निजसद्गुणैः॥[३६]

जैन दर्शन में जीव को शरीर के अनुसार बदलाते स्वरूप में स्वीकार किया है। मन की प्रवृत्ति से जीव का परिणाम बदलता है। दर्शन और ज्ञान जीव का स्वभाव धर्म है, जिसे वह प्राप्त करता है। वह इन्द्रियों द्वारा और अतीन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, वह परोक्ष ज्ञान है तथा जिसे अतीन्द्रियों से प्राप्त किया जाता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।

अजीव तत्त्व :–

ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य अजीव है। परन्तु अजीव तत्त्वों का भी विशिष्ट रूप होता है। इसके पाँच भेद बताये गये हैं—पुद्गल, अधर्म, आकाश, धर्म और काल।

धर्माधर्मौ तथाकाशं पुद्गलः काल एव च।
पंचाप्यजीवतत्त्वानि सम्यग्दर्शनगोचराः॥[३७]

इस भेदों में पूर्व के चार को अस्तिकाय एवं काल को अनस्तिकाय कहा गया है। पुद्गल सृष्टि का रूपवान् स्वरूप है। इसका सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। अनेक परमाणुओं के संयोग से परिणाम उत्पन्न होता है, जिससे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चार गुण प्रकट होते हैं।

जिनसेनाचार्य के अनुसार धर्म और अधर्म द्रव्यकण से गति और स्थिति की निर्मिति हैं। आकाश, जीव और अजीव दोनों द्रव्यों के अवगाह में निर्मित है। जो वर्तना लक्षणों से युक्त है, वह काल द्रव्य है। इसके समय आदि अनेक भेद हैं। परिवर्तनानुरूप धर्म से सहित होने के कारण काल द्रव्य परत्व और अपरत्व व्यवहार से युक्त है।

गतिस्थित्योर्निमित्तं तौ धर्माधर्मौ यथाक्रमम्।
नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्वयोस्सदा॥
पूरणं गलनं कुर्वन् पुद्गलोऽनेकधर्मकः।
सोऽणुसंघाततः स्कन्धः स्कन्धभेदादणुः पुनः॥
वर्तनालक्षणो लक्ष्यः समयादिरनेकधा।
कालः कलनधर्मेण सपरत्वापरत्वकः॥[३८]

इस भाँति पुष्टि सम्प्रदाय से दीक्षित होने के कारण सूर ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुरूप जीव तत्त्व की विवेचना करते हुए उसे आत्म स्वरूप एवं ब्रह्म अंश के रूप में स्वीकार किया है।

जबकि जिनसेनाचार्य ने जैनदर्शनानुसार जीव तत्त्व को चैतन्य स्वरूप में उल्लेखित किया है। सूर के अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा मात्र से होती है परन्तु जिनसेन के अनुसार जीव पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न और अभिव्यक्त नहीं होता वरन् वह अनादिनिधन है, जो निजकर्मवश यहाँ दूसरी गति को जाता है। सूर ने शरीर के आत्मतत्त्व को ही जीव मानकर उसे अज्ञान वश इसे मायाजाल भ्रमित होते हुए चित्रित किया है जो भगवान् के अनुग्रह से मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु पुराणकार ने जीव को ही कर्त्ता, भोक्ता, द्रष्ट तथा अपने कर्मों का नाश करने वाला बताया है। सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण में जीव-अजीव तत्त्व की विशद व्याख्या के साथ उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों पर भी विचार किया है।

माया :–

संस्कृत भाषा में ''मा'' शब्द अव्यय है—जिसका अर्थ है ''नहीं''। और ''या'' यत् सर्वनाम शब्द के स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति का एकवचन का रूप है जिसका अर्थ है ''जो''। इस प्रकार-''जो नहीं है'' अर्थात् ''माया''। जो नहीं है, फिर भी भ्रान्ति से दिखाई देता है, वह माया है। शंकराचार्य ने माया को भ्रम रूपा माना है परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार माया ब्रह्मवशा है। वह भगवान् की अगाधशक्ति स्वरूपा है। इसके भी दो रूप माने हैं—

(१) विद्या माया एवं (२) अविद्या माया।[३९]

विद्या-माया वह है जो ब्रह्म की वशवर्तिनी एवं शक्ति है तथा जिसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत का निर्माण करता है। अविद्या माया वह है जो जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के द्वारा वशीभूत करके पथभ्रष्ट करती है।

माया के इस दूसरे स्वरूप का ही भक्तों ने विशेष वर्णन किया है। भक्ति मार्ग में यही माया बाधक है अत: इसकी घोर निन्दा की गई है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार अविद्या माया को दूर करने का एकमात्र सरल उपाय "पुष्टि" है। भगवत् कृपा से ही व्यक्ति अविद्या के समस्त आवरणों से मुक्त हो जाता है। सूर ने इसी शुद्धाद्वैत के अनुसार माया के दोनों स्वरूपों का विशद वर्णन किया है। रमणेच्छु ब्रह्म अपनी अगाध शक्ति माया द्वारा सृष्टि का विस्तार करता है। सूर ने माया को अगाध-शक्ति बताया है, जिसकी गति सदा अविगत रहती है—

अवगित गति जानी न परै
मन-वन-कर्म अगाध अगोचर कीतिविधि बुधिसंचरै।
अति प्रचंड पौरूषबल पाए केहरि भूख मरै।
अनायास बिन उद्यम कीन्है अजगर उदर भरै।
रीतै-भरै भरै पुनि ढौरे चाहै फेरि भरै।

राजा रंक ते रंक, राजा ले सिर छत्र धरै।
सूर पतित तरि जाउ छिनक में जो प्रभु नैकुं ढरै।[३९]

यही अविद्या माया काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान आदि अनेक मानसिक दुर्बलताओं के सहयोग से जीव को सन्मार्ग से भटकाती रहती है। यह माया नहीं, भ्रान्ति है, जो मर्कट की भाँति जीव को अनेक नाच नचाती है।

माया नही लकुटि कर लिन्हैं, कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलत नाना स्वांग नचावे॥

महा मोहिनी मोहि आत्मा, अपमारगहि लगावै।
ज्यों दूति पर वधू भौरिकै, लै परपुरुष दिखावै॥[४०]

माया मोहक स्वरूप का वर्णन करते हुए सूरदास कह रहे हैं कि—जिसकी सुन्दर दृश्यावलियाँ, मोहक-प्रपंच-प्रसार से जीवात्मा को गृह, धन, सन्तान, मित्र इत्यादि विभिन्न बन्धनों में बाँधता है। यही वह बन्धन है, जो परमात्मा के पास पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है। सूर ने इसे मोहिनी, भुंजगिनी कह कर पुकारा है। जिसमें ऋषि-मुनियों के तप नष्ट कर दिये और अपने रूप जाल में फँसाकर उन्हें कहीं का नहीं छोड़ा।[४१]

हरि तेरी माया को न बिगौयौ।
सो जोजन मरजाद सिन्धु की पल में रम बिलौयौ॥[४२]

मनुष्य के मन में पाप की उत्पत्ति भी इसी माया के प्रभाव से होती है। यही माया तृष्णा है, जो जीव को जन्म-मरण के बन्धन में बांधती है। उसे तभी मुक्ति मिल

सकती है जब वह इस माया के झूठे भ्रम को तोड़े। माया को सूर ने असत्य माना है तथा कहा है कि यह झूठी होने पर भी सत्य सी प्रतीत होती है। पशु जैसे बन्धन में पड़कर परवश हो जाता है, उसी प्रकार सूर कहते हैं कि मैं भी माया के हाथ बिक गया हूँ।

अब हो माया हाथ बिकानौ
परवश भयो पशु ज्यों रजु बस, भज्यों न श्रीपति रानौ।
हिंसा मद ममता रस भूल्यों, आशा ही लपटानौ।
अपने ही अज्ञान तिमिर में, बिसर्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक अंजरी है, ताहूँ मैं कुछ कानौ।[४३]

इस अविद्या माया के अन्धकार को दूर करने का उपाय सूर ने भगवान् के अनुग्रह से ही माना है। वे भगवान् से इस भ्रम जाल से छुटकारा प्राप्त करने हेतु प्रार्थना करते हैं कि—मैं भवरूपी सागर के मायारूपी गंभीरजल में डूबे जा रहा हूँ, आप ही मुझे किनारे लगा दीजिए।[४४] इस भव के अन्धकार से छुटकारा आप के पद-नख-चन्द्र प्रकाश से ही हो सकता है।

सूर स्याम पद नख प्रकाश बिनु क्यौं करि तिमिर नसावे।[४५]

सूर ने न केवल अविद्या का ही वर्णन किया है वरन् विद्या माया को भी स्थान-स्थान पर वर्णित किया है। हरि इच्छा से ही सृष्टि का सर्जन करने वाली विद्या माया का चित्रण करते हुए वे कहते हैं कि जब भगवान् की इच्छा होती है, तब यही माया सृष्टि का निर्माण करती है।

बहुरि जब हरि इच्छा होय।
दैखे माया के दिसी जोय।
माया सब तन ही उपजावै।
ब्रह्मा सो पुनि सृष्टि उपावै॥[४६]

शुद्धाद्वैत की मान्यतानुसार सूरसागर में ऊर्ध्वलिखित प्रकार से अविद्या माया तथा विद्या-माया का विस्तृत वर्णन हुआ है। भगवान् की अनुकम्पा एवं उनकी इच्छा से ही मनुष्य इस अविद्या माया से मुक्ति पा सकता है।

जैन दर्शन में माया का वर्णन नहीं मिलता है। जो माया ब्रह्मरूपा है तथा जीव को पथभ्रष्ट करती है। उनके मतानुसार जीव आस्रव के कारण कर्म में आते हैं तथा वे बन्ध हो जाते हैं परन्तु संयम के द्वारा उसे रोका जा सकता है। निर्जरा होने से संचित कर्मों का नाश हो जाता है तथा नये कर्म जीव को नहीं बाँधते।

इस प्रकार ब्रह्म द्वारा माया को उसकी अगाध शक्ति स्वीकार न करके, व्यक्ति के कर्मों को ही महत्त्व दिया है।

पाँच पाप तथा चार कषाय मनुष्य को घेरे रहते हैं, जब तक उनका नाश नहीं होता तब तक व्यक्ति मोक्ष-मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता एवं संसार चक्र के जन्म-मरण से नहीं छूटता। जीव को बन्धन से छूटने के लिए, आस्रव तत्त्व तथा बन्ध तत्त्व पर विशेष बल दिया गया है। इसी आस्रव तत्त्व तथा बन्ध तत्त्व पर पुराणकार जिनसेन स्वामी ने विशद व्याख्या की है।

आस्रव तत्त्व :-

बन्ध के कारणों को आस्रव तत्त्व कहते हैं।[४७] काय, वचन और मन की क्रिया योग है। वही योग आस्रव है। अर्थात् जिन कारणों से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है—वे कारण आस्रव कहलाते हैं। जिन व्यापारों से, जिन प्रवृत्तियों से कर्म पुद्गल होकर आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, वे प्रवृत्तियाँ ही आस्रव कहलाती हैं। मन, वचन, काय के व्यापार के अनुसार शुभ, अशुभ कर्म का बन्ध होता है। 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।' जिनसेनाचार्य के अनुसार आस्रव के शुभ तथा अशुभ के भेद से दो होते हैं।

कायवाङ्मनसां कर्मयोगः स पुनरास्रवः।
शुभः पुण्यस्य गण्यस्य पापस्याशुभलक्षणः॥[४८]

आस्रव के दो स्वामी हैं—१. सकषाय और अकषाय। इसी प्रकार से आस्रव के दो भेद हैं—साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव।[४९] संसार के बन्धन का कारण ही आस्रव है—जिससे जीव अपने आस्रव स्वरूप को भुलाकर शरीरादि पर-द्रव्य में आत्म बुद्धि करता है तथा समस्त क्रियायें शारीराश्रित व्यवहारों में संलग्न रहती हैं। मिथ्याचरण से संसार में घूमता है। सांसारिक विषय भोगों में लिप्त होकर प्रसन्न रहता है तथा सन्मार्ग को भूलकर भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा, हिंसा, आत्मवंचना ही उसका कार्य रह जाता है। आस्रव के कारणों में क्रोध, मान, माया और लोभ माना जाता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद तथा नपुसंक वेद, ये नव-नौ कषाय हैं। जिनसे आत्मा कर्मों के बन्धन में जकड़ती चली जाती है। हरिवंशपुराण में आस्रव तत्त्व वर्णन में पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, हिंसा आदि पाँच अव्रत तथा पच्चीस क्रियाओं को आस्रव के द्वार बतलाये हैं।

इन्द्रियाणि कषायाश्च हिंसादीन्यव्रतान्यपि।
साम्परायिककर्मणः स्यात्क्रिया पञ्चविंशतिः॥[५०]

इन प्रत्येक द्वार के ऊपर पुराणकार ने विशद व्याख्या की है। जिस प्रकार किसी जलयान में छिद्रों के होने से उसमें जल भर जाता है तथा छिद्र बन्द करने पर उसमें पानी आना बन्द हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मन, वचन और काय रूपी आस्रव द्वारों से कर्म द्रव्य आकृष्ट होकर आत्मा में प्रविष्ट होता है परन्तु इन आस्रव द्वारों को बन्द कर दिया जाए तो आत्मा शुद्ध, सर्वज्ञ, चिदानन्द, सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

बन्धतत्त्व :–

बन्ध का कारण आस्रव है परन्तु बन्ध क्या है? यह समझना भी आवश्यक है। जिनसेनाचार्य के अनुसार कषाय से कलुषित जीव, प्रत्येक क्षण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है।[५१] कर्म का आत्मा के साथ दूध और पानी की भाँति सम्बन्ध होने का नाम बन्ध है।[५२] मोह राग से द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बन्ध है, जो दो प्रकार का होता है—भावबन्ध तथा द्रव्यबन्ध। आत्मा के जिन शुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है, उन भावों को भावबन्ध कहते हैं तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध होना द्रव्य बन्ध है।[५३]

आचार्य जिनसेन ने जैन दर्शनानुसार बन्ध के चार भेदों का सविस्तार वर्णन किया है। बन्ध के भेदों का वर्णन करते हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के गुण धर्मों को भी निरूपित किया है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव से होता है जिस प्रकार नीम आदि की प्रकृति नियतरूप से स्थित है। जैसे कर्म की प्रकृति भवधारणा करना है। नाम कर्म की प्रकृति जीव में देव-नारकी आदि संज्ञाएँ उत्पन्न करना है। कर्मों में जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे कर्म-स्थिति कहते हैं। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम अनुभाग है एवं आत्म-प्रदेशों के साथ कितने कर्म परमाणुओं का बन्ध हुआ, उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

प्रकृतिश्च स्थितिश्चापि स बन्धोऽनुभवस्ततः।
प्रदेशबन्धभेदेन चातुर्विध्यं प्रपद्यते॥

✣ ✣ ✣

प्रकृतिः प्रतिपन्ना तु भवधारणमायुषः।
देवनारकनामादिकरणं नाम कर्मणः॥

✣ ✣ ✣

कर्मत्वपरिणत्यात्मपुद्गलस्कन्धसंहतेः।
प्रदेशः परमाण्वात्मपरिच्छेदावधारणा॥[५४]

इस भाँति जिनसेन स्वामी के मतानुसार जीव माया के कारण इस संसार में भ्रमित न होकर उसके आस्रव तत्त्वों तथा बन्ध तत्त्वों के कारण ही मोक्ष मार्ग की ओर अभिमुख नहीं होता है। मिथ्यादर्शनादि से वह मोह में फँस जाता है जो उसके लिए दुःखदायी एवं प्रतिकूल सिद्ध होते हैं।

सूरसागर में जिस पाप की उत्पत्ति के कारण, जन्म-मरण के बन्धन का मूलाधार, विभिन्न मिथ्या बन्धनों की कर्त्ता को माया कहा गया है एवं इसी माया के मोह जाल से छूटने हेतु भगवान् से प्रार्थना की गई है, उसे हरिवंशपुराण में स्वीकार नहीं किया गया

है। उसके अनुसार तो इस संसार के मिथ्यादर्शन का कारण आस्रव एवं बन्ध तत्त्व है। आस्रव तत्त्वों का द्वार बंद करके ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है, उसके लिए भगवान् की अनुकम्पा या अनुग्रह की आवश्यकता नहीं। दोनों ग्रन्थों में मुक्ति की बात स्वीकार की गई है—मुक्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है परन्तु सूरसागर में भगवान् की कृपा से मुक्ति की बात है तो हरिवंशपुराण में आत्मा के कर्मों के बन्धन से छूटने पर। जैन-दर्शन आत्म तत्त्व एवं कर्म तत्त्व पर ही विशेष बल देता है, वह मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वरत्व पर आश्रित रहने पर विश्वास नहीं करता। पर वैष्णव परम्परा में परमात्मा की कृपा से ही संसार के मोह जाल से छुटकारा एवं मुक्ति संभव है। दोनों ही कविश्रेष्ठों ने माया अथवा मिथ्यादर्शन तत्त्व पर विशद विवेचन किया है परन्तु जिनसेनाचार्य का यह विश्लेषण और भी सूक्ष्मता के साथ निरूपित हुआ है।

मोक्ष :–

जीव का जन्म-मरण, जरा-व्याधि से छुटकारा, अखंड आनन्द प्राप्त करने की दशा को मोक्ष कहा गया है। इस स्थिति विशेष सत्ता को सूरदास एवं जिनसेन दोनों ने स्वीकार किया है। साम्प्रदायिक दर्शनानुसार इस मोक्ष की स्थिति में विभेद रहा है परन्तु मोक्ष या मुक्ति दोनों का अंतिम लक्ष्य रहा है।

श्रीमद्भागवत में जिस क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति का वर्णन किया गया है, उसे वल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है। इस प्रकार भक्त के अधिकार क्षेत्र की दृष्टि से मुक्ति के दो रूप होते हैं—(१) क्रम मुक्ति एवं (२) सद्यो मुक्ति।

जिसे कर्म, भक्ति आदि उपासना से प्राप्त किया जाता है वह क्रम मुक्ति कहलाती है एवं जिसका अधिकारी सकाम भक्त होता है। सद्योमुक्ति से किसी क्रम-नियम साधना के निर्वाह की आवश्यकता नहीं होती। इसके अधिकारी मात्र पुष्टि-पुष्ट निष्काम भक्त होते हैं। सूरदास ने भक्ति के इन दोनों रूपों का वर्णन किया है।

भक्त सकामी हूँ जो कोई क्रम क्रम करिकै उधरै सोई।
निष्कामी वैकुंठ सिधावै जन्म-मरन तिहि बहुरि न आवै।[५५]

आचार्य वल्लभ के मतानुसार जीव के तीन प्रकार होते हैं—(१) पुष्टिजीव (२) मर्यादाजीव तथा (३) प्रवाही जीव। शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव को मुक्ति का आनन्द होना, भगवदिच्छाधीन है। वेदविहितसाधनों के साधक सालोक्य सामीप्य तथा सायुज्य में से कोई एक मुक्ति को प्राप्त करता है। ज्ञान-साधना कष्टप्रद है, इसके द्वारा साधना के अंत में मुक्ति मिलती है। पुष्टिजीव के लिए लीला में लय होने की स्थिति को वल्लभाचार्य ने सायुज्य अनुरूपा मुक्ति कहा है। यही मुक्ति श्रेष्ठ है। इसे ही स्वरूपानन्द मुक्ति भी कहा गया है। इसमें भक्त वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोलोक लीला की परमानन्दानुभूति प्राप्त करता है तथा भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम लीला में प्रविष्ट हो जाता है।[५६]

सूरसागर में शुद्धाद्वैत की इन्हीं मान्यतानुसार जीव मुक्ति एवं मुक्तिजन्य परमानन्दानुभूति का निरूपण मिलता है। भगवत्-अनुग्रह से ही जीव को सालोक्य, सामीप्य तथा सायुज्य में से कोई एक मुक्ति मिलती है। गोपिकाओं के भगवान् श्री कृष्ण के परम अनुग्रह से ये मुक्तियाँ अत्यन्त सहज में लभ्य है। भगवान् श्री कृष्ण के साथ नित्यरास में भाग लेना सायुज्य मुक्ति की अवस्था है। शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों अवस्थाओं में गोपियों की पूर्ण तल्लीनता एवं आत्मविस्मृति इसी बात का द्योतक है।

गोपियों को जब उद्धव ज्ञान, वैराग्य, योग, निर्गुण ब्रह्म की बात सिखाने का उपदेश देते हैं, तब वे कहती हैं कि उद्धव हम अबलाओं के लिए यह निर्गुण ज्ञान भारी है। जैसे-कोमल शरीर के लिए गरिष्ठ भोजन कष्टप्रद होता है।[५७] भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि—

ऊधो सुधौ नेकु निहारौ
हम अबलानि को सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारो।
✣ ✣ ✣
हम सालोक्य सारुप्य सायुज्यौं रहतिं सयान सदाई।
सो तजि कहत और की औरे, तुम अलि बडे अदाई॥[५८]

पुष्टिमार्ग के अनुसार जीव के मोक्ष की सर्वोत्तम स्थिति श्री कृष्ण के लीला प्रवेश में है। रासरसेश्वर परब्रह्म परमेश्वर श्री कृष्ण जहाँ नित्यधाम वृन्दावन में नित्य लीलाएँ, गोपियाँ वहीं उनके साथ नित्य लीलास्थ रहना चाहती हैं। उनके लिए यही परम मोक्ष की स्थिति है। नित्य लीला विहार ही परम स्थिति का परिचायक है। मोक्ष की प्राप्ति के दो रास्ते हैं— निर्गुण तथा सगुण। निर्गुण भक्ति ज्ञान योग से सम्बन्धित है तथा सगुण भक्ति भाव प्रवृत्ति पर आधारित है।[५९] सूर की गोपिकाएँ भी प्रवृत्ति मूलक जीवनयापन करती हुई श्री कृष्ण की आराधिकाएँ हैं। वे कृष्ण की अनुरागी हैं, उन पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता।

सूरदास जे रंगो स्याम रंग फिर न चढै रंग यातै।[६०]

इसी स्याम रंग में डूबना अर्थात् परमात्मा में लीन होना ही सूर के मतानुसार सर्वोच्च मोक्ष मार्ग है। भ्रमरगीत प्रसंग में इसी सगुण-भक्ति के महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।

सूर के पदों में जप, तप, तीर्थ, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं तीनों लोकों के साम्राज्य से भी बढ़कर गोपाल नाम का संकीर्तन एवं वृन्दावन निवास को महत्त्व दिया गया है।

जो सुख होत गोपालहि गाएँ
सो सुख होत न जप-तप कीन्है कोटिक तीरथ न्हाएँ।
दिए लेत नहि चार पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ।
तीनि लोक तृन समकरि लेखत, नंद नंदन उर आएँ।

वंशीवट वृन्दावन जमुना, तजि वैकुंठ न जावैं।
सूरदास हरिको सुमरिन करि, बहुरि न भव जल आवें॥[६१]

श्री कृष्ण का नाम स्मरण ही मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र सहज एवं सरलतम साधन है। इससे भक्त के नेत्र, श्रवण, बुद्धि, चित्त सभी श्री कृष्ण में लीन हो जाते हैं तथा वह आत्म-विस्मृति की स्थिति में भगवान् में लीन हो जाता है। तदुपरान्त वह भक्त व भगवान् जल-तरंग की भाँति अभिन्न होकर परमोच्च-अवस्था को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ के दर्शनानुसार सूर ने मुक्ति का वर्णन किया है। यह वर्णन दर्शन शास्त्र में वर्णित मुक्ति की अवधारणा से भी भिन्न हो गया है। वहाँ तो मुक्ति से अभिप्राय आवागमन के बन्धन से छूटकर ब्रह्मानंद में लीन होने से है।

देह में रहते हुए मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस मुक्ति को प्राप्त करने के लिए ज्ञान की परमावश्यकता है। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। परन्तु सूर दर्शन में मुक्ति की प्राप्ति हेतु प्रेमतत्त्व ही सर्वोपरि हैं। परम्परागत मुक्ति की अवधारणा से नितान्त भिन्न उन्होंने भावात्मक मुक्ति का सुन्दर चित्रण खींचा है। वैसे सूर ने योग द्वारा व ज्ञान द्वारा प्राप्त सायुज्य-मुक्ति का वर्णन किया है परन्तु उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया है जबकि शंकराचार्य इसी मुक्ति को उत्तमोत्तम मुक्ति कहते हैं।

जिनसेन स्वामी ने हरिवंशपुराण में जैन-दर्शनानुसार मोक्ष प्राप्ति का विस्तृत वर्णन किया है परन्तु वह वर्णन सूर से भिन्न संदर्भों में वर्णित है। उनके अनुसार भी मोक्ष प्राप्ति ही जीव का अंतिम लक्ष्य है, पर उसे प्राप्त करने का रास्ता अलग है। जैन-दर्शन में बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष कहा है।[६२]

सब कर्मों का आत्यन्तिक अभाव करने के लिए बन्ध के हेतुओं का अभाव तथा निर्जरा होना अत्यावश्यक है। जब समस्त कर्मों का नाश हो जाता है, आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है और लोक के अग्रभाव में स्थित हो जाती है। इस प्रकार एक बार कर्म क्षय होने पर पुनः कर्म बन्धन अथवा संसार चक्र में नहीं आना पड़ता, यही मोक्ष है। जिस प्रकार बीज सर्वथा जल जाने पर उसमें से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कर्मरूपी बीज सर्वथा जल जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

बन्धहेतोरभावाद्धि निर्जरातश्च कर्मणाम्।
कात्स्न्येन विप्रमोक्षस्तु मोक्षो निर्ग्रन्थरूपिणः॥[६३]

मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र का सहारा लेना पड़ता है।[६४] हरिवंशपुराण में इसी को मोक्ष का एकमात्र साधन माना है। संक्षेप में सच्चे देव, शास्त्र, गुरु तथा अजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान है तथा अशुभ कर्मों से छूटकर शुभ में प्रवृत्त होना सम्यग्चारित्र है।

जैन दर्शन के मोक्ष-मार्ग के त्रिरत्नों को वैदिक परम्परा में श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान तथा कर्म के नाम से स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति में यही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन एवं अनुपालन सच्चे सम्यग्दृष्टि वाले विद्वान् ज्ञानी राग-द्वेष रहित सच्चे चरित्रवान महापुरुषों ने किया है।[६५]

श्रीमद्भागवत गीता में भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता है एवं तत्पश्चात् ही वह संयमी बनता है।[६६]

मोक्ष के महत्त्व को निरूपित करते हुए पुराणकार लिखते हैं कि जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सांसारिक सुख न होकर मोक्ष है। क्योंकि सांसारिक सुख अल्पकालीन हैं, इससे व्यक्ति की लालसाएँ बढ़ती ही जाती हैं। व्यक्ति की ये अभिलाषाएँ इतनी बड़ी हैं कि इसमें समस्त संसार की सम्पदा भी नहीं के बराबर है। अत: ये वासनाएँ सर्वथा व्यर्थ हैं। अत: व्यक्ति को अर्थ संचय रूपी प्रवृत्ति-परायणता से हटकर धर्मसाधन रूप विरक्ति-परायणता का अभ्यास करना चाहिए, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्तिरूपी आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

इसके उपरान्त जिनसेन स्वामी ने मोक्ष प्राप्ति हेतु पाँच पापों से विरक्ति पर भी अत्यधिक बल दिया है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अपरिग्रह—इन पांच पापों से विरक्त होना भी व्रत है, जिसे अपनाना परम आवश्यक है। यह व्रत भी दो प्रकार का कहा गया है—

(१) अणुव्रत :—उक्त पापों से एकदेश से विरत होना।

(२) महाव्रत :—उक्त पापों से सर्वदेश से विरत होना।[६७]

इस अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रत को स्थिर रखने के लिए पाँच-पाँच भावनाओं को अपनाना पड़ता है।

(१) अहिंसाव्रत :— सम्यक् वचन गुप्ति, सम्यग्मनोगुप्ति, गवषणा के साथ भोजन ग्रहण करना, इर्यासमिति तथा आदान निक्षेपण।

(२) सत्यव्रत :— क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना तथा प्रशस्त वचन बोलना।

(३) अचौर्यव्रत :— शून्यागतारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण-भैक्ष्य शुद्धि तथा सधर्मविसंवाद।

(४) ब्रह्मचर्य वत :— स्त्री-राग कथा-श्रवण त्याग, उसके मनोहर अंगों को देखने का त्याग, शरीर की सजावट का त्याग, गरिष्टरस त्याग तथा पूर्वकाल में भोगे गये रति के स्मरण का त्याग।

(५) अपरिग्रहव्रत :— पंच इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में यथायोग्य राग द्वेष का त्याग।[६८]

इसके अलावा पुराणकार ने इन व्रतों की स्थिरता एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए चार भावनाओं को ग्रहण करने पर भी जोर दिया है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ ये भावनाएँ मानी जाती हैं—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यं च यथाक्रमम्।
सत्वे गुणाधिके क्लिष्टे ह्यविनेये च भाष्यते॥[६९]

किसी जीव को दु:ख न हो ऐसा विचार करना मैत्री भावना है। अपने से अधिक गुणी मनुष्यों को देखकर हर्ष प्रकट करना गुणी भावना है। दु:खी व्यक्ति को देखकर अपने मन में दया भाव प्रकट करना करुणा भावना है एवं अविनेयमिथ्यादृष्टि जीवों में मध्यस्थ भाव रखना माध्यस्थ्य भावना है।

पाँच महाव्रतों एवं चार भावनाओं के अतिरिक्त हरिवंशपुराण में तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षाव्रतों को भी मोक्ष प्राप्ति हेतु आवश्यक माना है। इन गुणों की पहचान व इनके नाना अतिचारों पर भी विस्तृत निरूपण मिलता है। तदुपरान्त सात तत्त्वों का भी ज्ञान होना मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है, जिनका वर्णन हमने यथा प्रसंग किया है।

इस प्रकार सूरसागर तथा हरिवंशपुराण दोनों ग्रन्थों में मोक्ष या मुक्ति पर सविस्तार निरूपण मिलता है। सूर का मोक्ष का मार्ग वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत पर आधारित है जबकि जिनसेनाचार्य का दिगम्बर जैन दर्शनानुसार। सूरसागर में प्रेमाभक्ति को अपनाकर मोक्ष प्राप्ति पर बल दिया है जबकि हरिवंशपुराण में "त्रिरत्न" के सहारे। सूर के अनुसार भगवान् की अनुकम्पा से मुक्ति मिल सकती है जबकि जिनसेन स्वामी के मतानुसार पुण्य-कर्मों के आधार पर। सूरसागर में भगवन्नाम कीर्तन की बात कही गई है, जबकि हरिवंशपुराण में पंचमहाव्रतों की। इतना विभेद होने पर भी दोनों कवि मोक्ष को जीवन का चरम-लक्ष्य मानते हैं तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग, जनकल्याणार्थ विश्लेषित करते हैं। दर्शन के अन्य तत्त्वों की भाँति मोक्ष तत्त्व पर भी हरिवंशपुराण में विशद तात्त्विक विवेचन मिलता है, जो सूरसागर से अपेक्षाकृत विस्तृत है।

ब्रह्म :–

सूरसागर में कृष्ण को ब्रह्म रूप में स्वीकार किया गया है। उनमें ही निर्गुण ब्रह्म का समावेश मिलता है। उनके ये ब्रह्म भक्त-वत्सल हैं, जो भक्तों के कष्टों को अपनी लीला द्वारा हरने वाले हैं। ये ही ब्रह्म अपनी रमण करने इच्छा से चराचर जगत का निर्माण करते हैं—

तीन लोक हरि करि विस्तार। अपनी जोति कियो उजियार।
जैसे कोऊ गेह संनारि। दीपक बारि करै उजियार॥[७०]

वल्लभाचार्य के अनुसार जगत ब्रह्मस्वरूप है तथा जीव भी। इसलिए उनके शुद्धाद्वैत को ब्रह्मवाद भी कहा जाता है। सर्वं ब्रह्म इति वादः ब्रह्मवादः। ब्रह्म सच्चिदानन्द घन स्वरूप है। उसके सत् अंश के आविर्भाव से जगत की उत्पत्ति होती है तथा उसके सत् एवं चित् अंश से जीव की। जीव तथा जगत दोनों को ही ब्रह्म मानने के कारण इस मत को ब्रह्मवाद नाम से भी अभिहित किया गया है। ब्रह्म सच्चिदानन्द सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। वह चल भी है तथा अचल भी, गम्य भी है तथा अगम्य भी, सगुण भी है तथा निर्गुण भी।

शंकराचार्य के मत से निर्गुण ब्रह्म ही परमतत्त्व है। वही सत्य है, यह जगत मिथ्या है।[७१] परन्तु शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत तथा जीव की सत्ता भ्रममूलक नहीं है वरन् वास्तविक है। उनके अनुसार ब्रह्म के तीन रूप महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) परब्रह्म या पुरुषोत्तम :–

परब्रह्म आदि दैविक है, जिसे सच्चिदानंद भी कहते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म रस रूप है, जिसकी प्राप्ति केवल भक्ति से ही हो सकती है। श्री कृष्ण ही रस रूप परब्रह्म हैं।

जाकी माया लखै न कोई। निर्गुण सगुन धरै बहु सोई।
अगम अगोचर लीलाधारी। सो राधाबस कुंज बिहारी॥[७२]

(२) अक्षर ब्रह्म :–

अक्षर ब्रह्म प्रकृति तथा जीवों का उपादान एवं निमित्त कारण है। वही ज्ञानियों की साधना का विषय है। वही सृष्टि का पालन-पोषण तथा संहार करता है। वही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का रूप धारण कर जीवों की उत्पत्ति करता है।

उत्पत्ति पालन देव हरि तीन रूप धरि आवै।
विष्णु रुद्र ब्रह्मा करि सब प्रेरक अंतरजामि सोई॥[७३]

(३) अन्तर्यामी ब्रह्म :–

ब्रह्म का यह स्वरूप समस्त आत्माओं में निवास करता है। वह जगत रूप है। यही ब्रह्म अन्तर्यामी होकर सृष्टि का संचालन करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अवतार धारण करता है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार सूर के परब्रह्म कृष्ण ही हैं। वही रस रूप है, अवतार लेते हैं तथा ब्रज भूमि उनकी लीला धाम है एवं ब्रह्मा, विष्णु और शिव मे ऊपर है।

नैननि निरखि स्याम स्वरूप
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोति रूप अनूप।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकाश।
सूर्यचन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकास॥[७४]

ब्रह्म के तीन गुण :–

शुद्धाद्वैत के मतानुसार ब्रह्म के तीन गुणों का वर्णन मिलता है जिसे महाकवि सूर ने सूरसागर में निरूपित किया है—

(१) सर्वकर्तृत्व :–

ब्रह्म अकेला रमण नहीं करता है, अत: वह स्वयं ही जीव तथा जगत आदि रूपों में परिणत होकर रमण करने लगता है। सूरदास ने इस गुण का बखान करते लिखा है—

सोभा अमित अपार अखंडित आपु आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सर्वविधि पूरन काम॥[७५]

(२) विरुद्ध धर्माश्रयत्व :–

यह ब्रह्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है। इसका तात्पर्य है कि वह विरोधी कर्मों का आश्रय है। वह निराकार भी है तो भी साकार है। निर्गुण भी है तो भी सगुण है। वह एक है, फिर भी सर्वव्यापक है। वह अचल भी है तो भी चल है। वह सर्वज्ञ है, फिर भी अज्ञानी है। वह भक्तों के अधीन है। सूरदास का अधोलिखित पद इन्हीं गुणों को वर्णित करता है—

आपुहिं पुरुष आपुहिं नारी। आपुहिं वानप्रस्थ व्रतधारी।
आपुहिं माता आपुहिं ताता। आपुहिं भगिनी आपुहिं भ्राता।
आपुहिं पंड़ित आपुहिं ज्ञानी। आपुहिं राजा, आपुहिं रानी॥[७६]

(३) रस रूपत्व :–

ब्रह्म रस रूप है अर्थात् आनन्द स्वरूप है। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा गया है कि 'रसो वै स:'। सूर ने कृष्ण को इस रूप में स्वीकार किया है तथा कहा है कि भक्तों के परिणामार्थ वे अवतार ग्रहण करते हैं। उन्होंने ही अनेक लोकरंजनकारी लीलाएँ की हैं—

भक्त हेत अवतार धरौ
कर्म धर्म के बल में नाहीं, जोग यज्ञ मन में न करौं।
दीन गुहारी सुनो स्रवननि भरि गर्व वचन सुनि हृदय जरौं।
भाव अधीन रहौं सब हीं कैं, और न काहू नैक डरौं।
ब्रह्म कीर आदि लौ व्यापक सब को सुख दे दुखहिं हरौं॥[७७]

सूरसागर में ब्रह्म को निरूपित करते हुए सूर ने सगुण-निर्गुण की समस्त मान्यताओं को भगवान् ने समाविष्ट की है। ये ही ब्रह्म अणु-अणु में व्याप्त हैं। वे ही अध: ऊर्ध्व तथा सर्वत्र प्रकाशमान हैं। वे ही सृष्टि के रचयिता, पालन-कर्त्ता तथा संहार कर्त्ता हैं। श्री कृष्ण ही परब्रह्म हैं, वे अगम हैं, अनंत हैं। उन्होंने अपने रसात्मक स्वरूप से लोकरंजनकारी

लीलाएँ कीं। वे आत्माराम तथा योगेश्वर हैं। प्रकृति, पुरुष, नारायण आदि सभी इन्हीं के अंश हैं। वे पूर्णावतार निर्गुणावस्था "अच्युत" अविनाशी एवं परमानन्द-सुखराशी हैं।

हरिवंशपुराण में ब्रह्म :–

जैन-दर्शन में ब्रह्म की अवधारणा वैष्णव दर्शन से भिन्न दृष्टिकोण युक्त वर्णित है। हरिवंशपुराण ने भी ब्रह्म का विवेचन अपनी पूर्ण परम्परा के अनुसार किया है। जैन-धर्मानुसार सृष्टि अनादि है, उसका न तो कोई रचयिता है तथा न ही पालनकर्त्ता। यह सृष्टि अनादिकाल से इसी प्रकार चल रही है और चलती रहेगी। ब्रह्म या ईश्वर न तो जगतकर्त्ता है एवं न ही फलदाता। कोई भी आत्मा भगवान् बनने की क्षमता रखती है। भगवान् अनन्त हैं, वे संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। सृष्टि के संचालन में न उनका हाथ है और न ही वे किसी का भला-बुरा करते हैं। वे न तो किसी की स्तुति से प्रसन्न होते हैं एवं न ही किसी के निन्दा से अप्रसन्न। जैन-दर्शन के अनुसार सृष्टि स्वयं सिद्ध है।[७८]

सूर ने कुछ भारतीय दार्शनिकों की तरह ईश्वर की अलग सत्ता स्वीकार कर उसे सर्वशक्तिमान, व्यापक एवं विश्वसर्जक माना है परन्तु जिनसेन स्वामी ने जैनमतानुसार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। न्याय-दर्शन की भाँति वे कर्मफल नियन्ता ईश्वर को नहीं मानते हैं। कर्मफल के नियमन के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कर्म परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होते हैं।[७९]

जैन मत के अनुसार ईश्वर कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। उनका कहना है कि जब मनुष्य पुण्य-कर्मों के प्रभाव से देवत्व को प्राप्त होता जाता है, तब वह ईश्वर कहलाता है। उसे ही जैन-दर्शन में अर्हंत, जिन या "सर्वज्ञ" कहते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में अर्हंत या जिन तीर्थंकरों को ईश्वर माना जाता है। यही कारण है कि जैन लोग तीर्थंकरों की ही पूजा करते हैं। "जीव" अपने कर्मों के अनुसार स्वयं अपने सुख-दुख प्राप्त करते हैं, ऐसी अवस्था में मुक्तात्माओं तथा अर्हंतों को इन झंझटों में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि वे कृत-कृत्य हो चुके होते हैं। उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा है परन्तु इन अर्हंतों या मुक्तात्माओं का उस ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य दर्शनों में संसार के कर्त्ता-हर्ता ईश्वर की कल्पना की गई है। इसलिए जैन धर्म को अनीश्वरवादी भी कहा जाता है।[८०]

जिनसेनाचार्य के मतानुसार इस सृष्टि का निर्माण कर्त्ता ईश्वर नहीं है। वरन् सृष्टि की यह स्थिति, भाव-अभाव के अद्वैत-भाव से बँधी हुई है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से भाव रूप और पर्यायार्थिक नय से अभाव रूप है, अहेतुक है। यह किसी कारण से उत्पन्न नहीं है वरन् अनादि है और पारिणामिक है, स्वयं सिद्ध है।

भावाभावाद्वयाद्वैतभावबद्धा जगत्स्थितिः।
अहेतुर्दृश्यते तस्यामनाद्या पारिणामिकी॥[८१]

जहाँ सूरसागर में आत्मा को ईश्वर के हाथों की कठपुतली माना गया है। उसमें स्वयं कोई कार्य करने की क्षमता नहीं है, स्वर्ग-नरक में भेजने वाला, सुख-दुःख देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग या नरक में जाता है, वहाँ हरिवंशपुराण में इस सिद्धान्त का सर्वथा खण्डन मिलता है। उसमें कहा है कि ईश्वर किसी का उत्थान या पतन करने वाला नहीं, वह तो वीतरागी है। आत्मा ही स्वयं का उत्थान और पतन करती है।

समीक्षा :–

(१) सूरदास ब्रह्म का जगत्कर्त्ता व सर्वशक्तिमान स्वरूप में स्वीकार करते हैं, जबकि आचार्य जिनसेन ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।

(२) सूरदास के अनुसार ब्रह्म अपनी लीला रमण की इच्छा से सृष्टि का निर्माण करते हैं परन्तु जिनसेन स्वामी के अनुसार सृष्टि अनादि है, स्वयंसिद्ध है।

(३) सूरदास के मतानुसार ब्रह्म ज्ञानियों की साधना का विषय है। उसकी अनुकम्पा से ही "मोक्ष" की प्राप्ति हो सकती है, पर जिनसेन स्वामी के अनुसार आत्मा की परिशुद्धि से ही मुक्ति सम्भव है।

(४) सूरदास कर्मफल का नियन्ता, ईश्वर को मानते हैं जो व्यक्ति के कर्मों का नियमन करता है परन्तु हरिवंशपुराणकार कर्मों के नियमन के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानते हैं क्योंकि कर्म तो एक स्वतंत्र क्रिया है। जिसका फल भोगने में न तो विशेष शक्ति व्यक्ति को कर्म करने की प्रेरणा देती है और न ही उसके संकेतों पर व्यक्ति कर्म करता है।

(५) सूरसागर में जहाँ श्री कृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है, वहाँ हरिवंशपुराण में उन्हें मात्र शलाकापुरुष माना है।

सूरसागर में हरिवंशपुराण की अपेक्षा "ब्रह्म" विषयक विशद व्याख्या मिलती है, क्योंकि उनके कृष्ण ही सृष्टि के कर्त्ता हैं परन्तु हरिवंशपुराण में "अनीश्वरवाद" का प्रतिपादन होने के कारण यह वर्णन संक्षेप में ही हुआ है।

अवतारवाद :–

सूरसागर में जो श्री कृष्ण-चरित्र वर्णित हुआ है, उसकी एक विशेषता यह है कि कृष्ण स्वयं मानव नहीं वरन् देवाधिदेव भगवान् हैं और वे इस पृथ्वी पर मानव के रूप में अवतरित हुए हैं। गीता में भी यही कहा गया है कि "जब जब पृथ्वी पर धर्म की हानि होती है, अधर्म का बोलबाला हो जाता है, उस समय परमात्मा अवतार धारण कर धर्म की रक्षा करते हैं।"[८२]

श्री कृष्ण के अवतार का भी एक निश्चित उद्देश्य है और वह यह कि पृथ्वी पर उत्पन्न दैत्यों का संहार करना तथा धर्म की स्थापना करना। इसी कारण कृष्ण को एक अलौकिक चरित्र के रूप में चित्रित किया है। सूर के अनुसार इन्हीं निर्गुण निरंजन पूर्ण ब्रह्म ने कृष्ण के रूप में अवतार लेकर अनेक लीलाएँ कीं, जिनका चतुरानन तथा शिव भी अन्त नहीं पा सके।

पूरन ब्रह्म पुरान बखानै चतुरानन सिव अन्त न जानै।
गुनगन अगम-निगम नहिं पावै, ताहि जसोदा गोद खिलावै॥
एक निरंतर ध्यावै ज्ञानी, पुरुष पुरातन सो निर्वानी।
जप-तप ध्यान न आवै, सोई नंद के आंगन धावै॥[८३]

इस प्रकार श्री कृष्ण घट-घट वासी हैं तथा वे ही अंश व कला रूप में तथा नित-नित लोक विलासी के रूप में असंख्य रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। सूरदास जी ने कृष्ण को पूर्णावतार माना है। असुरों के संहार करने के लिए वे अवतार लेते हैं। "निर्गुणावस्था में जो अच्युत, अविनाशी, परमानन्द, सुखराशि हैं वे ही भूमि भार हरने के लिए शरीर धारण करते हैं तथा सगुण-रूप में अवतरित होते हैं।"

जब-जब हरि माया ते दानव, प्रकट भए है आप।
तब-तब धरि अवतार कृष्ण ने कीन्हों असुर संहार॥[८४]

सूर के कृष्ण परब्रह्म के अवतार होने के कारण विराट स्वरूप को धारण करने वाले हैं। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप में परिणत हुआ है। वे साधुओं के परित्राण के लिए, भू-भार हरण करने के लिए अवतार धारण करते हैं। वे किसी धर्म कर्म से बँधे न होकर धर्म-कर्म तथा योग यज्ञ से परे हैं।

भक्त हेत अवतार धरौ
कर्म धर्म के बस में नाहीं, जो यज्ञ मन में न करौ।

ब्रह्म कीट आदि लौ व्यापक सबको सुख दे दुखहि हरौ।[८५]

इस प्रकार सूरसागर में श्री कृष्ण को परब्रह्म माना गया है। इस ग्रन्थ में ब्रह्म स्वयं अपने अगाध माहात्म्य को घोषित करते हुए कहते हैं कि मैं जगत में सर्वव्यापक हूँ। वेदों में मेरा ही गुणगान किया है। मैं ही कर्त्ता हूँ। मैं ही भोक्ता हूँ। जो कुछ नाना स्वरूप में चर-अचर हैं, वह सब मैं ही हूँ। मेरे सिवाय कोई नहीं है, जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही रुद्र हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ।

(क) मै व्यापक सब जगत वेद चारों मोहि गायौं।
मै कर्ता मै भोगता मों बिनु ओर न कोई।[८६]

(ख) विष्णु विधि रुद्र मम रूप में तीन हूँ।
दच्छ सों वचन सह कह सुनायों।[८७]

श्री कृष्ण की अलौकिकता का महिमामय अवतरण सूरसागर में सर्वत्र दिखाई देता है, जो शुद्धाद्वैत के मतानुसार स्वीकार किया गया है। वैष्णव परम्परा में यह विशिष्टता सर्वत्र संवाहक है। चाहे महाभारत हो या हरिवंशपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण हो या अन्य कोई पौराणिक कृति, सभी में इसी अवतारवाद की अवधारणा के अनुसार कृष्ण को परब्रह्म के रूप में निरूपित किया है।

हरिवंशपुराण और अवतारवाद :-

जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण में सूरसागर की भाँति श्री कृष्ण न तो भगवान् के अवतार हैं तथा न ही स्वयं भगवान्। वे शलाकापुरुष के रूप में निरूपित हैं। जैन-दर्शन में अवतारवाद की अवधारणा मान्य नहीं है, अतः स्वाभाविक है कि पुराणकार ने इसी मान्यता को ध्यान में रखा हो।

जैन मतानुसार लोक में विशिष्ट अतिशयों से सम्पन्न पुरुष कालक्रम से जन्म लेते रहते हैं। परम्परागत एक काल-चक्र में त्रिषष्टि शलाकापुरुष जन्म लेते रहते हैं। इनकी त्रिषष्टि संख्या निम्न प्रकार से है। तीर्थंकर चौबीस, चक्रवर्ती बारह, बलभद्र नौ, वासुदेव नौ तथा प्रतिवासुदेव नौ।[८८]

जैन कृतियों में इन शलाकापुरुषों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) चौबीस तीर्थंकर—

ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी।

(२) बारह चक्रवर्ती—

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम महापद्म, हरिषेण, जय तथा ब्रह्मदत्त।

(३) नौ बलभद्र—

अचल, विजय, सुधर्म, सुप्रभु, सुदर्शन, नान्दी, नन्दि मित्र, राम तथा बलराम।

(४) नौ वासुदेव—

त्रिपृष्ठ, दिपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, नृसिंह, पुण्डरीक, दत्तक, लक्ष्मण तथा कृष्ण।

(५) नौ प्रतिवासुदेव—

अश्वग्रीव, तारक, मेरुक, निशुम्भ, मधुकैटभ, बलि, प्रहरण, रावण तथा जरासंध।[८९]

त्रिषष्टि शलाकापुरुषों में श्री कृष्ण की गणना नवम वासुदेव के रूप में होती है। उनका प्रतिद्वन्दी नवम प्रतिवासुदेव है। हरिवंशपुराण में जिनसेन स्वामी ने इसी मान्यता के आधार पर कृष्ण-चरित्र को चित्रित किया है। उन्होंने कृष्ण को भगवान् का अवतार न मानकर अर्द्ध चक्रवर्ती, अर्द्ध भरत-खण्ड के स्वामी तथा त्रिखण्डाधिपति के रूप में स्वीकार किया है।

जैन धर्म में ईश्वर संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। न तो सृष्टि के संचालन में उनका हाथ है तथा न ही वे किसी का भला-बुरा करते हैं। न भगवान् अवतार धारण करते हैं तथा न ही किसी पर प्रसन्न होते हैं।[१०]

इस मतानुसार ही श्री कृष्ण भगवान् का अवतार न होकर एक महापुरुष हैं—नौवें नारायण हैं।

नवमो वासुदेवोऽयमिति देवा जगुस्तदा।[११]

इस प्रकार हरिवंशपुराण में जो परमात्मा की कल्पना एवं विवेचना की गई है, वह सूरसागर की मान्यता से सर्वथा भिन्न है। वैदिक संस्कृति में जिस अवतारवाद को महत्त्व प्रदान किया है, उसे जैन-संस्कृति ने नहीं माना है। इतर संस्कृतियों के समान जैन संस्कृति इस महान् सृष्टि को ईश्वर निर्मित न मानकर स्व-निर्मित मानती है। ईश्वर जगत के कर्त्ता, संरक्षक तथा विनाशक नहीं है तथा न ही वे असुरों का संहार करने के लिए अवतरित होते हैं।

सूरसागर में कृष्ण का भागवत के आधार पर विष्णु का अवतार सिद्ध किया गया है परन्तु हरिवंशपुराण में उन्हें जैनमतानुसार श्रेष्ठ मानव रूप में चित्रित किया है।

वैसे हरिवंशपुराण में भी श्री कृष्ण की अनेक अलौकिक शक्तियों का वर्णन मिलता है, जो महापुरुषों के पास भी दुर्लभ होती है परन्तु उनकी यह भौतिक लीला वीर पुरुषों तक ही सीमित है। त्रिषष्टि शलाकापुरुषों में कृष्ण को सम्मिलित कर हरिवंशपुराणकार ने उन्हें भगवत्कोटि माना है, न कि स्वयं भगवान्।

पुण्य-पाप तत्त्व :–

दार्शनिक जगत में कर्म की गति विचित्र मानी जाती है। कर्म के दो रूप हैं—(१) पुण्य (२) पाप। मनुष्य अपने किये गये कर्मों का फल निश्चित भोगता है। पुण्य कर्मों से सुख की प्राप्ति होती है तो पाप कर्मों से दुःख की। जीव इसी सुख-दुख रूपी कर्मों के फल भोग के लिये जन्म-धारण करता है। संसार के समस्त प्राणी पाप-पुण्य कर्मों में संलग्न रहते हैं। वैदिक काल से कर्म के बारे में भारतीय ऋषियों ने कहा है कि—संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा रखनी चाहिए।[१२] मानव तो क्या देवता भी अपने पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार बन्धन में पड़ते हैं। कहने का अर्थ यह है

कि पवित्र कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा पाप-कर्म करने से दुःख की प्राप्ति होती है।

आलोच्य कृतियाँ-सूरसागर एवं हरिवंशपुराण दोनों में पाप-पुण्य तत्त्व पर विशद विश्लेषण मिलता है। दोनों ग्रन्थों में पुण्य पर जोर दिया गया है जो मानव के कल्याण हेतु सहायक है। सुख-दुःख को देने वाला कोई नहीं वरन् व्यक्ति का कर्म है।[९३] कर्म के आधार पर ही फल की प्राप्ति होती है।[९४]

सूर के मतानुसार जीव कर्म बन्धन में फँसकर अनेक योनियों में फिरता रहता है। वह कर्म तो करता है परन्तु अल्पज्ञानी तथा अल्पशक्तिमान होने के कारण वह अपने पुरुषार्थ पर नियंत्रण करना उसकी शक्ति के बाहर है। कर्मफल जीव के अधीन नहीं है भगवान् कर्म फल के दाता हैं। जो मनुष्य स्वयं को पुरुषार्थी मानता है, वह माया में पड़कर अहंकारी बन जाता है।

धर्मपुत्र तू देखि विचार
कारन करन है करतार
नर के लिए कछू नहि होई, करता हरता आपुहि सोई।
ताको सुमिरि राज्य तुम करो, अहंकार चित्त ते परिहरौ।
अहंकार किए लागत पाप, सूर स्याम भजि मिटे संताप॥[९५]

मनुष्य दुष्कर्म करके अनेक जन्मों के चक्कर में भटकता रहता है परन्तु प्रभु भजन से उसे इस भव-बन्धन से छुटकारा मिल सकता है।

अविद्या माया के कारण जीव इन्द्रिय पदार्थ को सर्वश्रेष्ठ समझने लगता है, जिससे वह राग-द्वेष तथा दुःखों की प्राप्ति करता है एवं वह पाप कर्मों की ओर प्रेरित होता है। मनुष्य हरिभजन से ही अन्तःकरण की शुद्धता को प्राप्त करता है, जो मोक्ष फलदायी है।

किते दिन हरि भजन बिनु खोये।
पर निंदा रसना रस करि केतिक जन्म बिगोये।
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन बस्तर मलि मलि धोये।
तिलक लगाउ चले स्वामी ह्वै, विषयिनी के मुख जोये।
काल बली ते सब जग काप्यौं, ब्रह्मादिक हूँ रोऐ।
सूर अधम की कहौ कौन गति, उदर भरै परि सोऐ।[९६]

सूर के अनुसार मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, कपट, दम्भ इत्यादि कार्यों में प्रवृत्त हो कर जो पाप कर्म करता है, इस पाप कर्म की उत्पत्ति मनुष्य के मन में माया के प्रभाव से ही होती है। माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए हरिकृपा जरूरी है। पतित से पतित व्यक्ति भी हरिकृपा से भव-पार हो सकता है। सूर ने स्वयं को ऐसा ही पतित,

अधम, अभिमानी, कुटिल, खल, कामी स्वीकार करते हुए संसार के बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना करते हैं। इसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि पापी व्यक्ति अपने पापों का प्रायश्चित्त करके तथा भगवान् का नाम स्मरण करके जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है।

(क) मौं सम कौन कुटिल खल कामी
तुम सो कहाँ छिपी करुनामय, सबके अंतरयामि।

सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनिये श्रीपति स्वामी।[९७]

(ख) अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल
काम क्रोध की पहरि चोलना कंठ विषयन माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल।

सूरदास की सबै अविद्या दूरि करो नंदलाल।[९८]

संक्षेप में सूर ने नाना प्रकार के पाप-कर्मों को त्याग कर भगवद् भक्ति करने पर बल दिया है।

सूर की भाँति जिनसेन स्वामी ने भी पाप-पुण्य तत्त्व का विवेचन किया है। परन्तु उनका यह वर्णन जैनदर्शनानुसार है। जैन धर्म में कर्म पर सर्वाधिक बल दिया गया है। कर्म बन्ध दो प्रकार के होते हैं (१) पुण्य बन्ध तथा (२) पाप बन्ध।

इसमें शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र और सद्वैद्य ये चार पुण्य बन्ध के भेद होते हैं तथा कर्म बन्ध पाप है।

शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्यं च चतुर्विधः।
पुण्यबन्धोऽन्यकर्माणि पापबन्धः प्रपंचितः॥[९९]

पुण्य कर्म अनेक कल्याण की प्राप्ति कराने वाले होने से सुखों का कारण है तथा पाप कर्म संसार में दुःखों का कारण माना जाता है। पुण्य कर्म सुख तो प्रदान करता है परन्तु वह भी अशुभ कर्म की तरह जीव को बाँधते हैं। क्योंकि पाप-पुण्य दोनों ही बंध है। पाप की तरह पुण्य भी हेय है। अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग भी हेय है। एकमात्र मोक्ष सुख और उसका कारण शुद्धोपयोग ही उपादेय है।

पुण्यास्रवं सुखानां हि हेतुरभ्युदयावहः।
हेतुः संसारदुःखानामपुण्यास्रव इष्यते॥[१००]

अशुभ कर्मों के कारण अर्थात् पाप के कारण अनेक प्राणी क्लेश को भोगते हुए चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं परन्तु पुण्य कर्मों से उन्हें त्रसपर्याय की प्राप्ति होती है। संसार में त्रिवर्ग की प्राप्ति धर्म से होती है। शुभ वृत्ति से युक्त मन,

वचन, काय से किया गया धर्म ही प्राणियों को सुख के आधारभूत स्थान स्वर्ग, अपने मोक्ष को पहुँचा सकता है। धर्म ही उत्तम मंगल स्वरूप है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से सहित अहिंसा, संयम तथा तप ही धर्म के लक्षण हैं। इस संसार में यह धर्म ही सब पदार्थों में उत्तम है। वह उत्कृष्ट सुख की खान है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से उत्पन्न दुःखों से छुटकारों के लिए धर्म ही अर्थात् पुण्य कर्म ही उत्तम शरण है।

धर्मो मंगलमुत्कृष्टमहिंसासंयमस्तपः।
तस्य लक्षणमुद्दिष्टं सद्दृष्टिज्ञानलक्षितम्॥
धर्मो जगति सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य इहोत्तमः।
कामधेनुः स धेनूनामप्यनूनसुखाकरः॥
धर्म एव परं लोके शरणं शरणार्थिनाम्।
मृत्युजन्मजरारोगशोकदुःखार्कतापिनाम्॥[१०१]

हरिवंशपुराणकार ने धर्म क्या है? इस विषय में गहनता के साथ लिखा है—कि अहिंसा, सत्यभाषण, अचौर्य ओर अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य ये पाँच महाव्रत, मनोगुप्ति, वचन गुप्ति तथा कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ, ईर्या, भाषा-एषणा, आदान-निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियां तथा विद्यमान समस्त सावद्य योग का त्याग ही धर्म है।

इस भाँति दोनों ही आलोच्य कृतियों में पाप-पुण्य पर विचार किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति हेतु पाप कर्मों का त्याग अत्यावश्यक है। पुण्य कर्मों से व्यक्ति को सुखों की प्राप्ति होती है। पाप तथा पुण्य दोनों बन्धन हैं जो व्यक्ति को जन्म-मरण-चक्र में बाँधे रहते हैं। सूरसागर में मोक्ष की प्राप्ति भगवद् अनुकम्पा से सम्भव है, वहाँ हरिवंशपुराण में मोक्ष प्राप्ति हेतु शुभ वृत्ति से किये गये धर्म पर जोर दिया गया है।

पाप-पुण्य तथा उसकी फलश्रुति में एकरूपता होने के उपरान्त भी मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध में दोनों कृतियों में तात्त्विक अन्तर है। पाप कर्मों को छोड़े बिना, शुभ कर्मों में उद्यत नहीं हो सकते हैं। न तो भगवद्-भक्ति हो सकती है तथा न ही धर्म का पालन। अतः व्यक्ति को पाप कर्मों से दूर रहकर पुण्य कर्मों में जुड़ जाना ही उसके कल्याण हेतु श्रेयस्कर है। जैसे—बेड़ी सोने की हो या लोहे की, व्यक्ति को बन्धन में बाँधती है, ठीक उसी प्रकार पाप-पुण्य बन्धन हैं। परन्तु पुण्य कर्मों से व्यक्ति अपने अंतिम-लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है, जिसमें उसका कल्याण निहित है। हरिवंशपुराण का यह तात्त्विक विवेचन सूरसागर से भी अधिक गहनता की ओर ले जाता है।

पुनर्जन्म :-

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त का ही विकसित रूप है। मानव जन्म-मरण की विभीषिका से डर कर उससे मुक्ति पाने हेतु जप-तप, पूजा-अर्चना, ध्यान, भक्ति इत्यादि करता है। भारतीय दर्शन के अनुसार जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल

मिलता है। अच्छे कर्मों से अच्छा फल मिलता है अतः सत्कर्मों पर विशेष बल दिया गया है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मानव का उत्थान या अधःपतन होता है। मानव कर्म-विपाक के अनुसार जन्म के बाद मरण तथा मरण के बाद जन्म ग्रहण करता है, और इस प्रकार वह बार-बार जन्म-मरण के गतिशील चक्र में निरन्तर घूमता रहता है।

भारतीय दर्शनानुसार मृत्यु के बाद आत्मा विद्यमान रहती है। जैसे स्वर्णकार सोने के एक टुकड़े से एक आकृति बनाने के पश्चात् दूसरी नवीन एवं सुन्दरतम आकृति बनाता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर नवीनतम एवं सुन्दर शरीर को धारण करती है।[१०२] आत्मा की यह यात्रा उसके योग्य पाथेय, पूर्वजन्म में किये अच्छे-बुरे कर्मों पर आधारित रहती है।

सूरसागर तथा हरिवंशपुराण दोनों ग्रन्थों में इस तथ्य को पूर्णरूप में स्वीकार किया गया है। इसी आवागमन से छुटकारा पाने हेतु सूर ने भक्ति पर विशेष बल देते हुए कहा है कि—हरि स्मरण बिना न जाने कितने ही जन्म खो दिये हैं, उससे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ है वरन् विषयों संग अनेक यातनाएँ ही सहन करनी पड़ी है। फिर भी मानव इस ओर ध्यान नहीं देता क्योंकि उसका स्वभाव ही कुछ ऐसा बन गया कि—

जुग-जुग जन्म मरन अरु बिछुरन, सब समुझत मत मेव।
ज्यों दिनकर हि उलूक न मानत परि आई यह टेव॥[१०३]

सूरसागर में विद्यमान सूर की समस्त भक्ति इसी आवागमन के छुटकारे के लिए है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य पुनर्जन्म के चक्कर में से, भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बिना भक्ति के मनुष्य तेली के बैल की भाँति चक्कर लगाता रहता है।

सूर ने कृष्ण-भक्ति में "नवधा-भक्ति"[१०४] के सभी अंगों की पुष्टि की है। इसके उपरान्त भक्ति हेतु भक्ति मार्ग में बाल-लीला, यशोदा-विलाप, गोवर्धन-धारण, मानलीला, गोपियों का विरह, भ्रमरगीत इत्यादि को लिया है। जिसमें वात्सल्य भक्ति, सख्य भक्ति तथा मधुरा भक्ति की प्रधानता रहती है।

सूर के अनुसार सभी जन्मों में मनुष्य जन्म दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों में शुभ-कर्मों द्वारा यह जन्म मिलता है और इस जन्म में भी जो परमात्मा की भक्ति कर छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता, उसकी मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है? कवि शिरोमणि सूर, अपने आपको पतितों का सरताज, कुटिल, अभिमानी, अपराधी मानकर भव बन्धन से छुटकारे हेतु प्रभु-प्रार्थना करते हैं कि—मैं लज्जाहीन हूँ, अनेक जन्मों से बेकार में भटकता रहा हूँ परन्तु अब आप करुणा के सागर, पतित पावन हो मुझे इस भवसागर से पार करो—

(क) माधो जू मोहिं काहे की लाज।
जन्म-जन्म यौं ही भरमायो, अभिमानी बेकाज।

थल जल जीव जीते जग, जीवन निरखे दुःखित भये देव।
गुन अवगुन की समुझ की संका, परि आई यह टेव॥

इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को सूरसागर में पूर्ण रूप से स्वीकार किया है तथा उससे छुटकारे हेतु मनुष्य जन्म को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। जो उसे उसके छुटकारे पुण्य कर्मों के बाद प्राप्त होता है। इस जन्म में परमात्मा की भक्ति से वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

हरिवंशपुराण में इसी तत्त्व की विवेचना कुछ दूसरे ढंग से मिलती है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उसमें भी प्राणी को चौरासी लाख योनियों के चक्कर में घूमता हुआ निरूपित किया है।

जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर कर्म के बन्धन में पड़ता है, तो उसे बन्ध कहते हैं और यही बन्ध पुनर्जन्म है।[१०५] जीव का बार-बार जन्म लेना पुनर्जन्म कहलाता है तथा यह पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार होता है। मनुष्य जन्म शुभ कर्मों की प्राप्ति है। जीव अविद्या तथा राग से संश्लिष्ट होता हुआ इस आवागमन के चक्कर में निरन्तर भ्रमण करता है परन्तु वैराग्य से शुद्ध होता हुआ पूर्णस्वभाव में स्थित हो सिद्ध हो जाता है।

अविद्यारागसंक्लिष्टो बम्भ्रमीति भवार्णवे॥
विद्यावैराग्यशुद्धःसन् सिद्धयत्यविकलस्थितिः॥[१०६]

पुराणकार ने पुनर्जन्म का कारण कषाय चतुष्टय बताया है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय कहे गये हैं। मन की शुद्धि से कषाय दूर हो सकते हैं। मन की शुद्धि करने हेतु सदाचार, संयम, सद्भावना की जरूरत होती है।

पुराणानुसार बन्ध के चार भेद होते हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभव तथा प्रदेश-बन्ध।

(१) प्रकृति बन्ध :-

प्रकृति का अर्थ स्वभाव से है। जैसे—नीम की प्रकृति तिक्त है। उसी प्रकार सभी कर्मों की अपनी-अपनी प्रकृति नियत रूप से स्थित है। प्रकृति-बन्ध आठ प्रकार का होता है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय। जिनसेन स्वामी ने इन भेदों की भी सविस्तार चर्चा की है।[१०७]

(२) स्थिति बन्ध :-

इसका अर्थ है प्रकृति (स्वभाव) को न छोड़ना। जिस प्रकार गाय-भैंस आदि के दूध में निश्चित समय तक मीठास रहती है, उसी प्रकार कुछ समय तक कर्म की अपनी प्रकृति में स्थिर रहता है तथा निश्चित समय तक अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है—यही स्थिति-बन्ध है।

यथाजागोमहिष्यादिक्षीरीणां स्वस्वभावतः।
माधुर्यादच्युतिस्तद्वत्कर्मणां प्रकृतिस्थितिः॥[१०८]

(३) अनुभव बन्ध :–

अनुभव बन्ध का अर्थ है जिसमें कर्म करने की शक्ति हो। जैसे गाय, भैंस के दूध में रस विशेष तीव्र या मन्द आदि भाव से रहता है उसी प्रकार कर्म रूप पुद्गल भी सामर्थ्य विशेष तीव्र अथवा मन्द आदि भाव से रहता है। यही अनुभव-बन्ध है।[१०९]

(४) प्रदेश बन्ध :–

कर्म शरीर के द्विगुण आदि अनन्त अव्ययों वाले स्कन्धों का अपने अव्ययों में प्रवेश कर जाना "प्रदेश बन्ध" कहलाता है। प्रकृति और प्रदेश-बन्ध योग के निमित्त से होते हैं जबकि स्थिति का अनुभव बन्ध कषाय के निमित्त से माने गये हैं।[११०]

दोनों ही आलोच्य कृतियों में पुनर्जन्म की स्वीकृति होने के उपरान्त भी दृष्टि-भेद विचारणीय है। सूरसागर में जीव को पुनर्जन्म के चक्कर में घूमते हुए बतलाया है तथा उसकी मुक्ति भक्ति द्वारा ही सम्भव है। हरिवंशपुराण में न केवल पुनर्जन्म के चक्कर की बात कही है वरन् उसके अनेक कारण तथा भेद इत्यादि पर सविस्तार उल्लेख किया है। सूर ने मुख्यतः भक्ति पर विशेष बल दिया है परन्तु जिनसेन स्वामी ने मन की शुद्धि पर। वैसे सूर की भक्ति भी मन की शुद्धता के बिना सम्भव नहीं है। लेकिन जिनसेनाचार्य ने जैनदर्शनानुसार इस बात को अत्यधिक गहराई से उल्लेखित करने का सफल प्रयास किया है। इस प्रकार पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इनका तात्त्विक भेद द्रष्टव्य है।

जीव, आत्मा, मोक्ष, ब्रह्म, अवतारवाद तथा पुनर्जन्म इत्यादि तत्त्वों के विवेचन के बाद हम कुछ ऐसे तत्त्वों पर भी विचार करेंगे जो दोनों ग्रन्थों में बिल्कुल अलग पड़ते हैं। अर्थात् जिनका एक के सिवाय दूसरी कृति में लेश मात्र भी उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसे तत्त्वों में सूरसागर में वर्णित रासतत्त्व तथा हरिवंशपुराण में निरूपित स्याद्वाद या अनेकान्तवाद महत्त्वपूर्ण हैं। इन दो बिन्दुओं के विवेचन बिना हमारा दार्शनिक तत्त्वों का यह तुलनात्मक अध्ययन अधूरा लगेगा। "सूरसागर" में वर्णित "रास" शुद्धाद्वैत के मूलाधार पर निरूपित है, यह आध्यात्मिक एवं अलौकिकता से पूर्णरूपेण सम्बन्धित है। इसी प्रकार हरिवंशपुराण में वर्णित स्याद्वाद, जैन धर्म की नींव है। इसे जैन-दर्शन के मूल तत्त्वों में स्वीकार किया जाता है। अतः उनका उल्लेख करना भी प्रसंगोचित होगा।

सूरसागर और रास :–

"रास" को आध्यात्मिक तथा अलौकिक रसावस्था से सम्बद्ध माना है। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने "रस" (आनन्द) के तीन प्रकार बताये हैं—(१) लौकिक विषयानन्द, (२) अलौकिक ब्रह्मानन्द, (३) काव्यानन्द।[१११] यह नाम-रूपात्मक संसार काव्यानंद पर आधारित है अतः आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें आनन्द की मात्रा स्वल्प रहती है। लौकिक

विषयानन्द का आलम्बन क्षणिक है अतः यह नश्वर है। ब्रह्मानन्द रस के विभावादि उपकरण भगवान् स्वयं होते हैं अतः यह सर्वोत्तम रस माना जाता हे। इससे भी श्रेष्ट भगवान् कृष्ण को विभाव मानकर उसके द्वारा जिस रस की उत्पत्ति होती है-वह "ब्रह्म-रस" है। आचार्य वल्लभ ने इसे भजनानन्द कहा है।[११२]

इस प्रकार लौकिक विषयानन्द तथा काव्यरस से इतर रस रूप श्री कृष्ण (रसो वै सः) के संसर्ग से लीलाओं में जो रस समूह मिले वह रास है तथा यह रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरद् रात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप में स्थित बताया गया है।[११३]

डॉ० गुप्ता ने "रास" के तीन भेद बतलाए हैं—

(१) नित्य रास—नित्य गोलोक का रास।

(२) अवतरित रास—(नैमित्तिक रास) कृष्णावतार का रास।

(३) अनुकरणात्मक रास—अभिनयात्मक रास जो मानसिक एवं दैहिक रूपों में जो दो प्रकार का है।

भक्ति के मुख्य चार भाव हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। इन चारों भावों में माधुर्य भाव सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस भाव की चरम आनन्दानुभूति रासरसानुभूति में ही होती है।

शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य के मतानुसार मधुर भाव के उपासक "पुष्टि-भक्त" को ही रास-लीला में प्रवेश रूप मोक्ष मिल सकता है। गोपी रूप में जीव का रसेश्वर श्री कृष्ण का मिलन ही पुष्टि-भक्त की चरम इच्छा होती है। सूरसागर में रास के आनन्द को ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण रसानन्द बताया है। इसे देखकर सभी सुर-नर मोहित हो गये तथा भगवान् शंकर की समाधि भी टूट गई।

जो रस रासरंग हरि कीन्हौं, वेद नहीं ठहरान्यौ।
सुर-नर मुनि मोहित भए सबही, सिवहु समाधि भुलान्यौ॥[११४]

सूरदास स्वीकार कर रहे हैं कि "रास" वर्णन के लिए जैसी बुद्धि तथा मन चाहिए, वह मेरे पास नहीं है। जिस पर परम कृपालु भगवान् की कृपा होती है, वही इस रास रसानन्द को प्राप्त कर सकता है। भाव-पूर्ण भजने पर ही रास-रसानन्द की प्राप्ति सम्भव है।

रास रस रीति बरनि न आवै।
कहाँ तेसी बुद्धि, कहाँ वह मन लह्यौ, कहाँ वह चिततिय भ्रम भूलावै।
जो कहौं कौन मानै जो निगम अगम, कृपा बिनु नहिं पारसहि पावै।[११५]

रास-रसानन्द के दर्शन करके ब्रज की ललनाओं को भी ब्रजवधू न होने का पश्चात्ताप होने लगा। वे कहने लगी कि विधि ने हमारे को इस "हरिसंग" सुख से क्यों वंचित रखा—

हमको विधि ब्रजवधू न कीन्हीं कहाँ अमरपुर बास भए।
बार-बार पछिताती यहे कहि सुख होतो हरि-संग रहैं॥[११६]

इतना नहीं "रास" को देखने के लिए सभी देवी-देवता अपने-अपने विमानों में बैठकर गोकुल आए। उन्होंने ब्रजवासी, ब्रजबाला, ब्रज की धरा, ताल-विताल, वंशीवट, यमुना तट इत्यादि को धन्य कह उन पर पुष्प वृष्टि की।

रास के आनन्द हेतु वैकुण्ठपति नारायण भी लालायित हैं। गोकुल में हो रही रास की ध्वनि वैकुण्ठ तक पहुँची। नारायण भी लक्ष्मी के साथ वैकुण्ठ से गोकुल में आये। उन्होंने श्री कृष्ण की रासक्रीड़ा को निर्निमेष दृष्टि से देखा तथा कहा कि ऐसा सुख त्रिभुवन में कहीं नहीं है।

मुरली धुनि वैकुण्ठ गई
नारायण-कमला सुनि दंपति, अति रुचि हृदय भई।

✣ ✣ ✣

सूर निरखि नारायण एक-टक, भूले नैन निमेष।[११७]

इतना ही नहीं रास के अखंड, अपार, अनुपम, अद्भुत आनन्द को देखकर समस्त सुर, किन्नर, मुनि, नारद, शिव इत्यादि "रास लीला धाम" वृन्दावन को तथा अद्भुत रास रसेश्वर श्री कृष्ण को धन्य कह रहे हैं।

सूर ने अपने समस्त काव्य में इस बात पर सर्वाधिक बल दिया है कि भगवान् कृष्ण का आनन्द स्वरूप प्रेम पर ही आधारित है। उनके अनुसार भगवान ने क्रीड़ा के लिए सृष्टि का परिणमन किया है तथा आनन्द-क्रीड़ा की चरम-परिणति रास-क्रीड़ा है। भू-लोक की रास-क्रीड़ा नित्य वैकुण्ठ ब्रजधाम के नित्य-रास का अवतीर्ण रूप है। यह रास-लीला प्रतीकात्मक अर्थ में निरूपित है जिसका अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार अर्थघटन किया है।

रास का प्रतीकात्मक अर्थ :-

रास-लीला के प्रतीकार्थ के सम्बन्ध में दार्शनिक ग्रन्थो म बहुत ही विस्तार से वर्णन मिलता है। यह ब्रह्मानन्द से उत्कृष्ट और भजनानन्द की संज्ञा से सुशोभित की गई है। भागवत की रास पंचाध्यायी को भागवत के पाँच प्राण मानते हैं। गोपियों को वल्लभाचार्य ने सिद्धि-स्वरूपा शक्तियों के रूप में स्वीकार किया गया है। इनके साथ क्रीड़ा करना भगवान् का अपरोक्ष भोग कहा गया है। गोपियों का परिवार व समाज- व्यवहार का त्याग करना, उनके धर्म, अर्थ, काम का परित्याग है। भगवान् के रमण रूपी फल को प्राप्त करने के लिए *विवेक तथा वैराग्य साधनों की सिद्धता आवश्यक है। गोपियों ने अपने गृह-व्यवहारों का* त्याग कर इन्हीं विवेक और वैराग्य साधनों को सिद्ध किया।[११८]

डॉ० हरिवंशलाल शर्मा ने रासलीला को एक वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—एक मुख्य केन्द्र के आकर्षण के अनुसार इसमें चारों ओर गतिमान आश्रितों की जो गति होती है, उसे रास कहते हैं। ''सौर-मण्डल'' का सूर्य केन्द्र है, और उसके आकर्षण के कारण सूर्य के चारों ओर स्थित ग्रह एवं उपग्रह गतिमान हैं। यही उनकी रास-लीला है।[११९]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस लीला को श्रीलालजी (श्री कृष्ण) प्रेमतत्त्व (हित-तत्त्व) के विकास के लिए माना गया है। रास-लीला के एक ही तत्त्व, हिततत्त्व श्री कृष्ण व गोपी रूप में आविर्भूत होता है।[१२०]

महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने रास-रहस्य को वैदिक विज्ञान प्रतीकात्मकता के रूप में विवेचित किया है। उन्होंने रास-लीला का सम्बन्ध चन्द्रमा से स्थापित किया है। चन्द्रमा राशि चक्र में रास-लीला करता है। नक्षत्रों की गणना कृतिका से की जाती है। इसके अनुसार विशाखा नक्षत्र मध्य में होने के कारण वह रासेश्वरी है इसका दूसरा नाम ''राधा'' भी है।

इसके आगे नक्षत्र को अनुराधा कहा जाता है। जिस पूर्णिमा को चन्द्रमा विशाखा नक्षत्र पर रहता है, उस दिन सूर्य कृतिका नक्षत्र पर रहता है। सम्मुख स्थित सूर्य की सुषुम्रा राशि से विशाखायुक्त चन्द्रमा प्रकाशित होता है। कृतिका का सूर्य वृष राशि का होता है अतः राधा को वृषभानु-सुता कहा जाता है। तदनन्तर जब पूर्ण चन्द्रमा राधा के ठीक सम्मुख भाग में कृतिका पट आता है उस समय कार्तिक पूर्णिमा या रास-क्रीड़ा का प्रमुख दिन होता है।[१२१]

''राजयोग'' में गोपी को इन्द्रियों का प्रतीक मानकर रास-क्रीड़ा की प्रतीक परक व्याख्या की गई है। इन इन्द्रियों का अध्यक्ष मन-हृदय पद्मरूपी हृदय में निवास करता है। वही इन्द्रियों का पालक है। मन की वृत्तियाँ ही गोपमन की ब्रजांगनाएँ हैं। उनका अपने मनरूपी पति के साथ रमण न करके नित्य सर्वाकर्षण कृष्ण (आत्म तत्त्व) के साथ रमण रास-क्रीड़ा है। प्रेमयोग के अनुसार मनुष्य की प्रकृतिगत आत्मा द्वारा भागवत आत्मा की प्रेममय खोज को रास-क्रीड़ा का प्रतीक बनाया है। प्रकृतिगत आत्मा भागवत आत्मा के सौन्दर्य में विमोहित हो उसकी ओर दौड़ती है तथा मिलन करती है।[१२२]

हरिवंशपुराण में भी श्री कृष्ण द्वारा रास-क्रीड़ा करने का संकेत मिलता है। कुमार कृष्ण अतिशय यौवन के उन्माद से भरी गोप-कन्याओं के साथ क्रीड़ा करते हैं।[१२३] परन्तु यह वर्णन संक्षेप में है। पुराणकार ने मात्र इसका संकेत ही किया है जबकि सूर का मन तो इस लीला में वर्णन में अत्यधिक रमा है क्योंकि उनके अनुसार रास ''ब्रह्मानन्द'' है। *''रास-लीला'' में राधा-गोपी तथा वृन्दावन, गोलोक का अत्यधिक महत्त्व है अतः इनका* भी संक्षिप्त वर्णन करना प्रसंगोचित्त है।

राधा-गोपी :–

सूर ने वल्लभ वेदान्त के अनुसार ही गोपिकाओं का परब्रह्म श्री कृष्ण की परमानन्दमयी शक्ति का निरूपण किया है। राधा को पुरुष कृष्ण की प्रकृति कहकर दोनों की एकता का निरूपण किया है।[१२४]

राधा को सूर ने शक्ति कहकर उन्हें देवताओं की मुनियों की स्वामिनी कहा है। उसके सौन्दर्य ने त्रिभुवन को मोहित कर रखा है।

नीलाम्बर पहिरे तनुभामिनि, जनुधन दमकति दामिनि।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक नारदादि की स्वामिनि।[१२५]

"राधा" जगज्जननी है, वह जगदीश को प्यारी है। वृन्दावन में नित्य गोपाल के साथ विहार करने वाली अगणित की गति, भक्तों की स्वामिनी, मंगलदायिनी, अशरण-शरणी, भव-भय-हरनी एवं वेद तथा पुराणों में जिसकी अघा-अघाकर स्तुति की गई है वह परमेश्वरी श्री कृष्ण की आद्यशक्ति एवं स्वामिनी राधा ही है।[१२६]

जग नायक जगदीश प्यारी जगत जननी जगरानी।
नित विहार गोपाल लाल संग वृन्दावन रजधानी।
अगतिन की गति भक्तन की प्रति राधा मंगलकारी।
असरन सरनी भव भयहरनी वेद पुरान बखानी।[१२७]

सूरसागर "राधा" के साथ गोपिकाओं के कई भाव निरूपित हुए हैं। वे नित्य गोलोक में होने वाली नित्यरास में भगवान् कृष्ण की आनन्द प्रसारिणी शक्तियाँ हैं। गोपियाँ कहीं पर स्वकीया हैं तो कहीं पर परकीया स्वरूप में हैं।

गोपी-भाव के अन्तर्गत सूर ने दो रूप स्वीकार किए हैं। एक ईश्वर की आनन्द सृष्टिकारिणी परमात्म शक्ति का रूप एवं दूसरा कान्ता भाव से भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति करने वाले अनन्य भक्तों का रूप।[१२८]

वृन्दावन-गोलोक :–

शुद्धाद्वैत में लीलाधाम का विशेष महत्त्व दिया गया है। यह लीलाधाम वृन्दावन या ब्रजभूमि है। वृन्दावन भगवान् के नित्य लीलाधाम का, गोलोक का अवतरित रूप माना जाता है। भगवान् का अपने लीलाधाम वृन्दावन से कभी भी वियोग नहीं होता है, यहाँ वे नित्य लीला करते हैं। माधुर्य भक्ति की पूर्णता भी वृन्दावन में ही है।

सूर ने ब्रह्मा के मुख से अवतीर्ण ब्रज की शोभा का जो वर्णन किया है, वह अप्रतिम है।[१२९] लीलाधाम के सम्बन्ध में शुद्धाद्वैत मत की दार्शनिक मान्यता को सूर ने बड़ी खूबी के साथ भावात्मक स्वरूप प्रदान किया है। ब्रज की शोभा का यह पद द्रष्टव्य है जिसमें श्री कृष्ण उद्धव के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देते हैं। भावात्मक

तथा दार्शनिक मान्यताओं का सुन्दर समन्वय इस पद की अन्य विशेषता को प्रकट करता है।

उद्धौ मोहि ब्रज बिसरत नाहिं।
हंस सुता की सुन्दर कगरी कुंजन की परछाँही।
या मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाही।
जबहि सूरति उतावन तन की जिय उमगत तनु नाहीं।[१३०]

महाकवि सूर ने वृन्दावन को भगवान् का निजधाम इस प्रकार घोषित किया है—

शोभा अमित अपा॰ अखं॰ आप आत्माराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सबविधि पूरन काम।
वृन्दावन निजधाम परम रुचि वर्णन कियौ बढ़ाय।[१३१]

लीलाधाम ही परमधाम है। इसी परमधाम के स्पर्श से सूर का दुःख दैन्य दूर हुआ, उनका घिघियाना बन्द हो गया तथा कृष्ण के गुणगान में प्रवृत्त हो गये। कृष्ण लीला के गुणगान में सूर ने अपने जीवन की सार्थकता प्रमाणित कर दी। सूर के अलावा भी अनेक कृष्ण भक्त कवियों ने वृन्दावन के महत्त्व को निरूपित किया है। रसखान जैसे समर्थ कवि ने यह कहा कि—"मानुष हो तो वही रसखान, बसौ ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन"। महाकवि बिहारी ने भी कृष्ण-राधिका के निकुंज धाम का ब्रज के पग-पग को प्रयागराज कहा है।[१३२]

वल्लभ-दर्शन में ब्रह्म के तीन रूपों में से सच्चिदानन्द ब्रह्म को रस रूप माना है तथा भगवान् का यह रस रूप वृन्दावन में नित्य विहार करता है। सूर ने इसी मान्यता के आधार पर गोलोक वृन्दावन का महिमागान किया है।

सूर की दार्शनिक मान्यताओं के बारे में डॉ० द्विवेदी ने कहा है कि—"सूरसागर में शुद्धाद्वैत दर्शन की सम्पूर्ण बातों का समावेश दिखाई देता है। सूर की चित्तवृत्ति भी इसमें पूर्ण रूप से रमी है, इसी कारण उनके काव्य में शुद्धाद्वैत का सम्पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। लेकिन दार्शनिक मान्यताओं के प्रतिपादन में भी सूर की काव्यात्मकता को कहीं पर भी आघात नहीं लगा है। सूर एक तत्त्वचिन्तक न होकर संवेदनशील कवि है। अतः उनकी काव्यधारा तमाम दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठकर प्रवाहित हुई हैं। सूर की कविता मात्र दार्शनिक सीमाओं से सामंजस्य स्थापित करती हुई नहीं चलती वरन् उसमें प्रत्येक जगह उदात्तता है, जो उनकी विलक्षण काव्य प्रतिभा की परिचायक है। दर्शन के हिमखंड, काव्य गंगा के प्रवाह में पूर्णरूप से विलीन हो गये हैं—यही सूर काव्य की विशेषता है।"[१३३]

हरिवंशपुराण और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद :-

जैन परम्परा में साम्यदृष्टि-आचार और विचार दोनों में व्यक्त हुई है। आचार साम्य दृष्टि ने ही सूक्ष्म अहिंसा-भाव को जन्म दिया और विचार साम्य दृष्टि की भावना ने ही अनेकान्तवाद को जन्म दिया।[१३४] जैन-दर्शन में स्याद्वाद प्रत्येक ज्ञान को समन्वित रूप में देखता है। उस प्रत्येक नय में स्यात् शब्द का प्रयोग अभीष्ट है। स्यात् शब्द अस् (होना) धातु के विधि लिङ्ग के एकवचन का रूप है जिसका अर्थ है—हो सकता है, सम्भव है या शायद।[१३५] दार्शनिक जगत में जैन-दर्शन की यह मौलिक और असाधारण बात है। इसमें अनेकान्त का सिद्धान्त सर्वोपरि है। इसके अनुसार वस्तु को अनेक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। जैसे आत्मा को जब द्रव्यादिक नय से देखते हैं तो वह एक है, ज्ञाननय की दृष्टि से, वह दो है तथा जब अनेक अवयवों की अपेक्षा देखते हैं तो वह अनेक है। यह सिद्धान्त एक नवीन विचारधारा है जिसमें समस्त विरोधों का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओं तथा भ्रमणाओं के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। यह जैनाचार्यों की समन्वयात्मक उदार भावना का परिचायक है। एकांत वस्तुगत धर्म नहीं है, परन्तु बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है, तब एकांत का नाम-निशान नहीं रहता है।

प्रसिद्ध विद्वान् यशोविजय ने लिखा है कि "सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता है। वह नयात्मक दर्शनों को वात्सल्य की दृष्टि से देखता है कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को देखता है। अनेकान्तवादी न किसी को न्यून तथा न किसी को अधिक समझता है। वह सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी भी वही है जो अनेकान्तवाद का आलम्बन लेकर समस्त दर्शनों से ऊपर समभाव रखता हो। मध्यस्थ भाव में रहने से शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रों का अभ्यास करने से कोई लाभ नहीं।"[१३६]

स्याद्वाद एक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण जब तक विचार रूप है, तब वह अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ होता है कि जिसमें किसी एक के अन्त का आग्रह न हो, किसी एक पक्ष विशेष या धर्म विशेष का आग्रह न हो। यह एक विचार है, दृष्टिकोण है, समझने का एक सन्मार्ग है। यही अनेकान्तवाद जैन-धर्म की आधारशीला है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों, अनेक विशेषताओं का समूह होता है, वस्तु के प्रत्येक अवस्थाओं पर विचार करना अनेकान्तवाद है। सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि—"इस अनेकान्तवाद के बिना लोक का व्यवहार चल नहीं सकता।" मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ, जो जन-जन के जीवन को आलोकित करने वाला गुरु है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु सत् भी है तथा असत् भी। वह अपने निज रूप से तो

है और पर रूप से नहीं है जैसे दूध, दूध रूप से सत्, दही के रूप में असत् है। यह अनेकान्तवाद सप्त भङ्गी नय पर आधारित है।

पुराणकार ने अनेकान्तवाद के सातों नय का स्पष्ट उल्लेख किया है कि जीवादि नौ पदार्थों का सत्, असत्, उभय, अवक्तव्य, सद्-अवक्तव्य, असद्-अवक्तव्य एवं उभय-अवक्तव्य इन दो भंगों से कौन जानता है? इसके आज्ञानिक-मिथ्यादृष्टियों से त्रेसठ भेद होते हैं।[१३७] सप्तभङ्गीनय पर आधारित अनेकान्तवाद उसे कहते हैं, जिसमें सात वाक्य हों। वे सात वाक्य निम्नलिखित हैं—

(१) स्यादस्ति घटः — शायद घड़ा है।

(२) स्यान्नास्ति घटः — शायद घड़ा नहीं है।

(३) स्यादस्ति घटः? — शायद घड़ा है और नहीं भी है।

(४) स्यादवक्तव्यो घटः — शायद घड़ा वर्णनातीत है।

(५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः — शायद घड़ा है भी और अवक्तव्य भी है।

(६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः — शायद घड़ा नहीं है और अवक्तव्य भी है।

(७) स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः — शायद घड़ा भी नहीं है और अवक्तव्य भी है।

इस मत के अनुसार एक वस्तु का निश्चय करने के लिए उन पर अनेक दृष्टियों से विचार करना पड़ता है। जैनों के इस मत की आलोचना भी अनेक विद्वानों ने की है। श्री रामानुजाचार्य ने कहा है कि भाव और अभाव ये दोनों परस्पर विरोधी गुण किसी एक पदार्थ में नहीं रह सकते, जैसे-कि प्रकाश और अन्धकार एक जगह नहीं रह सकते।[१३८]

शंकराचार्य का भी यही मत है। वैसे सप्तभङ्गी नय के प्रारम्भ के चार भङ्ग ही सार्थक हैं क्योंकि जैन-आगमों में भी विधि, निषेध, उभय तथा अनुभय इन चारों पक्षों का प्रतिपादन किया गया है। इसी आधार पर ये चार वाक्य महत्त्वपूर्ण है।

(१) स्यादस्ति - (विधि)

(२) स्यान्नास्ति - (निषेध)

(३) स्यादस्ति नास्ति च - (उभय)

(४) स्यादवक्तव्य - (अनुभय)

जैनदर्शन की मान्यतानुसार प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ अस्तित्व की कल्पना भी संभव नहीं है, परन्तु वस्तु विषय का कोई भी निर्णय सापेक्ष सत्य है। ऐसा समझकर जो प्रतिपादित किया जाता है, जो दृष्टिबिन्दु

होता है, वह "नय" है। अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म के बोध के अभिप्राय का ज्ञान "नय" है। एक धर्म ग्रहण करने के बावजूद भी दूसरे धर्मों का न तो निषेध होता है और न ही विधान होता है, क्योंकि निषेध करने से दुर्नय हो जाता है। पुराणकार ने नय के मुख्य दो भेद किये हैं - द्रव्यादिक तथा पर्यायार्थिक।

नयोऽनेकात्मनि द्रव्ये नियतैकात्मसंग्रहः।
द्रव्यार्थिको यथार्थोऽन्यः पर्यायार्थिक एव च॥[१३९]

इनमें द्रव्यार्थिक "नय" यथार्थ है तथा पर्यायार्थिक "नय" अयथार्थ है। ये दोनों मूल "नय" हैं तथा दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। अच्छी तरह देखे गये नैगम, संग्रह आदि इन्हीं नयों के भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। इनमें आरम्भ के तीन नय द्रव्यार्थिक हैं तथा ये सामान्य को विषय करते हैं तथा अवशिष्ट चार नय पर्यायार्थिक नय के भेद हैं। वे विशेष को विषय करते हैं।

नैगमः संग्रहश्चात्र व्यवहारर्जुसूत्रकौ।
शब्दः समभिरूढाख्य एवंभूतश्च ते नयाः॥
त्रयो द्रव्यार्थिकस्याद्या भेदाः सामान्यगोचराः।
स्युः पर्यायार्थिकस्यान्ये विशेषविषया नयाः॥[१४०]

पुराणकार ने प्रत्येक नय का विस्तार से निरूपण कर उसके भेदोपभेद का सुन्दर चित्रण किया है। इस प्रकार स्याद्वाद और नय का जैन धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे पुराणकार ने सूक्ष्मता से विवेचित किया है।

हरिवंशपुराण में जैनदर्शन की अनेक मान्यताओं का चित्रण मिलता है, जिसमें से कुछ सिद्धान्तों का निरूपण हमनें पिछले पृष्ठों में किया है परन्तु इसके उपरान्त भी कई तत्त्व रह जाते हैं जिनका नामोल्लेख करना समुचित होगा।

इनमें से श्रमण संस्कृति[१४१], अणुव्रत और महाव्रत[१४२], हिंसाणुव्रत तथा उसके अतिचार[१४३], सत्याणुव्रत व उसके अतिचार[१४४], अस्तेयाणुव्रत और उसके अतिचार[१४५], ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार[१४६], अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार[१४७], मैत्री आदि भावनाएँ[१४८], तीन गुणव्रत[१४९], चार शिक्षाव्रत[१५०], संलेखना[१५१], गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएँ[१५२], मुनिधर्म, तीन गुप्तियाँ तथा पाँच समितियाँ, गुणस्थान, धर्म, अनुप्रेक्षा एवं परिषहजय इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। जैनदर्शन के इन मूल सिद्धान्तों को कवि ने गहराई से जाँच-परख कर उन्हें विवेचित किया है। संक्षेप में हरिवंशपुराण में निरूपित दर्शन तत्त्वों का जैसा गहराई से अध्ययन मिलता है, वैसा अध्ययन अन्य जैनपुराणों में दुर्लभ है। जैन-धर्म के दार्शनिक तत्त्वविवेचकों की भारतीय संस्कृति को एक महत्त्वपूर्ण देन है और वह है—आचार-मीमांसा। जैन-दर्शन इसी आधार पर शुद्ध एवं पवित्र आचारण पर सर्वाधिक

विशेष जोर देता है। सदाचरण ही मुक्ति का द्वार है, मोक्ष का साधन है अतः इसका पालन करना परमावश्यक-कर्त्तव्य है।

उपसंहार :–

उपर्युक्त प्रकार से दोनों आलोच्य-कृतियों के दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना के बाद यह स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रन्थ अपनी-अपनी विशेष धारा से जुड़े हुए हैं। दोनों कवियों ने उन दृष्टिकोण को मध्यनजर रखते हुए इन सिद्धान्तों की तात्त्विक विवेचना की है। सूर एक भक्त कवि होने के कारण उनके दार्शनिक सिद्धान्त उनकी कविता में सम्पूर्ण रूप से घुले हुए मिलते हैं जबकि जिनसेन स्वामी ने दार्शनिक मान्यताओं का प्रसंगोचित विश्लेषण किया है जो अत्यन्त ही गहराई को छू गया है। दोनों ग्रन्थों के दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है लेकिन दोनों कवि श्रेष्ठों ने जो परमधाम प्राप्ति का रास्ता बतलाया वह प्रशंसनीय है। दोनों का रास्ता अलग-अलग है, पर मंजिल एक है। सूर ने भक्ति पर विशेष बल देकर कृष्ण भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बताया। जबकि जिनसेनाचार्य ने मुक्ति हेतु त्रिरत्न एवं पंच महाव्रतों को महत्त्व प्रदान किया। मूल रूप से ''मानव'' ही देवत्व को प्राप्त कर सकता है। जब वह उत्थान के पथ पर अग्रसर होता है, तब वह ऊपर उठता है तथा देवत्व को प्राप्त हो जाता है फिर वही जिन या अर्हंत है, वही ईश्वर, वही सर्वज्ञ है।

टिप्पणियाँ :-

१. विचार दर्शन - भाग २ सरदार पटेल युनि० वल्लभ विद्यानगर (गुज०) पृ० ६९

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्वार्थ सूत्र १/२

३. श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतमोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्तयम्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार - ४

४. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२५

५. पुरुषार्थ - सिद्धयुपाय पृ० २१६

६. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१९ - पृ० ६६१

७. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/२०-३१ - पृ० ६६२

८. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - पृ० १४२

९. न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयो श्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनुभृताम्॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार - श्लोक - ३४

१०. सर्वार्थसिद्धि - अ० १/१

११. रत्नकरण्डश्रावकाचार - पृ० ४२

१२. द्रव्यसंग्रह गाथा - ४२

१३. आपरूप का जानपनै, सो सम्यग्ज्ञान कला है। छहढाला सर्ग ३/२

१४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय - ३५

१५. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० १५१

१६. हरिवंशपुराण सर्ग १०/१४५ - पृ० १९६

१७. जीवकरण्ड - श्लोक ३१४-३१६

१८. हरिवंशपुराण सर्ग १०/१५२ - पृ० १९६

१९. हरिवंशपुराण सर्ग १०/१५६ - पृ० १९७

२०. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१२२ - पृ० ६७३

२१. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०० - पृ० ६९८

२२. सम्यग्दण्डो वपुषो सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तिनां त्रितयभवगम्यम्॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय - २०२

२३. सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भासां तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्ग सम्यगिति समिति॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय - २०३

२४. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०१-३०२ - पृ० ६९२

२५. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०४ - पृ० ६९२

२६. अणुभाष्यटीका सूत्र २५-२६ - पाद ३
२७. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता अ० १५, श्लोक ७
२८. सूरसागर - पद ३९४ - पृ०
२९. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १३७
३०. सूरसागर
३१. सूरसागर - पद ३६९ - पृ०
३२. सूरसागर - पद ३६९ - पृ०
३३. जीवाजीवास्रव बंधसंवरनिर्जरामोक्षस्तत्त्वम्। तत्त्वार्थ सूत्र - अध्याय १/४
३४. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/२२-२३ - पृ० ६६२
३५. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०-३१ - पृ० ६६२
३६. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३६-३८ - पृ० ६६३
३७. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/५३ - पृ० ६६६
३८. विद्याविद्याहरेः शक्तिमाययेव विनिर्मिते।
ते जीवस्येव नान्यस्य दुःखित्वं चाव्यनीशता॥ ३५॥ सप्रकाशस्त तत्त्वदीप निबन्ध - पृ० २२
३९. सूरसागर पद सं० १०५ - पृ० ३४
४०. सूरसागर पद सं० ४२ - पृ० १५
४१. सूरसागर पद सं० ४४ - पृ० १५
४२. सूरसागर पद सं० ४३ - पृ० १५
४३. सूरसागर पद सं० ४७ - पृ० १७
४४. सूरसागर पद सं० ९९ - पृ० ३१
४५. सूरसागर पद सं० ४८ - पृ० १७
४६. सूरसागर स्कन्ध १०
४७. कायवाङ्मनः कर्मयोगः। सः आस्रवः। तत्त्वार्थ सूत्र १/२
४८. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/५७ - पृ० ६६७
४९. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/५८ - पृ० ६६७
५०. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/६० - पृ० ६६७
५१. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/२०२ - पृ० ६८१
५२. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सम्बन्धः/तत्त्वार्थसूत्र ८/२
५३. समयसार गाथा - पृ० २५४-२५६
५४. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/२०२-२१३ - पृ० ६८१-८२
५५. सूरसागर - तृतीय स्कन्ध - पद सं० ३९४ - पृ० १३७

५६. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १५१

५७. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १५१

५८. सूरसागर पद सं० ४५१८ - पृ० १४२४

५९. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ०

६०. सूरसागर पद सं० ४१६५ - पृ० १३३५

६१. सूरसागर पद सं० ३४९ - पृ० ११६

६२. जैन धर्म और दर्शन - देवेन्द्रमुनि शास्त्री - पृ० ८३

६३. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०३ - पृ० ६९२

६४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ-सूत्र प्रथम सूत्र

६५. विद्विद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधते॥ मनुस्मृति २/१

६६. श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः॥ गीता ४/३९

६७. हरिवंशपुराण - ५८/११६ - पृ० ६७२

६८. हरिवंशपुराण - ५८/११८ से १२२ - पृ० ६७३

६९. हरिवंशपुराण - ५८/१२५ - पृ० ६७३

७०. सूरसागर पद सं० ४३०० - पृ० १३६९

७१. बृहदारण्यक शांकर भाष्य - २/५/१९

७२. सूरसागर पद सं० ६२१ - पृ० २५६

७३. सूरसागर पद सं० ६२१ - पृ० २५६

७४. सूरसागर पद सं० ३७ - पृ० २७९

७५. सूरसागर पद सं० ३७ - पृ० २७९

७६. सूरसागर पद सं० ३७ - पृ० २७९

७७. सूरसागर पद सं० १५२२ - पृ० ५७२

७८. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - ले० पी०सी० जैन - पृ० ५०

७९. धर्म और दर्शन - देवेन्द्र मुनि शास्त्री - पृ० ५०

८०. भारतीय दर्शन - डॉ० पारसनाथ त्रिवेदी - पृ० ६८

८१. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/१० - पृ० ६६१

८२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ गीता २/१

८३. सूरसागर पद सं० ६२१ - पृ० २५९

८४. *सूरसारावली* पृ० २

८५. सूरसागर पद सं० १५२२ - पृ०

८६. सूरसागर पद सं० ४२१० - पृ० १३४६

८७. सूरसागर पद सं० ४६ - पृ० १६

८८. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ०

८९. जैन साहित्य में श्री कृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ८१

९०. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन - पृ० ५०

९१. हरिवंशपुराण - ५२/६३ - पृ० ६०

९२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। "यजुर्वेद"

९३. सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता। परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। "अध्यात्म रामायण"

९४. कर्मप्रधान विश्वकरिराखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा। रामचरित मानस-तुलसीदास

९५. सूरसागर पद सं० २५ - पृ०

९६. सूरसागर पद सं० २५२ - पृ० १८

९७. सूरसागर पद सं० १४८ - पृ० ४९

९८. सूरसागर पद सं० १५५ - पृ० ५१

९९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/२९८ - पृ० ६९१

१००. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/१९१ - पृ० ६८०

१०१. हरिवंशपुराण - सर्ग १८/३७-३९ - पृ० २६४

१०२. बृहदारण्यकोपनिषद् - ३/२/१३

१०३. सूरसागर पद १०० - पृ० ३२

१०४. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ भागवत - ७/५/२३

१०५. सूरसागर-पद १५० - पृ० ४९

१०६. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/१३ - पृ० ६६१

१०७. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/२०४ से २१० - पृ० ६८१-८२

१०८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/२११ - पृ० ६८२

१०९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/२१२ - पृ० ६८२

११०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५८/२१३ - पृ० ६८२

१११. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० ७७६

११२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० ४९७

११३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० ४९८

११४. सूरसागर पद सं० १७९१ - पृ० ६६२

११५. सूरसागर पद सं० १००६ - पृ० ६०८

११६. सूरसागर पद सं० १६६४ - पृ० ६२०

११७. सूरसागर पद सं० १०६४ - पृ० ४२३

११८. श्री कृष्ण कथा कोष - डॉ० रामशरण गुप्त - पृ० १५९

११९. सूर और उनका साहित्य - डॉ० हरवंशलाल शर्मा - पृ० ३१५

१२०. राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त व साहित्य - डॉ० विजयेन्द्र स्नातक - पृ० २७०-२७१

१२१. वैदिक विज्ञान भारतीय संस्कृति - गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी - पृ० २५८

१२२. The Faundation of Indian Culture.

१२३. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/६५-६६ - पृ० ४५६

१२४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० ५८६

१२५. सूरसागर पद सं० १६७३ - पृ० ६२३

१२६. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १६१

१२७. सूरसागर पद सं० १६७२ - पृ० ६२३

१२८. हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त - डॉ० संतोष पाराशर - पृ० १६२

१२९. सूरसागर पद सं० १११० - पृ० ४३१

१३०. सूरसागर पद सं० ४७७६ - पृ० १४९४

१३१. सूरसागर स्कन्ध १०

१३२. तजि तीरथ हरि राधिका, तन दूति करि अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होति प्रयाग॥ महाकवि बिहारी

१३३. सूरदास व्यक्तित्व - कृतित्व - पृ० ७४

१३४. गुर्जर जैनकवियों की हिन्दी साहित्य की देन - डॉ० हरीश शुक्ला - पृ० ३९

१३५. भारतीय दर्शन - डॉ० पारसनाथ द्विवेदी - पृ० ५१

१३६. यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्याऽनेकान्तवादस्य स्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षो देशविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थ्येव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्याद्वाद बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रभा।
शास्त्रकोटिवृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥

ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय -
''धर्म और दर्शन'' - ले० देवेन्द्रमुनि शास्त्री - पृ० ९३

:३७. हरिवंशपुराण सर्ग १०/५४ - पृ० १८९

:३८. वेदान्त सूत्र भाष्य - रामानुजाचार्य १/२ - पृ० ३१

:३९. हरिवंशपुराण ५८/३९ - पृ० ६६३

:४०. हरिवंशपुराण ५८/४१-४२ - पृ० ६६३-६४

:४१. हरिवंशपुराण सर्ग २०/७ - पृ० २९८

:४२. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/११८-१२२ - पृ० ६७३

:४३. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१२८-१२९ - पृ० ६७४

:४४. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१३०-१३९ - पृ० ६७४

:४५. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१३१-१४०-१७१ - पृ० ६७७

:४६. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१३२-१४१-१७४ - पृ० ६७५

:४७. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१३३-१४२-१३६-१२२ इत्यादि - पृ० ६७४

:४८. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१२५ - पृ० ६७३

:४९. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१४४-१४७ - पृ० ६७५

:५०. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१५३-१५८ - पृ० ६७६

:५१. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/१६१ - पृ० ६७६

:५२. हरिवंशपुराण सर्ग ५८/३०१-३०२ - पृ० ६९२

५

हरिवंशपुराण और सूरसागर का कला-पक्ष

हरिवंशपुराण और सूरसागर के दार्शनिक पक्ष पर विचार करने के बाद यहाँ दोनों ग्रन्थों के कला-पक्ष पर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत है।

सूर एक भक्त कवि थे, उनका मुख्य साध्य भक्ति थी। इसी प्रकार जिनसेनाचार्य एक दिगम्बर जैन मुनि थे, जिनका मुख्य साध्य जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में हरिवंश में उत्पन्न शलाकापुरुषों का लीला-गान था। अतः इनके काव्य में बाह्य-पक्ष की ओर विशेष ध्यान न होना स्वाभाविक है। परन्तु इनके काव्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उनमें उच्चकोटि की भक्ति के साथ जहाँ नवोन्मेषशालिनी अपूर्व सहज-काव्यप्रतिभा थी। अभिव्यक्ति की सहज एवं उत्तम कलात्मक प्रक्रिया भी उनमें विद्यमान थी। अतः इस दृष्टि से उनकी कृतियों में विषय वस्तु एवं दार्शनिक तत्त्वों की भाँति उनका कला पक्ष भी पूर्णतः समृद्ध है। कलापक्ष में रस, छन्द, अलंकार एवं भाषा प्रमुख अंग माने जाते हैं। यहाँ इन्हीं अंगों पर अब क्रमशः विचार किया जायेगा।

रस-विधान :–

मानव हृदय भावों का सागर है, जो सदा बाह्य सुख-दुःख के अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण से तरंगायित होता रहता है। जिन भावों के प्रभावों से भाव उद्‌बुद्ध होते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। जिसका आलम्बन कर भाव उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन तथा उद्भूत भावों को उद्दीपत करने वाले उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। आश्रय-जिन चेष्टाओं द्वारा हृदय स्थित भावों को अभिव्यक्त करता है वे अनुभाव कहलाते हैं।[१]

भाव दो प्रकार के होते हैं—संचारी भाव तथा स्थायी भाव। बुद्‌बुदों की भाँति जो भाव प्रकट होकर शीघ्र ही लुप्त हो जाते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं तथा जो भाव रसास्वादन पर्यन्त मन में स्थिर रहते हैं, वे स्थायी भाव कहलाते हैं। संचारी भावों का कार्य स्थायी भावों को पुष्ट करना है। इनकी संख्या ''तैंतीस'' मानी जाती है। स्थायी भाव आठ हैं। विभाव, अनुभव व संचारी भावों के पुष्ट स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। शान्त-रस के साथ इनकी संख्या नौ मानी जाती है।[२]

काव्यशास्त्र के अनेक विद्वानों ने ''वात्सल्य-रस'' को भी साहित्य का रस स्वीकार किया है। जिससे ये दस हो जाते हैं।

जिनसेनाचार्य को काव्यशास्त्र की भाव सीमा के संकुचित क्षेत्र में रहकर देखना उचित नहीं है क्योंकि उनकी कृति में सभी प्रकार के रसों का सुन्दर समावेश दिखाई पड़ता है।

इन्होंने श्री कृष्ण चरित्र के निरूपण में उनके योद्धा तथा पराक्रमी स्वरूप का एवं आध्यात्मिक ज्ञाता रूप का विशेष चित्रण किया है। उन्हें श्री कृष्ण का यही रूप अधिक प्रिय है। अत: उन्होंने श्री कृष्ण के बाल्य एवं यौवन लीला वर्णन में भी उनकी वीरता, अलौकिकता का वर्णन किया है। हरिवंशपुराण के युद्ध वर्णनों में वीर, बीभत्स, रौद्र आदि रसों का निरूपण है तो नेमिनाथ के वैराग्य तथा बलरामजी का विलाप प्रसंग करुण रस से भरा पड़ा है। द्वारिका निर्माण और यदुवंशियों के प्रभाव वर्णन में अद्भुत रस का प्रकर्ष है जबकि काव्य का अन्त शांत रस में होता है। कवि ने श्री कृष्ण की बाल लीला में वात्सल्य रस का भी निरूपण किया है। इस प्रकार हरिवंशपुराण में सभी रसों का मनोरम सामंजस्य दिखलाई पड़ता है।

सूरसागर में कवि ने श्री कृष्ण के चित्रण में उनके शील, शक्ति तथा सौन्दर्य वर्णन में केवल सौन्दर्य का निरूपण सविशेष किया है। सूर को द्वारिकेश कृष्ण की अपेक्षा यशोदानन्दन एवं गोपी-वल्लभ कृष्ण ही अधिक प्रिय रहे हैं। इसीलिए उन्होंने श्री कृष्ण के बाल्य एवं यौवन से संबद्ध भावों का ही सूक्ष्म अंकन किया है। वात्सल्य एवं शृंगार की सूक्ष्मतम अनुभूतियों के गंभीरतम भावों एवं विविध व्यापारों का चित्रण ही उनके काव्य का मुख्य विषय रहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुकल के विचार द्रष्टव्य हैं—

"वात्सल्य एवं शृंगार के अंगों का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक गए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव एवं प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का कोई और नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी कवि ने पूर्णरूप से दिखाया है तो सूर ने।"[3]

इन दोनों रसों के अलावा भी उनके काव्य में अन्य रस भी मिलते हैं, जो यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

तात्पर्य यह है कि दोनों कवियों में श्री कृष्ण के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य का कम-ज्यादा वर्णन है। दोनों ने श्री कृष्ण की अद्भुत लीलाओं का चित्रण किया है जिसमें काव्य के सभी रसों का प्रकर्ष दृष्टिगोचर होता है। अत: इनके काव्य में निरूपित रसों का तुलनात्मक अध्ययन निम्न क्रम से किया जा रहा है।

वात्सल्य रस :–

सूरसागर तथा हरिवंशपुराण के कवियों ने श्री कृष्ण के जन्म पर वसुदेव की चिन्ता, कृष्ण को नंद के यहाँ पहुँचाना, नंद के घर उत्सव एवं गोप-गोपिकाओं के आनन्द

आदि का वर्णन अपनी स्वतंत्र उद्भावना के आधार पर किया है। श्री कृष्ण के शिशु स्वभाव की सरलता, चंचलता, हठ, घुटनों के बल चलना, सखाओं के साथ खेलना, चन्द्र प्रस्ताव एवं अन्य बाल चेष्टाओं, माखनचोरी, गोचारण, वनगमन, गोदोहन, नंद यशोदा का प्यार आदि प्रसंगों में वात्सल्य रस की प्रधानता रही है।

हरिवंशपुराण :–

जिनसेनाचार्य के श्री कृष्ण जन्म प्रसंग में एवं उनकी विविध बालक्रीड़ाओं में वात्सल्य रस का निरूपण मिलता है। वसुदेव द्वारा बालकृष्ण को नंद के यहाँ पहुंचाने में उनका स्नेह द्रष्टव्य है—

समर्प्य ताभ्यामहरस्यभेदं प्रवर्द्धनीयं निजपुत्रबुद्धया।
शिशुं विशालेक्षणमीक्षणानां महामृतं कान्तिमयं स्रवन्तम्॥[४]

जब बाल कृष्ण चित्त पड़ा हुआ अपने लाल-लाल हाथ-पैर चलाता है उस समय वह बरबस मन को आकृष्ट कर लेता है। उसकी अनुपम शोभा को उसे अतृप्त नेत्रों से देखते हैं—

स गोपगोपीजनमानसानि सकाममुत्तानशयो जहार।

✣ ✣ ✣

सुरूपमिन्दीवरवर्णशोभं स्तनप्रदानव्यपदेशगोप्यः।
अहंयवः पूर्णपयोधरास्तमतृप्तनेत्राः पपुरेकतानम्॥[५]

बलदेव के कथनानुसार जब देवकी अपने पुत्र कृष्ण को देखने के लिए गोकुल जाती है उस समय बाल कृष्ण को देखकर उसका हर्षित होना स्वाभाविक है। वह जैसे ही सुन्दर बाल गोपाल श्री कृष्ण को देखती है तो उसका मन अत्यधिक आनन्दित होता है। वह रोमांचित हो उठती है एवं उसे परम सन्तोष की प्राप्ति होती है। वह प्यार के साथ उत्तम वेष के धारक कृष्ण का स्पर्श करती है तथा चिरकाल तक उसे एकटक देखती है। वह यशोदा से कहती है कि हे यशस्विनी यशोदे! तू इस पुत्र के नित्य दर्शन करती है। तेरा यहाँ रहना प्रशंसनीय है।

यशोदयानीय यशोदयाढ्यं प्रणामितं पुत्रममी सवित्री।
सुगोपवेषं निकटे निषण्णे परामृशन्ती चिरमालुलोके॥
जगौ च देवी विपिनेऽपि वासस्तवेदृशापत्यदृशो यशोदे।
यशस्विनी श्लाघ्यतमो जगत्यां न राज्यलाभोऽभिमतोऽनपत्यः॥[६]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों में वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति हुई है।

सूरसागर :–

महाकवि सूर वात्सल्य के निरूपण में भारत के ही नहीं वरन् विश्व साहित्य के

मूर्धन्य कवि माने जाते हैं। उनका मन मयूर श्री कृष्ण की बाल लीलाओं में सविशेष रमा है। उनकी रचना सूरसागर वात्सल्य रस से भरी पड़ी है। वात्सल्य के कुछ प्रसंग द्रष्टव्य है—

श्री कृष्ण के जन्म पर समस्त ब्रज में आनन्द छा जाता है। घर-घर बधाइयाँ बज रही हैं। नन्द के घर पर आबालवृद्ध हर्ष-मस्त हो नाच रहे हैं। नन्दोत्सव का भावपूर्ण वर्णन देखिये सूर के शब्दों में—

महरि जसोदा ढ़ोटा जायौ घरघर होति बधाई।
द्वारैं भीर गोप गोपिनि की महिमा बरनि न जाई।
अति आनन्द होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई।
नाचत वृद्ध तरुण अरु बालक, गोरस कीच मचाई।[७]

श्री कृष्ण के शिशु स्वभाव की सरलता, चंचलता तथा हठ देखिये—

मैया कबहि बढ़ेगी चोटी
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
✣ ✣ ✣
कांचौ दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी॥[८]

कवि ने श्री कृष्ण की बालशोभा के चित्र भी बड़े मनोयोग से अंकित किये हैं। नवनीत-करधारी बाल कृष्ण का रूप तो अनुपम है। जब वे घुटनों के बल चल रहे हैं उस समय की धूलि-धूसरित बाल-शोभा का वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप गन, मादक मदहिं पिए।
कटुला कंठ ब्रज केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।[९]

श्री कृष्ण जब थोड़े बड़े होते हैं तब सखाओं के साथ ब्रज में घरों में घुस कर माखन चोरी करते हैं। उनकी चोरी से गोपियाँ परेशान हो जाती हैं। एक दिन जब उन्हें चोरी करते पकड़ा जाता है तो वे निर्भीक होकर उत्तर देते हैं कि—मैं तो चींटी निकाल रहा था। कृष्ण का नटखट स्वरूप कवि के शब्दों में देखिये—

जसुदा कहं लौ कीजै कानि।
दिन प्रति कैसे सही परति है, दूध दही की हानि।
अपने या बालक की करनी, जौ तुम देखौ आनि।
गोरस खाइ खवावै लरिकनि, भाजत भाजन मानि।

✣ ✣ ✣

सूर स्याम यह उत्तर बनायौ, चींटी काढत पानि।[१०]

वात्सल्य रस के निरूपण में सूरदास जिनसेनाचार्य से बहुत आगे हैं। उन्होंने वात्सल्य रस के जैसे भावपूर्ण चित्र अंकित किये हैं, उनका हरिवंशपुराण में अभाव है। सूरसागर में स्थान-स्थान पर नन्द-यशोदा के वात्सल्यसिक्त-भावों की प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना मिलती है जिससे यह प्रतीत होता है कि जहाँ सूर का वर्णन अधिक प्रभावोत्पादक है, वहाँ हरिवंशपुराण का यह चित्रण मात्र वर्णनात्मक लगता है।

शृंगार रस :–

सूर के शृंगार के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने इसे "रस-राजत्व" प्रदान किया है। गोपियों के साथ कृष्ण का मधुर भाव जीवन प्रभात से ही विकसित होकर संभोग की विविध लीलाओं में शनैः-शनै पुष्ट होकर अन्त में विप्रलम्भ की आँच में निरखकर परमोज्ज्वलता प्राप्त करता है।[११]

यद्यपि जिनसेनाचार्य ने भी शृंगार रस का निरूपण किया है परन्तु राधा कृष्ण व गोपियों के प्रेम विकास का वह क्रमशः चित्रण नहीं है। सूर का शृंगार मनोवैज्ञानिक है जबकि जिनसेनाचार्य ने यत्र-तत्र वर्णित कर इसके महत्त्व को बढ़ाया है।

हरिवंशपुराण :–

एक स्थल पर कुमार कृष्ण गोप-बालाओं के साथ रास-क्रीड़ा कर रहे हैं। गोपियाँ प्रेमोन्माद में उन्मत्त हो उनसे स्पर्श सुख की प्राप्ति कर रही है। उनका संयोग प्रसन्नतादायक है जबकि वियोग विरहजन्य सन्तापयुक्त दुःखदायी है।

स बालभावात्सुकुमारभावस्तथैवमुद्भिन्नकुचाः कुमारः।
सुयौवनोन्मादभराः सुरासैररीरमत्केलिषु गोपकन्याः॥
करांगुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो मुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः॥
यथा हरौ भूरिजनानुरागो जगाम वृद्धिं हृदि वृद्धिसूची।
तथास्य तेने विरहानुरागो विहारकाले विरहातुरस्य॥[१२]

रुक्मिणी हरण प्रसंग में जब श्री कृष्ण रुक्मिणी को देखते हैं तो उनके हृदय में अनुराग बढ़ जाता है। तदनन्तर वे लज्जायुक्त रुक्मिणी को अपनी दोनों भुजाओं से उठाकर रथ में बिठाते हैं उस समय काम की व्यथा से पीड़ित उनका सर्वांगीण स्पर्श सुख परस्पर आनन्द प्रदान करने वाला होता है। उन दोनों के मुख से निकलने वाला सुगन्धित श्वास एक दूसरे को सुगन्धित करता है, जो वशीकरणमन्त्र जैसा प्रतीत हो रहा है—

सानुरक्तां त्रपायुक्तां श्रीमत्यास्तनयां ततः।
रथमारोपयद्दोर्भ्यामुत्क्षिप्यामीलितेक्षणः॥
निर्वाहकस्तयोरासीत्तदान्योन्यसुखावहः।
सर्वांगीणस्तनुस्पर्शः प्रथमो मन्मथार्त्तयोः॥[१३]

सुगन्धिमुखनिश्वासस्तयोरन्योन्ययोगतः।
वास्यवासकभावस्थो वशीकरणतामगात्॥[१४]

रुक्मिणी के साथ श्री कृष्ण [illegible] रम [illegible] प्रसंग देखिये कवि के शब्दों में—

मुरारिरपि रुक्मिणीतनुलताद्विरेफस्तदा,
चिरं रमितया तयारमत रम्यमूर्तिर्निशि।
अशेत शयनस्थले मृदुनि गूढ गूढां—
गनाघनस्तनभुजाननस्पर्शलब्धनिद्रासुखः॥[१५]

इसी प्रकार आगे के अनेक प्रसंगों में भी संयोग एवं वियोग शृंगार का निरूपण मिलता है।

सूरसागर :—

सूरसागर में वर्णित संयोग शृंगार में दानलीला, पनघटलीला, रासलीला, हिंडौला, वसन्तलीला एवं मानलीला के प्रसंग आते हैं जबकि विप्रलम्भ शृंगार में अक्रूर का आगमन तथा श्री कृष्ण का मथुरागमन व सम्पूर्ण भ्रमरगीत प्रसंग का समावेश होता है।

सूर ने प्रेमानुभूति का बड़ा सजीव व मार्मिक वर्णन किया है। गोपियों का प्रेम बचपन से ही अंकुरित होकर पल्लवित दिखाई देता है। प्रेमानुभूति की परिपुष्टता में नायक-नायिका का मिलन होता है। एक दिन कोई गोपी कृष्ण को अपनी गाय दुहाने ले गयी। राधा भी श्री कृष्ण के दर्शन के लोभ से वहाँ पहुँच गई। श्री कृष्ण को देखकर वह भावविभोर हो गई। उसने अपने तन की सुधि को भी खो दिया तथा वह अपना सर्वस्व श्री कृष्ण पर न्यौछावर कर बैठी। देखिये कवि के शब्दों में—

धेनु दुहन जब स्याम बुलाई।
स्रवन सुनत तहँ गई राधिका, मन हर लियो कन्हाई॥
सखी संग की कहति परस्पर, कहँ यह प्रीति लगाई।
यह वृषभानु-पुरा ये ब्रज मैं, कहाँ दुहावन आई॥
मुख देखत हरि को चकित भई, तन की सुधि बिसराई।
सूरदास प्रभु कै रस बस भई, काम परी कठिनाई॥[१६]

रास-लीला :–

सुनहु हरि मुरलि मधुर बजाई,
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज वनिता उठिधाई।

✣ ✣ ✣

द्रुम बेली अनुराग पुलक तनु, ससि थक्यौं निसिन घटाई॥[१७]

पनघट-लीला :–

छाड़ि देहु मोरि लट मोहन।
कुच परसत पुनि-पुनि सुकचत नहिं, आई तजि गोहन॥
जुवति आनि देखि है कोऊ, कहति वंक करि भौंहन॥[१८]

दान-लीला :–

माँगत ऐसो दान कन्हाई।
अब समुझी हम बात तुम्हारी, प्रगट भई कछु द्यौं तरुनाई॥[१९]

हिंडौला :–

हिडोरे झूलत स्यामा स्याम।
ब्रज जुवति मंडली चहूँधा, निरखत विपकनि काम॥[२०]

विप्रलम्भ शृंगार :–

सूर ने संयोग शृंगार की भाँति विरह सन्ताप भावों की भी सहज अभिव्यक्ति की है। उनका विरह-वर्णन अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक एवं मार्मिक है। भ्रमरगीत प्रसंग गोपियों की विरह व्यथा का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्री कृष्ण का वियोग गोपियों तक ही सीमित न रहकर ब्रज में उसका प्रभाव व प्रचार दिखाई देता है। गोपियों की दयनीय दशा एवं विरह-व्यथा का तो अनुमान लगाना भी कठिन है।

श्री कृष्ण के मथुरागमन पर गोपियों की मनोदशा बड़ी विचित्र हो जाती है। वे अपना मर्म किसके समक्ष प्रकट करे? सूर ने गोपियों की द्वन्द्वात्मक मानसिक स्थिति का इस तरह अंकन किया है—

सुने है स्याम मधुपुरी जात।
सकुचानि कहि न सकति काहू सो, गुप्त हृदय की बात।
संकित वचन अनागत कोउ, कहि जु गयौ अधरात।
नींद न परे घटे नहिं रजनी, कब उठी देखो प्रात।
नंद-नंदन तो ऐसे लागे, ज्यौं जल पुरइनि पात।[२१]

भ्रमरगीत प्रसंग में सूर की विरह व्यंजना गंभीर व व्यापक बन गई है। गोपियाँ जड़-चेतन का विवेक भी भूल गई हैं—

मधुवन तुम क्यौ रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुंदर के, ठाढे क्यौं न जरे।
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मेहि थावर अरु जड जंगम, मुनि जन ध्यान हरे।
यह चितननि तू मन न धरत है, फिर फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु विरह दावानल नख सिख लौन जरे।[२२]

विरहावस्था में राधा की दशा बड़ी मलिन हो गई है। उसके पास प्रियतम व मधुर स्मृति ही शेष रही है। विरह की ऐसी अभिव्यंजना अन्यत्र दुर्लभ है—

अति मलिन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रमजल भीज्यो उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी।

छूटे चिकुर वक्ष कुम्हिलानि, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि दूजे अलिजारी।
सूरदास कैसे करि जीवै, ब्रज बनिता स्याम दुखारी।[२३]

सूरसागर जैसे श्रृंगार वर्णन का हरिवंशपुराण में नितान्त अभाव रहा है। सूर के भाव चित्रणों के समक्ष जिनसेनाचार्य का वर्णन नीरस एवं वर्णनात्मक प्रतीत होता है। श्रृंगार के सूक्ष्मतम भावों के निरूपण में सूर की सिद्धहस्तता विख्यात रही है। सच्चे अर्थों में श्रृंगार रस को देखना हो तो उनकी कृति सूरसागर का रसास्वादन करना पड़ेगा। यहाँ तो मात्र स्वल्प उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो श्रृंगार रस की परिणति हैं।

हास्य रस :–

हरिवंशपुराण और सूरसागर में इस रस की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। सूर की शैली ही विनोद प्रिय रही है। उन्होंने तो स्थान-स्थान पर कृष्ण की हास्य-जनक चेष्टाओं एवं क्रियाकलापों के द्वारा हास्य रस के भावों की अभिव्यक्ति की है। कृष्ण के नटखट, वाक्पटु (हाजिर जवाबी) स्वरूप के कई पदों में यह रस निरूपित हुआ है। जिनसेनाचार्य ने भी यत्र-तत्र हास्यरस का चित्रण किया है परन्तु वह स्वल्प मात्रा में है।

हरिवंशपुराण :–

एक बार श्री कृष्ण रुक्मिणी के मुख से उगले हुए पान का वस्त्र के छोर में बाँध कर सत्यभामा के यहाँ जाते हैं। सत्यभामा उसे सुगन्धित पदार्थ मानकर अपने शरीर पर लगा देती है। तब श्री कृष्ण उसकी खूब हँसी उड़ाते हैं परन्तु वह ईर्ष्यावश क्रोधित हो जाती है।

स्वभावमुखसौगन्ध्यबद्धभ्रान्तालिमण्डलम्।
अहरत्सत्यभामा तद्भ्रान्तया सद्गन्धवस्तित्वति॥
वर्णगन्धाढ्यमापिष्य समालभत चादरात्।
हसिता हरिचन्द्रेण सा चुक्रोश तमीर्ष्यया॥[२४]

तदुपरान्त श्री कृष्ण सत्यभामा को एक बाग में ले जाते हैं। वहाँ रुक्मिणी वाटिका के समीप एक हाथ में आम्र की लता पकड़कर पंजों के बल खड़ी होती है। देवी के समान सुन्दर रूप को धारण करने वाली रुक्मिणी को देखकर सत्यभामा उसे देवी मान उसके चरणों में गिर जाती है उसके सामने फूलों की अंजलि बिखेर कर अपने सौभाग्य की याचना करती है, तब श्री कृष्ण मंद-मंद मुस्कुरा देते हैं। सत्यभामा रहस्य जान लज्जित हो जाती है—

निरूप्य रुक्मिणीं सत्या देवतामिव रूपिणीम्
देवतेयमिति ध्यात्वा विकीर्य कुसुमांजलिम्।
निपत्य पादयोस्तस्याः स्वसौभाग्यमयाचत।
विपक्षस्य तु दोर्भाग्यमीर्ष्याशल्यकलंकिता॥
अन्तरेऽत्र हरिः सत्यां हारिस्मितमुखोऽवदत्।
अपूर्वं दर्शनं स्वस्त्रोरहो वृत्तं नयान्वितम्॥[२५]

सूरसागर :–

एक बार श्री कृष्ण माखन की चोरी करते किसी गोपी के हाथ पकड़े जाते हैं। उनका हाथ दधिभाजन में तो था ही, वह उन्हें उसी समय पकड़ लेती है। परन्तु श्री कृष्ण चतुराई से बात बनाकर स्वयं को कैसे निर्दोष सिद्ध करते हैं, सूर के शब्दों में देखिये—

मैं जान्यों यह मेरो घर है, ता धोखे मैं आयो।
देखत ही गोरस मैं चींटी, काढ़न को कर नायौ॥[२६]

श्री कृष्ण के हाजिर-जवाबी का एक और पद द्रष्टव्य है, जिसमें हास्य की परिणति है—

मैया मैं नाहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिली, मेरे मुख लपटायो।
✣ ✣ ✣
सूरस्याम तब उत्तर बनायो, चींटी काढ़त पानी।[२७]

करुण-रस :–

दोनों आलोच्य कृतियों में "करुण रस" की निष्पत्ति भी दृष्टिगोचर होती है।

हरिवंशपुराण में नेमिनाथ का वैराग्य तथा श्री कृष्ण के परमधामगमन पर बलदेव का विलाप इत्यादि प्रसंग इसी भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है। सूरसागर के कुछ पदों में भी यह रस प्रकर्ष हुआ है।

हरिवंशपुराण :–

जब नेमिनाथ अपने विवाहोत्सव में माँसभोजी राजाओं के लिए पशुओं का निरोध देखते हैं, तब मनुष्यों की निर्दयता को देख कर वैराग्य धारण कर लेते हैं। उस समय राजमती प्रबल शोक के वशीभूत हो विलाप करने लगती है। उसकी करुणता से सभी लोग अत्यन्त दुःखी होते हैं।

पथि तपस्यति तत्र कृते हिते नृपसुता मनसि त्रपितेहिते।
न्यभृत तापमपारवियोगिनी कुमुदिनीव दिवारवियोगिनी॥
प्रबलशोकवशा प्रविलापिनी शिथिलभूषणकेशकलापिनी।
परिजनेन वृता प्ररुरोद सा करुणशब्दतता व्युरुरोद सा॥
विधिमुपालभते वरहारिणं वरवधूर्वरमप्यतिहारिणम्।
जघनपीनपयोधरहारिणी नयनवारिकणाविलहारिणी॥[२८]

श्री कृष्ण के परमधामगमन पर बलदेव जी के शोक का जिनसेनाचार्य ने विशद वर्णन किया है। वे कृष्ण के शव को लेकर वन में घूमते हैं। कई बार वे स्वयं मूर्छित हो जाते हैं। उनके रुदन का दृश्य करुणा से भरा पड़ा है। देखिये कवि के शब्दों में—

हा जगत्सुभग! हा जगत्पते! हा जनाश्रयण! हा जनार्दन!
हाऽपहाय गतवानसि क्व मां हानुजैहि लघु हेति चारुदत्॥
हारि वारि परितापहारि तं पाययत्यपि विचेतनं मुहुः।
क्राम्यतीषदपि तत्र तद्गले दूरभव्यमनसीव दर्शनम्॥
मार्ष्टि मार्दवगुणेन पाणिना संमुखं मुखमुदीक्षते मुदा।
लेढि जिघ्रति विमूढधीर्वचः श्रोतुमिच्छति धिगात्ममूढताम्॥[२९]

इसके अलावा भी संसार की असारता दिखाने के अनेक प्रसंगों में "करुण रस" भरा पड़ा है। यहाँ केवल करुण रस की पुष्कल सामग्री का संकेत मात्र है। वास्तविक रूप तो ग्रंथ को देखते ही बनता है।

सूरसागर :–

सूरसागर के दावानल-प्रसंग में करुण रस के भावों की अभिव्यंजना हुई है। सभी बाल गोपाल करुण स्वर में श्री कृष्ण से विनती करते हैं कि उन्हें अविलम्ब इस आपत्ति से मुक्त करें—

अब कै राखि लेहुँ गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी हैं इहिं काल॥
पटकत बाँस काँस कुस चटकत, लटकट ताल तमाल।
उचरत अति अंगार फुटत कर, झटपट लपट कराल।'
धूम धूंधि बाढ़ी अम्बर, चमक बिच-बिच ज्वाल।
हरिन बराह मोर, चातक, पिक जरत जीव बेहाल॥[३०]

श्री कृष्ण के परमधाम गमन पर पाण्डवों द्वारा शोक करने का एक पद भी द्रष्टव्य है जिसमें करुण रस के भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है—

हरि बिनु को पुरवैं मो स्वारथ।
मीड़त हाथ सीस धुनि, रुदन करत नृप पारथ॥[३१]

इस प्रकार से सूरसागर के अनेक स्थलों पर इस रस के भावों की निष्पत्ति हुई है। दोनों ही कृतियों के इस चित्रण में प्रमुख स्थायी भाव "शोक" रहा है। दोनों कवि इस भावनिरूपण में सिद्ध-हस्त रहे हैं परन्तु सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण में यह वैशद्य के साथ वर्णित हुआ है, जिसमें कारुणिक दृश्यों का सांगोपांग चित्रण है।

रौद्र-रस :–

हरिवंशपुराण में रौद्र रस के भावों का सुन्दर चित्रण मिलता है। युद्धों के वर्णन में वीर रस के साथ-साथ रौद्र रस की भी अभिव्यंजना हुई है। इसके अतिरिक्त द्वेपायन मुनि के क्रोध तथा अन्य स्थलों पर भी रौद्र के उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर मथुरा में श्री कृष्ण द्वारा प्रधान मल्लों को मारने पर कंस के क्रोध का एक चित्र प्रस्तुत है—

दशशतहरिहस्तिप्रोद्बलौ साधिघूमाविंतिहठहतमल्लौ वीक्ष्य तौ शीरिकृष्णौ।
प्रचलितवति कंसे शातनिस्त्रिंशहस्ते व्यचलदखिलरंगाम्भोधिरुत्तुंगनादः॥[३२]

रुक्मिणी-हरण में शिशुपाल एवं रुक्मी द्वारा आक्रमण करने पर श्री कृष्ण व बलराम का क्रोधित होने का प्रसंग भी इन्हीं भावों का उदाहरण है—

एवमस्त्विति संत्रस्तां सान्त्वयित्वा प्रियां हरिः।
न्यवर्त्तयद्रथं वेगादभ्यमित्रं हली तथा॥
रुष्टयोः शरजालेन द्विष्टसैन्यं ततोऽनयोः।
श्लिष्टं ननाश विध्वस्तक्लिष्टदर्पमभिद्रुतम्॥[३३]

श्री कृष्ण-जरासंध युद्ध प्रसंग तो इस रस के भावों से भरा पड़ा है। श्री कृष्ण व जरासंध क्रोधित हो एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा कर रहे हैं। अनेक अस्त्रो-शस्त्रों से भयंकर युद्ध हो रहा है—

ततः स्वयं जरासंधः कृष्णस्याभिमुखं रुषा।
दधाव धनुरास्फाल्य रथस्थो रथवर्तिनः॥
अन्योन्याक्षेपिणोर्युद्धं तयोरुद्धतवीर्ययोः।
अस्त्रैः स्वाभाविकैर्दिव्यैरभूदत्यन्तभीषणम्॥
अस्त्रं नागसहस्राणां सृष्टप्रज्ज्वलनप्रभम्।
माधवस्य वधायासौ क्षिप्रं चिक्षेप मागधः॥
अमूढमानसः शौरिर्नागनाशाय गारुडम्।
अस्त्रं चिक्षेप तेनाशु ग्रस्तं नागास्त्रमग्रतः॥[३४]

इसके अलावा भी युद्ध-वर्णन के अनेक प्रसंगों में इस रस की अभिव्यक्ति हुई है।

सूरसागर :–

श्री कृष्ण द्वारा गिरिधारण लीला प्रसंग में महाकवि सूर ने इस रस के भावों की अभिव्यंजना की है। कृष्ण के कथनानुसार ब्रजवासियों ने इन्द्र की पूजा का त्याग कर गोवर्द्धन की पूजा की। इन्द्र ने ब्रजवासियों की धृष्टता का बदला लेने का निश्चय किया। उसने क्रोध में होकर अपना आवेश निम्न शब्दों में प्रकट किया—

प्रथमहिं देऊ गिरिहिं बहाई।
ब्रज धातनि करौं चुरकुट, देऊँ धरनि मिलाई॥
मेरी इन महिमा न जानी प्रगट देऊँ दिखाई।
बरसि जल ब्रज धाइ डारौं लोग देऊँ बहाई॥[३५]

उपर्युक्त विवेचनानुसार सूरसागर में रौद्र रस के भाव युक्त पद स्वल्पमात्रा में मिलते हैं क्योंकि उन्हें तो श्री कृष्ण का मनोहर स्वरूप ही प्रिय है। हरिवंशपुराण में इस रस की निष्पत्ति के अनेक प्रसंग है। श्री कृष्ण के पराक्रम में उनके शलाकापुरुष स्वरूप में तथा अनेक युद्ध प्रसंगों में इस रस के भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

वीर-रस :–

हरिवंशपुराण के युद्ध वर्णनों में रौद्र रस की भाँति वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। हरिवंशपुराण में युद्ध के पर्याप्त चित्रण हैं। यथा—

(१) कृष्ण - अपराजित युद्ध, (२) कृष्ण - शिशुपाल युद्ध, (३) कृष्ण - जरासंध युद्ध, (४) प्रद्युम्न - कालसंवर युद्ध, (५) प्रद्युम्न - कृष्ण युद्ध आदि।

इन युद्धों के वर्णन में कवि ने वीरों की चेष्टाओं से वीर रस की अजस्र-धाराएँ प्रवाहित की हैं। श्री कृष्ण-जरासंध युद्ध का एक प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें दोनों वीर एक-दूसरे को मारने में उद्यत हो रहे हैं, उन्हें मौत से भय नहीं है—

वायव्यं व्यमुचच्छस्त्रमस्त्रविन्मगधेश्वरः.
अन्तरिक्षेण वास्त्रेण व्याक्षिपत्तदधोक्षजः॥
अग्निसात्करणे सक्तमस्त्रमाग्नेयमुज्ज्वलम्।
मागधक्षिप्तमाक्षिप्तं वारुणास्त्रेण शौरिणा।
अस्त्रं वैरोचनं मुक्तं मागधेन्द्रेण रोषिणा।
उपेन्द्रेणापि तद्दूरान्माहेन्द्रास्त्रेण दारितम्।[३६]

श्री कृष्ण व जरासंध ही नहीं, युद्ध में लड़ रहे सभी व्यक्ति वीरता के पुतले दिखाई देते हैं। युद्धों के वर्णन में उभयपक्ष की वीरता के अनुपम नमूने जिनसेनाचार्य ने प्रस्तुत किये हैं।

महाकवि सूर ने भी वीर रस के भावों की यत्र-तत्र अभिव्यक्ति की है। भीष्म-प्रतिज्ञा से सम्बद्ध पदों में यही भाव परिलक्षित होता है। भीष्म पितामह रणभूमि में कृष्ण की शस्त्र-ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा भंग कराने का निश्चय करते हुए कवि के शब्दों में कह रहे हैं कि—

आजु जो हरि हि न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को, सांतनु सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथि खंड़ौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव दल सन्मुख ह्वै धाऊं सरिता रुधिर बहाऊँ॥[३७]

हरिवंशपुराण की अपेक्षा सूरसागर में वीर रस के भावों का चित्रण अपेक्षाकृत कम है। पुराणकार ने युद्ध-स्थलों के विस्तृत एवं अद्भुत दृश्यों में वीर रस का सुन्दर चित्रण किया है, जिसमें वीरता की चेष्टाओं का सफल प्रदर्शन है।

भयानक :–

हरिवंशपुराण तथा सूरसागर में भयानक रस की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। महाकवि जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण की युद्ध वीरता का बहुत ही विशुद्ध निरूपण किया है। वीर रस का स्थाई भाव उत्साह है तथा उसके सहयोगी भाव रौद्र एवं भयानक हैं। वीरता के इस वर्णन में यथास्थान भयानक रस का समावेश भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। श्री कृष्ण के अलौकिक लीला-वर्णन में अपराजित, शिशुपाल तथा जरासंध वध प्रसंगों में इस रस की सुन्दर अभिव्यक्ति है। यथा—

बालकृष्ण को मारने के लिए कंस ने एक पिशाची भेजी। उसका रूप भयंकर था। उसका मुख, नेत्र दोनों अरूक्ष थे। वह जोर-जोर से अट्टहास्य कर रही थी जिससे भय लग रहा था—

स ताडवीं स्पष्टकृताट्टहासां कुराक्षसीं रूक्षनिरीक्षणास्याम्।
अधोक्षजो वीक्ष्य विवृद्धकायां शरीरयष्ट्यां विकृतां जघान॥[३८]

एक अन्य स्थल पर क्रूर भीलों द्वारा खून व माँस की बलि चढ़ाने का वर्णन है यहाँ इसी रस की परिणिति है—

वनमहिषं निपात्य विषमं विषमाः परितः,
परुषकिरातका रुधिरमांसबलिप्रकरम्।
विचकरुरुन्मग्नमशकमक्षिकमक्षिविषं,
प्रविततविस्रगन्धदुरभीकृतदिग्वलयम्॥[३९]

यहाँ पर बलिदान से मक्खियों व मच्छरों से युक्त वह स्थान भयानक प्रतीत हो रहा है। फैली हुई सड़ी बास से दुर्गन्धित समस्त वातावरण भयानक रस का संचार कर रहा है।

सूरसागर में भी यत्र-तत्र इस रस की अभिव्यंजना हुई है। दावानल प्रचण्डता का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण उपर्युक्त रस से परिपूर्ण प्रतीत हो रहा है—

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायौं॥
बरत बन बाँस थरहरत कुस काँस, जरि उड़त है मौंस अति प्रबल धायौ।[४०]

बीभत्स रस :–

हरिवंशपुराण में बीभत्स रस के कुछ स्थल मिलते हैं। युद्ध के बाद युद्ध-स्थल की बीभत्सता के वर्णन में इस रस की परिणिति हुई है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

तेषां तस्य संग्रामो यशःसंग्रहकारिणम्।
अन्योन्याक्षेपिवाक्यानां प्रवृतो वार्तसंकथम्॥
छन्ना तेन कुमाराणां शिरोभी रुधिरारुणैः।
चक्रनाराचनिर्भिन्नैः पकंजैरिव भूरभात्॥[२]

सूरसागर में विशेषतः कोमल भावों की अभिव्यंजना हुई है अतः उसमें से ''बीभत्स-रस'' के भावों को निकालना मुश्किल कार्य है।

अद्भुत रस :–

हरिवंशपुराण में साहित्य के सभी रसों का प्रकर्ष है। कवि ने द्वारिका के निर्माण में यदुवंशियों के प्रभाव-वर्णन में विद्याधरों की आकाशमार्ग से की गयी यात्राओं में, मायायुद्धों में एवं जिनेन्द्र अभिषेकादि में अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की है। द्वारिका का अद्भुत सौन्दर्य देखिये—

भास्वत्कल्पलतारूढकल्पवृक्षोपशोभितैः।
नागवल्लीलवंगादिपूगादीनां स सद्वनैः॥

प्रासादाः संगतास्तस्यां हेमप्राकारगोपुराः।
सर्वत्र सुखदा रेजुर्विचित्रमणिकुट्टिमाः॥[४२]

सूरसागर में भी यत्र-तत्र अद्भुत रस के भावों की अभिव्यक्ति हुई है। श्री कृष्ण के माटी-भक्षण का प्रसंग देखिये जिसमें उनके मुख में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखकर नंदरानी यशोदा स्तब्ध हो जाती है—

नंदहि कहति यसोदा रानी।
माटी कैं मिस मुख दिखायौ, तिहूँ लोक रजधानी।
स्वर्ग पाताल धरनि वन पर्वत, बदन मांझ रहे आनी।
नदी सुमेरु देखि चकित भई, याकी अकथ कहानी।
चितै रहे तब नंद जुवति-मुख, मन-मन करत बिनानी।[४३]

उपर्युक्त प्रकार से दोनों ग्रन्थों में अद्भुत रस का सुन्दर चित्रण है। दोनों कृतियों के कथनक श्री कृष्ण महापुरुष एव परब्रह्म माने गये हैं अत: उसके चरित्र वर्णन में तथा उनके क्रिया-कलापों में अद्भुतता का होना स्वाभाविक है।

शांत-रस :–

यह हमने पहले ही कह दिया है कि हरिवंशपुराण का अंगी रस "शांत" है। कृति के समस्त पात्रों ने अन्तोगत्वा दीक्षा धारण कर ली है। अनेक मुनियों के उपदेशों में शान्तरस की अभिव्यक्ति हुई है।

हरिवंशपुराण के अंतिम तीन सर्ग इसी रस के भावों से भरे पड़े हैं। बलदेव जी की तपस्या, नेमिनाथ का उपदेश, पाण्डवों की दीक्षा, समुद्रविजय के नौ भाईयों, देवकी के छह पुत्रों एवं प्रद्युम्न कुमार इत्यादि का मोक्षगमन तथा नेमिनाथ जिनेन्द्र को निर्वाण की प्राप्ति इत्यादि प्रसंगों में शान्तरस की निष्पत्ति है। उदाहरणार्थ एक प्रसंग देखिये—

एक बार श्री कृष्ण के अनुज गजसुकुमार जिनेन्द्र नेमिनाथ से सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र तथा सम्यक् दर्शन का उपदेश सुनते हैं तो उनके मन में वैराग्य की भावना आ जाती है। वे अविलम्ब अपने पिता-पुत्र आदि समस्त बन्धुओं को छोड़ विनय के साथ जिनेन्द्र से दीक्षा ग्रहण करते हैं एवं तप को उद्यत होते हैं—

आर्हन्त्यविभवोपेतं गणैर्द्वादशभिर्वृतम्।
जिनं नत्वोपविष्टोऽसौ कुमारश्चक्रपाणिना॥
जगाद भगवांस्तत्र नृसुरासुरसंसदि।
संसारतरणोपायं धर्मं रत्नत्रयोज्ज्वलम्॥[४४]

श्रुत्वा गजकुमारोऽसौ जिनादिचरितं तथा।
विमोच्य सकलान् बन्धून् पितृपुत्रपुरस्सरान्॥
संसारभीरुरासाद्य जिनेन्द्रं प्रश्रयान्वितम्।
गृहीत्वानुमतो दीक्षां तपः कर्तुं समुद्यतः॥[४५]

सूरसागर में भी महाकवि सूर ने विनय के पदों में जो संसार की क्षणिकता, आत्म-दैन्य, ईशभक्ति इत्यादि का विर्णन किया है, उनमें शान्तरस के भावों की अभिव्यंजना है। उदाहरणार्थ देखिये सूर का यह पद—

सब तजि भजिए नंदकुमार।
और भजि ते काम सरे, नहिं मिटे भव जंजार।
जिहिं जिहिं जोनि जन्म धारयौ, बहु जोरयो अघ को भार।
तिहि कारन को समरथ हरि को, तीछन मार कुठार।
वेद पुरान भागवत गीता, सबको यह मत सार।
भव समुद हरि पद नौका, बिनु कोऊ न उतरे पार॥[४६]

इस प्रकार से दोनों ही भक्त कवियों की कृतियों में शांत रस के भावों का सुन्दर निरूपण मिलता है। दोनों कवियों की परम्परानुसार भक्ति के उद्गारों में यह भाव मणिकांचन स्वरूप में समाहित है। हरिवंशपुराण के शांतरस की अभिव्यक्ति में शांत रस के प्रसंगों में संक्षिसता अधिक है।

भक्ति :—

जिनसेनाचार्य जैन-मुनि थे। उनकी दृष्टि में भक्ति ही सर्वोच्च थी। फिर भला भक्ति रस के अवसर अपने हरिवंशपुराण में क्यों न निकालते। इसीलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर जिनेन्द्र पूजा कराई है। इन्द्र, कृष्ण, बलदेव, समुद्रविजय, नारद आदि अनेक पात्रों द्वारा जिन पूजा एवं जिनेन्द्र स्तुति के समय भक्ति रस के भावों की अभिव्यंजना हुई है। एक उदाहरण है जिसमें इन्द्र अरिष्टनेमि की स्तुति कर रहे हैं—

भवतेह भुवां त्रितये भवता गुरुणा परमेश्वर विश्वजनीन,
महेच्छधिया प्रतिपादितमप्रतिमप्रतिमारहितम्।
हितमुक्तिपथं प्रथितं विधिवत् प्रतिपद्य विधाय तपो विविधं,
विधिना प्रविधूय कुकर्ममलं सकलं भुवि भव्यजनः प्रणतः॥[४७]

हरिवंशपुराण की रचना के बारे में जिनसेनाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना न तो काव्य रचना के व्यसनजन्य संस्कारों से की है, न ही कीर्ति समूह की बलवती इच्छा से की है, न काव्य के अभिमान से की है और न दूसरे के देखा देखी की है। किन्तु यह रचना मैंने मात्र जिनेन्द्र-कुमार की भक्ति से की है। इस चरित के गुणगान से मुझे असंख्य पुण्य का संचय हुआ है जो मंगलरूप है।

न काव्यबन्धव्यसनानुबन्धतो न कीर्तिसंतानमहामनीषया।
न काव्यगर्वेण न चान्यवीक्षया जिनस्य भक्त्यैव कृता कृतिर्यथा॥[४८]

कवि के अनुसार जिनेन्द्र का नाम श्रवण व ग्रहण से ही सांसारिक पीड़ा दूर हो सकती है। उनका चरित्र ही मंगलरूप है जिससे मनोवाँछित सिद्धियाँ, प्रसिद्ध धर्म, अर्थ और मोक्ष की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं—

प्रकाममाकांक्षितकामसिद्धयः प्रसिद्धधर्मार्थविमोक्षलब्धयः।
भवन्ति तेषां स्फुटमल्पयत्नतः पठन्ति भक्त्या हरिवंशमत्र ये॥[४९]

हरिवंशपुराण में कवि ने जिन-भक्ति व श्रावक-भक्ति का सूक्ष्मतम वर्णन किया है। उन्होंने इस भक्ति के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र एवं सम्यक् दर्शन की परमावश्यकता पर विशेष बल दिया है। सम्पन्न दृष्टि के बिना कोई भक्ति नहीं कर सकता। जो इसकी उपेक्षा करता है वह क्या भक्ति करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं।

शक्तस्योपेक्षमाणस्य सद्दृष्टिजनमापदि।
का वा कठिनचित्तस्य जिनशासनभक्तता॥[५०]

हरिवंशपुराण जिन-भक्ति का अगाध सागर है। इस पर अलग से शोध कार्य संभव है। हम यहाँ इसका संकेत मात्र दे रहे हैं क्योंकि यहाँ विस्तृतता प्रदान करना संभव नहीं है।

कवि शिरोमणि सूर ने भक्ति के माहात्म्य का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। सांसारिक दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का ऋजुमार्ग ही प्रेमभक्ति है—

रे मन समुझि सोचि विचारि।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ, कहत निगम पुकारी॥[५१]

भगवद्-भक्ति के बिना मानव जीवन व्यर्थ है—

(क) सूरदास भगवंत भजन बिनु वृथा सुजनम गवै है।[५२]
(ख) सूरदास-व्रत यहै, कृष्ण भजि भवजलनिधि उतरत।[५३]

इतना ही नहीं कवि ने तो यहाँ तक कह दिया कि भक्ति रहित जीवन श्वान, ग्रामशूकर उष्ट्र, वृषभ तथा महिष के समान व्यर्थ है—

भजन बिनु कूकर सूकर जैसो।
जैसे घर बिलाव के मूसा, रहत विषय बस वैसौं।
✣ ✣ ✣
सूरदास भगवंत भजन विन मनों ऊँट, वृष भैंसौं।[५४]

सूर ने नवधा-भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना व वन्दना को विशेष महत्त्व देकर उसके अनुरूप पदों की रचना की है। सूर की भक्ति प्रमुखत: सख्यभाव की रही है। परन्तु उन्होंने दास्य-भाव, वात्सल्यभाव, मधुराभाव, शान्तभाव आदि का भी सुन्दर निरूपण किया है।

विषय की मर्यादानुसार दोनों कवियों की भक्ति की गहराई में जाना अनुपयुक्त होगा। परन्तु दोनों भक्तकवि थे। दोनों के काव्य में अपनी परम्परा की भक्ति का सुन्दर समावेश है। सूर भक्ति के क्षेत्र में जिनसेन से आगे निकल गये है। उनका हृदय उनके पदों में बोल रहा है। ऐसे भक्त कवि के पद देखते ही बनते हैं, क्योंकि वे दुर्लभ भक्ति रस के 'रसिया' थे।

छन्द-विधान :–

कलापक्ष में छंदोविधान का अपना विशेष महत्त्व है व छंद काव्य के पाद हैं, क्योंकि उसके आधार पर काव्य गति करता है। छंद ही अपनी भावानुकूल गति एवं ध्वनि से काव्यार्थ का प्रकाशन करता है। छंद ही कविता के रसानुकूल वातावरण को तैयार करता है। छन्द कल्पना को प्रज्ज्वलित कर कवि को ऐसी दृश्यमान एवं श्रोतव्य प्रतिभाएँ प्रदान करता है, जिनमें कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।

छंद की सृष्टि लय के आधार पर होती है। इस लय का प्रमुख कार्य हमारे अन्तर्वेगों को उद्दीप्त करना है। वैदिक छन्दों से लेकर लौकिक छन्दों का मूलाधार लय ही है।

हमारी आलोच्य कृतियाँ-हरिवंशपुराण और सूरसागर की भाषा पृथक्-पृथक् है। अत: दोनों ग्रन्थों का छन्दोविधान भी भिन्न है। हम यहाँ प्रत्येक ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

हरिवंशपुराण एक विशालकाय पौराणिक महाकाव्य है। इसमें छन्दों का अपना महत्त्व है। नाना प्रसंगों के वर्णनों में रुचिरता लाने के लिए जिनसेनाचार्य ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। पर्वों का अन्त प्राय: छन्द परिवर्तन के साथ होता है। अनेक छन्दों के प्रयोग में चौतीसवाँ सर्ग देखा जा सकता है, जिसमें विविध छन्दों का सुन्दर समन्वय है।

(१) हरिवंशपुराण में प्रधानत: अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग हुआ है जिसका लक्षण है—

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययो:॥

उदाहरणार्थ—

अतः परं परं शौरेः शृणु श्रेणिक! चेष्टितम्।
वेगवत्या वियुक्तस्य पुण्यपौरुषयोगिनः॥[५५]

इसके अतिरिक्त इसमें ४४ "मात्रावृत्त" तथा "वर्ण-वृत्त" भी प्रयुक्त हुए हैं जिनका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

(२) आर्या—

पंचानां संकलिते चतुर्गुणो षष्टिरेवमष्टानाम्।
नवभिर्मिश्रितमध्यः पंचदशानां च षोडशभिः॥[५६]

(३) आर्यागीति—

महिषमृगध्वजवृत्तं यः सततं शुद्धवृत्तमनसि धत्ते।
स भजति दृष्टिविशुद्धिं जिनदृष्टपदार्थगोचरां भव्यजनः॥[५७]

(४) शार्दूलविक्रीडित—(सूर्यश्चैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्)

धर्मस्याचरितस्य पूर्वजनने मार्गे जिनानां महान्,।
माहात्म्येन सपौरुषः सुखनिधिर्लोकैककल्पद्रुमः।
सम्यग्दर्शनरत्नरंजितमनोवृतिर्मनश्चक्रभृत्,
चक्रे शक्रनिभः श्रियात्र भरतः शार्दूलविक्रीडितम्॥[५८]

(५) मालिनी—(ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः)

अथ विरुदवलिज्यारूढबाणासनायां कलरवकलहंसीशंखशय्याश्रितायाम्।
रिपुशिखिमदपक्षक्षोदपक्षोदयायां शरदि हरिनवश्रीलीलयाध्यासितायाम्॥[५९]

(६) शालिनी—(शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः)

विद्यादानं बालचन्द्राभिधाना विद्यां दत्त्वा कन्यका वेगवत्यै।
सद्यो जाता मुक्तशल्या च जैन्यो विद्याधर्यः साधयन्त्यभ्युपेतम्॥[६०]

(७) वसन्ततिलका—(उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः)

प्राप्तोऽभिषेकममरेन्द्रगणैर्गिरीन्द्रे प्राप्तः सुतस्त्रिभुवनेश्वर इत्युदारौ।
प्राप्तौ महाप्रमदभारवशौ तदानीं नाभिश्च नाभिवनिता च सुखं स्ववेद्यम्॥[६१]

(८) मन्दाक्रान्ता—(मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्भ्यौ नतौ तादगुरू चेत्)

ज्योतिर्लोकप्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोक—
प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया संग्रहात्क्षेत्रमेवम्।
संप्रोक्तं ते श्रवणसुभगं श्रेणिकं श्रेयसेऽतः
शृण्वायुष्मन्नवहितमतिर्वच्मि कालोपदेशम्॥[६२]

(९) शिखरिणी—(रसै रूद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी)

जगद्षड्भिर्द्रव्यैरनुपचरितैर्व्याप्तमखिलं
तदप्यर्हज्ज्ञानादधिकमभियुक्तैरधिगतम्।
यतः कालाद्यर्थे घनमपि धुनात्यन्धतमसं
जिनादित्यालोकः स्थिरपरिणतः श्रीमदुदयः॥[६३]

(१०) रथोद्धता—(रात्रराविह रथोद्धता लगौ)

संजयन्तचरितं जगत्त्रये सुप्रसिद्धमतिभक्तिभावतः।
संभवन्तु भुवि भव्यजन्तवः संस्मरन्तु जिनतां यियासवः॥[६४]

(११) दोधक—(दोधकवृतमिदं भभभाद्गौ)

दुर्जयमप्यरिलोकमनेकैः शौर्यसखो निखिलं खचरौघैः।
आशु विजित्य जनो जिनधर्मादाश्रयतामिह याति बहूनाम्॥[६५]

(१२) वंशस्थ—(जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ)

गृहीतरत्नत्रयभूषणा पुरा जना बभूवुः स्थिरभावनास्तदा।
परे यतिश्रावकधर्मदीक्षिताः कृते युगे युक्त गुणाश्चकासिरे॥[६६]

(१३) पृथ्वी—(जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः)

समुद्रविजयः शिवां विहितपट्टबन्धां प्रियां
वधूनिवहमुख्यतामधिगमय्य राज्यस्थितिम्।
स्थिरां स परिपालयन् सहजबन्धु भव्याम्बुजः
प्रतापमभिवर्धयन्नुदयनैर्जिनार्को यथा॥[६७]

(१४) उपजाति—

इस छन्द के अनेक भेद होते है। यह "इन्द्रव्रजा" व "उपेन्द्रव्रजा" छन्दों के पद जोड़कर बनता है—(अनन्तरो दीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः)

द्विशत्यशीतिश्चतुरुत्तरा स्युरत्रोपवासाः परिगण्यमानाः।
एकोनषष्टिश्च हि भुक्तिकालाः फलं तु रत्नत्रयसारलब्धिः॥[६८]

(१५) उपेन्द्रवज्रा—(उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ)

इतीरितं ताः प्रतिपद्य याताः प्रदृश्य चैकोग्रशकुन्तरूपा।
प्रनुद्य हन्त्री हरिणात्ततुण्डा प्रचण्डनादा प्रणनाश भीता॥[६९]

(१६) इन्द्रवज्रा—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः)

रूपान्तराः पञ्चदशावसाना रूपान्तराः षोडश यत्र चाग्रे।
रूपोनकास्तत्परमन्तरूपा मुक्तावलीयं खलु रत्नपूर्वा॥[७०]

(१७) स्रग्धरा—(म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्)

इत्थं कृत्वा समर्थं भवजलधिजलोत्तारणे भावतीर्थं।
कल्पान्तस्थायि भूयस्त्रिभुवनहितकृत् क्षेत्रतीर्थं स कर्त्तुम्।
स्वाभाव्यादारुरोह श्रमणगणसुरद्र...संपूज्यपादः
कैलासाख्यं महीध्रं निषधमिव वृषादित्य इद्धप्रभाढ्यः॥[७१]

(१८) द्रुतविलम्बित—(द्रुतविलम्बितमाह न भौ भरौ)

अथविबुद्धसरोजवनस्पृशा सुरभिणा स्पृशता मरुता तदा।
हृतवपुः श्रमकं मिथुनं मिथस्तदकरोदुपगूढमतिश्रुथम्॥[७२]

(१९) तोटक—(वद तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम्)

यतयात्मधिया जितनात्मभुवं भुवभव्यतरां सुखसस्यभृताम्।
भृतविश्व! भवन्तमनन्तगुणं गुणकांक्षितया वयमीश नताः॥[७३]

(२०) हरिणी—(रसयुगहयैर्न्सौ भ्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा)

प्रतिदधिमुखं चत्वारस्ते निरस्तमनोमलाः
प्रतिरतिकरं चाष्टौ यत्र ह्युपोषितवासराः।
प्रतिदिशमथो षष्ठं कार्यं तथाञ्जनकान्प्रति
व्रतविधिरयं श्रेष्ठो नन्दीश्वरो जिनचक्रिकृत्॥[७४]

(२१) नर्कुट—(हयदशाभिर्नजौ भजजला गुरु नर्कुटकम्)

अकठिनकम्बुकण्ठचिबुकापरबिम्बफलप्रहसितपाण्डुगण्डकुटिलभ्रुललाटतटी
द्विगुणितकोमलोत्पलसुनालसुकर्णभृता चिरमनयात्यभासि धवलासितदीर्घदृशा॥[७५]

उपर्युक्त विवेचनानुसार यह स्पष्ट है कि जिनसेनाचार्य का "छंदोविधान" उनकी भावाभिव्यक्ति का सशक्त साधन है। इन्होंने अपनी कृति में शीर्षस्थ छन्द के रूप में अनुष्टुप् को ही रखा है परन्तु अन्य छन्दों का भी सफल प्रयोग कर अपने महाकवित्व को असंदिग्ध-भाव से प्रकट किया है। सम्पूर्ण कृति जो ६६ सर्गों में विभक्त है, इसमें लगभग ९००० छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कवि ने चौंतीस एवं उनतालीसवें सर्ग में विशिष्ट छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों की दृष्टि से हरिवंशपुराण के कई सर्ग बहुत बड़े हो गये हैं। उदाहरणार्थ मात्र साठवें सर्ग में ५७४ छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि ने विविध छन्दों को प्रयुक्त कर कृति में संगीतात्मकता के साथ सरसता प्रदान की है जो स्वाभाविक एवं भावानुकूल है। यहाँ मात्र छन्दों के प्रयोग की बात की गयी है परन्तु *विविध छन्दों का रसास्वादन कृति को पढ़ने पर ही प्राप्त हो* सकता है।

सूरसागर में प्रयुक्त छन्द :–

महाकवि सूर का सम्बन्ध प्राचीन हिन्दी साहित्य से है अतः इन्होंने अपनी कृति सूरसागर में मात्रिक, वर्णिक व मिश्र सभी प्रकार के छन्दों का सुन्दर प्रयोग किया है। सूरसागर से, छन्दोविधान का उनका ज्ञान अपरिमित था, यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है। छन्द प्रयोग पर कवि का विलक्षण अधिकार है। सूर साहित्य में छन्दों के अनुसंधाता डॉ० गौरीशंकर मिश्र "द्विजेन्द्र" ने सूरसागर में प्रयुक्त छन्दों की जो तालिका दी है, वह इस प्रकार है—

(१) सम-छन्द :–

लीला, तोमर, सखी, कज्जल, चौपई, चौपाई, पद्धरि, चन्द्र, रति-वल्लभ, योगकल्प, कुंडली, प्रणय, रास, कुंडल, उपमित, उपमान, अवतार, रजनी, हीर, रोला, रूपमाला, सारस, मुक्तामणि, विष्णुपद, गीतिका, गीता,सरसी सार, माधव, मालती, मरहटा-माधवी, ताटक उत्कंठा, वीरछन्द, समान सवैया, जलतरंग, वदनसवैया, विश्वभरण लीलापति, अरुणजयी, प्रतिपाल, द्वितीय, झूलना, हंसाल, करखा, प्रभाती, मानवती, मदनशत्या, विजया, प्रफुल्लित, मदनहर शुभांग काममोहिता, विनय, अमर्षिता, नटनागर, प्रबोधन, हरिप्रिया, हरिप्रीता, हरिवल्लभा।

(२) अर्द्धसम छन्द—दोहा, दोहकीय।[७६]

(३) मिश्र छन्द-सम तथा सम के मिश्रण से बने छन्द :–

लीला + तोमर, लीला + हीर, चौबाला + चौपई, चौबाला + चौपाई, चौपाई + चौपाइ, चौपाई + उपवदनक, चौपाई + हरिगीतिका, प्रणय + कुंडल, उल्लास + सुखदा, उपमित + उपमान, उल्लास + गीतिका, उल्लास + सरसी, रजनी + रूपमाला, रजनी + मधुरजनी, रूपमाला + गीता, रूपमाला + समान सवैया, रोला + समानसवैया, विष्णुपद + सार, विष्णुपद + ताटक, गीता + सरसी, गीतिका + सार, सरसी + सार, सरसी + ताटंक, सरसी + वीर, सरसी + समान सवैया, सार + मरहटा माधवी, सार + ताटंक, सार + वीर, सार + समान सवैया, झूलना + हंसाल, झूलना + करखा, लीला + महानुभाव + चौपाई, सखी + चौपाई + हरिगीतिका, चौबाला + चौपाई + चौपाई, चौबाला + चौपाई + उपवदनक, चौपाई + गीतिका + हरिगीतिका, रूपमाला + गीता + गीतिका, विष्णुपद + सरसी + सार, सरसी + सार + ताटंक, सरसी + सार + समान सवैया, करखा + हंसाल + झूलना, चौपाई + चौबाला + चौपाई + उल्लाला, चौपाई + पादाकुलक + योगकल्प + सार, चौपाई + उपवदनक + गीतिका + हरिगीतिका।

अर्द्धसम और सम के मिश्रण से बने छंद :–

दोहा + रोला, दोहा + मुक्तामणि, दोहा + विष्णुपद, दोहा + सरसी, दोहा +

सार, दोहकीय + सार, रोला + उल्लाला, दोहनीय + सरसी + सार, दोहा + सोरठा + चौपाई + हरिगीतिका, दोहा + शशिवदना + माली + सखी + गीतिका।

अर्द्धसम और अर्द्धसम के मिश्रण से बने छन्द :—दोहा + दोहकीय।

(४) वर्ण छन्द :–

मिताक्षरी, नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी, मनहरण, रूपघनाक्षरी, जलहरण।[७७]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मात्रिक एवं उसके मिश्रण से बने मिश्र छन्दों का प्रयोग सर्वाधिक किया है। इसका कारण यह है कि उनका साहित्य गेय था। संगीतात्मकता की स्वाभाविकता व प्रभविष्णुता से ये छन्द सफल सिद्ध हुए हैं।

सूरसागर में प्रयुक्त पद्धतियाँ :–

सूरदास के पूर्व हिन्दी में छन्द रचना की चार पद्धतियाँ प्रचलित थी। कवि ने पूर्ववर्ती पद्धतियों का अपनी कृति में सफलता पूर्वक निर्वाह किया है।

(१) दोहा पद्धति :–

दोहा मात्रिक अर्द्धसम छन्द है। इसके प्रथम व तृतीय चरण में १३-१३ एवं द्वितीय व चतुर्थ चरण में ११-११ मात्राएँ होती हैं। सूर ने वर्णनात्मक प्रसंगों में इसका सफल प्रयोग किया है परन्तु अपनी काव्य प्रतिभा व संगीतकला के बल पर इसे अनेक नवीनताएँ भी प्रदान की है। सूरसागर में दोहे के अनेक रूप मिलते हैं। दानलीला प्रसंग की दो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं जिसमें इन्होंने दोहे के अन्त में ९ अथवा १० मात्राओं की एक लघु पंक्ति जोड़कर, अपेक्षाकृत अधिक गेयता प्रदान की है—

इहिं मारग गोरस लै सबै, नित्य प्रति आवहिं जाहिं।
हमहिं छाप दिखरावहूँ, दान किहिं पाहिं॥
कहति ब्रज लाड़िली।[७८]

(२) छप्पय पद्धति :–

छप्पय मात्रिक विषम छन्द है। इसके छः चरण होते हैं, जिसमें प्रथम चार पद रोळा छन्द तथा अंतिम दो पद उल्लाला छन्द में होते हैं। यह छन्द वीरगाथाकाल में ओजस्वी भावों की अभिव्यक्ति का साधन था। सूरसागर में इसका अभाव रहा है, फिर भी विनय के पदों में एक छप्पय द्रष्टव्य है—

तब विलम्ब नहिं कियौ, जबै हिरनाकुस मार्‌यौ।
तब विलम्ब नहिं कियौ, केस गहि कंस पछार्‌यौ॥
तब विलम्ब नहिं कियौ, सीस दस रावन कट्टे।
तब विलम्ब नहिं कियौ, सबै दानव दह पट्टे॥

कर जोरि सूर विनती करै, सुनहु न हो रुकुमिनि-रवन।
काटौ न फंद मो अंध कै, अब विलम्ब कारन कवन॥[७९]

(३) दण्डक पद्धति :–

किसी पद्य के एक पाद में यदि २६ अक्षरों से अधिक अक्षर हो तो उसे दण्डक कहते हैं। ये दण्डक दो प्रकार के होते हैं—साधारण दण्डक तथा मुक्तक दण्डक। महाकवि सूर ने मुक्तछंदों का प्रयोग किया है जिसमें घनाक्षरी महत्त्वपूर्ण है। घनाक्षरी को मनहर और कवित्त भी कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में आठ-आठ वर्णों के विश्राम से सोलह तथा पन्द्रह पर यति तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है। गजमोचन अवतार प्रसंग की एक घनाक्षरी उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

झाई न मिटत पाई, आए हरि आतुर ह्वै,
जान्यौ जब गज ग्राह, लिए जात जल मै
जादौपति जदुनाथ, छाँडि खगपति साथ,
जानि जस विह्वल, छुडाइ लीन्हौं पल में।
नीरहू तै न्यारौ कीनौ, चक्र नक्र सीस छीनौ,
देवकी के प्यारे लाल, ऐंचि लाए थल में।
कहै सूरदास देखि, नैननि की मिटी प्यास,
कृपा कीन्हीं गोपीनाथ, आए भुव तल मैं॥[८०]

(४) चौपाई पद्धति :–

चौपाई मात्रिक छन्द है। इसमें १६ मात्राएँ होती है तथा अन्त में जगण, तगण वर्जित है। सूर ने दृढ़ता के साथ इस नियम का पालन किया है इसीलिए १४ मात्रा से १७ मात्राओं तक का प्रयोग इन्होंने इस छंद में किया है।

(क) १४ मात्रा की चौपाई—

पिय देखी वन छवि निहारी।
बार-बार यह कहति नारी॥[८१]

(ख) १५ मात्रा की चौपाई—

ब्रजवासी सब उठे पुकारि।
जल भीतर कह करत मुरारी॥[८२]

(ग) १६ मात्रा की चौपाई—

सूर अति भए व्याकुल मुरारी।
नैन भरि लेत जल देत डारी॥[८३]

(घ) १७ मात्रा की चौपाई—

काम तनु दहत नहिं धीरधारे।
कहुँ बैठत बार बारे॥[८४]

स्पष्ट है कि सूर ने चौपाई-पद्धति का सफलता व कुशलता से प्रयोग कर इस पद्धति को आगे बढ़ाया है।

अन्य छंद :–

सूरदास संगीत के आचार्य एवं विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। अत: नवीन छंदों का निर्माण करना इनके लिए स्वाभाविक था। कुछ छन्दों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) कुंडल :–

इस छंद में १२, १० के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में दो गुरु होते हैं। सूरसागर में इस छंद का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। यथा—

तरुवर तब इक उपारि, अनुमत कर लीन्यौ।
किंकर कर पकरि बान, तीन खंड कीन्यौ॥[८५]

(२) सार :–

इस छन्द में १६, १२ के विराम २८ मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में दो गुरु होते हैं। जैसे—

पाई-पाई है रे भैया, कुंज पुंज में टाली।
अबकै अपनी हटकि चरावहुँ, जै है भटकी घाली॥[८६]

(३) विष्णु पद :–

इस छन्द में १६, १० के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं। सूरसागर में इस छन्द का भी प्रयोग अधिक है। यथा—

ब्रज वनिता सत जूथ मंडली, मिलि-कर परस करैं।
भुज मृनाल-भूषन तोरन जुत, कंचन खंभ धरे॥[८७]

(४) लावनी :–

इसमें १६, १४ के विराम से ३० मात्राएँ होती हैं। सरस प्रसंगों में कवि ने इस छन्द का प्रयोग किया है। जैसे—

ब्रज घर-घर आनन्द बढ्यौ अति, प्रेम पुलक न समात हिए।
जोकौं नेति-नेति स्रुति गावत, ध्यावत सुरमुनि ध्यान धरे॥[८८]

(५) समान सवैया :–

इस छन्द में १६-१६ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं। सूरसागर के वर्णनात्मक प्रसंगों में इसका उल्लेख मिलता है। जैसे—

भावी नहीं मिटै काहू की, करता की गति जाति न जानी।
कहाँ कहाँ तै स्याम न उबर्‌यौ कि हि राख्यो तिहिं औसर आनी॥[८९]

(६) उपमान :–

इस छन्द में १२, १० के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं तथा चरणान्त में दो गुरु होते है। सूर ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। यथा—

सुता महर वृषभानु की, नन्द सदनहिं आई।
गृह द्वारे ही अजिर मैं, गो दुहत कन्हाई॥[९०]

(७) हरिप्रिया :–

मात्रिक छन्दों में यह दीर्घतम छन्द माना जाता है। इसमें १२, १२, १२ और १० मात्राओं की यति के साथ इसमें कुल ४६ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में दो गुरु होते हैं। यथा—

जसुमति दधि-मथन करति बैठी बर धाम अजिर।
ठाढ़े हरि हँसत नान्ह दतियनि छवि छाजै।
चितवन चित लै चुराई सोभा वरनी न जाई।
मनु मुनि-मन-हरन-काज मोहिनी दल साजै॥[९१]

(८) शोभन :–

इस छन्द में १४, १० पर यति के साथ २४ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में एक जगण होता है। जैसे—

चौक चन्दन लिपिकै धरि, आरति सँजोइ।
कहति घोष कुमारि ऐसी, अनंद जौ नित होइ॥[९२]

(९) रूपमाला :–

इसमें १४-१० के विराम से २४ मात्राएँ व अन्त में गुरु लघु होता है। कवि ने कहीं-कहीं शोभन रूपमाला का मिश्रण कर दिया है। जैसे—

तनक देरी माइ माखन तनक दैरी माइ।
तनक कर पर तनक रोटी, माँगत चरन चलाइ॥[९३]

सूर ने उपर्युक्त उल्लेखित छन्दों के अतिरिक्त भी अनेक नवीन छन्दों का प्रयोग किया है, जिसमें योग कल्प, प्रणय, उपमित, मधरजनी, माधव मालती, प्रतिपाल, प्रभाती,

मानवती, विनय, नरनागर, सूरघनाक्षरी, उत्कंठ, लीलापति, काममोहिता, जलतरंग, प्रफुल्लित, तोमर लावनी हंसाल तथा ग्रीव इत्यादि मुख्य है।

सूर का छन्दोविधान इनकी भावाभिव्यक्ति का सशक्त साधन है। डॉ० द्विजेन्द्र के शब्दों में—

''सूरदास केवल छन्द प्रयोक्ता ही नहीं थे वरन् नवीन छन्दों के निर्माता भी थे। संगीतज्ञ होने के कारण उनकी लय चेतना बड़ी तीव्र थी। जिसकी लय चेतना जितनी तीव्र होगी, वह नवीन छन्दों के निर्माण में उतना ही कृतकार्य हो सकेगा।''[९४]

इस प्रकार से सूर का छन्दोविधान उनके आचार्यात्व एवं महाकवित्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। सूर छन्द-शास्त्र के मर्मज्ञ थे, यह तथ्य उनकी कृति सूरसागर से असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाता है। सूर के पदों में संगीत का स्वर-ताल, लोक-धुनों का शास्त्रीय स्वरूप एवं साहित्यिक पद-बन्ध है-जो एक निराले स्वरूप में विशेष प्रभावशाली बन गया है।

निष्कर्ष :–

तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो दोनों आचार्य कवि अपने-अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध कवि रहे हैं। जिनसेनाचार्य ने अपनी अभिव्यक्ति का साधन संस्कृत के प्रसिद्ध छन्दों को बनाया है तो महाकवि सूर ने हिन्दी के। जहाँ तक छन्दों की संख्या का प्रश्न है तो सूरसागर में हरिवंशपुराण से कई गुने अधिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। जिनसेनाचार्य ने किसी छन्द का स्वतः निर्माण नहीं किया है जबकि सूर ने कुछ छन्दों की कल्पना स्वतंत्र की है। सूर ने बहुत जल्दी-जल्दी छन्द परिवर्तन किया है किन्तु जिनसेनाचार्य ने चौतीसवें सर्ग को छोड़ कर कहीं भी इतनी शीघ्रता से छन्द नहीं बदले हैं। इसके अलावा भी सूरसागर का छन्दोविधान हरिवंशपुराण से अधिक समृद्ध एवं व्यापक बन पड़ा है। सूर को भावानुकूल छन्दों के प्रयोग में विशेष सिद्धि मिली है।

अलंकार विधान :–

काव्य के शोभादायक धर्मों को अलंकार कहते हैं। काव्य में अलंकार योजना के दो रूप होते हैं—श्रम साध्य एवं स्वाभाविक। श्रमसाध्य अलंकार योजना में चमत्कार का प्राधान्य होता है, जिससे उसके काव्यत्व को क्षति पहुँचती है। इसीलिए श्रमसाध्य अलंकार योजना को निकृष्ट और त्याज्य बताया गया है। काव्य में स्वाभाविक रीति से प्रयुक्त अलंकार ही वस्तुतः काव्य की शोभा के कारक और रस तथा भावों के उपकारक होते हैं। काव्य में अलंकारों के महत्त्व का विवेचन करते हुए ''चन्द्रालोककार'' जयदेव ने कहा है कि—''जो काव्य को अलंकार रहित मानता है, वह अग्नि को अनुष्ण क्यों नहीं मानता?''[९५]

आचार्य जिनसेन एवं महाकवि सूर ने अलंकारों का प्रयोग विशेषकर सौन्दर्य बोध के लिए किया है। इनके काव्य में जो अलंकारों का समावेश मिलता है, वह प्रयत्न साध्य न होकर स्वत: एवं सहज रूप में है। यहाँ दोनों के काव्य में से आवश्यक उद्धरणों को प्रयुक्त करते हुए उनके अलंकार विधान पर विचार करेंगे।

हरिवंशपुराण में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा को कवि ने सविशेष प्रयुक्त किया है। इसके अलावा सन्देह, भ्रन्तिमान, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति एवं दृष्टांत इत्यादि का भी पर्याप्त स्थान रहा है। शेष अलंकार अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त हुए हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। हरिवंशपुराण में प्रयुक्त अलंकार भावों की सहज परिणिति में सहायक बन पड़े हैं, जो सहजाभिव्यक्ति के परिचायक हैं। कहीं-कहीं पर अलंकारों का बलात् प्रयोग भी कवि ने किया है।

सूरसागर में कवि ने अपने उमड़ते हुए अथाह भावसागर को सहज अलंकृत शैली में अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में जैसी भाव-प्रणवता है, वैसी ही आलंकारिक-चमत्कृति भी। सूर की अनुभूति व अभिव्यक्ति के बारे में शुक्लजी ने कहा है कि—''सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्राय: उतनी ही चतुरता एवं वाग्विदग्धता भी है।''[९६]

सूर ने शब्दालंकारों का अधिक प्रयोग न करके अर्थालंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। शब्दालंकारों में श्लेष, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति व वीप्सा का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है जबकि अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा एवं सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग सर्वाधिक रूप से हुआ है। महाकवि सूर का अलंकार प्रयोग अत्यधिक सहजता पर आधारित है। इनमें सारल्य है तो भाव-व्यंजना की पूर्ण क्षमता भी है। इनमें सरसता भी है, तो भावोत्कर्षता भी। कवि ने ''अलंकार-योजना'' में शायद ही कोई ऐसा अलंकार होगा या उसका भेदोपभेद होगा जिसका प्रयोग नहीं किया हो। कवि की इसी प्रतिभा-सम्पन्नता के कारण ही उन्हें ''महाकवि'' पद का अधिकारी कहा जाता है।

(क) शब्दालंकार :–

जो अलंकार शब्दाश्रित है, उसे शब्दालंकार कहते हैं। शब्दालंकारों के बारे में यह माना जाता है कि ये चमत्कारोत्पादक होते हैं, भावोत्कर्षक नहीं। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इनमे चमत्कारमूलक अलंकार भी होते हैं तो साथ में भाव-मूलक भी।

आचार्य जिनसेन एवं सूरदास ने इन अलंकारों का प्रयोग चमत्कारोत्पत्ति के लिए भी किया है तो भावों के उत्कर्ष के लिए भी। चमत्कार प्रदर्शन में ''यमक'' अलंकार द्रष्टव्य है—

यमक :–

जहाँ शब्दों की आवृत्ति बार-बार हो परन्तु अर्थ में भिन्नता रहती है, वहाँ यमक अलंकार होता है। हरिवंशपुराण में प्रयुक्त यमक के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) अनेन घनरागिणा समनुवर्तिता रागिणी,
महोदयनिषेविणाप्यनुरतेन पूव तु या।[९७]

(ख) न मोहो न मयद्वेषौ नोत्कण्ठारतिमत्सराः।
अस्यां भद्रप्रभावेण जम्भाजम्भा न संसदि॥[९८]

(ग) कालः कालहरस्याज्ञामनुकूलभयादिव।
प्रविहाय स्ववैषम्यं पूज्येच्छामनुवर्तते॥[९९]

यहाँ प्रथम श्लोक में ''राग'' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है परन्तु दोनों बार उसका अर्थ भिन्न है। इसी तरह दूसरे श्लोक में ''जम्भा'' शब्द तथा तीसरे श्लोक में ''काल'' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है जिसके अर्थ में भिन्नता रही है।

हरिवंशपुराण में यह अलंकार स्वल्प मात्रा में प्रयुक्त हुआ है जबकि सूरसागर में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक रहा है।

(१) लोचन जल कागद-मसि मिलै कै, ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।[१००]

इस पंक्ति में ''स्याम'' शब्द की भिन्नार्थक आवृत्ति है। एक का अर्थ काली तथा दूसरे का अर्थ है कृष्ण। यह प्रयोग चमत्कार के साथ भावोपस्कार भी है। सूर की एक पंक्ति और देखिये, जो यमक का उदाहरण है—

(२) चली भवन मन हरि-हरि लीन्हौं।[१०१]

इस पंक्ति में प्रयुक्त प्रथम हरि शब्द का अर्थ कृष्ण तथा द्वितीय का हरण कर लेना या चुरा लेना होता है। सूर ने इस अलंकार को अनेक स्थानों पर सफलता से चित्रित किया है, जिसकी तुलना में जिनसेनाचार्य का प्रयोग सामान्य प्रतीत होता है।

(२) अनुप्रास अलंकार :–

वर्णों में साम्य को अनुप्रास अलंकार कहते हैं। सूरसागर तथा हरिवंशपुराण में इस अलंकार का सहज प्रयोग मिलता है जो भावों के उत्कर्ष में सहायक बन पड़ा है। हरिवंश के कुछ उदाहरण देखिये—

(क) छेकानुप्रास–

श्रीसनाथैः स्ततः सर्वैर्भूयते पूर्णमंगलैः।
मंगलस्य हि मांगल्या यात्रा मंगलपूर्विका॥[१०२]

(ख) वृत्त्यनुप्रास—

स्नेहोऽपत्यकृतोऽमीषु भवत्याः समभूदतः।
धर्मचारिषु सर्वेषु स्नेहः किमुत सूनुषु॥[१०३]

(ग) द्वीपेऽत्रैरावतक्षेत्रे पुरे विजयपूर्वके।
बन्धुषेणस्य भूपस्य बन्धुमत्याः सुताभवत्॥[१०४]

कवि शिरोमणि सूर ने भी अनुप्रास अलंकार का सुन्दरतापूर्ण चित्रण किया है। उनका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

झहरात झहरात (दवा) नल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अन्दोर वन, धरनि आकास चहुँपास छायौ।
बरत बन बाँस परहत कस काँस जरि उड़त है माँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झटपट लपट फूल फल चर-पटकि फटक लटलटकि द्रुम मन वायौ॥
अति आगिनि झार, भंभार धुंधार करि उचरि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात झहरात झहरात अतरात तरुमहा धरनी गिरायौ॥[१०५]

सूरसागर में प्रयुक्त अनुप्रास अलंकार हरिवंशपुराण की अपेक्षा अधिक सजीव बन गया है। उपर्युक्त पद के दावानल-वर्णन में ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो आँखों के सामने अग्नि फैलकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।

वक्रोक्ति :–

किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा श्लेष से यदि कोई अन्य अर्थ निकाला जाय तो उसे वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं। हरिवंशपुराण में इस अलंकार का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है परन्तु यह स्वल्प मात्रा में है। हरिवंशपुराण के वक्रोक्ति का एक उदाहरण देखिये—

सपदिमुक्तजलाम्बरपीलने स्फुटकटाक्षगुणेन विलासिना।
मधुरिपुस्थिरगौरवभूमिकामतुलजाम्बवतीं समनोदयत्॥
कृतककोपविकारकटाक्षिणी सललितभ्रु विलोक्य तु चक्षुषा।
विभुमुवाच वचः पथपण्डिता त्वरितजाम्बवती स्फुटिताधरा॥[१०६]

सूरसागर :–

महाकवि सूर ने उद्धव-गोपी संवाद में वक्रोति का सफल एवं सुन्दर प्रयोग किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों द्वारा ज्ञान मार्ग का खण्डन इसी अलंकार से होता है।

(१) बिलग जानि मानौ उधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी जे आवैं ते कारे॥

तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे कुटिल भँवारे।
कमलनैन को कौन चलावे, सबहिनि मैं मनियारे॥[१०७]

वक्रोक्ति-अलंकार के चित्रण में भी सूरसागर हरिवंशपुराण से अत्यधिक आगे है। सूर का यह विधान स्वाभाविक एवं भावप्रवण है जो काव्य को सरस, सजीव और रमणीय बनाने की पूर्ण क्षमता रखता है।

श्लेष-अलंकार :-

जहाँ श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थों को ध्वनित किया जाता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है। जिनसेनाचार्य ने इस अलंकार को भी प्रयुक्त किया है। यथा—

परैर्घटितमप्यतो विघटयन् पदार्थं झटित्युपेत्य
घटयन्पटुर्विघटितं समर्थक्रियः।
परं भुवनचक्षुरुज्ज्वलमनिद्रमभ्युदययौ
यथा जिनवचःपथो विधिरिवाऽथ वा भानुमान्॥[१०८]

सूरसागर में प्रयुक्त श्लेष अलंकार का एक उदाहरण देखिये—

लेहु गोरस-दान मोहन कहाँ रेह छपाउ।
उरनि तुम्हरै जाति नाहीं लेत दह्यो छड़ाइ॥[१०९]

सूर की इन पंक्तियों में "गोरस" शब्द श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ हैं दही और इन्द्रियों का आनन्द। इस श्लिष्ट प्रयोग से उक्ति का वैचित्र्य बढ़ गया है। प्रत्यक्षतः तो कोई गोपी कृष्ण को दही के लिए आमंत्रित कर रही है, किन्तु परोक्ष रूप से उसका भाव इन्द्रियों के आनन्द से ही है।

(५) वीप्सा-अलंकार :-

मनोभावों को प्रकट करने के लिए जहाँ शब्दों अथवा पदों पर विशेष बल दिया जाता है, उसे वीप्सा अलंकार कहते हैं। सूरसागर तथा हरिवंशपुराण में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

हरिवंशपुराण–

(क) विजयस्व महादेव! विजयस्व महेश्वर।
विजयस्व महाबाहो! विजयस्व महेक्षण॥[११०]

(ख) कामकरीन्द्रमृगेन्द्र नमस्ते क्रोधमहाहिविराज नमस्ते।
मानमहीधरवज्र नमस्ते लोभमहावनदाव नमस्ते॥
ईश्वरताधरधीर नमस्ते विष्णुतया युत देव नमस्ते।
अर्हदचिन्त्यपदेश नमस्ते ब्रह्मपदप्रतिबन्ध नमस्ते॥[१११]

सूरसागर में वीप्सा का उपयोग भाव के उच्छलन के सहज रूप में हुआ है। किन्तु अलंकरण के लिए वीप्सा का सचेष्ट प्रयोग नहीं है। जैसे—

(क) मुरि-मुरि चितवानि नंद गली।
बार-बार मोहन मुख कारन आवति फिर-फिर संग अली।[११२]

(ख) उमंगि-उमंगि प्रभु भुजा पसारत हरषि जसोमति अंकम भरनी।[११३]

(६) पुनरुक्ति अलंकार :–

वीप्सा में पुनरुक्ति होती है किन्तु शब्द केवल दो बार ही प्रयुक्त होता है, पुनरुक्ति प्रकाश में पुनरुक्ति अनेक बार होती है। पुनरुक्ति काव्य का एक दोष है जब पुनरुक्ति ही रुचिता का कारण बनती है तो अलंकार बन जाती है।[११४] इसके मनोरम उदाहरण दोनों ही कृतियों में यत्र-तत्र मिलते हैं। जैसे हरिवंशपुराण—

(क) चन्द्रश्चापि महाचन्द्रस्तथा चन्द्रधरश्रुतिः।
सिंहचन्द्रो हरिचन्द्रः श्रीचन्द्रः पूर्णचन्द्रकः॥
सुचन्द्रो बालचन्द्रश्च नवैते चन्द्रसप्रभाः।
बलाः प्रतिद्विषश्चान्ये नव श्रीहरिकण्ठकौ॥[११५]

(ख) कनत्कनकसंकाशः कनकः कनकप्रभः।
त्रयः कनकपूर्वाः स्युस्ते राजध्वजपुंगवाः॥[११६]

सूरसागर :–

सुन्दर स्याम, सखी सब सुन्दर, सुन्दर वेष धर गोपाल।
सुन्दर पथ, सुन्दर-गति आवन, सुन्दर मुरली शब्द रसाल॥
सुन्दर लोग, सफल ब्रज सुन्दर, सुन्दर हलधर सुन्दर भाल।
सुन्दर वचन बिलोकनि सुन्दर, सुन्दर गुन सुन्दर वनमाल॥
सुन्दर गोप, गाइ अति सुन्दर, सुन्दरि-गन करति विचार।
सूर स्याम संग सब सुन्दर, सुन्दर भक्त-हेत अवतार॥[११७]

हरिवंशपुराण के उपर्युक्त श्लोकों में "चन्द्र" तथा "कनक" शब्द की पुनरुक्ति है तो सूर के इस पद में "सुन्दर" शब्द की पुनरुक्ति का सौन्दर्य है। ये आवृत्तियाँ भाषा-सौष्ठव एवं भावोत्कर्ष में सहायक हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शब्दालंकार-योजना दोनों ग्रन्थों की भाव-राशि को समृद्ध करती है। हरिवंशपुराण की अपेक्षा सूरसागर के शब्दालंकार चमत्कारपूर्ण, भावोत्कर्ष सफल व सरस बन पड़े हैं।

(ख) अर्थालंकार :–

जो अलंकार अर्थ पर आश्रित होते हैं, उन्हें अर्थालंकार कहते हैं। काव्य में शब्दालंकारों

की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व माना जाता है। अग्निपुराणकार ने तो सरस्वती को भी अर्थालंकार के अभाव में विधवा घोषित किया है।[११८] हो सकता है, यह अत्युक्ति हो, तथापि काव्य में अर्थालंकारों के अतिशय महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूरसागर तथा हरिवंशपुराण दोनों ही काव्य-ग्रन्थों में अर्थालंकारों की विपुलता है। इनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सादृश्यमूलक का प्रमाण तो सर्वाधिक है।

(१) उपमालंकार :–

जहाँ भिन्न-भिन्न वस्तुओं का साधारण धर्मों द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वहाँ उपमालंकार होता है। हरिवंशपुराण तो मानो उपमा का सागर है। कवि ने अनेक उपमाओं का सहारा लेकर इस ग्रन्थ की काव्य-शोभा बढ़ाई है। जिनसेनाचार्य ने एक से एक बढ़कर उपमाएँ दी हैं, जिनके उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु हम यहाँ कुछ संकेत ही करेंगे। सहृदय जनों को उपमाओं का वास्तविक आनन्द तो इस कृति को पढ़ने पर ही मिल सकेगा। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) मृदुतरंगघने शयनस्थले मृदितपुष्पचये शयितोत्थितः।
सह बभौ प्रियया सुमुखो यथा समदहंसयुवा सिकतास्थले॥[११९]
(ख) स्वतनुवृद्धिमतश्च शनैः शनैः सह कलाभिरिदं च दिने दिने।
शशिवपुर्यदियाय यथा यथा स्वजनमुज्जलधिश्च तथा तथा॥ (१५/३१)

सूरसागर :–

(क) पिय तेरे बस यौं री माई।
ज्यौं सँगहि संग छाह देह-बस कहयौ नहिं जाई॥ (पद सं० २६२७)
(ख) चुकिर कोमल कुटिलाराजत रुचिर विमल कपोल।
नील नलिन सुगंध ज्यौं रस चकित मधुकर लोला॥ (पद सं० २८३८)

तौलनिक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों ग्रन्थों में यह अलंकार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इस अलंकार की प्रस्तुति में सूरसागर में जितनी सरलता एवं स्वाभाविकता है वैसी हरिवंशपुराण में नहीं। हरिवंशपुराण की भाषा संस्कृत होने के कारण भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह प्रस्तुतिकरण दुरूह लग रहा है जबकि सूरसागर में मार्मिक भावाभिव्यंजना है।

(२) रूपक :–

उपमेय और उपमान को जहाँ एक-रूप कह दिया जाए, वहाँ रूपक अलंकार होता है। दोनों कृतिकारों ने इस अलंकार का सफल प्रयोग किया है। कहीं-कहीं यह अलंकार अर्थ की दृष्टि से जटिल व नीरस बन गया है परन्तु कवि की कल्पना-विस्तार क्षमता का यह सुन्दर परिचायक है। दोनों ग्रन्थों में प्रयुक्त रूपक अलंकार के कुछ उदाहरण दृष्टव्य है—

हरिवंशपुराण :–

(क) अथ विरुदवलिज्यारूढबाणासनायां कलरवकलहंसीशंखशय्याश्रितायाम्।
रिपुशिखिमदपक्षक्षोदपक्षोदयायां शरदि हरिनवश्रीलीलयाध्यासितायाम्॥
(३६/१)

(ख) विलंघतक्ष्माभृतमग्रशैलगं मृगांकलेखांकुशदंष्ट्रमायतम्।
दिगन्तविश्रान्तनिनादमाविशत्शरत्पयोदाभमिभारिमैक्षत॥ (३७/८)

सूरसागर :–

(क) अब कैं राखि लेहु भगवान्।
हौं अनाथ बैठयौ द्रुम-डरियौ पारधि साधे बान॥ (पद सं० ९७)

(ख) सखी इन नैननि तै धन हरि।
बिनहीं रितु बरसत निसि बारस सदामलिन दोउ तारे॥ (पद सं० ३८४३)

तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो दोनों काव्य-ग्रन्थ इस अलंकार से भरे पड़े हैं। दोनों ही कवियों ने अनेक रूपकों को प्रस्तुत कर अपनी कल्पना के द्वारा साधारण तथा असाधारण प्रत्येक स्थल की सामग्री एकत्रित की है। परन्तु उनका वक्र-प्रयोग असंगत प्रतीत होता है। हरिवंशपुराण में अपेक्षाकृत कुछ ऐसे स्थल अधिक मिलते हैं जिनमें कल्पना की अतिरंजना रसोत्कर्ष में सहायक नहीं होती।

उत्प्रेक्षालंकार :–

जहाँ उपमान में ही उपमेय की सम्भावना या कल्पना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यह अलंकार कवि की मार्मिक अभिव्यंजना एवं काव्य-शक्ति का परिचायक है। इस अलंकार के निरूपण में दोनों कवियों को पर्याप्त सफलता मिली है। कुछ उदाहरण देखिये—

हरिवंशपुराण :–

(क) प्रमदमुरुमुवाह श्रीमुखाम्भोजलक्ष्मीं
हरिरिव गुरुभूभृद्भूरिरक्षासनाथः॥ (३६/२५)

(ख) विपाण्डरपयोधरां दिवमखण्डचन्द्राननां निशि,
स्फुरिततारकानिकरमण्डनां हारिणीम्॥ (३८/११)

सूरसागर :–

(क) प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की, सोभा कहौं बिचारि।
मनौ रह्यौ पनग पीवन कौं ससि मुख सुधा निहारी॥
सुभग सुदेस सीर सेदुँर कौं देखि रही पचिहारी।
मानौ अरुन किरन दिनकर की, पसरी तिमिर बिडारी॥ (पद सं० २७३२)

(ख) हरि कर राजत माखन-रोटी।
मनु वारिज ससि बैर जरनि, जिय, गह्यो सुधा ससु धौटी॥
मेली सजि मुख-अम्बुज भीतर उपजी उपमा मोटी।
मनु बारह भूधर-सह-पुहुमी धरी दसन की ओटी॥ (पद सं० ७८२)

इस प्रकार दोनों कवियों ने सम्यक् रूप से रूप, अंग, चेष्टा आदि के वर्णन में उत्प्रेक्षाओं का उल्लेख किया है। सूरसागर में अनेक उत्प्रेक्षण साधन दिखाई देते हैं, जो कवि की मौलिक उद्भावना पर आधारित हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में जिनसेन ने मुख को खिले-कमल तथा पूर्ण-चन्द्र की उत्प्रेक्षा प्रदान की है जबकि सूर ने श्री कृष्ण के वेणी की नाग से एवं उनकी कुलरी (टोपी) की बादल के ऊपर इन्द्रधनुष से उत्प्रेक्षा दी है। यहाँ जिनसेन की अपेक्षा सूरदास की कल्पना अति सूक्ष्म एवं ऊहात्मक बनी है किन्तु जिनसेन की कल्पना भी न्यून नहीं है। इतना होने पर भी सूर की वह पौराणिक उत्प्रेक्षा अद्वितीय है जिसमें माखन-रोटी आरोगते कृष्ण को डाढ़ पर पृथ्वी धारण किए हुए भगवान् वराह से उत्प्रेक्षित किया गया है।

(५) अतिशयोक्ति :-

किसी वस्तु का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। हरिवंशपुराण में निरूपित अतिशयोक्ति के कुछ उदाहरण देखिये—

(क) विलम्बितसहस्रार्कयुगपत्पतनोदयैः,
नमतान्नन्दितालोकनामोन्नामैः पदे पदे॥
सुराणां भूतल स्पर्शिमकुटैर्बहुकोटिभिः।
भूः पुरः सोपहारेव शोभतोऽम्बुजकोटिभिः॥ (५९/२४-२५)

(ख) सुरेभवदनत्रिके दशगुणे द्वयोश्चाष्ट ते रदाः
प्रतिरदं सरः सरसी पद्मिनी तत्र च।
भवन्ति मुखसंख्यया सहितपद्मपत्राण्यपि
प्रशस्तरसभाविता प्रतिदलंनटत्यप्सराः॥ (३८/४३)

इन श्लोकों में जिनसेनाचार्य की अतिशयोक्ति देखते ही बनती है। प्रथम श्लोक में उन्होंने करोड़ों मुकुटों का प्रकाश, हजारों सूर्यों के समान बतलाया है। जबकि द्वितीय श्लोक में ऐरावत हाथी का वर्णन है कि उसके बत्तीस मुख थे व प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत थे। प्रत्येक दाँत पर एक-एक सरोवर एवं प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी। एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस पत्र थे तथा प्रत्येक पत्र पर उत्तम-रस से भरी हुई एक-एक अप्सरा नृत्य कर रही थी। सूरसागर में भी अतिशयोक्ति-अलंकार प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुआ है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

(क) मुरली सुनत अचल चले।
थके चर जल झरत पाहन विकल पृच्छ फलै॥
पय स्त्रवन गोधननि थन है प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात॥ (पद सं० १६८६)

(६) अन्योक्ति अलंकार :–

जहाँ उपमेय का वर्णन करने के लिए उपमान का ही वर्णन किया जाता है परन्तु लक्ष्य उपमेय का ही होता है वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है। दोनों ग्रन्थों का एक-एक उदाहरण देखिये—

हरिवंशपुराण :–

अलंकरिष्यत्यकलंकधीः कुलं जगत्त्रयं चात्र जगद्गुरुर्गुणैः।
गवां कुलं वा वृषभो वृषेक्षणाद्वृषेक्षणः स्कन्धधृतिः सुतस्तद॥
महावलेपानखिलाननेकपान् करिष्यते सिंहवदुज्झितोन्मदान्।(३७/२८-२९)

जिनसेनाचार्य के इस वर्णन में ''हाथी'' अनेक जीवों की रक्षा तथा जगत के इच्छानुरूप अधिपत्य का परिचायक है। इसी प्रकार बैल निर्मल बुद्धि, उज्ज्वल नेत्र तथा उन्नत कंधों का बोधक माना गया है।

सूरसागर :–

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़ित तापर सिंह करत अनुराग॥
हरिवर सरवर सरवर गिरिवर फूले कंज पराग।
✣ ✣ ✣
छंजन, धनुष चन्द्रमा उपर ता उपर इक मनिधर नाग॥ (पद सं० २७२८)

इस पद में ''बाग'' का वर्णन किया गया है कि कमल पल्लव खिल रहे हैं। गज, सिंह आदि पशु तथा कपोत पिक खंजन आदि पक्षी विहार कर रहे हैं परन्तु यह बाग स्वयं ''राधिका'' का परिचायक है। कमल युगल राधिका के पैर गज नितम्ब, सिंह कटि का द्योतक है। इस प्रकार राधा के अंग प्रत्यंग सौन्दर्य वर्णन में यहाँ कमलादिक उपमानों को प्रस्तुत किया गया है।

दोनों कृतियों के अनेक स्थलों पर अन्योक्ति के ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं जो अप्रस्तुत विधान में प्रस्तुत किये गये हैं। तौलनीय दृष्टिकोण से सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण में यह अलंकार सविशेष प्रयुक्त हुआ है।

संदेह :–

किसी एक वस्तु को देखकर उसके सम्बन्ध में जहाँ संदेह बना रहता है कि वह कौनसी वस्तु है, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। दोनों कवियों ने इस अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया है। एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

हरिवंशपुराण :–

बहुत्रिदशपङ्क्तिभिः प्रमदपूरिताभिर्नभः
स्फुरन्मणिगणोज्ज्वलत्कलशपाणिभिः सर्वतः।
सुमेरुगिरिपङ्क्तिमाम्बुनिधिमध्यमध्यासितं
रराज बहुरज्जुभिस्तदिव नीयमानं तदा॥ (३८/४९)

सूरसागर :–

गोपि तजि लाज संग स्याम-रंग भूलीं।
पूरन मुख चंद देखि, नैन कोई फूलीं॥
कै धौं नव जलद स्वाति चातक मन लाए।
किधौं बारि बूंद सीप हृदय हरष पाए॥ (पद सं० १२९०)

हरिवंशपुराण की अपेक्षा सूरसागर में सन्देह अलंकार का अत्यधिक सफल प्रयोग हुआ है। महाकवि सूर ने इसे बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त किया है जो प्रभावोत्पादकता के साथ भाव-निष्पत्ति में सहायक है।

(८) अनन्वय अलंकार :–

इस अलंकार में अन्य उपमान का सम्बन्ध नहीं होता वरन् उपमेय ही उपमान होता है। उपमा-अलंकार की भाँति इस अलंकार का भी दोनों कवियों ने भाव-व्यंजना में प्रयोग किया है। यथा—

हरिवंशपुराण :–

अनेकरथचक्रचूर्णि विजिगीषुतेजोहरं
निरीक्ष्य शिशुपालघाति चरितं हरेराहवे।
वपुः स्वमुपसंहरन् करसहस्रतीक्ष्णोऽप्यरं
गतोऽस्तगिरिगह्वरं ग्रहणशंकयेवांशुमान्॥ (४२/९८)

सूरसागर :–

नख-सिख शोभा मोपे बरनी नहि जाइ।
तुम सो तुम ही राधा स्यामहिं मन माइ॥ (पद सं० ३४४६)

प्रतीप अलंकार :–

प्रतीप का अर्थ है—विपरीत या प्रतिकूल। इस अलंकार में उपमेय से उपमान की हीनता दिखाई जाती है। दोनों काव्य-ग्रन्थों का एक-एक उदाहरण देखिये—

हरिवंशपुराण :–

पाणिपादमुखाम्भोजजंघोरुजघनश्रिया।
रोमराजिभुजानाभिकुचोदरतनुत्विषा॥
भ्रूकर्णाक्षिशिरःकण्ठघोणाधरपुटाभया।
अभिभूयोपमाः सर्वाः स्थितां जगति तां पराम्॥ (४२/३७-३८)

सूरसागर :–

देखिरी हरि के चंचल तारे।
कमल मीन कौं कह एती छबि खंजन दून जात अनुहारे॥
वह लाखि निमिष नवत मुरलीपर कर मुख नैन भए इक चारे॥

(पद सं० २४१५)

प्रतीप अलंकार की प्रस्तुति में भी सूर जिनसेनाचार्य से ज्यादा स्वाभाविक लग रहे हैं। जिनसेनाचार्य के उपर्युक्त श्लोक में रुक्मिणी का अद्‌भुत रूप-सौन्दर्य वर्णित किया है जिसमें संसार की समस्त उपमाओं को तिरस्कृत बताया गया है, जबकि सूर के इस पद में श्री कृष्ण के नैन-कमल, मीन-नयन से ज्यादा सुन्दर बताये गये हैं।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त भी दोनों ग्रन्थों में तद्‌गुण भ्रांतिमान, स्वभावोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, मानवीयकरण, दृष्टांत, विरोधाभास तथा व्याजोक्ति इत्यादि अलंकार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

अलंकार-विधान का उपर्युक्त विवेचन तो मात्र इन कृतियों में निरूपित कतिपय अलंकारों के दृष्टान्तों तक ही सीमित है।

दोनों कवियों की अलंकार-योजना विशाल एवं समृद्ध रही है। कहीं-कहीं पर इनका प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन लिए परिलक्षित होता है परन्तु अधिकांशतः इनके प्रयोग सहज भावों को उत्कर्ष करने वाले हैं। महाकवि सूर एवं जिनसेनाचार्य दोनों अलंकारों के प्रयोग में जागरूक रहे हैं। तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो दोनों ही ग्रन्थों का अलंकार सौन्दर्य दर्शनीय है किन्तु ग्रन्थों की पृथक् भाषा तथा काव्य पद्धति में कुछ भेद होने के कारण अलंकार-योजना में भी पर्याप्त अन्तर है। हरिवंशपुराण ने अपने ग्रन्थ को संस्कृत साहित्य का एक प्रौढ़ एवं आकर्षक ग्रन्थ बनाने के लिए लालायित होकर जहाँ अलंकारों के विस्तृत उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वहाँ सूरसागर के लोक प्रसिद्ध कवि सूर ने ब्रज भाषा के इस ग्रन्थ में अलंकारों का अत्यधिक स्वाभाविक प्रयोग कर विशेष-ख्याति प्राप्त की है। सूर के अलंकार जिनसेनाचार्य की अपेक्षा भावों की प्रेषणीयता को

सशक्त बनाने में विशेष सिद्ध हुए हैं। किसी कवि को अधरोत्तरता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों की काव्य भाषा, काव्य प्रणाली, काव्य परिस्थितियाँ तथा मनोवृत्ति पृथक्-पृथक् रही है, जिससे अलंकार-योजना में कहीं प्रौढ़ता तो कहीं सरलता का आश्रय लिया जा सकता है।

वर्णन-कौशल :-

"लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म.....।" काव्य के लिए वर्णन आवश्यक है। वर्णनों में कवि की निपुणता का ज्ञान होता है जो लोकशास्त्र एवं काव्यादि से प्राप्त होती है। काव्य में विशेषत: वर्णनात्मक महाकाव्य में वर्णनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ हम हरिवंशपुराण तथा सूरसागर में वर्णनों की स्वाभाविकता रसमयता एवं मनोहारिता पर विचार करेंगे।

हरिवंशपुराण को आदि से लेकर अंत तक देखने पर वर्णनों का प्राचुर्य स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो जाता है। जिनसेनाचार्य के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनके हृदय में से वर्णनों का निर्झर बह रहा है। हरिवंशपुराण एक विशालकाय काव्य है तथा सूरसागर एक गीतिकाव्य; अत: दोनों ग्रन्थों के वर्णन कौशल में पर्याप्त अन्तर रहा है। दोनों ही कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में विविध प्रकार के मनोहारी वर्णन किये हैं परन्तु उन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन करना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

हरिवंशपुराण के कुछ विशिष्ट वर्णन :-

हरिवंशपुराण के विविध वर्णनों में कुछ तो बहुत ही चित्ताकर्षक है। यहाँ हम कतिपय वर्णनों से आचार्य जिनसेन के वर्णन कौशल का परिचय प्राप्त करेंगे। वर्णनों की कसौटी के लिए हम निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त वर्णनों को लेंगे—

(क) नगर-वर्णन (ख) ऋतु-वर्णन (ग) सौन्दर्य-वर्णन (घ) युद्ध-वर्णन

हरिवंशपुराण में नगर-नगरियों के अनेक सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं जिसका उल्लेख पूर्व में ही कर दिया है। यहाँ केवल "द्वारिका" नगरी का शोभा-वर्णन उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

वापीपुष्करिणीदीर्घदीर्घिकासरसीह्रदैः।
पद्मोत्पलादिसंछन्नैरक्षया स्वादुवारिभिः॥
भास्वत्कल्पलतारूढकल्पवृक्षोपशोभितैः।
नागवल्लीलवंगादिपूगादीनां च सद्वनैः॥
प्रासादाः संगतास्तस्यां हेमप्राकारगोपुराः।
सर्वत्र सुखदा रेजुर्विचित्रमणिकुट्टिमाः॥ (४१/२१-२३)

अर्थात् वह नगरी बारह योजन लम्बी, नौ योजन चौड़ी वज्रमय कोट के घेरा से

एवं समुद्ररूपी परिखा से घिरी हुई थी। रत्न एवं स्वर्ण से निर्मित अनेक खण्डों के बड़े-बड़े महल में आकाश को रोकती हुई वह द्वारिकापुरी आकाश से च्युत अलकापुरी के समान सुशोभित हो रही थी। कमल तथा नीलोत्पलों आदि से आच्छादित स्वादिष्ट जल से युक्त वापी, पुष्करिणी बड़ी-बड़ी वापिकाएँ, सरोवर और ह्रदों से युक्त थी। देदीप्यमान कल्पलताओं से आलिंगित कल्पवृक्षों के समान सुशोभित पान-लौंग तथा सुपारी आदि के उत्तमोत्तम वनों से सहित थी। वहाँ सुवर्णमय प्राकार और गोपुरों से युक्त बड़े-बड़े महल विद्यमान थे तथा सभी स्थानों पर सुख देने वाले रंग-बिरंगे मणिमय फर्श शोभायमान थे।

"ऋतु-वर्णन" की दृष्टि से हरिवंशपुराण के एक वसन्त-वर्णन तथा शरद्-वर्णन को लिया जा सकता है—

वसन्त-वर्णन :–

मधुलिहां मधुपानजुषां कुलैः कुरवका वकुलाः सुभगाः कृताः।
द्विपदषट्पदभेदवतां रवैः श्रयति वाश्रयं आश्रयिणो गुणान्॥
करिकटेष्वयुगच्छदगन्धिषु स्थितिमपास्य मदभ्रमराः श्रिताः।
ससहकारसुरद्रुममञ्जरीरभिनवासु रतिर्महती भवेत्॥ (५५/३७-३८)

अर्थात् — अनन्तर एक समय वसन्तऋतु के आगमन पर समस्त वन-उपवन फूल रहे थे। वासन्ती फूलों की पराग से सुगन्धित श्रम को दूर करने वाली ठण्डी दक्षिण की वायु सब दिशाओं में बह रही थी। आम्रलताओं के रस का आस्वादन करने वाली सुन्दर कण्ठ से मनुष्यों का मन-हरण करने में अत्यन्त दक्ष और काम को उत्तेजित करने में निपुण मधुरभाषिणी कोकिलाएँ उस पर्वत पर चारों ओर कुहू-कुहू कर रही थी। मधुपान करने में लीन भ्रमरों के समूह से कुरवक और मौलिश्री के वृक्ष तथा द्विपद अत्यन्त मनोहारी हो गये थे।

फूलों के भार को धारण करने वाले वृक्ष अत्यन्त नम्रीभूत हो गये थे। फूल चुनते समय वृक्षों की ऊँची शाखाओं को स्त्रियाँ किसी तरह अपने हाथ से पकड़कर नीचे की ओर खींच रही थी, उससे वे नायक के समान स्त्री द्वारा केश खींचने के सुख का अनुभव कर रहे थे।

शरद्-ऋतु :–

अन्तर्दधे धवल गोकुलघोषघोषैर्मेघावली लघुनिधूतरवेव धूम्रा।
मेघावरोधपरिमुक्तदिशासु सूर्यः पादप्रसारण सुखं श्रितवांश्चिरेण॥
रोधोनितम्बगलदमबुविचित्रवस्त्राः सावर्त्तनाभिसुभगाश्चलमीननेत्राः।
फेनावलीवलयवीचिविलासवाहाः क्रीडासु जह्नुरबलासरितोऽस्य चित्तम्॥

अर्थात् — अथानन्तर किसी समय शरद्-ऋतु आयी, सो वह ऐसी जान पड़ती

थी मानो वर्षा रूपी स्त्री के चले जाने पर एक दूसरी अपनी ही स्त्री आयी हो अर्थात् वह शरद् ऋतु किसी स्त्री के समान जान पड़ती थी। क्योंकि जिस प्रकार स्त्री कमल के समान सुख से युक्त होती है, उसी प्रकार वह शरद् ऋतु भी कमल रूपी मुख से सहित थी, जिस प्रकार स्त्री लाल-लाल अधरोष्ठ से युक्त होती है, उसी प्रकार वह शरद्-ऋतु भी बन्धूक के लाल-लाल फूल रूपी अधरोष्ठ से युक्त थी। जिस प्रकार स्त्री हाथ में चामर लिए रहती है, उसी प्रकार वह शरद्-ऋतु भी काश के फूल रूपी स्वच्छ चामर लिये थी और जिस प्रकार स्त्री उज्ज्वल वस्त्रों से युक्त होती है, उसी प्रकार वह शरद् भी उज्ज्वल मेघ रूपी वस्त्रों से युक्त थी। शरद्-ऋतु रूपी स्त्री के तट रूपी नितम्ब से जलरूपी चित्र-विचित्र वस्त्र नीचे खिसक गये थे, जो भँवररूपी नाभि से सुन्दर थी, मीनरूपी चंचल नेत्रों से युक्त थी और फेनावलीरूपी चूड़ियों से युक्त तरंगरूपी चंचल भुजाओं से सहित थी, ऐसी नदीरूपी स्त्रियाँ क्रीड़ाओं के समय इनका हृदय हरने लगी।

सौन्दर्य वर्णन में हरिवंशपुराण में अनेक सौन्दर्यों का वर्णन हुआ है। स्त्री-सौन्दर्य वर्णन में तो कवि ने बहुज्ञता प्राप्त की है। यहाँ हम श्री कृष्ण की छोटी बहिन का नख-शिख सौन्दर्य वर्णन उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं—

अथ मधुसूदनावरजया वरया जगतामवितथकन्यया शशिविशुद्धयशोधरया।
प्रथितसुदुर्मप्रथमयौवनभूरिभरः प्रकटमभारि हारिगुणभूषणभूषितया॥
नखमणिमण्डलेन्दुललितांगुलिपल्लवयोरकृतकरक्तताहसितभास्वदलक्तकयोः।
मृदुपद्मयोः प्रपदभागसमोन्नतयोर्जगति यदीययोरुपमयापगतं त्रपया॥
दृढगुणगूढगुल्फनिजजानुमनोहरयोः प्रतिपदमानुपूर्व्यपरिवृत्तविलोमशयोः।
निरुपमजंघयोर्जघनभूरिभरक्षमयोः सविरसमल्लयोर्न हि यदीयकयोरुपम्॥

अर्थात् — अथानन्तर कृष्ण की छोटी बहिन जगत में उत्तम चन्द्रमा के समान निर्मल यश को धारण करने वाली एवं मनोहर गुण रूपी आभूषणों से भूषित यशोदा की पुत्री ने अतिशय प्रसिद्ध प्रथम यौवन को धारण किया। जिनके अंगुलिरूपी पल्लव श्रेष्ठ नखरूपी चन्द्रमण्डल से सुशोभित थे, जिन्होंने अपनी स्वाभाविक ललाई से देदीप्यमान महावर की हँसी की थी, जो अग्र भाग में समान रूप से ऊँचे उठे हुए थे, ऐसे उसके कोमल चरण-कमलों की उपमा उस समय लज्जा से ही मानो संसार में कहीं चली गई थी। उसके कोमल चरण-कमल अनुपम थे। जो अत्यन्त मजबूत एवं गूढ़ गांठों और घुटनों से मनोहर थी, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गोलाई से सुशोभित एवं रोमरहित थी, नितम्बों का बहुत भारी भार धारण करने में समर्थ थी और जो परस्पर के प्रतिस्पर्धी मल्ल के समान जान पड़ती थी, ऐसी उसकी अनुपम जंघाओं की उस समय कहीं उपमा नहीं रही। उसके दोनों उरू अत्यन्त कोमल, गोल और शुभ्र थे, जो हाथी की सूंड और गोल कदली

की सुकुमारता को उल्लंघन कर विद्यमान थे। कलहंस के समान सुन्दर चाल से सुशोभित उस कन्या की स्थूल जघनस्थली अनेक रसों से परिपूर्ण वर्ण वाले कुलाचलों से उत्पन्न स्त्रियों के लिए हर्ष उत्पन्न करने वाली पुण्यरूपी, नदी की उस पुलिन भूमि-तट भूमि के समान सुशोभित होने लगी, जो काम की अभूमि-अगोचर तथा नितम्बरूपी सुन्दर तटों से युक्त थी। शिरीष के फूल के समान कोमल और उत्तम कंधों युक्त कोमल शंख के समान कंठ, ठुड्डी, अधरोष्ठरूपी बिम्बफल, प्रकृष्ट हास्य युक्त श्वेत कपोल कुटिल भौंहे, ललाट तट एवं काले तथा विशाल नेत्रों से सहित वह चन्द्रमुखी कन्या अत्यधिक सुशोभित हो रही थी।

उपर्युक्त विवेचनानुसार हरिवंशपुराण में युद्ध वर्णन, स्थल वर्णन, ऋतु वर्णन, सौन्दर्य वर्णन, शृंगार वर्णन तथा युद्ध वर्णन इत्यादि के बड़े ही सजीव, मनोरम तथा आकर्षक चित्र मिलते हैं। वर्णन-कौशल की दृष्टि से जिनसेनाचार्य को पूर्ण सफलता मिली है।

(ख) सूरसागर का वर्णन कौशल :–

"सौन्दर्योपासना" मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, यही कारण है कि अनादि काल से उसकी यह उपासना अनवरत गति से चलती आ रही है। काव्य जगत में मानव के समस्त कार्य-व्यापारों में चाहे वे आन्तरिक हो या बाह्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने का सफल प्रयास किया गया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सूर की काव्य-प्रतिभा असीम है। जिस विषय को इन्होंने अपना प्रतिपाद्य बनाया, उसे उन्होंने अत्यन्त ही प्रौढ़ता प्रदान की है। वैसे उन्होंने सीमित सौन्दर्य को ही अपने काव्य का विषय बनाया है जिसमें श्री कृष्ण व राधा का शारीरिक सौन्दर्य प्रमुख है। इस वर्णन में कृष्ण की प्रायः समस्त लीलाओं की रंगस्थली प्रकृति भी मनोरम रूप से चित्रित हुई है। प्रकृति सौन्दर्य वर्णन में सूर ने न केवल रम्य चित्र ही प्रस्तुत किये हैं वरन् कवि की भावानुभूति को भी अधिक सम्प्रेषणीय बनाया है। प्रभात, रात्रि, सन्ध्या, वृन्दावन, गोकुल, यमुना, वर्षा ऋतु, वसन्त ऋतु के चित्रण भी अत्यन्त सजीव हो गये हैं।

सूर के वर्णन कौशल से हिन्दी साहित्य के सहृदय पाठक परिचित हैं। अनेक अनुसंधानकर्त्ताओं ने इस विषय पर गहन एवं विशद चर्चा की है। परन्तु उन सबका वर्णन करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सूरसागर के वर्णन बड़े ही विलक्षण एवं मनभावन हैं। वर्णन-कौशल में सूर अत्यन्त सजग एवं भाव-प्रवण है। इनके वर्णनों में पारम्परिक उपमानों का प्रयोग होने के उपरान्त भी कवि की विलक्षण प्रतिभा एवं सशक्त कल्पना शक्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। सूर के कुछ वर्णन उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं—

श्री कृष्ण का बाल सौन्दर्य :–

बरनौ बाल-वेष मुरारि।
चकित जित-तित अमरमुनि गन नंदलाल निहारी।
केस सिर बिन बचन के चहुँ दिसा छिटके झारि।
सीर पर धरि जटा मनु सिस-रूप कियो त्रिपुरारि॥
सदन रज तन स्याम सोभित सुभग इहिं अनुहारि।
मनहुं अंग बिभूति राजित संभु सो मधुहारि॥ (पद सं० ७८७)

राधा का यौवन-सौन्दर्य :–

चंपक कनक कलेवर की दुति, ससिन बदन समतारि।
खंजरीट मृग मीन की गुरुता, नैननि सबै निवारी॥
मृग नृप खीन सुभग कटि राजित जंध जुगल रंभा री।
अरुन रुचिर जु बिड्रल रस सम चरन तली ललितारि॥ (पद सं० १८१५)

प्रकृति सौन्दर्य-वर्षा ऋतु वर्णन :–

सीतल बूँद पवन पूरवाई।
जहाँ तहाँ तै उमड़ि घुमडि घन कारी घटा चहूं दिसि धाई॥
भींजत देखी राधा माधव लै कारी कामरी उढ़ाई।
अति जल भीजिं चीरकर टपकत ओर सबे टपकत अम्बराई॥

(पद सं० २६०८)

अन्त में सूर के वर्णन कौशल के बारे में कहा जा सकता है कि कवि ने मानवीय सौन्दर्य एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के जो विविध चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे उनके काव्य प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सूरसागर का वर्ण्य-विषय सीमित रहा है अत: इसमें प्रबन्ध काव्य जैसे विविध वर्णनों का समावेश नहीं हो सकता। परन्तु सूर ने जिसका भी वर्णन किया है, उसे अति मोहक एवं भावोद्दीपक स्वरूप प्रदान किया है।

निष्कर्ष :–

हरिवंशपुराण और सूरसागर में जो विविध वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, वे कृतिकारों की संवेदनशीलता, अद्भुत-कल्पना, कुशलता, भाव-सम्पन्नता, सौन्दर्यप्रियता एवं प्रकृति प्रेक्षणता के परिचायक हैं। आचार्य जिनसेन के पास प्रबन्ध महाकाव्य के चित्रण की विस्तृत भाव-भूमि होने के कारण उनके वर्णन विशदता को प्राप्त कर गये हैं जबकि सूरसागर में वर्णनों की विशालता के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था।

परन्तु सूर ने जिस क्षेत्र में झाँका है तथा उसका चित्रण किया है, वह गहनता एवं मार्मिकता को प्राप्त कर गया है। युद्ध वर्णनों में सूर का मन नहीं रमा है जबकि जिनसेनाचार्य

ने इसके सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। पुराणकार ने अस्त्र-शस्त्रों के नाम, वीरों के नाम व्यूह-रचना इत्यादि का भी वर्णन कर युद्धों का रोमांचकारी निरूपण उपस्थित किया है। सूरसागर के वर्णन हमें आलंकारिक होते हुए भी स्वाभाविक सहज व सरस जान पड़ते हैं जबकि हरिवंशपुराण में बिम्बोत्पादक वर्णनों की अधिकता होने के कारण वे आलंकारिक प्रतीत होते हैं। संक्षेप में हरिवंशपुराण के वर्णन एक ही वस्तु को बारम्बार अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करने वाले आलंकारिक एवं स्वच्छन्द हैं वहाँ सूरसागर के वर्णन स्वाभाविक, सांकेतिक व्यंजनापूर्ण, सरल चित्रमय एवं उदात्त हैं।

हरिवंशपुराण और सूरसागर का काव्यरूप :-

प्रबन्धात्मकता के आधार पर काव्य के दो रूप होते हैं—प्रबन्ध काव्य एवं मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य में किसी कथा का बन्ध होता है तथा मुक्तक काव्य में यह बन्ध नहीं होता, इसलिए उनके पदों में पूर्वापर-सम्बन्ध की निरपेक्षता रहती है। प्रबन्ध काव्य के दो भेद होते हैं—महाकाव्य एवं खण्डकाव्य। यहाँ हम दोनों आलोच्य कृतियों के काव्यरूप को काव्य-शास्त्रीय मापदण्डों के अनुसार देखेंगे।

हरिवंशपुराण :-

जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण प्रबन्धात्मक स्वरूपानुसार पौराणिक महाकाव्य है। हिन्दी साहित्य-कोश में महाकाव्य के निम्न शैलियों का विवरण मिलता है—

(१) शास्त्रीय (२) रोमांसिक (३) ऐतिहासिक (४) पौराणिक (५) रूपक कथात्मक (६) नाटकीय (७) प्रगीतात्मक (८) मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक।

जिस प्रकार महाकाव्य पौराणिक शैली में होते हैं, उसी प्रकार चरितकाव्य भी पौराणिक शैली में पाये जाते हैं।

संस्कृत में पौराणिक काव्यों की परम्परा वाल्मीकि रामायण से मानी जाती है। श्रीमद् भागवतपुराण भी पौराणिक महाकाव्य है। ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में पौराणिक काव्यों की रचना अधिक हुई है। अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत आदि भाषाओं में इन काव्यों की बाढ़ सी आ गई है।

संस्कृत पौराणिक काव्यों की सामान्य विशेषताएँ निम्न प्रकार से है—

(१) संस्कृत पौराणिक काव्यों में धार्मिकता और काव्यात्मकता का सामंजस्य होता है। एक ओर तो उनमें धर्म प्रचार की भावना गूढ़ रहती है तथा दूसरी ओर ऊँची ऊँची काव्य प्रतिभा के प्रदर्शन की।

(२) इन काव्यों का प्रारम्भ प्राय: वक्ता श्रोता के वार्तालाप से होता है।

(३) इन काव्यों का प्रधान रस शान्त होता है तथा अंग रूप वीर शृंगार रस भी सर्वाधिक

प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि युद्ध एवं विलास के बाद में पात्रों के वैराग्य का वर्णन होता है। इसके अलावा भी रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति समाहित होती है।

(४) पौराणिक काव्यों में आधिकारिक कथन के अतिरिक्त प्रासंगिक कथाएँ भी पर्याप्त रूप से निबद्ध होती है। आधिकारिक कथा में किसी अवतार या तीर्थंकर का चरित्र निरूपित होता है। प्रासंगिक कथाओं को उपाख्यान कहा जाता है।

(५) इन काव्यों में अलौकिक, अतिप्राकृत तथा अतिमानवीय शक्तियों, कार्यों तथा वस्तुओं का समावेश रहता है।

(६) इन काव्यों में अपने धर्म की अभिधा और व्यंजना से प्रशंसा एवं पर धर्म की गर्हा होती है अतः उपदेशात्मक प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है।

(७) इन काव्यों में प्रायः अनुष्टप् छन्द की प्रधानता होती है।

(८) कथा संचालन के लिए "अथ" तथा "ततः" पदों की भरमार रहती है।

(९) कथा-कथन के पूर्व अनुक्रमणिका दी जाती है।

(१०) काव्य के माहात्म्य कथन तथा अपने धर्मकथन के प्रति श्रोता को बद्धपरिकर करने की प्रवृत्ति का इसमें स्पष्ट परिलक्षण होता है।

(११) सृष्टि के विकास-विनाश, वंशोत्पत्ति तथा वंशावलियों का वर्णन रहता है।

(१२) अनेक स्तुतियों की योजना रहती है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी महाकाव्य विशालकाय वर्णनप्रधान काव्य होता है। इसका नायक युद्धप्रिय एवं अन्य पात्र शौर्यगुण वाले होते हैं। इसमें केवल व्यक्ति का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जाति के क्रिया-कलापों का भी वर्णन होता है। महाकाव्य के पात्रों का सम्पर्क देवताओं से रहता है अतः जब-जब भी उनके कार्यों की दिशाएँ निर्धारित होती हैं उन सबमें देवताओं अथवा भाग्य का हाथ अवश्य रहता है। इसके अलावा महाकाव्य का विषय परम्परा से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय होता है और सम्पूर्ण कथा-सूत्र नायक से बँधा रहता है। इसकी शैली उच्चता को लिए हुए विशिष्ट शालीन होती है तथा एक ही छन्द का प्रयोग आदि से अन्त तक प्रमुख रूप से होता है।

इसके अलावा कोशकारों ने पुराण-काव्य के पाँच लक्षण स्वीकार किये हैं जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों की परम्परा वर्णन का समावेश होता है।[२] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पुराणों के दस लक्षणों का विवेचन किया है जो इस प्रकार से है— (१) सर्ग (२) विसर्ग (३) वृत्ति (४) रक्षा (५) अन्तर (६) वंश (७) वंशानुचरित (८) संस्था (९) हेतु तथा (१०) अभिप्राय। इसमें विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, हेतु तथा अभिप्राय को ही पाँच लक्षणों के साथ विशिष्ट महत्त्व दिया गया है।[३]

उपर्युक्त समस्त लक्षणों के आधार पर जिनसेनाचार्य की कृति हरिवंशपुराण पर पौराणिक महाकाव्य के सभी लक्षण पूर्णतया घटित होते हैं। काव्य का मुख्य रस शान्त है। काव्य का कथानक आगम ग्रन्थों से लिया गया है। यह कथानक श्री कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित है, जो ६६ सर्गों में निरूपित है। कवि ने प्रत्येक सर्ग की समानता का प्रयास रखा है। अपवाद के रूप में मात्र पाँचवा तथा साठवाँ सर्ग कुछ बड़े हो गये हैं। एक सर्ग में प्रमुख रूप से एक छन्द है तथा सर्गान्त में लक्षणानुसार छन्द का परिवर्तन कर दिया है। काव्य के अधिकांश भाग में वर्णन लम्बे हो गये हैं, इससे वास्तविक घटना मन्दगति से चलती है। काव्य में आरम्भ से लेकर अंत तक कथा अपने उद्देश्य को संभाले हुए है।

हरिवंशपुराण के कृष्ण चरित्र वर्णन में कवि ने कहीं-कहीं पर कल्पना की ऊँची उड़ाने भरी हैं तथा साथ में अपने मन के भावों को भी आत्मसात् किया है। महाकाव्य अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि महाकाव्य एक विशालकाय वर्णन प्रधान काव्य कहा गया है। इस तत्त्व के आधार पर भी हरिवंशपुराण एक सफल विशालकाय महाकाव्य सिद्ध होता है जिसमें सर्गवार कथा दी गई है।

पुराणकाव्य के लक्षणानुसार इस ग्रन्थ में धार्मिकता के साथ काव्यत्व का भी सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। इसमें जैन धर्म के दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन के साथ उत्कृष्ट काव्यरूप का निरूपण है। मुख्य रस "शान्त" होने के उपरान्त कवि ने युद्ध-वर्णनों में वीररस तथा सौन्दर्य एवं केलि-वर्णनों में शृंगार रस का सुन्दर समावेश किया है। अन्य रसों के निरूपण में भी यह कृति पूर्णतया सफल रही है।

हरिवंशपुराण की आधिकारिक कथा कृष्ण व अरिष्टनेमि का चरित रही है, परन्तु इसके साथ ही अनेक प्रासंगिक कथाओं का भी कवि ने सुन्दर समायोजन किया है। कहीं-कहीं तो इनका इतना गुम्फन हो गया है कि मानों मूलकथा को पकड़ना भी कठिन प्रतीत होता है। पुराणकार ने इसमें श्री कृष्ण व अरिष्टनेमि की अलौकिक, अमानवीय शक्तियों को उजागर करने का भी सफल प्रयास किया है। पुराण में अनेक सर्ग उपदेशात्मक कथ्य से भरे पड़े हैं जो अत्यधिक गहनता के साथ वर्णित है। पुराण काव्य के लक्षणानुसार जिनसेनाचार्य ने इस कृति में अनुष्टुप् छन्द को प्रधानता प्रदान की है। वैसे अन्य छन्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं परन्तु मुख्य छन्द अनुष्टुप् ही है। इतना ही नहीं, सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश तथा वंशोत्पत्ति का भी कवि ने इसमें सुन्दर चित्रण किया है। कृति के प्रथम चार सर्गों में सृष्टि की उत्पत्ति, विकास, विनाश का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अलावा हरिवंश, कुरुवंश तथा जरासंध के वंश का भी कवि ने विशद वर्णन किया है।

हरिवंशपुराण में अनेक स्तुतियों की योजना का भी सफल चित्रण हुआ है। अनेक स्थलों पर जिनेन्द्र अरिष्टनेमि की स्तुति का वर्णन कवि ने मनोयोग से किया है। धार्मिकता

की दृष्टिकोण से देखें तो पुराण के भी पात्र जैन धर्म से पूर्णतया प्रभावित जान पड़ते हैं जो विविध जैन मुनियों के प्रवचन से वैराग्य-दीक्षा ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार डॉ० बलदेव उपाध्याय द्वारा बतलाये गये पुराण के दस लक्षणों के आधार पर एवं भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यचार्यों के पौराणिक महाकाव्य की विशेषताओं के आधार पर हरिवंशपुराण एक सफल पौराणिक महाकाव्य है।

सूरसागर :–

सूरसागर के काव्य रूप पर विचार किया जाय तो इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है क्योंकि इसमें प्रबन्धात्मक तत्त्व भी मिलते हैं तो दूसरी ओर मुक्तकात्मक तत्त्व भी। अत: इसका काव्य रूप निरूपित करने के लिए दोनों तत्त्वों के आधार पर इसका विवेचन करना आवश्यक है।

प्रबन्धात्मक तत्त्व :–

सूरसागर में कृष्ण चरित के विविध पक्षों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है, अत: इसमें प्रबन्धात्मक तत्त्वों का आना स्वाभाविक है। भारतीय आचार्यों के अनुसार प्रबन्धात्मक काव्य में निम्न लक्षणों का होना आवश्यक है—

(१) प्रबन्धात्मक काव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है जो प्रबन्धत्व के गुणार्थ संधियों से युक्त हो।

(२) उसका नायक पाठकों को संदेश देने वाला धीरोदात्त क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए।

(३) वह आठ सर्गों से बड़ा, अनेक वृत्तों (छन्दों) से युक्त होना चाहिए।

(४) इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध होनी चाहिए अथवा सज्जनाश्रित, जिसमें जीवन, जगत तथा प्रकृति के विभिन्न अंगों के चित्रण का सुन्दर रूप आ गया हो।

(५) इसमें शृंगार, वीर, शांत रस में से कोई एक रस अंगी रूप में होना चाहिए।

(६) प्रकृति वर्णन के रूप में इसमें नगर वर्णन, समुद्र वर्णन, संध्या, प्रात:काल, संग्राम, यात्रा तथा ऋतुओं का वर्णन होना चाहिए।

(७) शैली में काव्य-सौष्ठव तथा काव्य के समस्त गुणों का विकसित रूप होना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर देखा जाय तो सूरसागर का कथानक भागवत से लिया गया है। यह कथानक श्री कृष्ण के जीवन की बाल-किशोर लीलाएँ हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ बारह स्कन्धों में विभक्त है जिसमें अनेक छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है। इसमें *प्रकृति का मनोहरी चित्रण हुआ है, जिसमें ऋतु-वर्णन वन, उपवन नदी वर्णन आदि* उल्लेखनीय है।

इस ग्रन्थ के नायक क्षत्रिय यदुकुल शिरोमणि श्री कृष्णचन्द्र हैं। जिनमें नायकत्व के सभी गुण विद्यमान हैं। वे विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य करने में कुशल, प्रिय बोलने वाले, शुद्ध भाषणपटु, उच्च वंशज, स्थिरचित्तयुवा, बुद्धिप्रद, शूर तथा तेजस्वी हैं। धीरोदात्त नायक में जो गुण होने चाहिए, वे सब गुण उनमें विद्यमान हैं। सूर के कृष्ण भगवान् होते हुए भी मनुष्य हैं। इस प्रकार सूरसागर के प्रतिक्रम पर भी विचार किया जाय तो उसमें प्रबन्धात्मक की स्पष्ट झलक मिलती है।

परन्तु सूरसागर के प्रतिपाद्य सम्बन्धी शीर्षकों का विहंगावलोकन करने से यह परिलक्षित होता है कि अपने पदों की रचना करते समय सूर के समक्ष कोई सुव्यवस्थित प्रबन्ध योजना नहीं थी। उनका प्रयोजन श्री कृष्ण के जीवन चरित्र का पूर्ण तथा व्यवस्थित चित्रण करना भी नहीं था वरन् उनकी विविध लीलाओं का अधिकाधिक उद्घाटन करना था। इसी से सूरसागर में श्री कृष्ण-लीलाओं की विविधता है परन्तु कथानक की व्यापकता एवं सर्वांगीणता नहीं है जो सानुभव के लिए अनिवार्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्यरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—

प्रबन्ध काव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बन्ध-शृंखला तथा स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इति-वृत्तमात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता।

मुक्तकात्मक तत्त्व :–

सूर साहित्य के अधिकांश विद्वानों ने सूरसागर को निश्चित रूप से मुक्तक काव्य कहा है क्योंकि इसमें मुक्तक काव्य के पूर्वापर-निरपेक्षता, मार्मिक प्रसंगों का चयन, चमत्कार विधान, अर्थगौरव, समाहार शक्ति तथा सालंकारता आदि सभी प्रमुख तत्त्वों का समावेश मिलता है।

मुक्तकात्मक काव्य के प्रमुख लक्षण तथा सूरसागर :–

(१) पूर्वापरनिरपेक्षता :–

मुक्तक का अर्थ है मुक्त या छूटा हुआ, अर्थात् वह रचना जिसके छंद पारस्परिक सम्बन्ध से मुक्त होकर भी चमत्कार विधान या रसनिष्पत्ति में समर्थ हो। प्रबन्धकाव्य में प्रबन्धात्मकता होती है, जिससे वह सरस तथा ग्राह्य बनता है, जबकि मुक्तक काव्य के सभी छंद पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष या मुक्त होते हैं। सूरसागर के समस्त पदों में यह विशेषता सहज ही मिल जाती है। वे पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष होते हुए भी अर्थ द्योतकता में पूर्ण तथा समर्थ है। इससे इन पदों की रसानुभूति सहजगम्य है। परन्तु *सूरसागर में कहीं-कहीं ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें पूर्वापर से निरपेक्ष भी है तथा*

सापेक्ष भी। कई प्रसंग इतिवृत्तात्मकता के भी मिलते हैं जिनमें कवि का उद्देश्य कथा की अभिव्यक्ति नहीं वरन् कृष्ण लीलाओं की गरिमा में वृद्धि करना रहा है।

(२) मार्मिक प्रसंगों का चयन :–

मुक्तक काव्य में कवि को अधिक कहने का अवकाश नहीं होता, इसीलिए उसे जीवन क्षेत्र के ऐसे प्रसंगों का चयन करना पड़ता है जो अधिकाधिक मार्मिक हो। सूरसागर में इसी गुण के आधार पर श्री कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होने के बावजूद भी उनका बचपन तथा यौवन सर्वाधिक निरूपित है। श्री कृष्ण के बचपन के चित्रों का कवि ने सविस्तार वर्णन किया है। बालक की स्वाभाविक क्रीड़ाएँ एवं मातृहृदय की मार्मिकता देखते ही बनती है। श्री कृष्ण की किशोर-लीलाएँ भी कम मार्मिक नहीं है, उनमें माखनचोरी, पनघटलीला, चीरहरण लीला, दानलीला इत्यादि प्रसंग तो अत्यन्त मार्मिकता से ओत-प्रोत है।

(३) चमत्कार विधान :–

काव्य में शब्दों या अर्थों के आधार पर चमत्कार विधान किया जाता है, जिसे क्रमशः शब्दगत चमत्कार और अर्थगत चमत्कार कहते हैं। सूरसागर में दोनों प्रकार के चमत्कारों की सुन्दर अभिव्यंजना है। सूर के दृष्टिकूट पद तो शब्दगत चमत्कार के अक्षय भण्डार हैं। उनके अर्थगत चमत्कारों में गोपियों की वाग्विदग्धता प्रसिद्ध ही है। कवि को दोनों चमत्कारों के चित्रण में समान सफलता मिली है जो कवि की सम्पूर्णता को व्यक्त करते हैं।

(४) अर्थगौरव :–

अर्थ के माध्यम से अर्थों की गरिमा का उद्घाटन करना ही कवि का लक्ष्य होता है। सूरसागर का अर्थ गौरव से मंडित होना स्वाभाविक ही है क्योंकि यह एक रससिद्ध कवि की रचना है। कवि का सम्पूर्ण काव्य भावदशाओं का सहज उच्छलन है। अतः उनके काव्य में सर्वत्र अर्थ-गौरव दृष्टिगोचर होता है। आत्मनिवेदन, वात्सल्य-वर्णन तथा श्रृंगार-वर्णन में यह अपार निष्ठा के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

(५) समाहार शक्ति :–

थोड़े शब्दों में अधिक भाव भरने की शक्ति को समाहार शक्ति कहते हैं। सूरसागर की अन्तःकथाओं, अप्रस्तुत योजनाओं, सांगरूपकों, वक्रोति-विधानों तथा दृष्टिकूट पदों में समाहार-शक्ति सबलता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

सालंकारता :–

सालंकारता का अर्थ केवल अलंकारों की समुचित योजना तक सीमित न होकर सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य का परिचायक है। मुक्तक काव्य में सालंकारता का सविशेष महत्त्व होता है।

सूरसागर में यह तत्व प्रचुरता के साथ मिलता है। कवि की अलंकार योजना, छन्दोयोजना, रस योजना एवं वाग्विदग्धता इत्यादि का हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं जिसमें वे पद भाव की समृद्धि करते एवं कला के कलेवर को सुसज्जित करते हुए दिखाई देते हैं।

इस प्रकार सूरसागर के काव्य रूप का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उसमें प्रबन्धात्मकता की स्पष्ट झलक एवं कहीं-कहीं पर पदों की पूर्वापर-सापेक्षता भी मिलती है, तथापि इसे प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें न तो कथा की व्यापकता है तथा न ही क्रम होकर विविध लीलाओं का ही परिणाम है। भागवत के स्कन्धात्मक रूप का अनुसरण करने के कारण हमें इसमें प्रबन्धात्मक स्वरूप दिखाई देता है। इसके विपरीत सूरसागर में मुक्तक काव्य के समस्त आवश्यक गुण विद्यमान हैं, उनका इसमें पूर्ण रूपेण निर्वाह हुआ है। अतः सूरसागर को प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य मानना ही समुचित है। दूसरे शब्दों में इसे स्कन्धात्मक मुक्तक काव्य भी कह सकते हैं।

निष्कर्ष :–

जिनसेनाचार्य का हरिवंशपुराण पौराणिक महाकाव्य है जिसमें विषयवस्तु का प्रारम्भ पौराणिक ढ़ंग के आख्यानों को लेकर हुआ है। आधिकारिक कथा तो बाद में आती है। जबकि सूरसागर प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य है जिसके निरूपण में महाकवि सूर पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। दोनों काव्य ग्रन्थों का अलग-अलग स्वरूप है, दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

जहाँ तक इनके कथानक की गतिशीलता का प्रश्न है तो हरिवंशपुराण की गतिशीलता मन्द है। उसमें मार्मिक प्रसंगों की पहचान नहीं है। कवि प्रत्येक प्रसंग के आगे-पीछे जैन धर्म के स्पष्ट या मूक सन्देश देने में लगा रहता है, अतः इसकी गतिशीलता शिथिल हो गई है। जबकि सूरसागर में मार्मिक प्रसंगों की भरमार है, कवि वहाँ से हटना ही नहीं चाहता। जिन प्रसंगों का भाव पूर्ण चित्रण करना है उसे जी भरके चित्रित करता है।

चरित्र वर्णनों में हरिवंशपुराण का महाकाव्यत्व स्वरूप होने के कारण वह सूरसागर से बहुत आगे है। वह प्रत्येक क्षेत्र का सांगोपांग वर्णन देता है। इतना ही नहीं, सूरसागर तथा हरिवंशपुराण की कथा वस्तु में साम्य भी है तथा वैषम्य भी। दोनों ग्रन्थों में अनेक प्रासंगिक कथाएँ है परन्तु हरिवंश के उपाख्यान कहीं-कहीं पाठकों को मुख्य कथा से दूर ले जाते हैं, जबकि सूरसागर में ऐसा नहीं है।

इतना होने के बावजूद भी दोनों कवियों का क्षेत्र, काव्य-परम्परा, तत्कालीन परिस्थितियाँ, भाषा एवं काव्य पद्धति भिन्न होने के कारण दोनों कृतियों का काव्यरूप भी

भिन्न है। अतः किसी भी कृति को अधमोत्तम कहना समुचित नहीं होगा। दोनों ही कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी रचनाओं को विशिष्ट काव्यरूप प्रदान किया है और वे इसमें पूर्णतया सफल रहे हैं।

भाषा :–

भाषा भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। अलंकार एवं छन्द की भाँति यह भी काव्य के बाह्य-पक्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कवि की भाषा जितनी सशक्त होती है, वह उतनी ही सक्षमता के साथ भावों को अभिव्यक्त कर सकती है। काव्य में भाव तथा भाषा का मणि-कांचन योग ही उसके अन्तर-बाह्य को प्रकाशित करता है। शब्द-भण्डार में भाषा ही सर्वोत्तम निधि है। काव्य की भाषा में नाद-सौन्दर्य तथा अवसरानुकूलता आदि का होना भी परमावश्यक है। यहाँ हम दोनों आलोच्य-ग्रन्थों की भाषा पर विचार करेंगे।

(क) हरिवंशपुराण :–

हरिवंशपुराण की भाषा संस्कृत है जिसे देखकर जिनसेनाचार्य के भाषाधिकार का सहज ही ज्ञान हो जाता है। उनकी भाषा में भावानुकूलता, समस्तता, व्यस्तता, नाद सौन्दर्य, चित्रात्मकता, गतिशीलता, आलंकारिता, प्रासंगिकता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वाणी उनके वश में होकर उनके पीछे-पीछे चल रही है।

पुराणकार ने भाषा को भावानुकूल बनाया है। कहीं तो श्लोक के पूरे के पूरे पद एक ही शब्द बन गये हैं और कहीं अवसरानुकूल एक-एक पद में कई-कई वाक्य हो गये हैं। आलंकारिक वर्णन के समय भाषा रत्नहार के सदृश ग्रथित है तो साधारण स्थलों में मुक्ताफलों के तुल्य। जिनसेनाचार्य के पास शब्द कोश अत्यन्त ही भरा पड़ा है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं। कवि ने भाषा की श्री-वृद्धि के लिए चमत्कार उत्पन्न करने हेतु नूतन शब्दों का प्रयोग किया है। व्याकरण अनुसार शब्दों का प्रयोग उनकी निपुणता का परिचायक है।

कवि की पद-योजना शब्द शक्तियों के सहारे सुन्दर साहचर्य पाकर भाव प्रकाशन में सफलता प्राप्त करती है। अभिधा, व्यंजना तथा लक्षणा के द्वारा तो उनके रचना सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। कवि का शृंगार वर्णन द्रष्टव्य है, जहाँ एक-एक चरण एक-एक शब्द हो गये हैं।

उरसि नितान्तनीलनिजचूचुकयोरसकौ
कठिनसुवृत्तपीवरपयोधरयोर्भरतः
अमृतरसक्षयक्षरणभीहरिनीलमणिस्थिरतर-
मुद्रिकोत्कनककुम्भवहेव बभौ॥ (४९/७)

एक नहीं, ऐसे सैकड़ों स्थल हैं, जहाँ कवि ने इस प्रकार की समस्त शैली का अवलम्बन लिया है। प्राय: आलंकारिक शैली और संश्लिष्ट वर्णनों में यही समास बहुल भाषा प्रयुक्त हुई है। ऐसी भाषा को देखकर दण्डी, बाण तथा महाकवि भास की सहज ही स्मृति हो जाती है।

एक ओर कवि ने जहाँ ऐसे लम्बे महावाक्यों का मोह रखा है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों में भी सुन्दर वर्णन किया है। श्री कृष्ण शिशुपाल युद्ध के समय प्रयुक्त भाषा ऐसी ही है—

हरिणेव रणे रौद्रे हरिणा दमघोषज:।
हलिना भीष्मजो राजा भीष्माकार: पुरस्कृत:॥ (४२/९३)

हरिवंशपुराण के उनतालीसवें सर्ग में कवि ने इन्द्र द्वारा नेमिनाथ की स्तुति प्रसंग में "वृतानुगन्धिगद्यम्" का भी सुन्दर प्रयोग किया है। जिनसेनाचार्य की गद्यमयी भाषा द्रष्टव्य है—

"अथ मथितमहामृताम्भोधिसंशुद्धपीयूषपिण्डातिपानातिदोषाच्चिराज्जीर्यमाणेष्विवोद्गीर्यमाणेषु तत्खण्डखंडेषु, शङ्खेषु खे खेदमुक्तै:।" (३९। वृत्तानुगन्धिपद्यम्)

परन्तु उपदेशदान के समय तथा विविध सूक्तियों में कवि की भाषा सरल एवं विवरणात्मक रही है। यथा—

(क) सति बन्धुविरोधे हि न सुखं न धनं नृणाम्।(११/९६)
(ख) आगाढे वाप्यनागाढे मरणे समुपस्थिते।
न मुह्यन्ति जना जातु जिनशासनभाविता:॥ (६१/९६)

आचार्य जिनसेन ने अवसरानुकूल ऐसे शब्दों से अपनी भाषा को सजाया है जो भावों के चित्र उपस्थित करने में सक्षम है। यथा—

खड्गखेटकहस्तं तं आपतन्तमरिर्यदु:।
खड्गखेटकहस्तोऽगाद्रथादुत्तीर्य संमुख:॥
प्रहारवञ्चनादानलाघवातिशयात्मनो:।
असियुद्धमभूद्घोरं सेनापत्योस्ततस्तयो:॥
वार्ष्णेयखड्गघातेन प्रदत्तेन भुजे रिपु:।
छिन्नबाहुद्वयोरस्क: पपात वसुधातले॥ (५१/३९-४१)

इन पद्यों को पढ़ते ही इसके अर्थ को समझे बिना ही प्रतीत हो रहा है कि कहीं युद्ध का चित्र है। तलवारें बज रही है, एक-दूसरे पर भयंकर प्रहार हो रहे हैं भुजाएँ कट रही हैं। इसी प्रकार की चित्रात्मक भाषा ऋतु वर्णन, सौन्दर्य वर्णन तथा नारियों के भावालाप वर्णन में देखी जा सकती है। हरिवंशपुराण की भाषा में नाद सौन्दर्य भी दिखाई देता है, जिसे पढ़ते ही पाठक भाव-विभोर हो जाता है।

जिनसेनाचार्य ने कहीं-कहीं पर सुबन्त तिङन्त पदों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। इनका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कामकरीन्द्रमृगेन्द्र नमस्ते क्रोधमहाहिविराज नमस्ते।
मानमहीधरवज्र नमस्ते लोभमहावरुण नमस्ते॥
ईश्वरताधरधीर नमस्ते विष्णुतया युत देव नमस्ते।
अर्हदचिन्त्यपदेश नमस्ते ब्रह्मपदप्रतिबन्ध नमस्ते॥ (३९/९३-९४)

हरिवंशपुराण के दार्शनिक-विचारों में विवरणात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसमें भाषागत सौन्दर्य नहीं है। कहीं-कहीं भाषा में दुर्बोधता भी आ गई है जिसमें न तो काव्योचित सरसता ही है तथा न काव्योचित भावमयता एवं कलात्मकता ही। परन्तु यह कवि की दक्षता या प्रतिभा के अभाव का कारण नहीं वरन् उनके जैन मुनि होने के कारण दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण में विवशता का कारण है।

जिनसेनाचार्य की भाषा अनेक स्थलों पर समयानुसार आलंकारिक बन गई है जिसका उल्लेख हमने पिछले पृष्ठों में कर लिया है।

उपर्युक्त प्रकार से हरिवंशपुराण की भाषा अत्यन्त प्रांजल है। परन्तु जहाँ जैनधर्मगत पारिभाषिक शब्दों की अधिकता है जैसे—अनुप्रेक्षा, अणुव्रत, महाव्रत, उत्सर्पिणी, कषाय, नय, निर्जरा, संवर, आस्रव आदि, वहाँ पर भाषा दुर्बोध एवं गूढ़ हो गयी है।

सूरसागर की भाषा :–

महाकवि सूरदास ने सूरसागर में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह विशुद्ध "ब्रज" है। सूर का जीवन स्थल भी ब्रज मंडल के अन्तर्गत है अत: सूरसागर में कवि ने उसी भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है। कई विद्वान सूर को ब्रज भाषा के संस्कर्त्ता मानते हैं। जो कोमलकान्त पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रज भाषा को साहित्यिक रूप दिया।

सूर की भाषा में साधारण लोकगीत से लेकर चमत्कार प्रधान कूट पद रचना तक की विविधता दिखाई देती है। इसी कारण से कई विद्वानों ने उन्हें "ब्रज भाषा का वाल्मीकि" कहा है, जो सर्वथा उचित है। सूर की भाषा में अपने भावों को सहजरूप से अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। उसमें पात्र एवं परिस्थिति के अनुरूप प्रयुक्त होने की विशिष्टता है। कवि शिरोमणि सूर ने ब्रज भाषा को व्यापक बनाने के लिये उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त फारसी, अवधी, पंजाबी इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। फारसी इत्यादि के शब्द कवि ने तत्समरूप में न लेकर तद्भव रूप में लिए है। इस प्रकार भाषा को बनाने में कवि ने महान् योग दिया है। उनकी भाषा में ओजपूर्ण

स्थलों की न्यूनता है तथा माधुर्य एवं प्रसाद गुण का प्राधान्य दिखाई देता है। सूर की कोमलकान्त पदावली देखते ही बनती है।

सूरसागर में लोकोक्तियों और मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है जिसका हम आगे विस्तृत उल्लेख करेंगे। सूर का काव्य भाषा में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना-तीनों शब्द-शक्तियों का प्रयोग हुआ है। श्री कृष्ण के लीला वर्णन में अभिधा शक्ति रसात्मकता का संचार करती प्रतीत होती है। काव्य में चित्रात्मकता एवं बिम्बात्मकता की सृष्टि के लिए कवि ने लक्षणा का आश्रय लिया है। जहाँ कवि भाव-विभोर या तन्मय हो जाता है, वहाँ व्यंजना मुखर होती है। सूर शब्द चयन के प्रति सतत जागरूक रहे हैं। माधुर्य भावों की अभिव्यंजना में आनुप्रासिकता सूरसागर का शृंगार है।

सूरसागर में ऐसे अनेक स्थल आते हैं, जो भावपूर्ण और अत्यन्त मार्मिक हैं। ऐसे अनेक वर्णनों में कवि की भावुकता, सहृदयता एवं विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भाषा का निर्माण शब्दों से होता है। जिस कवि का शब्द भण्डार जितना विपुल होगा उसकी भाषा भी उतनी ही सम्पन्न होगी। इसमें तनिक भी संदेह नहीं, कि सूरदास का शब्द भण्डार अत्यन्त समृद्ध है।

तत्सम, तद्भव तथा विदेशी शब्दों के विशद भण्डार के उपरान्त अपनी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए कवि ने स्वयं अनेक शब्दों का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है।

सूरसागर की भाषा में प्रयुक्त अलंकार-योजना, वक्रोति-विधान, भावमयता एवं वाग्विदग्धता देखते ही बनती है। गोपियों की वाग्विदग्धता एवं वक्रता एक पद द्रष्टव्य है—

मधुकर तुम रस-लंपट लोग।
कमलकोष बस रहत निरन्तर हमहिं सिखावत जोग॥
अपने काज फिरत बन अंतर निमिष नहीं अकुलात।(पद सं० ४३००)

सूर ने अपनी कृति में अनेक छन्दों के शास्त्रीय नियमों का पालन कर भावों की अभिव्यंजना को गीतात्मक बना दी है। कवि की भाषा अत्यन्त ही सशक्त है, जिसमें छन्दोविधान भी ऐसे उत्पादन हैं जो भाषा के स्वरूप का उत्कर्ष करते हैं।

कवि ने भावात्मक भाषा के साथ विवरणात्मक भाषा का भी सफल प्रयोग किया है जो इतिवृत्तात्मक शैली में है। इसके अलावा सूरसागर में कूटात्मक भाषा का भी सफल प्रयोग हुआ है, जिसमें कवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन अत्यन्त ही चमत्कार पूर्ण ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। जिसमें कवि सूर के भाषा की समृद्धि का तथा तज्जन्य गम्भीर प्रभाव का वर्णन करते नाभादास जी ने कहा है कि—

उक्ति चीज अनुप्रास, बरन, अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीती निरबाह अर्थ, अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन, रूप सर्व रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवन करै।
सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर-चालन करै॥(पद सं० ५४५)

सूर की काव्य कला के अनुसंधानकर्त्ता डॉ० मदनमोहन गौतम के अनुसार भाषा के समग्र रूप को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि सूर की भाषा में ब्रज भाषा का प्रौढ़ एवं शिष्ट रूप है। प्रसंगानुकूल उसमें भाषा के विविध रूप के दर्शन होते हैं। साधारण बोलचाल की भाषा से लेकर अलंकृत और नादवैभव से सम्पन्न भाषा सूरसागर में मिलती है। संक्षेप में भाषा से लेकर अलंकृत सूर के हाथ की पुत्तलिका रही है, जैसा कवि ने चाहा है वैसा रंग उसने दिखाया है।[१२०]

उपर्युक्त विवेचनानुसार सूरसागर की भाषा के बारे में संक्षेप में कहें तो वह भावानुसारिणी, सरसता एवं सुबोधता से युक्त, रसों तथा भावों को व्यक्त करने में सक्षम, गतिशील, प्रवाहमयी, परिष्कृत, आडम्बरहीन एवं सजीव है जिसमें सूर की रस-सिद्धता मुखरित हुई है।

निष्कर्ष :-

दोनों ही आलोच्य कृतियों की भाषा पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही कवियों का अपनी-अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यदि जिनसेनाचार्य ने गतिशील समास-अलंकार युक्त संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है तो महाकवि सूर ने भावाभिव्यञ्जना-सक्षम, सरल सरस साहित्यिक ब्रज भाषा का। तुलना करने पर उनके उत्कर्षापकर्ष का कथन करना कठिन है क्योंकि दोनों अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण तथा अद्वितीय हैं। दोनों कृतिकारों की भाषा विशुद्ध रही है परन्तु उनमें जो अन्तर रहा है, वह दोनों परम्पराओं, तत्कालीन परिस्थितियों तथा काव्य रूपों के अनुसार है।

(ग) सूक्तियां व मुहावरे :-

कवि अपनी भाषा को सशक्त एवं सुन्दर बनाने के लिए सूक्तियों, मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग करते हैं। ये सब भाषा के अनिवार्य उपकरण हैं। इनके प्रयोग से भाषा में लाक्षणिकता, अर्थ-गांभीर्य, वैचित्र्य, मार्मिकता, सरलता एवं कौतूहल जैसे अद्भुत गुणों का सहज ही समन्वय हो जाता है।

आचार्य जिनसेन एवं महाकवि सूर के काव्य में सूक्तियों व मुहावरों; इत्यादि का यथास्थान सहज समावेश मिलता है। हरिवंशपुराण में कवि ने संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध

कवियों की उत्तम पंक्तियों को वाक्य का सहज अंग बनाकर उन्हें सुन्दर ढंग से यत्र-तत्र प्रयुक्त किया है। इनकी सूक्तियों की एक लम्बी सूची बन जाती है। कवि ने यथास्थान इन सूक्तियों का प्रयोग कर अपनी बात को धारदार बनाया है।

हरिवंशपुराण में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ निम्न प्रकार से हैं—

(१) हरिवंशस्य-सूक्तय :–

(१) आलोके जिनभानुजा विरचिते ध्वान्तस्य वा क्व स्थितिः। (४/३८४)

(सूर्य के द्वारा प्रकाश के उत्पन्न होने पर अंधकार का सद्भाव कहाँ रह सकता है।)

(२) मौनं सर्वार्थसाधनम् (७/१२९)

(मौन सब कार्यों को सिद्ध करने वाला है)

(३) किं न स्याद् गुरुसेवया (९/१३१)

(गुरु सेवा से क्या नहीं होता)

(४) विद्यालाभो गुरुर्वशात्। (९/३०)

(विद्या की प्राप्ति गुरु से होती है।)

(५) सर्वतोऽपि सुदुःप्रेक्ष्यां नरेन्द्राणामपि स्वयम्।

दृष्टिं दृष्टिविषस्येव धिक् धिक् लक्ष्मीं भयावहाम्। (११/९४)

(जिस प्रकार विषयुक्त सर्प की दृष्टि नरेन्द्र-विष-वैद्यों के लिए भी सब ओर से दुःखमयी एवं भय उत्पन्न करने वाली होती है उसी प्रकार लक्ष्मी भी नरेन्द्र राजाओं के लिए भी सब ओर से अत्यन्त दुःखप्रेक्ष्य तथा भय उत्पन्न करने वाली है।)

(६) सति बन्धुविरोधे हि न सुखं न धनं नृणाम्। (११/९६)

(बन्धुजनों से विरोध होने पर न उसे सुख प्राप्त होता है तथा न ही उसका धन स्थिर रहता है।)

(७) अपवादो हि सह्येत रक्तेन न मनोव्यथा। (१४/३९)

(अपवादों को सहन किया जा सकता है परन्तु मन की व्यथा को नहीं।)

(८) तमः पतनकाले हि प्रभवत्यपि भास्वतः। (१४/४०)

(सूर्य के पतनकाल में अन्धकार की प्रबलता छा जाती है।)

(९) पापोपशमनोपायाः सत्येव सति जीविते। (१४/६५)

(जीवित रहने पर पाप को शांत करने के बहुत उपाय हो जायेंगे।)

(१०) अत्यभ्यर्णविपत्तीनां मन्त्रिणो हि निवर्त्तका:। (१४/६६)

(अत्यन्त निकटवर्ती मंत्री आपत्तियों को दूर करते हैं।)

(११) षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रो रक्षणीय: स यत्नत:। (१४/८३)

(छ: कानों में पहुँचा हुआ मंत्र फूट जाता है, अत: उसकी रक्षा का यत्न करना चाहिए।)

(१२) तप्तं तप्तेन योज्यते। (१४/९१)

(संतप्त वस्तु दूसरी संतप्त वस्तु के साथ मिलाई जा सकती है।)

(१३) रहसि दुर्लभमाप्य मनीषितं, न हि विमुञ्चति लब्धरसो जन:। (१५/४)

(दुर्लभ वस्तु को पाकर उसका रस प्राप्त करने वाले उसे छोड़ते नहीं।)

(१४) न सुलभं समुखे किमु भर्त्तरि। (१५/१५)

(भर्ता के अनुकूल रहने पर कौनसी वस्तु सुलभ नहीं)

(१५) परिचित: प्रणय: खलु दुस्त्यज:। (१५/९३)

(परिचित अनुभूत स्नेह बड़ी कठिनाई से छूटता है।)

(१६) का वा कठिनचित्तस्य जिनशासनभक्तता। (१८/१४८)

(उस कठोर हृदय वाले के जिनशासन की भक्ति क्या है?)

(१७) पुनर्बोधिपरिप्राप्ति: दुर्लभा भवसंकटे। (१८/१५०)

(इस संसार के चक्कर में पुन: बोध की प्राप्ति दुर्लभ ही समझनी चाहिए।)

(१८) का स्त्री का वा स्वसा भ्राता कौ वै कार्याभिलाषिण:।

वैरिणो ननु हन्तारो हन्तव्यं नात्र दुर्यश:। (१९/१०६)

(कार्य के इच्छुक मनुष्यों के लिए क्या स्त्री! क्या बहन! क्या भाई! उन्हें तो जो वैरी अपना घात करे उसकी अवश्य ही बात करना चाहिए इसमें कुछ भी अपयश नहीं है।)

(१९) उत्तिष्ठेद् यद्यसौ तस्मात्तस्य शांति: कुतोऽन्यत:। (२०/३४)

(यदि जल से ही अग्नि उठने लगे तो अन्य किस पदार्थ से उसकी शांति हो सकती है।)

(२०) साधो: शीतलशीतलस्य तापनं न हि शान्तये।

गाढतप्तो दहत्येव तोयात्मा विकृतिं गत:॥ (२०/३७)

(शीतल स्वभाव के धारक साधु को सन्ताप पहुँचाना शांति के लिए नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अधिक तपाया हुआ पानी विकृत होकर जला देता है उसी प्रकार दु:खी किया हुआ साधु विकृत होकर जला देता है, शाप आदि से ही नष्ट करता है।)

(२१) दृष्टश्रुतानुभूतं हि नव धृतिकरं नृणाम्। (२१/३७)

(देखी सुनी और अनुभव में आयी नूतन वस्तु ही मनुष्यों को सुखदायक होती है।)

(२२) अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।

दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम्॥ (२१/१५६)

(एक अक्षर, आधे पद अथवा एक पद को भी देने वाले गुरुओं को भूल जाता है वह भी जब पापी है तब धर्मोपदेश के दाता को भूल जाने वाले मनुष्य को तो कहना ही क्या है।)

(२३) पापकूपे निमग्नेभ्यो धर्महस्तावलम्बनम्।

ददता क: समो लोके संसारोत्तारिणा नृणाम्॥ (२१/१५५)

(जो पाप रूपी कुएँ में डूबे हुए व्यक्ति को धर्मरूपी हाथ का सहारा देता है तथा संसार सागर से पार कराने वाला है, उस मनुष्य के समान संसार में मनुष्यों के बीच दूसरा कौन है?)

(२४) स्त्रीणां प्रणयकोपस्य प्रणामो हि निवर्तक:। (२२/४६)

(हाथ जोड़कर किया हुआ नमस्कार स्त्रियों के मान को दूर कर देता है।)

(२५) कुतो लुब्धस्य सत्यता। (२७/३५)

(लोभी मनुष्य में सत्यता कैसे हो सकती है।)

(२६) न मुह्यति प्राप्तकृतौ कृतीति। (३५/६२)

(कुशल मनुष्य अवसर के अनुसार कार्य करने में कभी नहीं चूकते।)

(२७) न राज्यलाभोऽभिमतोऽनपत्य:। (३५/६८)

(संतान के बिना राज्य लाभ भी अच्छा नहीं लगता।)

(२८) स्फुटवदन विकाराल्लक्षितं चित्तदु:खम्। (३६/२०)

(कठोर वचनों से तिरस्कार करना क्या उचित है?)

(२९) क्व पात्रभेदोऽस्ति धनप्रवर्षिणाम्। (३७/३)

(धन की वर्षा करने वाले को पात्र भेद कहाँ होता है।)

(३०) बहुरत्ना वसुन्धरा। (४२/३१)

(यह पृथ्वी अनेक रत्नों से युक्त है।)

(३१) अहो प्रमदहेतवोऽपि सुखयन्ति नो दुःखितान्। (४२/१०२)

(दुखी मनुष्यों को हर्ष के कारण सुख नहीं पहुँचाया जा सकता।)

(३२) दैवमेव परंलोके धिक् पौरुषकारणम्। (४३/६८)

(संसार में अकारण पुरुषार्थ को धिक्कार है।)

(३३) सद्भूतस्यापि दोषस्य परकीयस्य भाषणम्।

पापहेतुमोघः स्यादसद्भूतस्य किं पुनः॥ (४५/१५३)

(दूसरों के विद्यमान दोष का कथन करना भी पाप का कारण है फिर अविद्यमान दोष के कथन करने की तो बात ही क्या है? वह तो ऐसे पाप का कारण होता है जिसका फल कभी व्यर्थ नहीं जाता अर्थात् अवश्य ही भोगना पड़ता है।)

(३४) त्यजत वाचमसत्यमलोद्धतां भजत सत्यवचोनिरवद्यताम्।

निजयशोविशदां सगुणोद्यतां विजयिनीं त्विह विश्वविदोदिताम्॥ (४५/१५८)

(असत्यरूपी दोष से उद्यत वाणी को छोड़ो एवं सत्यवचन से उत्पन्न उस निर्मलता का सेवन करो जो अपने यश से विशद है, गुणी मनुष्यों को प्राप्त करने में उद्यत है। इस लोक में विजय प्राप्त कराने वाली है एवं स्वर्ग देव के द्वारा निरूपित है।)

(३५) वक्ता श्रोता च पापस्य यत्रात्र फलमश्नुते।

तदमोघमुत्रास्य वृद्धयर्थमिति बुद्धयताम्॥ (४५/१५६)

(पाप का वक्ता और श्रोता जो इस लोक में अपना फल नहीं प्राप्त कर पाता है वह मानो परलोक में वृद्धि के लिए सुरक्षित है।)

(३६) पुण्यस्य किम् दुष्करम्। (४६/१६)

(पुण्य के लिए कौनसा कर्म कठिन है।)

(३७) अदेशकालं नहि नर्म शोभते। (५४/६)

(परदेश तथा अनुचित समय में नम्रता शोभास्पद नहीं है।)

(३८) क्लिशितधीर्हि जिनेष्वपि शङ्कते। (५५/१९)

(संक्लिष्ट बुद्धि के धारक मनुष्य भगवान् जिनेन्द्र के बारे में भी शंका करते हैं।)

(३९) भ्रमति हि स्वपतां भुवने मनः। (५५/२३)

(यथार्थ में सोने वालों का मन संसार में भ्रमण करता रहता है।)

(४०) जातानां हि समस्तानां जीवानां नियता मृतिः। (६१/२०)

(उत्पन्न हुए समस्त जीवों का मरण निश्चित है।)

(४१) क्षमामूलस्तपो भारो वक्ष्यते क्रोधवह्निना। (६१/६२)

(ऐसा तप जिसकी जड़ क्षमा है वह क्रोधरूपी अग्नि से जल जाता है।)

(४२) मोक्षसाधनमप्येष तपो दूषयति क्षणात्।

चतुर्वर्गरिपुः क्रोधः क्रोधः स्वपरनाशकः॥ (६१/६३)

(यह क्रोध मोक्ष के साधन-भूत तप को क्षण भर में दूषित कर देता है वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों वर्गों का शत्रु है तथा निज पर को नष्ट करने वाला है।)

(४३) दुर्वारा हि भवितव्यता। ७६१/७७

(वास्तव में जो होने वाला है, वह दुर्निवार है।)

(४४) आगाढे वाप्यनागाढे मरणे समुपस्थिते।

न मुह्यन्ति जना जातु जिनशासनभाविताः॥ (६१/९६)

(जो मनुष्य जिनशासन की भावना से युक्त है वे सम्भावित और असम्भावित किसी भी प्रकार का मरण उपस्थित होने पर कभी मोह को प्राप्त नहीं होते।)

(४५) परस्यापकृतिं कुर्वन् कुर्यादेकत्र जन्मनि।

पापी परवधं स्वस्य जन्तुर्जन्मनि जन्मनि॥ (६१/१०१)

(दूसरे का अपकार करने वाला पापी मनुष्य दूसरे का वध तो एक जन्म में करता है पर उसके फलस्वरूप अपना वध जन्म-जन्म में करता है।)

(४६) संसारवर्धनोऽन्येषां भवेद्वा वधको न वा। (६१/१०२)

(दूसरों का वध करे या न करे, वह अपना संसार बढ़ाता है।)

(४७) परं हन्मीति संध्यातं लोहपिण्डमुपाददत्।

दहत्यात्मानमेवादौ कषायवशगस्तथा॥ (६१/१०३)

(जिस प्रकार तपाये हुए लोहे के पिण्ड को उठाने वाला मनुष्य पहले अपने आपको जलाता है, पश्चात् दूसरों को जला सके अथवा नहीं। उसी प्रकार कषाय के वशीभूत प्राणी दूसरों का घात करूँ इस विचार के उत्पन्न होते ही पहले अपने आपका घात करता है पश्चात् दूसरे का घात कर सके या नहीं कर सके।)

(४८) धिक् क्रोधं स्वपरापकारकरणं संसारसंवर्धनम्। (६१/१०८)

(निज तथा पर के अपकार का कारण तथा संसार को बढ़ाने वाले इस क्रोध को धिक्कार है।)

(४९) निरस्यति पयस्तृष्णां स्तोकां वेलामिदं पुनः।

जिनस्मरणपानीयं पीतं तां मूलतोऽस्यति॥ (६२/२४)

(वह पानी तो थोड़े समय तक के लिए प्यास को दूर करता है पर जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण रूपी पानी पीते ही उस तृष्णा को जड़ मूल से नष्ट कर देता है।)

(५०) दुर्लङ्घ्या भवितव्यता। (६२/४४)

(होनहार अलंघनीय होता है।)

(५१) करोति सज्जनो यत्नं दुर्यशः पापभीरुकः।

दैवे तु कुटिले तस्य स यत्नः किं करिष्यति॥ (६२/४३)

(अपयश और पाप से डरने वाला सज्जनपुरुष बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करता है परन्तु दैव के कुटिल होने पर उसका वह यत्न क्या कर सकता है?)

(५२) सुखं वा यदि वा दुःखं दत्ते कः कस्य संसृतौ।

मित्रं वा यदि वामित्रः स्वकृतं कर्म तत्त्वतः॥ (६२/५१)

(संसार में कौन किसके लिए सुख देता है अथवा कौन किसके लिए दुःख देता है और कौन किसका मित्र है अथवा कौन किसका शत्रु है, यथार्थ में अपना किया हुआ कार्य ही सुख या दुःख देता है।)

(११) सूरसागर :–

सूरसागर में प्राप्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों की लम्बी सूची है। कवि ने इनका प्रयोग भ्रमरगीत प्रसंग में सर्वाधिक किया है। गोपियों द्वारा प्रेमभक्ति की स्थापना तथा उसके साथ ही उद्धव, कृष्ण व कुब्जा को लक्ष्य करके कही गई अनेक उक्तियाँ उत्तम मुहावरों एवं लोकोक्तियों के उदाहरण हैं। मानलीला एवं मुरली के प्रति गोपियों के वचन व नैन-समय के पदों में भी इसका सहज प्रयोग मिलता है।

सूरसागर में प्रयुक्त कतिपय मुहावरे :–

(१) सहद लाइ कै चाटौं। (सूरसागर पद संख्या - ३९२६)

(२) हंस काग के संग। (सूरसागर पद संख्या - ३४१८)

(३) अंग आगि बई। (सूरसागर पद संख्या - ३१०८)

(४) हियरौ सुलगावत। (सूरसागर पद संख्या - ३५४५)

(५) बार खसौयत न्हातै। (सूरसागर पद संख्या - ३५४७)

(६) ताकी जननीछार। (सूरसागर पद संख्या - ३८३६)

(७) गुरु चींटी ज्यों पानी। (सूरसागर पद संख्या - ३९५८)

(८) ज्यों खेरे की दूब। (सूरसागर पद संख्या - ३९८९)

(९) माखी मधु। (सूरसागर पद संख्या - ४००८)

(१०) फिरत धतूरा खाए। (सूरसागर पद संख्या - ४०४०)

(११) गुड़ दोर ज्यों तोरी। (सूरसागर पद संख्या - ३३६१)

(१२) मधु दूहे की माखी (सूरसागर पद संख्या - ३२०९)

(१३) लौंडी की डौड़ी जग बजी। (सूरसागर पद संख्या - ३६५८)

(१४) अंग आग बई। (सूरसागर पद संख्या - ३७०३)

(१५) दई प्रेम की फाँसी। (सूरसागर पद संख्या - ३७०७)

(१६) रीस चढ़ाई। (सूरसागर पद संख्या - १८६८)

(१७) हाथ बिकानी। (सूरसागर पद संख्या - १८९८)

(१८) मिली दूध ज्यों पानी। (सूरसागर पद संख्या - १८९८)

(१९) लेन न देन। (सूरसागर पद संख्या - २२५१)

(२०) मरत लोचन प्यास। (सूरसागर पद संख्या - ३२२८)

(२१) मन की मन ही माँझ रही। (सूरसागर पद संख्या - ३२८०)

(२२) भई भूस पर भीति। (सूरसागर पद संख्या - ३१८४)

(२३) घुर ही ते खोटो खायों है। (सूरसागर पद संख्या - ३९६५)

(२४) गूँगे गुर की दसा। (सूरसागर पद संख्या - २५२९)

(२५) मोल लियो बिन मोल। (सूरसागर पद संख्या - १४५७)

लोकोक्तियाँ :–

महाकवि सूर ने सर्वत्र अपने कथन की पुष्टि में लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। उक्ति की वक्रता इसका अनिवार्य गुण है। कवि ने लोकोक्तियों का परिष्कार भी किया है। प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने तीनों प्रकार की लोकोक्तियों को प्रयुक्त किया है—(१) प्रचलित कहावतें (२) परिष्कृत लोकोक्तियाँ तथा (३) उनकी निजी उक्तियाँ। सूरसागर में वर्णित कुछ लोकोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) एकपंथ द्वे काज। (सूरसागर पद संख्या - ३५५८)

(२) करवत लैहों कासी। (सूरसागर पद संख्या - ३५५८)

(३) दूध-दूध पानी कौ पानी। (सूरसागर पद संख्या - ४७४४)

(४) अपनो बोयो आप लोनिए। (सूरसागर पद संख्या - ४४७९)

(५) स्वान पुँछ कोउ कोटिक लागे सूधी कहुँ न करी। (सूरसागर पद संख्या - ४१०४)

(६) अपनो दूध छाँड़ि के पीवे खारे कूप को बारी। (सूरसागर पद संख्या - ४५९८)

(७) कंचन खोइ काँच लै आयौ। (सूरसागर पद संख्या - ३१२९)

(८) जीवन रूप दिवस दस ही कौ ज्यों अंजुरी को पानी।
(सूरसागर पद संख्या - ३२१०)

(९) लौंडी की डौड़ी जग बाजी। (सूरसागर पद संख्या - ४२७०)

(१०) जोई लीजे सोई है अपनौ। (सूरसागर पद संख्या - २८८३)

(११) सूर सुकृत हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी
(सूरसागर पद संख्या - ४१७५)

(१२) जहीं व्याह तहँ रीति। (सूरसागर पद संख्या - ३७८३)

(१३) खर को कहा अरगजा लेपन मरकत भूषन अंग। (सूरसागर पद संख्या - ३३२)

(१४) कैसे समहिंगे एक म्यान दो खांड़े। (सूरसागर पद संख्या - ४२२२)

(१५) जूठो खैये मीठे कारन। (सूरसागर पद संख्या - ३५५९)

(१६) लघु अपराध दास को ग्रसि ठाकुर को सब सौंहे।
(सूरसागर पद संख्या - ४५८३)

(१७) काटकु अम्ब बबूर लगावहुँ। (सूरसागर पद संख्या - ४२३९)

(१८) प्रेम कथा सोइ पै जानै जापै बीती होरे। (सूरसागर पद संख्या - ४२३९)

(१९) सूर स्वभाव तजै नहिं कारौं कीने कोटि उपाय। (सूरसागर पद संख्या - ४१६०)

(२०) लै आये नफा जाति कै सबै वस्तु अकरी। (सूरसागर पद संख्या - ४६९४)

(२१) सूरी के पातन के बदले कौ मुक्ताहल दै हैं॥ (सूरसागर पद संख्या - ४२२२)

उपर्युक्त प्रकार से दोनों ही कृतियों में अपनी-अपनी भाषा, परम्परा, लोकसंस्कार एवं लोकाचार की भिन्नता के आधार पर सूक्तियाँ, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है। दोनों ही कवियों ने इनका सफल प्रयोग कर अपनी भाषा को सशक्त बनाया है। इसके प्रयोग से विद्वान् कवियों का पाण्डित्य, कवित्व शक्ति की विलक्षणता तथा उनके लोक के ज्ञान का सुन्दर परिचय मिलता है।

टिप्पणियाँ :-

१. सूरदास एवं नरसिंह मेहता - डॉ० भ्रमरलाल जोशी - पृ० १६७

२. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शांतस्तथा मतः॥ १८२ साहित्यदर्पण तृतीय-परिच्छेद

३. सूरदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ० १६७

४. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/२९ - पृ० ४५१

५. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/३५-३६ - पृ० ४५२

६. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/५७-५८ - पृ० ४५५

७. सूरसागर पद सं० ६३९ - पृ० २६४

८. सूरसागर पद सं० ७९३ - पृ० ३१९

९. सूरसागर पद सं० ७१७ - पृ० २९५

१०. सूरसागर पद सं० ८९८ - पृ० ३५५

११. सूरदास और नरसिंह मेहता - डॉ० भ्रमलाल जोशी - पृ० १८४

१२. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/६५-६७ - पृ० ४५६

१३. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/७४-७५ - पृ० ५०९

१४. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/७६ - पृ० ५०९

१५. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/१०४ - पृ० ५१२

१६. सूरसागर पद सं० १३४७ - पृ० ५७४

१७. सूरसागर पद १६०८ - पृ० ६०३

१८. सूरसागर पद २०६७ - पृ० ७६१

१९. सूरसागर पद सं० २१७२ - पृ० ७९६

२०. सूरसागर पद सं० ३४५२ - पृ० ११२६

२१. सूरसागर पद सं० ३५९९ - पृ० ११९२

२२. सूरसागर पद सं० ३८२८ - पृ० १२५५

२३. सूरसागर पद सं० ४६९१ - पृ० १४६७

२४. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/५-६ - पृ० ५१४

२५. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/१३-१५ - पृ० ५१५

२६. सूरसागर पद सं० ८९७ - पृ० ३५४

२७. सूरसागर पद सं० ९५२ - पृ० ३७१

२८. हरिवंशपुराण सर्ग ५०/१३०-१३२ - पृ० ६३३

२९. हरिवंशपुराण सर्ग ६३/२०-२२ - पृ० ७७१

३०. सूरसागर पद सं० १२३३ - पृ० ४७८

३१. सूरसागर पद सं० २८७ - पृ० ९३

३२. हरिवंशपुराण सर्ग ३६/४४ - पृ० ४६५

३३. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/९१-९२ - पृ० ५११

३४. हरिवंशपुराण सर्ग ५२/४६-४९ - पृ० ६००

३५. सूरसागर पद सं० १४७० - पृ० ५५७

३६. हरिवंशपुराण सर्ग ५२/५१-५४ - पृ० ६००

३७. सूरसागर पद सं० २७० - पृ० ९

३८. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/६९ - पृ० ४५६

३९. हरिवंशपुराण सर्ग ४९/३३ - पृ० ५७९

४०. सूरसागर पद सं० १२१४ - पृ० ४७२

४१. हरिवंशपुराण सर्ग ५२/४२-४३ - पृ० ५९९

४२. हरिवंशपुराण सर्ग ४१/२१-२२ - पृ० ५००

४३. सूरसागर पद सं० ८७४ - पृ० ३४७

४४. हरिवंशपुराण सर्ग ६०/१३३-१३४ - पृ० ७१६

४५. हरिवंशपुराण सर्ग ६१/२-३ - पृ० ७५४

४६. सूरसागर पद सं० ६८ - पृ० ३२

४७. हरिवंशपुराण सर्ग ४९/४ - पृ० ४८७

४८. हरिवंशपुराण सर्ग ६६/३६ - पृ० ८०८

४९. हरिवंशपुराण सर्ग ६६/४६ - पृ० ८०९

५०. हरिवंशपुराण सर्ग १८/१४८ - पृ० २७३

५१. सूरसागर पद सं० ३०९ - पृ० १०२

५२. सूरसागर पद सं० ८६ - पृ० २८

५३. सूरसागर पद सं० ५५ - पृ० १९

५४. सूरसागर पद सं० ३८५ - पृ० ७१९

५५. हरिवंशपुराण सर्ग २८/१/३७३

५६. हरिवंशपुराण सर्ग ३४/८१ - पृ० ४३३ और वही ३४/८८, ९२, ९५-९६, १०७, ११०, ११२, १२६-२७, १३२-१४९

५७. हरिवंशपुराण सर्ग २८/५१ - पृ० ३७७

५८. हरिवंशपुराण सर्ग ११/१३९ और भी १/१२७-२८, २/१५१, ३/९७, ४/३८४, ५/७३५, ९/२२३, ११/१३९, १३/३३-३४, १७/१६३-६४, २२/६५, २७/१८६, ३१/१३८, ३२/४४, ३३/१७४, ३५/८०, ४०/४६, ४१/५७, ४८/७५, ६१/१०८, ६२/१४६ आदि

५९. हरिवंशपुराण सर्ग ३६/१ - पृ० ४५९ और भी ६/२-७५, ५७/१८३

६०. हरिवंशपुराण सर्ग २६/५६ - पृ० ३६१ और भी वही ३४/१२८, ४१/५७, ४५/१३४, ५५/१३४-१३८

६१. हरिवंशपुराण सर्ग ८/२३६ - पृ० १६४ और भी वही १६/१-७९, ४६/५८-६२, ५३/४९-५३, ६०/५७३

६२. हरिवंशपुराण सर्ग ६/१३९ - पृ० १३०

६३. हरिवंशपुराण सर्ग ७/१७८ - पृ० १४५

६४. हरिवंशपुराण सर्ग २७/१३९ - पृ० ३७२ और वही ३०/८५, ८७, ९१, ६३/१-११४

६५. हरिवंशपुराण सर्ग २५/७२ - पृ० ३५६

६६. हरिवंशपुराण सर्ग १०/१६१ - पृ० १९७ और वही १९/१०५-१०७, ३७/१-१४७, ५४/६९-७५, ६६/१-१५१

६७. हरिवंशपुराण सर्ग १८/१८० - पृ० २७५ और वही २३/१५३, २९/७२, ३८/१-५५, ४२/९८-१०८, ४७/१३७, ५२/९२-९३

६८. हरिवंशपुराण सर्ग ३४/७३ - पृ० ४२७ और भी वही ३४/८६, ८९, ९८, १०४, १०५

६९. हरिवंशपुराण सर्ग ३५/४१ - पृ० ४५३ और भी वही ३५/१ से ७९

७०. हरिवंशपुराण सर्ग ३४/७३ - पृ० ४२७

७१. हरिवंशपुराण सर्ग १२/८० - पृ० २१४ और वही १२/८१-८२, १९/२७१, ३४/७७, ९०, ५६/११४-११९

७२. हरिवंशपुराण सर्ग १५/१ - पृ० २२९ और वही १५/२-६२, २४/८६, ४३/२४४, ४४/५२, ४५/१५८-१६०, ५५/१-१३३

७३. हरिवंशपुराण सर्ग ३९/९ - पृ० ४८८ और वही ३९/१-८ (श्रोटकद्वयनिर्मित)

७४. हरिवंशपुराण सर्ग ३४/८४ - पृ० ४३३

७५. हरिवंशपुराण सर्ग ४९/९ - पृ० ५७६ और वही ४९/१-५१

७६. सूरदास और उनका साहित्य - डॉ० देशराजसिंह भाटी - पृ० ५१४

७७. सूरदास और उनका साहित्य - डॉ० देशराजसिंह भाटी - पृ० ५१५

७८. सूरसागर पद सं० २२३६ - पृ० ८१६

७९. सूरसागर पद सं० १८० - पृ० ५९

८०. सूरसागर पद सं० ४३२ - पृ० १७१

८१. सूरसागर पद सं० २८५० - पृ० ९७५

८२. सूरसागर पद सं० ५४९ - पृ० २२६

८३. सूरसागर पद सं० २४२१ - पृ० ८७४

८४. सूरसागर पद सं० २४२१ - पृ० ८७४

८५. सूरसागर पद सं० ५४० - पृ० २२२

८६. सूरसागर पद सं० ५०३ - पृ० २०६

८७. सूरसागर पद सं० ११३६ - पृ० ४४०

८८. सूरसागर पद सं० ८८ - पृ० २८

८९. सूरसागर पद सं० १३९८ - पृ० ५२८

९०. सूरसागर पद सं० ७१४ - पृ० २९४

९१. सूरसागर पद सं० ७६४ - पृ० ३११

९२. सूरसागर पद सं० ६४४ - पृ० २६८

९३. सूरसागर पद सं० ७७४ - पृ० ३१४

९४. सूरसागर और उनका साहित्य - डॉ० देशराजसिंह भाटी - पृ० ५२६

९५. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति॥ चन्द्रालोक - जयदेव

९६. भ्रमरगीतसार - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ० २३

९७. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/९९ - पृ० ५११

९८. हरिवंशपुराण सर्ग ५७/१८१ - पृ० ६५९

९९. हरिवंशपुराण सर्ग ५९/८४ - पृ० ७०१

१००. सूरसागर पद सं० ४१०६ - पृ० १३२०

१०१. सूरसागर पद सं० २०६८ - पृ० ७६१

१०२. हरिवंशपुराण सर्ग ५९/६२ - पृ० ६९९

१०३. हरिवंशपुराण सर्ग ६०/४७ - पृ० ७०६

१०४. हरिवंशपुराण सर्ग ६०/४८ - पृ० ७०९

१०५. सूरसागर पद सं० १२१४ - पृ० ४७२

१०६. हरिवंशपुराण सर्ग ५५/५८-५९ - पृ० ६२३

१०७. सूरसागर पद सं० ४३८२ - पृ० १३८९

१०८. हरिवंशपुराण सर्ग ४२/१०८ - पृ० ५१३

१०९. सूरसागर पद सं० २०७९ - पृ० ७६५

११०. *हरिवंशपुराण सर्ग ५१/४४ - पृ० ६५६*

१११. हरिवंशपुराण सर्ग ५९/१३-१४ - पृ० ४८९

११२. सूरसागर पद सं० १३५७ - पृ० ५१७

११३. सूरसागर पद सं० ३६२ - पृ० २७६

११४. एक शब्द बहुबारजहंपरै रुचि अर्थ।
पुनरुक्ति परकाशगुनबरैन बुद्धिसमर्थ॥ काव्यनिर्णय - पृ० १९८

११५. हरिवंशपुराण सर्ग ६०/५६८-६९ - पृ० ७५२

११६. हरिवंशपुराण सर्ग ६०/५५५-५६ - पृ० ७५१

११७. सूरसागर पद सं० १०९२ - पृ० ४२२

११८. अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती । अग्निपुराण

११९. हरिवंशपुराण सर्ग १५/२ - पृ० २२९

१२०. सूर की काव्यकला - डॉ० मदन मोहन गौतम - पृ० सं० २६७

६

जैन साहित्य में कृष्ण कथा एवं हरिवंशपुराण

धर्म-प्रचार में लोक प्रचलित कथाओं, आख्यानों, जनश्रुतियों का उपयोग प्राय: किया जाता रहा है। इसी प्रकार लोक विश्रुत महापुरुषों के जीवन संदर्भ का उल्लेख भी इस दृष्टि से महत्तवपूर्ण रहा है। श्री कृष्ण के जीवन संदर्भ को जैन परम्परागत साहित्य में ग्रहण भी इस क्रम में हुआ है। कृष्ण कथा का जो स्वरूप तीर्थंकर महावीर के समय में प्रचलित रहा होगा, उसका उन्होंने अपने धर्म प्रचार में उपयोग किया होगा। अत: आगमिक कृतियों में कृष्ण कथा के जो संदर्भ उपलब्ध हैं, बहुत संभव है कि वे ई०पू० छठी सदी में अर्थात् तीर्थंकर महावीर के समय में इस रूप में प्रचलित रहे हों।[१]

तदुपरान्त स्वाभाविक है कि महावीर स्वामी के एक हजार वर्ष पश्चात् सम्पादित एवं संकलित कृतियों में श्री कृष्ण के जीवन-चरित्र सम्बन्धित प्रसंगों में परिवर्धन हो गया होगा। इसी आधार पर आगमिक कृतियों में श्री कृष्ण चरित के प्रसंग उपलब्ध होते हैं परन्तु ये प्रसंग क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध न होकर यथासंदर्भ वर्णित हैं। इन कृतियों में ज्ञाताधर्म कथा, अन्तकृद्दशा, प्रश्न व्याकरण, उत्तराध्ययन तथा निरयावलिका मुख्य हैं। इन सब ग्रन्थों में वर्णित प्रसंगों के आधार पर श्री कृष्ण के चरित के अधोलिखित तथ्यों की जानकारी मिलती है।

डॉ० महावीर कोटिया के अनुसार :—

१. सोरियपुर नगर के वसुदेव नाम के राजा थे। उनकी दो पत्नियाँ रोहिणी एवं देवकी थी। इनसे उनके बलराम तथा कृष्ण दो पुत्र हुए।[२]

२. वसुदेवादि दस भाई एवं दो बहिनें थी। इसके भाइयों में समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द तथा वसुदेव थे तथा बहिनों में कुन्ती एवं माद्री थी।[३]

३. कृष्ण ने अपने जीवन में अनेक वीरतापूर्ण कार्य किये। इनमें अरिष्ट बैल का वध करना, यमलार्जुन को नष्ट करना, कालियनाग का दर्प हरण करना, महाशकुनि और पूतना को मारना तथा चाणूर, कंस तथा जरासंध इत्यादि का वध शामिल है।

४. श्री कृष्ण द्वारिका के महान् महिमाशाली वासुदेव राजा थे। अनेक अधीनस्थ राजाओं, ऐश्वर्यमान नागरिकों सहित विन्ध्याचल से सागर पर्यन्त दक्षिण भारत-क्षेत्र उनके प्रभाव में था।

५. श्री कृष्ण वासुदेव बाइसवें तीर्थंकर अर्हंत अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि के प्रति इनकी श्रद्धा स्वाभाविक थी। आगमिक कृतियों में अरिष्टनेमि के द्वारिका आगमन तथा कृष्ण का सदल-बल उनकी धर्म सभा में होने का प्रसंग अनेक रूपों में चित्रित हुआ है। इन वर्णनों में कृष्ण के परिवारजनों का उनसे दीक्षा लेने का वर्णन भी है।

६. यादवों का विनाश मदिरापान से उन्मत्त परस्पर लड़ने से हुआ था। द्वारिका नगरी अग्नि में भस्म हो गई। श्री कृष्ण का प्राणान्त जरत्कुमार के बाण लगने से कौशाम्बी वन-प्रदेश में हुआ।[४]

इन सब तथ्यों पर आधारित श्री कृष्ण कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार से है।

श्री कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र थे। वसुदेवादि दस भाई थे तथा वे सोरियपुर के राजा थे। श्री कृष्ण अत्यन्त वीर साहसी पुरुष थे तथा बलराम उनके बड़े भाई थे। कृष्ण ने मथुरा नरेश कंस का वध किया एवं तदुपरान्त अपने बल से द्वारिका का राज्य स्थापित कर अपने बल का विस्तार किया। उन्होंने जरासंध का वध करके वासुदेव के रूप में ख्याति अर्जित की। रुक्मिणी उनकी रानी थी। प्रद्युम्न, शाम्ब आदि उनके अनेक पुत्र थे। श्री कृष्ण के चचेरे भाई जैनों के बाइसवें तीर्थंकर के रूप में मान्य हुए। कृष्ण परिवार के अनेक सदस्यों ने उनसे वैराग्य की दीक्षा ली तथा मोक्ष मार्ग ग्रहण किया। यादव लोग मदिरापान कर आपस में लड़ मरे तथा द्वारिका नगरी अग्नि में नष्ट हो गई। जरा नामक व्याध के बाण से श्री कृष्ण का परलोक गमन हुआ।

इतना सब होने के बावजूद भी आगमिक कृतियों में कृष्ण चरित क्रमबद्ध व विस्तार से वर्णित नहीं है। जिनसेन ने इन्हीं आगमिक कृतियों में वर्णित कृष्ण कथा को मूलाधार अथवा बिन्दुस्वरूप में ग्रहण कर इसे क्रमबद्ध एवं विस्तृत रूप प्रदान कर ख्याति प्राप्त की है। जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण में ऊपर उद्धृत तथ्यों के आधार-प्रसंगों का विस्तार मिलता है। साथ ही पूर्वापर सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अन्य प्रसंग भी इधर-उधर से लेकर कवि ने इसे नवीनता देने का सफल प्रयास किया है। आचार्य जिनसेन द्वारा वर्णित कृष्ण-चरित जैन साहित्य में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। परवर्ती साहित्य में भी इसी कथा को मूलाधार मानकर जैन कवियों ने कृष्ण चरित का निरूपण किया है। हरिवंशपुराण के नवीन प्रसंग जो कवि की मौलिकता पर आधारित हैं, द्रष्टव्य हैं—

श्री कृष्ण की वंश-परम्परा

पुराणकार ने आलोच्य कृति में श्री कृष्ण के वंश परम्परा का विस्तृत विवरण दिया है। यह परम्परा ब्राह्मण परम्परा से कुछ साम्य रखते हुए भी नवीनता के आधार पर निरूपित हुई है।

जिनसेनाचार्य के अनुसार भरत-खण्ड में विद्यमान चम्पापुरी में "आर्य" नाम का राजा हुआ। उसके हरि नाम का पुत्र था, जो इन्द्र के समान प्रसिद्ध हुआ। यही परम यशस्वी सम्राट् हरि, हरिवंश की उत्पत्ति का कारण बना। हरि से महागिरि, महागिरि से हिमगिरि,

हिमगिरि से वसुगिरि, उससे गिरि, तदनन्तर सुमित्र आदि प्रतापशाली सम्राट् हुए। इसी कुल में आगे चलकर सुव्रत, वसु, वृहद्ध्वज, सुबाहु, दीर्घबाहु, वज्रबाहु, लब्धाभिमान, भानु, यदु, सुभानु, भीम तथा यदु नाम के राजा हुए। राजा यदु ही यादव वंश की उत्पत्ति के कारण थे, उन्होंने अपने प्रताप से समस्त पृथ्वी पर अपना राज्य फैला दिया था।

उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपविभाकरः॥[५] **१८/६**

तदन्तर इसी कुल में यदु से नरपति एवं नरपति के शूर और सुवीर दो पुत्र हुए। अत्यन्त वीर शूर ने अपने भाई सुवीर को मथुरा के राज्य पर अधिष्ठित किया एवं स्वयं कुशद्य देश में एक उत्तम शौर्यपुर नाम का नगर बसाया। शूर से अन्धक वृष्णि एवं सुवीर से भोजक वृष्णि आदि अत्यन्त वीर उत्पन्न हुए। अन्धक वृष्णि के दस पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार से हैं—१. समुद्रविजय २. अक्षोभ्य ३. स्तिमितसागर ४. हिमवान ५. विजय ६. अचल ७. धरण ८. पूरण ९. अभिचन्द एवं १०. वसुदेव।

इसके अलावा उनके कुन्ती एवं माद्री नाम की दो कन्याएँ थीं, जो अतिशय मान्य थीं।

राजा भोजक वृष्णि के उग्रसेन, महासेन तथा देवसेन नाम के तीन पुत्र हुए। अन्धक वृष्णि के सबसे बड़े पुत्र समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि थे तथा सबसे छोटे पुत्र वसुदेव के श्री कृष्ण पुत्र थे। इस प्रकार से श्री कृष्ण अरिष्टनेमि के न केवल समकालीन थे वरन् उनके चचेरे भाई थे।

अरिष्टनेमि तथा श्री कृष्ण का पारिवारिक वंश-वृक्ष हरिवंशपुराण के अनुसार संक्षेप में निम्न प्रकार से है—

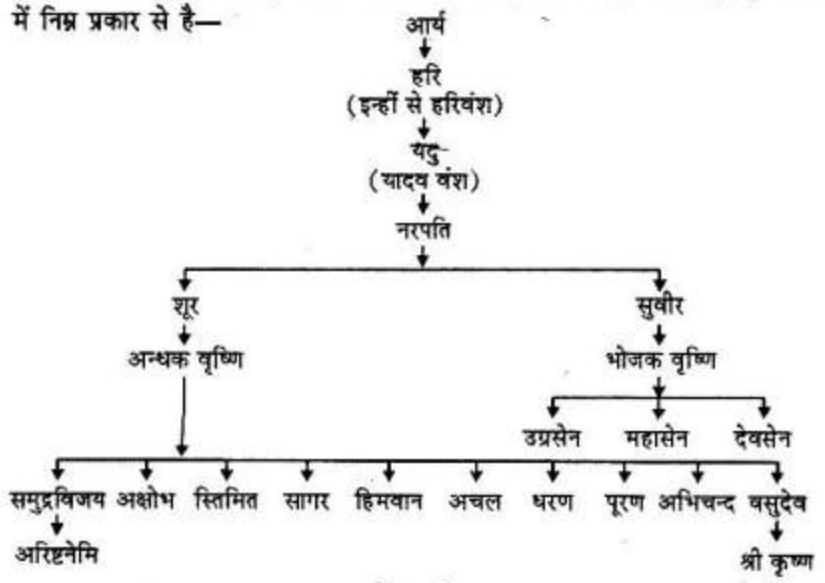

समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि ही जैनों के बाइसवें तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हुए। परन्तु आयु में ये श्री कृष्ण से छोटे थे। पौराणिक परम्परा के अनुसार जिनसेनाचार्य ने इस वंश का विस्तृत वर्णन किया है।

श्री कृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि

राजा अन्धक वृष्णि के दस पुत्र थे जिसमें शौर्यपुर का सम्राट समुद्रविजय सबसे बड़ा था। उनकी रानी का नाम शिवा देवी था। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को चित्रा नक्षत्र में रात्रि की शुभ बेला में शिवा देवी ने पुत्ररत्न (अरिष्टनेमि) को जन्म दिया।

ततः कृतसुसंगमे निशि निशाकरे चित्रया
प्रशस्तसमवस्थिते ग्रहगणे समस्ते शुभे।
असूत तनयं शिवा शिवदशुद्धवैशाखज—
त्रयोदशतिथौ जगज्जयनकारिणं हारिणम्॥[6]

इस भाग्यशाली पुत्र के पुण्य प्रभाव से देव देवेन्द्रों ने उसका जन्म-महोत्सव मनाया।[7]

बचपन से ही अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षणों एवं उत्तम स्वरों से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त थे। गौतम गोत्री एवं शरीर से श्याम कांति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी तथा उनमें अलौकिक बल था।

जब श्री कृष्ण एवं जरासंध के बीच निर्णायक युद्ध हुआ था, उस समय नेमिनाथ ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। जब दोनों ओर से सेनाएँ अपनी-अपनी व्यूह बनाकर युद्ध के लिए तत्पर खड़ी थी, उस समय कुबेर के सिंहविद्या रथ पर बलभद्र, गारुड़रथ पर श्री कृष्ण एवं इन्द्र के भोज रथ पर नेमिनाथ सवार हुए। उनके रथ अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण थे। यादवों की सेना में राजाओं ने अरिष्टनेमि को अपना सेनापति बनाकर उसे अभिषिक्त किया।[8]

उधर राजा जरासंध ने हर्षपूर्वक महाशक्तिशाली राजा हिरण्यनाभ को सेनापति के पद पर नियुक्त किया। दोनों ओर से रणभेरियाँ बजने लगी। दोनों ओर से योद्धा एक-दूसरे को ललकार-ललकार कर यथायोग्य युद्ध करने लगे।[9]

शत्रु सना को प्रबल और अपनी सेना को नष्ट होती देख बैल, हाथी तथा वानर की ध्वजा धारण करने वाले नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि कृष्ण का अभिप्राय जानकर स्वयं युद्ध करने की तैयारी करने लगे तथा उन्होंने जरासंध के चक्रव्यूह को भेजने का निश्चय किया। नेमिनाथ ने शत्रुओं के हृदय में भ्रम उत्पन्न करने के लिए इन्द्र प्रदत्त शाक शंख को बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख और अनावृष्टि ने बलाहक नामक शंख बजाया। शंख नाद होते ही उसकी सेना में महान् उत्साह बढ़ गया एवं शत्रु सेना में महाभय छा गया।

तदनन्तर नेमिनाथ ने चिरकाल तक शत्रु सेना के साथ भयंकर युद्ध किया। बाण वर्षा से नीचे गिराकर हजारों शत्रुओं राजाओं को युद्ध में तितर-बितर कर दिया।

निपात्य शरवर्षेण रुक्मिणं चिरयोधनम्।
रिपुराजसहस्राणि नेमिरिचक्षेप संयुगे॥[१०]

इतना ही नहीं अरिष्टनेमि के प्रभाव से अन्त में श्री कृष्ण को जरासंध से विजयश्री प्राप्त हुई एवं वे नौवें नारायण के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

अरिष्टनेमि के एक प्रसंग में वर्णन आता है कि एक दिन युवा नेमिकुमार कुबेर के यहाँ से भेजे हुए वस्त्राभूषणों आदि से सुशोभित, राजाओं तथा बलदेव व श्री कृष्ण आदि के साथ यादवों से भी कुसुमचित्रा सभा में गये।

सभा में उपस्थित सभी राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़कर उन्हें नमस्कार किया। श्री कृष्ण ने भी आगे बढ़कर उनका स्वागत किया।

उस सभा में बलवानों की चर्चा छिड़ गई। सभी अपने-अपने मतानुसार कोई अर्जुन को, कोई युद्ध में स्थिर रहने वाले युधिष्ठिर को, कोई पराक्रमी भीम को, कोई उद्भट सहदेव तथा नकुल को एवं कोई अन्य लोगों की प्रशंसा करने लगे। किसी ने कहा बलदेव सबसे ज्यादा बलवान् है तो कोई गोवर्धन पर्वतधारी श्री कृष्ण को सबसे अधिक बलवान् कहने लगा। इस पर बलदेव ने कहा कि तुम लोग व्यर्थ में इनकी बातें करते हो, नेमिकुमार सा बल तीन लोक में किसी का नहीं है। वे पृथ्वी को उठा सकते हैं, समुद्र को दशों दिशाओं में बिखेर सकते हैं। इसके जैसा बल मनुष्य तो क्या किसी देवता में भी नहीं है।[११]

श्री कृष्ण ने नेमिकुमार की बढ़ाई सुनकर मुस्कुराते हुए उनसे मल्लयुद्ध में बल की परीक्षा करने का कहा। इस पर नेमिनाथ ने कहा कि—हे अग्रज! यदि आपको मेरी भुजाओं का बल जानना ही है तो सहसा इस आसन से मेरे पैर को विचलित कर दीजिए। श्री कृष्ण उसी समय कमर कसकर भुजबल से जिनेन्द्र नेमिकुमार को जीतने की इच्छा से खड़े हुए परन्तु पैर का चलाना तो दूर रहा, उनके पैर की एक अंगुली को भी चलाने में समर्थ नहीं हो सके। पसीने से लथपथ होकर एवं लम्बी-लम्बी साँसे निकालते हुए उन्होंने कहा कि—हे देव! आपका बल लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी है। तदुपरान्त श्री कृष्ण के अहंकार का नष्ट करने वाले जिनेन्द्र रूप चन्द्रमा राजाओं से परिवृत्त हो अपने महल में चले गये।

निजमगारमगाज्जिनचन्द्रमाः परिवृतः क्षितिपैः क्षपितस्मयः।
हरिरपि स्फुटमात्मनि शंकितः क्लिशितधीर्हि जिनेष्वपिशंकते॥[१२]

एक समय वसन्त ऋतु आने पर श्री कृष्ण अपनी स्त्रियों से परिवृत भगवान् नेमिनाथ, राजा-महाराजा और नगरवासी लोगों के साथ गिरनार पर्वत पर क्रीड़ा करने की इच्छा से

गये। गिरनार पर्वत की शोभा अनुपम थी। वासन्ती फूलों के परागों से सुगन्धी हवा, आम्रलताओं के रस का आनन्द लेने वाली कोकिलाओं की कुहू-कुहू, मधुपान में लीन भ्रमरों के गुंजन से वन प्रदेश अत्यन्त मनोहर हो रहा था। ऐसे मनमोहक वातावरण में सभी लोग आनन्द के साथ क्रीड़ा करने लगे।

उस गिरनार पर्वत पर श्री कृष्ण ने अपनी रानियों के साथ वसन्त ऋतु का चैत्रमास व्यतीत किया। कृष्ण की रानियाँ बड़ी वाचाल थी। उन्होंने अपने पति से आज्ञा लेकर देव नेमिनाथ के साथ वृक्षों व लताओं से रमणीय वनों में क्रीड़ा करने लगी। कोई भाभी नेमिनाथ का हाथ पकड़कर विहार कराने लगी तो कोई उनको वन की शोभा दिखाने लगी और कोई उन्हें साल-तमाल वृक्षों की टहनियों के पंखों से हवा करने लगी। कई भाभियाँ अशोक वृक्षों के नये-नये पल्लवों से कर्णाभरण या सेहरा बनाकर उन्हें पहनाने लगी। कोई उन्हें पुष्पमालाएँ पहनाने लगी, कोई सिर पर मालाएँ बाँधने लगी और कोई उनके सिर को लक्ष्य बनाकर उस पर पुष्प फैंकने लगी। इस प्रकार युवा नेमिकुमार भाभियों के साथ वसन्त का आनन्द ले रहे थे। वे भाभियाँ बड़ी भक्तिभाव से उनकी सेवा में तल्लीन थी।[१३]

वसन्त ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु आई। तब श्री कृष्ण की प्रियाएँ नेमिकुमार से जलक्रीड़ा का आग्रह करने लगी। गिरनार पर्वत शीतल जल के झरनों से मनमोहक लग रहा था। इन झरनों के जल से नेमिकुमार भौजाइयों के आग्रह से जलक्रीड़ा करने लगे। यद्यपि नेमिकुमार स्वतः राग से पराङ्मुख थे तथापि उस समय जल में तैरना, डुबकी लगाना, दूर निकलना उनके लिए साधारण बात थी। उन्होंने अपनी भाभियों के साथ विविध जल क्रीड़ाएँ की। उस जलक्रीड़ा से उन तरुणियों का ग्रीष्म दाह मिट गया। वे तृप्त हो गई उनके कर्णाभरण गिर गये, तिलक मिट गये, आकुलता बढ़ गई, मेखला ढीली हो गई। अब उन सबने स्नान करके अपने-अपने वस्त्र बदले।[१४]

तदुपरान्त नेमिनाथ ने जो स्नान करके गीला वस्त्र छोड़ा था, उसे कृष्ण की अतिप्रिया पत्नी एवं अपनी भाभी जाम्बवती से आँख के इशारे द्वारा निचोड़ने का कहा। इस पर जाम्बवती बुरा मान गई तथा अपनी भौंहे टेढ़ी करके उनसे कहने लगी कि—ऐसी आज्ञा तो उसके महाबलवान् नाग शय्या पर सोने वाले और शारंग धनुष को चढ़ाने वाले श्री कृष्ण भी कभी नहीं करते, फिर आप कोई विचित्र पुरुष जान पड़ते हो। जो मुझे इस प्रकार से गीला वस्त्र निचोड़ने का आदेश दिया है।

जाम्बवती के उक्त वचन सुनकर नेमिनाथ ने कहा कि—तूने राजा कृष्ण के पौरुष का वर्णन किया है, संसार में वह कितना कठिन है। इतना कहकर वे अविलम्ब नगर में गये और वे लहलहाते सर्पों की मालाओं से सुशोभित श्री कृष्ण की नागशय्या पर चढ़ गये। उन्होंने शारंग धनुष को चढ़ा कर प्रत्यंचा से मुक्त कर दिया। शंख की ध्वनि से

दिशाएँ गूंज उठी, हाथियों तथा घोड़ों ने अपने बन्धन तोड़ दिये, स्त्री-पुरुष भयभीत हो गये, महलों के शिखर टूट गये तथा श्री कृष्ण स्वयं चिंतित हो गये। जब उन्हें यथास्थिति की जानकारी मिली, तब वे हर्षित हुए। उन्होंने नेमिकुमार का आलिंगन कर उनका अत्यधिक सत्कार किया।[१५]

घर आने पर श्री कृष्ण को जब यह विदित हुआ कि—अपनी स्त्री के निमित्त से उन्हें कामोद्दीपन हुआ है, तब वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। श्री कृष्ण ने नेमिकुमार के लिए विधिपूर्वक भोजवंशियों की राजकुमारी "राजीमती" की याचना की। अपने स्वजनों को उसके पाणिग्रहण संस्कार की सूचना दी और समस्त राजाओं को स्त्रियों सहित अपने यहाँ आमंत्रित किया।[१६]

वर्षा ऋतु में एक दिन युवा नेमिकुमार ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित रथ पर सवार हो अनेक राजकुमारों के साथ विवाह के लिए चल पड़े। प्रसन्नता से युक्त राजीमती तथा नगर की स्त्रियाँ प्यासे नेत्रों से नेमिकुमार के सौन्दर्यरूपी अमृत का पान करने लगी। कुमार राजकुमारों के साथ उपवन में धीरे-धीरे गमन कर रहे थे, उसी समय मार्ग में एक समय भय से जिनके मन और सिर काँप रहे थे, जो अत्यन्त विह्वल थे, पुरुष जिन्हें रोके हुए थे और नाना जातियों से युक्त थे, ऐसे तृणभक्षी पशुओं को देखा। पशुओं का भय मिश्रित क्रन्दन सुनकर नेमिकुमार ने रथ को वहीं रुकवाया और सारथि से उन पशुओं के बारे में पूछा। सारथि ने विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर उनसे कहा—हे नाथ! आपके विवाहोत्सव में जो माँस-भोजी राजा आये हैं, उनके लिए नाना प्रकार के माँस तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं का निरोध किया गया है।[१७]

सारथी के उपर्युक्त वचन सुनकर नेमिकुमार ने जिनका हृदय प्राणिदया से सरोबार था, तुरन्त ही उन पशुओं को बाड़े में से मुक्त कराया तथा राजपुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि—

गृहमरण्यमरण्यतृणोदकान्यशनपानमतीव निरागसः।
मृगकुलस्य तथापि वधो नृभिर्जगति पश्यत निर्घृणतां नृणाम्॥
रणमुखेषु रणार्जितकीर्तयः करितुरंगरथेष्वपि निर्भयान्।
अभिमुखानभिहन्तुमधिष्ठितानभिमुखाः प्रहरन्ति न हीतरान्॥
शरभसिंहवनद्विपयूथपान् प्रकुपितान् परिहृत्य विदूरतः।
मृगशशान् पृथुकान् प्रहरत्यमून् कथमिवात्र पुमान्न विलज्जते॥
चरणकण्टकवेधभयाद्भटा विदधते परिधानुमुपानहाम्।
मृदुमृगान् मृगयासु पुनः स्वयं निशितशस्त्रशतैः प्रहरन्ति हि॥[१८]

अर्थात् हे राजपुत्रों! वन ही जिनका घर है, वन के तृण और पानी ही जिनका भोजनपान है और जो अत्यन्त निरपराध है, ऐसे दीन-मृगों का संसार में फिर भी मनुष्य

वध करते हैं। अहो! मनुष्यों की निर्दयता तो देखो। रण में विजय कीर्ति प्राप्त करने वाले योद्धा सामने योद्धाओं पर ही प्रहार करते हैं, निर्बलों पर नहीं। हाथी, घोड़े और रथ का सवार अपने से लड़ने को तत्पर आदमी से लड़ने को तैयार होता है, दूसरे पर वार नहीं करता। सामन्तों की यही नीति है कि वन के सिंह से भागे तथा मृग व बकरों को मारे, उन्हें शर्म क्यों नहीं आती? अहा! जो शूरवीर पैर में काँटा चुभ जाये इस भय से स्वयं तो जूता पहनते हैं और शिकार के समय कोमल मृगों को सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से मारते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। आज मनुष्य भय में भी इतना मोहित हो गया है कि सांसारिक दुःख को दूर करने का यत्न नहीं करता।

यह कह कर नेमिकुमार विरक्त मन से द्वारिका लौट गये। वहाँ स्नानकर सिंहासन बैठे जहाँ राजा कृष्ण एवं बलभद्र बैठे थे। तदनन्तर वे तप करने उठने लगे तब कृष्ण, बलभद्र व भोजवंशियों ने नाना प्रकार से उनका अनुनय-विनय कर, आगा-पीछा समझाकर उन्हें रोकने का प्रयास किया परन्तु सब व्यर्थ। जिस प्रकार पिंजरा तोड़कर निकलने में उद्यत प्रबल सिंह को कोई नहीं रोक सकता, ठीक उसी प्रकार तप के लिए जाने वाले दृढ़ संकल्पी नेमिकुमार को रोकने में कोई समर्थ न हो सका। फिर नेमिकुमार ने अपने माता-पिता आदि परिवार के लोगों को अपना निर्णय एवं संसार की स्थिति समझाकर गिरनार पर्वत की तरफ निकल गये।[१९]

सुमेरु के समान कांतिवाले गिरनार पर्वत पर पहुँच कर नेमिकुमार ने अपने हाथों से सिर के कुटिल केशों को उखाड़ दिया तथा अनेक राजाओं के साथ उन्होंने दीक्षा ली। इसी पर्वत पर सहस्राम्रवन उद्यान में उन्होंने कठोर तप कर सिद्धि प्राप्त की।

तदुपरान्त एक बार बलदेव, श्री कृष्ण व अनेक यादव लोग गिरनार पर्वत पर गये। वहाँ भगवान् नेमिनाथ ने सबको धर्मोपदेश दिया। उनके द्वारा बताये गये निर्मल मोक्षमार्ग को सुनकर उन सभी लोगों ने उन्हें नमस्कार किया एवं अपने आप को धन्य-धन्य समझने लगे।

व्यापक धर्म लाभ के लिए जिनेन्द्र नेमिनाथ विहार कर लोगों को उपदेश देने लगे। नाना देशों में यथाक्रम विहार कर उन्होंने क्षत्रिय आदि वर्णों को जैन धर्म में स्थिर किया। भद्रिलपुर आने पर वहाँ श्री कृष्ण के छहों भाइयों ने उनसे दीक्षा ली। तदुपरान्त वे गिरनार पर्वत पर रहने लगे। एक बार पुनः श्री कृष्ण-बलदेव व यादवों सहित गिरनार पर भगवान् से धर्म-श्रवण करने आये। वहाँ बलदेव के पूछने पर नेमिनाथ ने द्वारिका के विनाश एवं श्री कृष्ण व सभी यादवों का अन्तकाल कैसा होगा, इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। द्वारिका का दाह, श्री कृष्ण का परमधामगमन व यादवों का विनाश निकट जान कृष्ण के अनेक परिवारजनों ने उनसे दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष-मार्ग को अपनाया।

श्री कृष्ण का आध्यात्मिक राजपुरुष स्वरूप

हरिवंशपुराण में कृष्ण वासुदेव से युक्त राजपुरुष के रूप में चित्रित हुए हैं परन्तु उनकी समस्त धार्मिक निष्ठा तीर्थंकर अरिष्टनेमि के संदर्भ में निरूपित हुई है।

अपने चचेरे भाई अरिष्टनेमि को कृष्ण ने वैराग्य ग्रहण करने के अवसर पर बहुत समझाया परन्तु जब यह जान लिया कि अरिष्टनेमि अपने निश्चय पर अटल है, अडिग है तो उन्होंने उन्हें इस सुकार्य में तनिक भी बाधा नहीं पहुँचाई वरन् उनके मदद रूप बने।

अपनी तपस्या के आधार पर अरिष्टनेमि ने सिद्धि प्राप्त की। वे लोक में अर्हंत के रूप में प्रसिद्ध हुए।[२०] उनका धार्मिक नेतृत्व अनेक लोगों ने स्वीकार किया, तब श्री कृष्ण ने कई बार गिरनार पर जाकर उनसे धर्मोपदेश सुनने का लाभ प्राप्त किया। नेमिनाथ ने भी अपने विहार के समय अनेक बार द्वारिका का प्रवास किया। इन प्रसंगों में उन्होंने प्रत्येक बार धर्मसभाओं का आयोजन किया। इन धर्मसभाओं में कृष्ण वासुदेव, उनके परिवारजन तथा द्वारिका के अन्य नागरिकगण उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। तदुपरान्त कृष्ण वासुदेव के किन्हीं परिवारजनों ने अरिष्टनेमि के सान्निध्य में दीक्षा प्राप्त की।

श्री कृष्ण के नेमिनाथ से धर्मश्रवण के कुछ प्रसंग द्रष्टव्य है—श्री कृष्ण ने गजकुमार के विवाह के समय गिरनार पर भगवान् नेमिनाथ से त्रिषष्टि शलाकापुरुषों की उत्पत्ति के बारे में पूछा।

प्रस्तावे हरिरप्राक्षीज्जिनेन्द्रं प्रणिपत्य सः।
अत्यन्तादरपूर्णेच्छः श्रोतृलोकहितेच्छया॥
अर्हतां चक्रिणामर्धचक्रिणां सीरधारिणाम्।
उत्पत्तिं प्रतिशत्रूणां जिनानामन्तराणि च॥[२१]

श्री कृष्ण के प्रश्न के उत्तर अनुसार जिनेन्द्र ने त्रिषष्टि शलाकापुरुषों की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन कर सम्पूर्ण धर्मसभा को लाभान्वित किया। हरिवंशपुराण के साठवें सर्ग में इन्हीं शलाकापुरुषों की उत्पत्ति के बारे में नेमिनाथ का श्री कृष्ण को ज्ञानोपदेश का चित्रण है।

एक बार जब लम्बे विहार के पश्चात् नेमिनाथ पुनः गिरनार पर समवसरण को सुशोभित करते हुए विराजमान हो गये। उस समय अन्तःपुर की रानियाँ, मित्रजन, द्वारिका की प्रजा तथा प्रद्युम्न आदि पुत्रों से सहित वसुदेव, बलदेव तथा श्री कृष्ण भी बड़ी विभूति के साथ आये और भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार कर समवसरण में यथास्थान बैठ धर्म श्रवण करने लगे।

वसुदेवो बलः कृष्णः सान्तःपुरः सुहृज्जनः।
द्वारिकाप्रजया युक्तः प्रद्युम्नादिसुतान्वितः॥

विभूत्या परमागत्य शैवेयमभिवन्द्यते।
आसीना समवस्थाने धर्मं शुश्रुवुरीश्वरात्॥[२२]

इसी धर्मसभा में बलदेव के पूछने पर भगवान् अर्हत नेमि ने उनसे यादवों तथा द्वारिका के विनाश के बारे में भविष्य कथन कहा। इतना ही नहीं, इस वर्णन में उन्होंने श्री कृष्ण वासुदेव के देहत्याग एवं भावी जन्म का भी भविष्य कहा। श्री कृष्ण ने नेमिनाथ के वचनानुसार द्वारिका में मद्य-निषेध करवाया तथा लोगों से नेमिनाथ से दीक्षित होकर तप करने की सलाह दी। इसी घोषणा के आधार पर प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार तथा रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठ पट्टरानियों ने अनेक पुत्रवधूओं के साथ उनसे दीक्षा धारण की।

संक्षेप में इन प्रसंगों से एक ही बात ध्वनित होती है कि श्री कृष्ण को अरिष्टनेमि के धर्मोपदेशों में विशेष रुचि थी। वे उनसे उपदेश सुनते थे तथा यदाकदा धर्म सम्बन्धी प्रश्न भी पूछा करते थे। कृष्ण का अरिष्टनेमि की धर्मसभाओं में उपस्थित होने तथा धर्मोपदेश सुनने के अनेक प्रसंग आलोच्य कृति में निरूपित हुए हैं, जो उनके आध्यात्मिक राजपुरुष स्वरूप को प्रकट करते हैं।

श्री कृष्ण का ऊर्ध्वलिखित आध्यात्मिक राजपुरुष स्वरूप जैन-परम्परा की देन है। ऐसा वर्णन ब्राह्मण परम्परा में तनिक मात्र भी नहीं है, यह जैन कवियों की नवीन उद्भावना है जिससे जनसाधारण प्रायः आज दिन तक अपरिचित रहा है।

शलाकापुरुष श्री कृष्ण :-

जैन परम्परा के श्री कृष्ण चरित्र में श्री कृष्ण के गोपीजनप्रिय एवं राधाप्रिय स्वरूप का सर्वथा अभाव रहा है। राधा का नाम जैन परम्परागत कृष्ण चरित वर्णन में कहीं देखने को नहीं मिलता। जैन कथानायक श्री कृष्ण में शृंगारी नायक के स्वरूप का अभाव है। अपेक्षाकृत उनके वीर, श्रेष्ठ शलाकापुरुष के स्वरूप का ही सर्वत्र वर्णन हुआ है। कारण स्पष्ट है कि उनके अनुसार श्री कृष्ण अपने समय के वासुदेव शलाकापुरुष थे। इस रूप में वे महान् शक्तिशाली, अर्धचक्रवर्ती राजा थे। उनके द्वारिका सहित सम्पूर्ण दक्षिण क्षेत्र पर प्रभाव व प्रभुत्व था।

हरिवंशपुराण इसी मान्यता पर आधारित काव्यग्रन्थ होने के कारण श्री कृष्ण के बाल्यावस्था से उनकी अद्भुत वीरता का वर्णन करता है। जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण के बाल्यकाल की पराक्रम युक्त क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन्होंने चाणूरमल्ल एवं कंस-वध के समय अद्वितीय वीरता एवं पराक्रम दिखाया।

हरिरपि हरिशक्तिः शक्तचाणूरकं तं द्विगुणितमुरसी स्वे हारिहुंकारगर्भः।
व्यतनुत भुजयन्त्राक्रान्तनीरन्ध्रनिर्यद्बहलरुधिरधारोद्गारमुद्गीर्णजीवम्।
दशशतहरिहस्तिप्रोद्बलौ साधिषूभावितिहठहतमल्लौ वीक्ष्य तौ शीरिकृष्णौ।

प्रचलितवति कंसे शातनिस्त्रिंशहस्ते व्यचलदखिलरंगाम्भोधिरुत्तुंगनादः॥
अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्य केशेष्वतिदृढमतिगृह्याहत्य भूमौ सरोषम्।
विहितपरुषपादाकर्षणस्तं शिलायां तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास॥[२३]

३६/४३-४५

अर्थात् इधर सिंह के समान शक्ति के धारक एवं मनोहर हुंकार से युक्त श्री कृष्ण ने चाणूर मल्ल को, जो उनसे शरीर में दूना था, अपने वक्षःस्थल से लगाकर भुजयन्त्र के द्वारा इतना जोर से दबाया कि उससे अत्यधिक रुधिर की धारा बहने लगी और वह निष्प्राण हो गया। कृष्ण और बलराम में एक हजार सिंह तथा हाथियों का बल था। इस प्रकार अखाड़े में जब उन्होंने हठपूर्वक कंस के प्रधान मल्लों को मार डाला तो उन्हें देख कंस हाथ में पैनी तलवार लेकर उनकी ओर चला। उसके चलते ही समस्त अखाड़े का जनसमूह समुद्र की भाँति जोरदार शब्द करता उठ खड़ा हुआ। श्री कृष्ण ने अपने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली तथा मजबूती से उसके बाल पकड़कर उसे क्रोध वश पृथ्वी पर पटक दिया। तदनन्तर उसके कठोर पैरों को खींचकर, उसके योग्य 'यही दण्ड है', यह विचार कर उसे पत्थर पर पछाड़ कर मार डाला। कंस को मारकर श्री कृष्ण हँसने लगे। कंस वध के समय उनकी ऐसी वीरता का वर्णन सूरसागर इत्यादि में नहीं मिलता है।

रुक्मिणी-हरण प्रसंग में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि—जब श्री कृष्ण रुक्मिणी के हरण के पश्चात् वापस लौट रहे थे, उस समय रुक्मिणी के भाई रुक्मी तथा चेदि नरेश शिशुपाल ने एक विशाल सेना लेकर श्री कृष्ण का पीछा किया। रुक्मिणी अनिष्ट की आशा से घबरा गई परन्तु श्री कृष्ण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि—

इत्युक्त्वाऽसौ क्षुरप्रेण क्षिप्रमप्राकृतास्त्रवित्।
अयत्नेनैव चिच्छेद तालवृक्षं पुरः स्थितम्॥
अंगुलीयकनद्धं च वज्रं संचूर्ण्य प्राणिना।
तस्याः संदेहमामूलं चिच्छेद यदुनन्दनः॥[२४]

अर्थात् श्री कृष्ण ने रुक्मिणी से कहा कि, हे कोमलहृदये! भयभीत न हो। मुझ पराक्रमी के रहते हुए दूसरों की संख्या बहुत होने पर भी क्या हो सकता है? इस प्रकार असाधारण अस्त्र को जानने वाले श्री कृष्ण ने अपने बाण से सामने खड़े ताल के वृक्ष को अनायास ही काट डाला तथा अंगूठी में जड़े हुए हीरा को हाथ से चूर्ण कर उसके सन्देह को जड़ मूल से नष्ट कर दिया।

तदनन्तर शत्रु सेना के साथ उनका भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में सिंह के समान शूरवीर श्री कृष्ण ने शिशुपाल का सामना किया तथा द्वन्द्व-युद्ध में उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाण से शिशुपाल का मस्तक गिरा दिया।[२५]

कंस जरासंध का दामाद था। जब श्री कृष्ण ने कंस का वध किया तो उसके पश्चात् श्री कृष्ण व पांडव गण राजगृह के अधिपति महान् शक्तिशाली सम्राट् जरासंध के कोप भाजन बने। जरासंध के लगातार आक्रमणों से प्रताड़ित होकर यादवों ने मथुरा प्रदेश छोड़कर सुदूर पश्चिम में द्वारिका में नये राज्य की स्थापना की तथा दक्षिण भरत खण्ड में अपने प्रभुत्व व प्रभाव का विस्तार किया। श्री कृष्ण की शक्ति व यादवों के माहात्म्य की बात जब जरासंध को ज्ञात हुई तो वह अत्यन्त कुपित हुआ।

यादवानां च माहात्म्यं श्रुत्वा राजगृहाधिपः।
वणिजः तार्किकेभ्यश्च जातः कोपारुणेक्षणः॥[२६]

उसने अपने नेत्रों को लाल करते हुए मन्त्रियों से कहा कि, समुद्र में बढ़ने वाली तरंगों के समान भंगुर शत्रु आज तक उपेक्षित कैसे रहे। गुप्तचर रूपी नेत्रों से युक्त राजा के मन्त्री ही निर्मल चक्षु है, फिर वे सामने खड़े रहकर स्वामी को तथा अपने आपको धोखा देते रहे। यदि महान् ऐश्वर्य में मत रहने वाले मैंने उन शत्रुओं को नहीं देखा तो आप लोगों ने उन्हें क्यों नहीं देखा? यदि शत्रु उत्पन्न होते ही महान् प्रयत्न पूर्वक नष्ट नहीं किये तो वे कोप को प्राप्त हुई बीमारियों की भाँति दुःख देते हैं। ये दुष्ट यादव मेरे जामाता तथा भाई अपराजित को मारकर समुद्र की शरण में प्रविष्ट हुए हैं।

तदुपरान्त जरासंध ने कृष्ण व यादवों को नष्ट करने के अपनी सैनिक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी तथा दूत भेजकर यादवों को आधिपत्य स्वीकार कर लेने का संदेश भेजा—

सापराधतया यूयं यद्यप्युद्भूतभीतयः।
दुर्गं श्रितास्तथाप्यस्मन्नभयं नमतैत्य माम्॥[२७]

अपराधी होने के कारण तुमने मुझ से भयभीत होकर दुर्ग का आश्रय लिया है तथापि तुम लोग मुझे आकर नमस्कार करो तो तुम्हें मुझसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।

दूत की बात सुनकर श्री कृष्ण कुपित हो उठे। उन्होंने उससे कहा कि, सेना के साथ तुम्हारे राजा का युद्ध के लिए सत्कार है। हम संग्राम के लिए उत्कण्ठित हैं। तदनन्तर दोनों सेनाएँ आमने-सामने हो गई। युद्ध प्रारम्भ हो गया। जरासंध द्वारा रचित अनेक चक्रव्यूहों को श्री कृष्ण, बलराम व नेमिनाथ ने भेदन किया। जरासंध को अपनी सेना की पराजय ज्ञात हो गई। उसने जान लिया कि मेरा मरण-काल आ चुका है परन्तु फिर भी कृष्ण से बोला कि, हे गोप! चक्र न चला कर व्यर्थ समय की उपेक्षा क्यों कर रहा है?[२८]

जरासंध के इस प्रकार कहने पर स्वभाव से विनयी कृष्ण ने उससे कहा कि, मैं चक्रवर्ती उत्पन्न हो चुका हूँ इसलिए आज से मेरे शासन में रहिए। यद्यपि यह स्पष्ट है

कि तुम हमारा अपकार करने में प्रवृत्त हो तथापि हम नमस्कार मात्र से प्रसन्न हो तुम्हारे अपकार को क्षमा किये देते हैं।

समान शक्तिशाली व बलशाली उन दोनों शलाकापुरुषों का एक-दूसरे के आधिपत्य में रहना संभव हो ही नहीं सकता। फलतः श्री कृष्ण ने कुपित होकर अपना चक्र छोड़ा। उसने शीघ्र जाकर जरासंध के वक्षःस्थल रूपी भित्ति को भेद दिया।

प्रतापी जरासंध के वध के साथ ही श्री कृष्ण को अर्ध-भरत क्षेत्र का स्वामी स्वीकार कर लिया गया।

अत्रान्तरे सुरैस्तुष्टैस्तस्मिन्नुद्घुष्टमम्बरे।
नवमो वासुदेवोऽभूद् वसुदेवस्य नन्दनः॥[२९]

अवतीर्य विमानेभ्यो वसुदेवानुयायिनः।
वासुदेवं बलोपेतं प्रणेमुः प्राभृतान्विताः॥[३०]

अभिषिक्तौ ततः सर्वैर्भूपैर्भूचरखेचरैः।
भरतार्धबिभुत्वे तौ प्रसिद्धौ रामकेशवौ॥[३१]

इस प्रकार से हरिवंशपुराण में श्री कृष्ण चरित्र वर्णन में प्रत्येक सर्ग में कवि ने उनकी वीरता, तेजस्विता, अद्वितीय पराक्रम, अप्रतिम शक्ति सम्पन्नता इत्यादि का ही वर्णन किया है। उन्होंने श्री कृष्ण को नौंवा नारायण साबित कर उन्हें वीर पुरुष की श्रेणी तक ही सीमित रखा है। फिर भी जैन परम्परा उन्हें भगवत्कोटि में सम्मिलित करती है इसलिए ही उनकी गणना त्रेसठ शलाकापुरुषों या महापुरुषों में भगवान् महावीर आदि चौबीस तीर्थंकरों के साथ की गई है। त्रेसठ शलाकापुरुषों की गणना में श्री कृष्ण नवम वासुदेव हैं। उनका प्रतिद्वन्द्वी जरासंध नवम प्रतिवासुदेव है। बलभद्र वासुदेव का अग्रज होता है।

इस समस्त विवरण के आधार पर हम कहना चाहते हैं कि जैन मान्यतानुसार कृष्ण शलाकापुरुष वासुदेव हैं। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वर्णन इसी मान्यता के अनुकूल है जिसमें उन्हें महान धनुर्धारी, विशिष्ट बलधारक, धीरपुरुष, उच्च कुलोत्पन्न, अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी, दीप्त तेज वाले, प्रवीर पुरुष एवं भयंकर युद्ध को भी विघटित कर सकने वाले राजपुरुष रूप में वर्णित किया है।

श्री कृष्ण के विवाह

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने श्री कृष्ण की आठ पट्टरानियों का उल्लेख किया है जिसका वर्णन हम कथावस्तु के अनुच्छेद में कर चुके हैं। परन्तु पुराणकार का यह विवेचन भी नवीन उद्भावना पर आधारित है जो संक्षेप में इस प्रकार से है :—

१. राजा सुकेतु ने कृष्ण के पराक्रम को सुनकर अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह उनके साथ कर दिया।[३२]

२. सत्यभामा का मानभंग करने के लिए नारद मुनि ने अपनी योजना द्वारा श्री कृष्ण से रुक्मिणी का हरण करवाया, जिससे श्री कृष्ण ने विधिवत् विवाह किया।[३३]

३. नारद मुनि के कहने पर श्री कृष्ण ने जम्बपुर नगर के विद्याधर जाम्बव की पुत्री जाम्बवती का हरण किया एवं उससे विवाह किया।[३४]

४. सिंहलदीप के राजा श्लक्षणरोम के साथ श्री कृष्ण ने युद्ध किया एवं उसके सेनापति को मारकर उसकी रूपवती कन्या लक्ष्मणा को हर लाये। द्वारिका लाने पर उसके साथ उन्होंने विवाह किया।[३५]

५. सुराष्ट्र देश के राजा राष्ट्रवर्धन की सुसीमा नामक कन्या को प्रभास तीर्थ से श्री कृष्ण हरण कर लाये एवं उससे विवाह किया।[३६]

६. सिन्धु देश के राजा वीतभय की गौरी नामक कन्या के साथ भी श्री कृष्ण ने विवाह किया एवं उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगे।[३७]

७. अरिष्टपुर नगर के राजा हिरण्यनाभ की पुत्री पद्मावती को श्री कृष्ण स्वयंवर के समय हठपूर्वक ले आये तथा विरोधी सेनाओं को नष्ट कर रण में शूरवीरता दिखाई।[३८]

८. गान्धार देश के इन्द्रगिरि नामक राजा की गान्धारी नाम की कन्या का श्री कृष्ण ने हरण किया तथा उससे विवाह किया।[३९]

इस प्रकार से श्री कृष्ण की आठ पट्टरानियों का उल्लेख हरिवंशपुराण में मिलता है, जिससे प्रत्येक के साथ श्री कृष्ण का विवाह उनके पराक्रम का द्योतक है। इतना ही नहीं सुसीमा, गौरी, पद्मावती तथा गान्धारी का नाम भी कवि की नवीन उद्भावना पर आधारित है। सूरसागर में वर्णित राधा का वर्णन हरिवंशपुराण में कहीं नहीं मिलता। पुराणकार ने श्री कृष्ण के प्रत्येक जीवन-प्रसंग में उनकी अप्रतिम शक्ति बताने का प्रयास किया है अत: उनके विवाह प्रसंग भी इसी शक्ति व पराक्रम के परिचायक है।

श्री कृष्ण के सहोदर एवं राजकुमार

मगध नरेश जरासंध ने अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह कंस के साथ किया। कंस ने जरासंध की सहायता से मथुरा का राज्य प्राप्त किया एवं उसने निर्दयता से अपने पिता उग्रसेन को जीतकर कैद कर लिया।[४०]

वसुदेव के प्रत्युपकार के लिए कंस ने अपनी बहिन देवकी का विवाह उनके साथ कर लिया। वसुदेव कंस के आग्रह से देवकी के साथ मथुरा में रहने लगे तथा कंस शूरसेन नामक विशाल देश की राजधानी मथुरा का शासन करने लगा।

एक बार कंस के बड़े भाई अतिमुक्तक मुनि आहार के लिए राजमन्दिर में आये।

वहाँ कंस की स्त्री जीवद्यशा नमस्कार कर विनम्रता दिखाती हुई उनके सामने खड़ी हो गई तथा क्रीड़ा भाव से कहने लगी कि, यह आपकी बहिन देवकी का आनन्दवस्त्र है, उसे देखिये। मुनि संसार की स्थिति को जानने वाले थे उन्होंने कहा कि, तू हँसी कर रही है परन्तु यह तेरी बड़ी मूर्खता है। तू दुःखदायक शोक के स्थान पर आनन्द प्राप्त कर रही है। तू यह निश्चित समझ कि इस देवकी के गर्भ से जो पुत्र होगा, वह तेरे पति व पिता को मारने वाला होगा। यह ऐसी होनहार है कि इसे कोई टाल नहीं सकता।

भविता यो हि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः।
पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीयं भवितव्यता॥[४१]

मुनि के ऐसे वचन सुन जीवद्यशा भयभीत हो उठी। उसकी आँखों से आँसू निकलने लगे। वह अपने पति के पास गई तथा कहने लगी कि—मुनि के वचन सत्य निकलते हैं, यह विश्वास जमाकर उसने समस्त समाचार कह सुनाया। यह वृत्तान्त सुन कंस को शंका हो गई। वह तत्क्षण सत्यवादी वसुदेव के पास गया। उन्हें विश्वास में ले यह वर माँगा कि 'प्रसूति के समय देवकी मेरे ही घर में निवास करे।' वसुदेव ने निर्बुद्धि होकर कंस को यह वरदान दे दिया। उन्हें कोई शंका नहीं थी। बाद में जब उन्हें इस वृत्तान्त का पता चला, तब वे अत्यन्त दुःखी हुए। उसी समय देवकी के साथ ऋद्धिधारक अतिमुक्तक मुनि के पास गये। उन्हें प्रणाम कर, आशीर्वचन लिया। वसुदेव ने अपने पुत्र के बारे में "जो कंस को मारने वाला था" पूछा। मुनि ने वसुदेव को सम्पूर्ण पूर्वजन्म का वृत्तान्त कह सुनाया तथा उन्होंने कहा कि देवकी के क्रमशः नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न तथा नित्यशत्रु नाम के छः पुत्र होंगे।[४२]

ये सभी पुत्र अत्यन्त सदृश एवं समान रूप के धारक होंगे। ये सभी नेमिनाथ की शिष्यत्व ग्रहण कर मोक्ष जायेंगे। देवकी के जो सातवाँ पुत्र होगा वह अत्यन्त वीर होगा एवं इस भरत क्षेत्र में नौंवा नारायण होगा। यह वृत्तान्त सुन वसुदेव देवकी के साथ अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुए। तदुपरान्त उन्होंने मुनिराज से अरिष्टनेमि का चरित्र सुना एवं बहुत प्रसन्नता के साथ घर लौट आये।

पहले के समान वसुदेव-देवकी मथुरा में रहने लगे तथा मृत्यु की शंका से शंकित कंस उनकी निरन्तर सेवा शुश्रूषा करने लगा। तदनन्तर देवकी के युगल पुत्र उत्पन्न हुए, तब इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम नाम का देव उन उत्तम युगल पुत्रों को उठाकर सुभद्रिल नगर के सेठ सुदृष्टि के यहाँ पहुँचा आया। उसी समय अलका के दो युगल पुत्र भाग्यवश उत्पन्न होते ही मर गये थे, उन्हें नैगम देव उठा लाया एवं देवकी के प्रसूति गृह में रख आया। कंस ने शंका के साथ उन दोनों मृत बालकों को देखा तथा उनके पैर पकड़कर शिलातल पर पछाड़ दिया। तदन्तर देवकी ने क्रम-क्रम से दो युगल और उत्पन्न किये। देव ने उन्हें भी अलका सेठानी के पास भेज दिया। उस सेठानी ने छहों पुत्रों का

सुखपूर्वक लालन-पालन किया। वे अत्यन्त स्वरूपवान थे तथा धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

षडप्यविघ्ना वसुदेवपुत्राः स्वपुण्यरक्ष्यास्त्वलकातिहृद्याः।
पुरोक्तसंज्ञाः सुखलालितास्ते शनैरवर्धन्त ततोऽतिरूपाः॥[४३]

तदुपरान्त देवकी ने श्रवण नक्षत्र में भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि के पवित्र दिन सातवें ही मास में अलक्षित रूप से एक पुत्र को जन्म दिया, जो कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह बालक शंख, चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों युक्त एवं महानीलमणि के समान देदीप्यमान था। इस बालक को वसुदेव वृन्दावन में सुनन्द के यहाँ पहुँचा कर आये तथा उसी समय यशोदा से उत्पन्न उसकी पुत्री को ले आये। कंस प्रसूति के समाचार सुन प्रसूतिका गृह में गया। वहाँ निर्दोष कन्या को देख कर उसका क्रोध दूर हो गया परन्तु कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है, यह सोचकर उस की नाक हाथ से मसल कर चपटी कर दी।

उपर्युक्त विवरणानुसार श्री कृष्ण के छः भाई उनसे बड़े थे जिनका अलका सेठानी के यहाँ लालन-पालन हो रहा था।

समयानुसार जब अरिष्टनेमि ने दीक्षा धारण कर कैवल्य को प्राप्त किया एवं जब से धर्मोपदेश के लिए विहार करने लगे, तब से एक बार मलय नामक देश में आये। वहाँ वे उसके भद्रिलपुर नगर के सहस्राम्रवन में विराजमान हो गये। वहाँ उस समय राजा नगरवासी तथा सुदृष्टि सेठ व अलका सेठानी के यहाँ रहने वाले देवकी के छहों पुत्र आये। धर्मसभा में अरिष्टनेमि का धर्मरूपी अमृत सुनकर वे छहों भाई विरक्त हो गये एवं मोक्षलक्ष्मी प्रदान करने वाली दीक्षा को प्राप्त हो गये। उन्होंने घोर तप किया। तदनन्तर वे अरिष्टनेमि के साथ विहार करते हुए गिरनार पर आये तथा वहाँ सुशोभित होने लगे।

एक बार श्री कृष्ण आदि यादवों के साथ द्वारिकावासी गिरनार पर आये तथा नेमिनाथ से धर्मोपदेश सुनने के लिए वहाँ रहने लगे। एक दिन धर्मकथा पूर्ण होने पर देवकी ने हाथ जोड़कर भगवान् अरिष्टनेमि से पूछा कि, आज दो मुनियों का जो युगल मेरे भवन में तीन बार आया तथा तीनों बार आहार लिया, उन्हें देखकर मेरे मन में उन सबमें पुत्रों के समान प्रेम उत्पन्न हुआ है।

देवकी के इस प्रकार कहने पर भगवान् ने कहा कि, छहों मुनि आपके पुत्र हैं जिनको आपने श्री कृष्ण के पहले तीन युगल के रूप में उत्पन्न किया था।

इत्युक्तेऽकथयन्नाथस्तनपास्ते षडप्यमी।
युग्मत्रयतया सूता भवत्या कृष्णपूर्वजाः॥[४४]

अरिष्टनेमि ने आगे कहा कि इन सबने भद्रिलपुर में सुदृष्टि सेठ एवं अलका सेठानी के यहाँ लालन-पालन प्राप्त किया, धर्म श्रवण कर इन्होंने मेरी शिष्यता ग्रहण कर सिद्धि

प्राप्त की है। इस पर देवकी ने उन मुनियों को नमस्कार किया एवं श्री कृष्ण आदि समस्त यादवों ने उनकी स्तुति की।

देवकी को यथास्थिति की जानकारी मिलने पर वह अत्यधिक दु:खी हुई क्योंकि वह सोचने लगी, कि सात पुत्रों को जन्म देकर भी किसी का बाल्य सुख तक अनुभव न कर सकी।

गजकुमार :–

तदनन्तर देवकी ने श्री कृष्ण के पश्चात् देवकृपा से गजकुमार नाम का दूसरा पुत्र उत्पन्न किया, जो वासुदेव के समान कांति का धारक था। वह श्री कृष्ण को अत्यन्त प्रिय था एवं अत्यन्त शुभ था।

इतश्च वसुदेवाभं वासुदेवमनः प्रियम्।
सुतं गजकुमाराख्यं देवकी सुषुवे शुभम्॥[४५]

जब कृष्ण का अनुज सहोदर गजकुमार कन्याओं के मन को हरण करने वाले यौवन को प्राप्त हुआ, तब श्री कृष्ण ने उत्तमोत्तम राजकुमारियों के साथ उसका विवाह कराया। सोमशर्मा ब्राह्मण की एक पुत्री सोमा नाम की अत्यन्त सुन्दर थी, जो उसकी क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न हुई थी। श्री कृष्ण ने गजकुमार के लिए उसका भी वरण किया।

जब उसके विवाह के प्रारम्भ का समय आया तो सभी यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसी समय नेमिनाथ विहार करते हुए द्वारिका आये। नगरवासियों द्वारा नेमिनाथ की वन्दना किये जाने पर गजकुमार भी रथ पर सवार होकर नेमिनाथ की वन्दना के लिए गया। वह भगवान् को नमस्कार कर श्री कृष्ण के साथ धर्मसभा में बैठ गया। नेमिनाथ ने संसार-सागर से पार उतरने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चरित्र रूपी रत्नत्रय का धर्म निरूपण किया तथा श्री कृष्ण के पूछने पर त्रिषष्टि शलाका पुरुषों का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

गजकुमार नेमिनाथ से तीर्थंकर आदि का चरित्र सुनकर संसार से भयभीत हो गया। वह अपने स्वजनों को छोड़कर जिनेन्द्र नेमिनाथ के समीप पहुँचा और उनकी अनुमति से दीक्षा ग्रहण कर तप करने के लिए उद्यत हो गया—

श्रुत्वा गजकुमारोऽसौ जिनादिचरितं तथा।
विमोच्य सकलान् बन्धून् पितृपुत्रपुरस्सरान्॥
संसारभीरुरासाद्य जिनेन्द्रं प्रश्रयान्वितम्।
गृहीत्वानुमतो दीक्षां तपः कर्तुं समुद्यतः॥[४६]

तदनन्तर किसी दिन गजकुमार मुनि रात्रि के समय एकान्त में प्रतिमायोग से विराजमान हो सब प्रकार की बाधाएँ सहन कर रहे थे कि सोमशर्मा अपनी पुत्री के त्याग से उत्पन्न क्रोध रूपी अग्नि के कणों से प्रदीप्त हो उसके पास आया। स्थिर चित्त के धारक उस

मुनिराज के शिर पर तीव्र अग्नि प्रज्ज्वलित करने लगा। उस अग्नि से उनका शरीर जलने लगा। उसी समय उसी अवस्था में शुक्ल ध्यान के द्वारा कृतकेवली हो मोक्ष चले गये।[४७]

उधर समयानुसार नेमिनाथ श्री कृष्ण के छः भाईयों व अन्य मुनियों के साथ निर्वाण धाम को प्राप्त हुए।[४८]

उपर्युक्त विवरणानुसार देवकी की गोद से जन्मे श्री कृष्ण इत्यादि आठ भाई थे। छः भाई क्रमशः नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न तथा जितशत्रु, श्री कृष्ण से बड़े एवं गजकुमार उनसे छोटे थे। श्री कृष्ण के सिवाय सातों भाईयों ने जिनेन्द्र अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष मार्ग को अपनाया। जिनसेनाचार्य की यह नवीन उद्भावना कृष्ण चरित्र को जैन-परम्परा के अनुरूप निरूपित करने की प्रतीत हो रही है।

श्री कृष्ण के पुत्र :-

जब श्री कृष्ण रुक्मिणी एवं सत्यभामा जैसी रानियों के साथ सुखपूर्वक दिन व्यतीत कर रहे थे, तब हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ने दूत भेजकर श्री कृष्ण के पास यह समाचार भेजा कि, आपकी सत्यभामा तथा रुक्मिणी रानियों में से जिसके पहले पुत्र होगा वह यदि मेरी पुत्री उत्पन्न हुई तो उसका पति होगा। यह समाचार उन दोनों पटरानियों ने भी जाना। समयानुसार एक ही रात्रि को दोनों रानियों ने एक-एक उत्तम पुत्र को जन्म दिया। दोनों रानियों ने श्री कृष्ण के पास रात्रि में ही यह शुभ समाचार भेजने के लिए दूत भेजे। सत्यभामा द्वारा भेजा गया सेवक श्री कृष्ण के सिर के पास एवं रुक्मिणी द्वारा भेजा गया सेवक उनके चरणों की तरफ खड़ा रहा। श्री कृष्ण के जगने पर उनकी दृष्टि चरणों की तरफ पड़ी। उधर खड़े सेवक ने रुक्मिणी के पुत्र जन्म का शुभ समाचार सुनाया। इस पर प्रसन्न हो श्री कृष्ण ने आभूषण पुरस्कार में दिये। तदुपरान्त सत्यभामा के सेवक ने भी पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनाया। सन्तुष्ट हो उसे भी श्री कृष्ण ने पुरस्कार में धन दिया।

पुत्र जन्म की छठी रात्रि को आकाशमार्गी धूमकेतु नाम के एक असुर ने पूर्वभव के वैर के कारण रात्रि के समय सभी को महानिद्रा में मग्न कर पुत्र का अपहरण कर लिया एवं आगे जाकर एक शिला के नीचे उस बालक को रख वह अदृश्य हो गया।

तदनन्तर विहार को निकले हुए मेघकूट का राजा कालसंवर अपनी पत्नी कनकमाला के साथ उसी स्थान पर आया। उन्होंने उस बालक को अपने साथ ले लिया तथा उसका राजकुमार की भाँति लालन-पालन किया। स्वर्ण के समान कान्ति का धारण होने से उस बालक का नाम प्रद्युम्न रखा।

उधर रुक्मिणी जागृत होकर पुत्र को अपने पास न देखकर अत्यन्त विकल हो गई। श्री कृष्ण ने सांत्वना दी एवं अपने पुत्र को खोजने का वे प्रयास करने लगे।

इतने में महामुनि नारद वहाँ आये, उन्होंने कहा कि, मैं शीघ्र ही तुम्हारे पुत्र का समाचार लाता हूँ। तुम शोक न करो। नारद मुनि सीमन्धर भगवान् के पास गये, वहाँ से

समाचार लाए कि, उस बालक का नाम प्रद्युम्न रखा है, वह सोलहवें वर्ष अपने माता-पिता को पुनः मिलेगा।

कालसंवर के वहाँ रहते हुए प्रद्युम्न ने अनेक विद्याएँ सिखीं एवं वह अस्त्र-संचालन में पारंगत हुआ।

उधर श्री कृष्ण की पटरानी सत्यभामा का, जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम भानु रखा गया। वह भानु भी प्रातःकाल के सूर्य के समान अपनी महिमा से बढ़ने लगा।

भामायास्तनुजः श्रीमान् भानुभामण्डलद्युतिः।
भानुर्नाम्ना महिम्नासौ ववृधे बालभानुवत्॥[४९]

रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न कामदेव पद का धारक था। वह अतिशय कुशल तथा शूरवीर था। कालसंवर ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया। इससे कालसंवर के अन्य पुत्रों ने प्रद्युम्न को मारने का प्रयास किया परन्तु वे इस काम में सफल न हो सके। एक बार अनेक विजयों को प्राप्त कर वह कनकमाला के यहाँ गया। कनकमाला उसके रूप पर मोहित हो गई। उसने उसे अपना अभिप्राय सुनाया, परन्तु प्रद्युम्न ने उसे माता तथा पुत्र का सम्बन्ध बताया। तदुपरान्त कनकमाला से उसने अपनी प्राप्ति की बात सुनी परन्तु काम-मोहित कनकमाला का मनोरथ पूर्ण न करने के कारण कनकमाला ने क्रोधवश कालसंवर को प्रपंच सुनाकर प्रद्युम्न को मारने के लिए कहा। कालसंवर के पाँच सौ पुत्रों ने उसे मारने का प्रयास किया परन्तु प्रद्युम्न ने उन्हें मार गिराया। पुत्रों का समाचार सुन कालसंवर ने प्रद्युम्न से युद्ध किया परन्तु वह भी उससे हार गया। उसी समय नारद मुनि वहाँ आये एवं उन्होंने प्रद्युम्न को उसके जीवन का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

तदुपरान्त प्रद्युम्न व नारद मुनि विमान में बैठ द्वारिका की तरफ प्रयाण करने लगे। रास्ते में जाते समय वे दुर्योधन की पुत्री उदधिकुमारी को लेते हुए द्वारिका पहुँचे। पुत्र को देखते ही रुक्मिणी अत्यन्त प्रसन्न हुई। आचार्य जिनसेन के शब्दों में "पुत्र के दर्शनरूपी अमृत से सींची हुई रुक्मिणी के शरीर में प्रत्येक रोमकूप से रोमांच निकल आये। उससे ऐसा जान पड़ता था कि मानों पुत्र का स्नेह ही फूट-फूटकर प्रकट हो रहा हो।'[५०]

तदनन्तर प्रद्युम्न ने शीघ्र ही अपना प्रताप बताने के लिए रुक्मिणी को ऊपर उठा आकाश में खड़ा हो कहने लगा कि, समस्त यादवो! सुनो, मैं तुम लोगों के देखते-देखते लक्ष्मी की भाँति सुन्दर श्री कृष्ण की प्रिया रुक्मिणी का हरण कर ले जा रहा हूँ। हे यादवो! शक्ति हो तो रक्षा करो। इस पर सभी यादव चतुरंग सेना के साथ युद्ध के लिए बाहर निकले। प्रद्युम्न विद्याबल से यादवों की सब सेना को मोहित कर आकाश में स्थित श्री कृष्ण के साथ चिरकाल तक युद्ध करता रहा। उसने श्री कृष्ण के अस्त्र-कौशल को नष्ट कर दिया; तब नारद ने पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताकर दोनों वीरों को युद्ध करने से रोका। प्रद्युम्न को पाकर श्री कृष्ण परम हर्ष को प्राप्त हुए।

उन्होंने सन्तुष्टि के साथ सेना सहित नगर में प्रवेश किया। तदनन्तर प्रद्युम्न के उत्तमोत्तम कन्याओं के साथ विवाह हुए।

श्री कृष्ण की पटरानी जाम्बवती से शम्ब नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। शम्ब भी प्रद्युम्न के समान अत्यन्त पराक्रमी व वीर था। उसने रुक्मिणी के भाई रुक्मी की "वैदर्भी" नामक कन्या का हरण किया। एक बार शम्ब की वीरता पर प्रसन्न हो श्री कृष्ण ने उसे वर माँगने का कहा। इस पर उसने एक मास का राज्य माँग अपने विपरीत क्रियायें की। इससे श्री कृष्ण ने उस पर कोप किया एवं दुराचारी शम्ब को ताड़ना दी।[५१]

हरिवंशपुराण के अनुसार प्रद्यु., भानु आ शम्ब के अलावा श्री कृष्ण के सुभानु, महाभानु, सुभानुक, वृहद्रथ, अग्रिशिख, विष्णुजय, अकम्पन, महासेन, धीर, गम्भीर, उदधि, गोतम, वसुधर्मा, प्रसेनजित, सूर्य, चन्द्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भरत एवं शंख इत्यादि पुत्र थे। ये सभी पुत्र अस्त्र-शस्त्र एवं शास्त्र में निपुण तथा युद्ध में कुशल थे।[५२]

द्रौपदी-हरण एवं श्री कृष्ण द्वारा उसे वापिस लाना :–

हरिवंशपुराण के अनुसार द्रौपदी माकन्दी नगरी के राजा द्रुपद की पुत्री थी, जिसका शरीर रूप-लावण्य तथा अनेक कलाओं से अलंकृत था। वह अपने सौन्दर्य के विषय में सानी नहीं रखती थी।[५३]

राजा द्रुपद ने गाण्डीव नामक धनुष को गोल करने एवं चन्द्रक-वध को उसके वर की परीक्षा का साधन निश्चित किया।

इस घोषणा को सुन अनेक राजा वहाँ आये, पर वे अपने लक्ष्य में सफल न हो सके। उसी समय पाण्डव बारह वर्ष का अज्ञातवास पूर्ण कर स्वयंवर सभा में उपस्थित हुए। अर्जुन ने अपने लक्ष्य को बेध दिया। उसी समय द्रौपदी ने आकर वर की इच्छा से अर्जुन की ग्रीवा में वरमाला डाल दी। परन्तु मौके की बात, वह माला टूट गई और हवा के झोंके से पास में खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़ी। किसी विवेकहीन चपल मनुष्य ने यह जोर-जोर से कहना शुरू किया कि, इस राजकुमारी ने पाँचों राजकुमारों को वरा है।[५४]

इस कथन की पुष्टि जिनसेनाचार्य ने आगे भी की है कि युधिष्ठिर व भीम द्रौपदी को बहू जैसा मानते थे तथा नकुल व सहदेव माता के समान। द्रौपदी भी युधिष्ठिर व भीम को अपने श्वसुर के समान सम्मान देती थी तथा नकुल व सहदेव को देवरों के अनुरूप मानती थी।[५५]

जब पाण्डव हस्तिनापुर में यथायोग्य रीति से राज्य कर रहे थे, उस समय क्रुद्ध हृदय तथा स्वभाव से कलह प्रेमी नारद पाण्डवों के पास आये। पाण्डवों ने नारद मुनि का आदर-सत्कार किया। परन्तु जब वे द्रौपदी के महल में गये। उस समय वह आभूषण

धारण में मग्न होने से नारद के आगमन को न जान सकी। फलस्वरूप नारद क्रोधित हो वहाँ से निकल गये एवं द्रौपदी को दुःख देने का सोचने लगे।[५६]

नारद द्रौपदी के मानभंग का दृढ़ निश्चय कर अंग देश की नगरी अमरकंकापुरी में गये। वहाँ उन्होंने स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा को देखा। राजा पद्मनाभ ने नारद को आत्मीय जानकर अपना अन्तःपुर दिखाया तथा पूछा कि, ऐसा स्त्रियों का रूप कहीं अन्यत्र देखा है, तदनन्तर नारद ने द्रौपदी के रूप-लावण्य की प्रशंसा की और द्रौपदी का पता बताकर वे चले आये।[५७]

पद्मनाभ ने द्रौपदी को लाने के लिए पाताल लोक के संगमक नामक देव को भेजा। तदनन्तर वह देव सोती हुई द्रौपदी को पद्मनाभ की नगरी में उठा लाया। राजा पद्मनाभ ने देवांगना के समान द्रौपदी को देखा। यद्यपि द्रौपदी जाग उठी थी एवं निद्रा रहित हो गई थी; तथापि-"यह स्वप्न है" इस प्रकार शंका करती हुई बार-बार सो रही थी। नेत्रों को बन्द करने वाली द्रौपदी का अभिप्राय जानकर राजा पद्मनाभ धीरे से उसके पास आया तथा कहने लगा कि, हे विशाललोचने! यह स्वप्न नहीं है, यह धातकी खंड है एवं मैं राजा पद्मनाभ हूँ। नारद ने मुझे तुम्हारे रूप के बारे में बताया था तथा मेरे आधारित देव तुम्हें यहाँ लाया है।[५८]

यह वचन सुन महासती द्रौपदी सोचने लगी—अहो! अत्यन्त दारुण दुःख आ पड़ा है। जब तक अर्जुन के दर्शन नहीं होंगे तब तक अन्न-जल एवं शृंगारादि का त्याग रहेगा। ऐसा कहकर उसने अर्जुन के द्वारा छोड़ने योग्य वेणी को बाँध लिया।[५९]

तदनन्तर वह पद्मनाभ को कहने लगी कि, बलदेव तथा कृष्ण नारायण मेरे भाई हैं, अर्जुन जैसा धनुर्धारी मेरा पति है। पति के बड़े भाई महावीर भीम अतिशय वीर हैं और पति के छोटे भाई सहदेव एवं नकुल यमराज के समान हैं। जल व स्थल मार्ग से उन्हें कोई नहीं रोक सकता। इसलिए हे राजन्! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो सर्पिणी के समान मुझे शीघ्र ही वापस भेज दे। परन्तु पद्मनाभ ने अहंकार वश द्रौपदी का कहना नहीं माना।[६०]

तब द्रौपदी ने अपनी बुद्धि से एक उपाय सोचकर कहने लगी कि, हे राजन्! यदि मेरे आत्मीय जन एक मास के भीतर यहाँ नहीं आते हैं तो तुम्हारी जो इच्छा हो वह करना। पद्मनाभ ने उसकी बात मान ली। वह अपनी स्त्रियों के साथ उसे अनुकूल करता और लुभाता परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही।

इधर जब द्रौपदी अकस्मात अदृश्य हो गई, तब पाँचों पाण्डव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो अत्यन्त व्याकुल हो गये। जब वे स्वयं को निरुपाय महसूस करने लगे, तब उन्होंने श्री कृष्ण को यह समाचार कहा। यह सुन श्री कृष्ण सहित सभी यादव अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने समस्त भरत क्षेत्र में द्रौपदी की खोज की परन्तु वह नहीं मिली, तब उन्होंने

समझ लिया कि कोई क्षुद्र-वृत्तिवाला व्यक्ति इसे हर कर ले गया है। सभी यादव उसके समाचारों को तत्पर थे कि एक दिन नारद मुनि वहाँ आये। यादवों ने उनका सत्कार किया। पूछने पर नारद मुनि ने कहा कि, मैंने द्रौपदी को धातकी खण्ड द्वीप की अमरकंकापुरी में राजा पद्मनाभ के घर देखा है। वह अत्यन्त दु:खी है। आप जैसे भाईयों के रहते वह शत्रु के घर में क्यों रह रही है? द्रौपदी के समाचार सुन कृष्ण अत्यन्त हर्षित हुए। वे अपकार के साथ उपकार करने वाले नारद की प्रशंसा करने लगे।[६१]

श्री कृष्ण शत्रु के प्रति द्वेष प्रकट कर लवण-समुद्र के अधिष्ठाता देव की आराधना कर पाँचों पाण्डवों के साथ तुरन्त ही अमरकंकापुरी के उद्यान में पहुँच गये।

खबर पाते ही पद्मनाभ चतुरंग सेना लेकर युद्ध के लिए आया परन्तु युद्ध में उन्हें इतना मारा कि उसकी सेना भाग कर नगर में घुस गई। पद्मनाभ ने नगर के द्वार बन्द कर दिये। नगर के द्वार लांघना पाण्डवों के वश में नहीं था। तब श्री कृष्ण ने स्वयं अपने पैर के आघातों से द्वार को तोड़ना प्रारम्भ किया। उनके पैर के आघात वज्र के प्रहार थे। इतना ही नहीं उन्होंने नगर की समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर भूमि को भी तहस-नहस कर डाला। प्राकार और गोपुर टूट गये, बड़े-बड़े महल व शालाओं के समूह गिरने लगे, मदोन्मत्त हाथी व घोड़े इधर-उधर दौड़ने लगे, समस्त नगर में हा-हा कार हो गया।

बिभेद पादनिर्घातैर्निर्घातैरिव नागरीम्।
बहिरन्तर्भुवं विश्वां भ्रश्यत्प्राकारगोपुराम्॥
पतत्प्रासादशालौघैर्भ्राम्यन्मत्तेभवाजिनि।
विप्रलापमहारावे पुरे जाते जनाकुले॥[६२]

इस पर द्रोही राजा पद्मनाभ निरुपाय हो द्रौपदी के पास गया तथा उसे क्षमा माँगने लगा। द्रौपदी परम दयालु थी। उसने कहा कि, तू स्त्री का देह धारण कर चक्रवर्ती कृष्ण के चरण में जा क्योंकि जो भीरु है तथा भीरुजनों का वेश धारण करते हैं, वे उस पर दया करते हैं। द्रौपदी के कहानुसार पद्मनाभ स्त्री का वेश धारण कर श्री कृष्ण के चरण में गया। श्री कृष्ण शरणागतों का भय हरने वाले थे अत: उन्होंने उसे अभयदान देकर अपने स्थान पर वापस भेजा। मात्र उसके स्थान व नाम में परिवर्तन कर दिया। द्रौपदी ने आकर श्री कृष्ण के चरणों में नमस्कार किया एवं पाण्डवों के साथ यथायोग्य विनय का व्यवहार किया।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने द्रौपदी को रथ में बैठाकर समुद्र के किनारे अपना शंख बजाया। उसकी आवाज सुन वहाँ पर स्थित कपिल नारायण ने श्री कृष्ण का साक्षात्कार किया। तत्पश्चात् श्री कृष्ण व पाण्डव द्रौपदी सहित पहले की भाँति महासागर को शीघ्र पार कर उस तट पर आ गये।[६३]

श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों पर कुपित होना :–

जब श्री कृष्ण द्रौपदी को पद्मनाभ से छुड़ाकर वापस ले आये उस समय श्री कृष्ण तो समुद्र तट पर विश्राम करने लगे परन्तु पाण्डव चले गये। पाण्डवों ने नौका के द्वारा गंगा को पार किया तथा वे दक्षिण तट पर ठहरे। भीम का स्वभाव क्रीड़ा करने का था अतः उसने इस पार आने के बाद नौका को तट पर छिपा दिया।

पीछे जब द्रौपदी के साथ श्री कृष्ण आये और उन्होंने पाण्डवों से पूछा कि, आप लोग गंगा को किस तरह पार हुए हैं तो श्री कृष्ण की चेष्टा को जानने के इच्छुक भीम ने कहा कि, हम लोग भुजाओं से तैर कर आये हैं। श्री कृष्ण भीम के कथन को सत्य मान गंगा को पार करने की शीघ्रता करने लगे। श्री कृष्ण ने घोड़ों और सारथी के सहित रथ को एक हाथ में उठा लिया तथा दो जंघाओं से गंगा को इस तरह पार कर लिया जिस तरह मानो वह घोंटू बराबर ही हो।

रथमुद्धृत्य हस्तेन साश्वसारथिमच्युतः।
जानुदघ्नमिवोत्तीर्णस्तां जंघाभ्यां भुजेन च॥[६४]

तदनन्तर आश्चर्यचकित और आनन्दित हो पाण्डवों ने शीघ्र ही सामने जाकर नम्रीभूत हो श्री कृष्ण का आलिंगन किया तथा उनकी अपूर्व शक्ति से परिचित हो वे उनकी स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् भीम ने स्वयं कहा "यह तो मैंने हँसी की थी।" यह सुन श्री कृष्ण उसी समय पाण्डवों से विरक्तता को प्राप्त हो गये। उन्होंने पाण्डवों को फटकारते हुए कहा कि, अरे निन्द्य पाण्डवो! मैंने संसार में तुम लोगों के देखते-देखते अनेक बार अमानुषिक कार्य किये हैं। फिर इस गंगा पार करने में कौन सी बात मेरी परीक्षा करने में समर्थ थी। इस प्रकार वे पाण्डवों को कहकर उनके साथ हस्तिनापुर गये। वहाँ सुभद्रा के पुत्र आर्य-सुनु को समस्त राज्य प्रदान कर दिया एवं पाण्डवों को क्रोध वश उन्होंने वहाँ से विदा किया।[६५] तदनन्तर पाण्डवों ने दक्षिणी समुद्र तट पर पाण्डु-मथुरा नाम की नगरी बसायी तथा शेष जीवन वहाँ निवास किया। द्वारिका-विनाश व कृष्ण की काल प्राप्ति के समाचार सुन पाण्डवों को संसार से विरक्ति हो गयी। उन्होंने अरिष्टनेमि से दीक्षा ली एवं आजीवन तप किया।

उपर्युक्त प्रकार से हरिवंशपुराण में वर्णित श्री कृष्ण का पाण्डवों को सहाय, द्रौपदी का हरण, श्री कृष्ण द्वारा उसे छुड़ाना एवं श्री कृष्ण का पाण्डवों पर कुपित होना इत्यादि सभी प्रसंग जैन आगमों के पाण्डवों सम्बन्धी वृत्तान्तों का ही विस्तृत रूप है। जिनसेनाचार्य ने श्री कृष्ण चरित के अन्य प्रसंगों की भाँति इस प्रसंग में भी पूर्ण रूप से जैन-परम्परा की छाप खड़ी करने हेतु प्रसंगों को कल्पना के आधार पर नवीन एवं विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है।

श्री कृष्ण की बहन एवं दुर्गा :-

श्री कृष्ण के जन्म के समय जब वसुदेव बाल कृष्ण के बदले यशोदा की पुत्री को लाये थे, तब मथुरानरेश कंस ने उस बाला की नाक चपटी कर दी थी। तदनन्तर इसी कन्या (श्री कृष्ण की छोटी बहन) ने जगत में उत्तम चन्द्रमा के समान प्रथम यौवन के बहुत भारी भार को धारण किया।

आचार्य जिनसेन ने इस कन्या के रूप-लावण्य का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वह कन्या सूक्ष्म, कोमल और अत्यन्त काली रोमराशि से, मनुष्यों के नेत्रों को आनन्द देने वाली, अपनी नाभि की गहराई से तथा शरीर के मध्य में स्थित त्रिवलियों की विचित्रता से समस्त सुन्दर स्त्रियों के बीच अत्यधिक सुशोभित होने लगी। वक्षःस्थल पर अत्यन्त नील चूचुक से युक्त कठोर गोल और स्थूल स्तनों का भार धारण करने से वह कन्या ऐसी सुन्दर लगती थी मानो "अमृत-रस" का घट गिरकर कही नष्ट न हो जाये, इस भय से इन्द्रनील मणि की मजबूत मुहर से युक्त देदीप्यमान सुवर्ण के दो कलश ही धारण कर रही हो। शिरीष के फूल के समान कोमल मोटी और उत्तम कन्धों से युक्त उत्तम कमल की कांति के समूह के समान लाल हथेली रूपी पल्लवों से सहित, कुरुबक के फूल के समान लाल एवं सुन्दर नख-रूपी पुष्पों से सुशोभित तथा कोशों का आवरण करने वाली अंगुलियों से युक्त भुजा रूपी लताओं से वह अत्यधिक सुशोभित होने लगी। कोमल शंख के समान कंठ, ठुड्डी और अधरोष्ठ रूपी बिम्बीफल, प्रकृष्ट हास्य से युक्त श्वेत कपोल, कुटिल भौंहे, ललाट तट एवं द्विगुणित कोमल नीलकमल से उत्तम डण्ठल के समान मानो कानों को धारण करने वाली और सफेद, काले तथा विशाल नेत्रों से सहित वह कन्या चिरकाल तक अत्यधिक सुशोभित होने लगी।[६६]

एक दिन शरीर-धारिणी सरस्वती के समान उस कन्या को बलदेव के पुत्रों ने आकर नमस्कार किया तथा जाते समय उद्दण्डता पूर्ण स्वभाव से "चिपटी नाक वाली" कह कर चिढ़ा दिया। इस पर एकान्त में उसने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा, जिससे वह लज्जित हो विरक्त हो गई।

तदनन्तर उसने सुव्रता नामक गणिनी के चरणों की शरण प्राप्त की। एक बार उसने व्रतधर नामक मुनि से अपने कुरूप के बारे में पूछा कि—"यह मेरे पूर्व भव के किस पाप का फल है?" मुनि ने उसे उसका पूर्वभव सुनाया तथा कहा कि पूर्वभव में तू पुरुष था तथा तूने एक मुनि पर गाड़ी चला दी थी, जिससे उनकी नाक चिपक गयी। तेरी कुरूपता उसी की फलश्रुति है।[६७]

गुरु के ऐसे वचन सुन उसने समस्त बन्धुओं को छोड़ काले केशों को उखाड़ कर आर्यिका का व्रत धारण कर लिया। वह व्रत-गुण, संयम तथा उपवास आदि तपों से विशुद्ध भावनाओं को प्राप्त करने लगी। तदनन्तर एक दिन वह सहधर्मिणियों के साथ विन्ध्याचल के

विशाल वन में जा निकली। रात्रि के समय वह प्रतिमा तुल्य आर्यिका किसी मार्ग के सम्मुख प्रतिमायोग में विराजमान हो गयी। उसी समय किसी धनी संघ पर आक्रमण करने के लिए भीलों की एक सेना वहाँ आई तथा उसने प्रतिमायोग में विराजमान उस आर्यिका को देखा। भीलों ने वनदेवी समझ कर उससे वरदान माँगा कि यदि आपके प्रसाद के फलस्वरूप हम लोग निरुपद्रव धन को प्राप्त करेंगे तो हम आपके पहले दास होंगे। ऐसा मनोरथ कर भीलों का समूह यात्रियों के समूह पर टूट पड़ा तथा उन्हें लूटकर कृतकृत्य हो गये।[६८]

उधर जब भील लोग उस आर्यिका के दर्शन कर लूट के लिए आगे बढ़े, तब वहाँ एक सिंह ने आकर घोर उपसर्ग शुरु किया। उपसर्ग देख, उसने बड़ी शांति से समाधि धारण की तथा मरण-पर्यन्त के लिए अनशनपूर्वक रहने का नियम लिया। तदनन्तर वह प्रतिमायोग में ही मर कर स्वर्ग गई। आर्यिका का शरीर सिंह के नख और डाढ़ों के अग्रभाग में विदीर्ण होने के कारण यद्यपि छूट गया था, तथापि उसके हाथ की तीन अंगुलियाँ शेष रह गई। यही तीन अंगुलियाँ उन भीलों को वापस आने पर दिखाई दी। भीलों ने आर्यिका को आकुलता के साथ इधर-उधर देखा परन्तु वह नहीं दिखाई दी। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि वरदान देने वाली यह देवी रुधिर में ही सन्तोष धारण करती है, इसी से यह भूमि रक्त रंजित हो गई है। उन्होंने हाथ की तीन अंगुलियों को वहीं देवता के रूप में विराजमान कर दिया तथा बड़े-बड़े भैसों को मारकर उसे खून एवं माँस की बलि चढ़ानी शुरू की। यद्यपि वह आर्यिका परम दयालु एवं निष्पाप थी परन्तु इस संसार में माँस के लोभी मूर्खजन भीलों के द्वारा दिखलाये गये मार्ग से चलकर उसी समय से भैंसों आदि पशुओं को मारने लगे।[६९]

उपर्युक्त विवरणानुसार श्री कृष्ण की छोटी बहिन जिसने आर्यिका का व्रत धारण किया था परन्तु वन में सिंह द्वारा मारने पर उसकी शेष रही तीन अंगुलियों को ही (त्रिशूल) देव मानकर लोग उसे बलि चढ़ाने लगे। अर्थात् संसार में इसी कन्या को दुर्गा मानकर उसकी पूजा की जाने लगी।

महामुनि नारद वृत्तान्त :-

शास्त्रों में नारद मुनि को बहुत ही महत्त्व प्रदान किया गया है। वे सशरीर स्वर्ग लोक, मृत्युलोक में फिर सकते हैं। नारद भगवान् के प्रियभक्त तथा मुनि थे, जिनको महर्षि भी कहा जाता था, समाचारों के आदान-प्रदान में उनको विशेष योग्यता हासिल थी।

हरिवंशपुराण में भी नारद मुनि का उल्लेख मिलता है परन्तु इस वर्णन में भी कवि ने अपनी मौलिकता के आधार पर नवीन रूप प्रदान किया है। नारद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि, सोमपुर से सुमित्रा नामक तापस और सोमयशा नामक स्त्री से चन्द्रकीर्ति के समान एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। एक दिन बालक को वृक्ष के नीचे रखकर वे दोनों उञ्छवृत्ति के लिए चले गये। इतने में जृम्भकदेव पूर्वभव के स्नेह से

उस बालक को वैताढ्य पर्वत पर ले गया। उसने उसका कल्पवृक्षों से उत्पन्न आहार द्वारा भरण-पोषण किया। आठ वर्ष की अवस्था में उसे जिनागम और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की। यही बालक आगे चलकर नारद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हरिवंशपुराण के विवरणानुसार नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण थे। वे साधु वेश में रहते थे तथा साधुओं के वैयावृत्य से संयमासंयम देशव्रत प्राप्त किया था। वे काम को जीतने वाले होकर भी काम के समान विभ्रम को धारण करने वाले थे। वे कामी मनुष्यों को प्रिय, हास्यस्वभाव, अलोलुप, चरमशरीरी, निष्कषायी तथा युद्ध प्रिय थे। महान् अतिशयों को देखने का कौतुहल होने से वे लोक में विभ्रमण करते थे।[७०]

श्री कृष्ण परिवार की जैन धर्म में दीक्षा :–

हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य का जैन मुनि होने के कारण, उनके प्रत्येक वर्णन में जैन धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इसी उद्देश्य से उन्होंने श्री कृष्ण-परिवार के सभी सदस्यों के जैन-धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख किया है।

सर्वप्रथम अरिष्टनेमि जो कि श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे, उन्होंने जैन धर्म में दीक्षा लेकर तप किया एवं कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति की।[७१] नेमिनाथ के धर्मोपदेश से ही समस्त श्री कृष्ण परिवार प्रभावित था, अतः समयानुसार सभी लोगों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की।

श्री कृष्ण भी नेमिनाथ से अत्यधिक प्रभावित थे। वे कई बार उनसे धर्मोपदेश सुनने के लिए द्वारिका से गिरनार गये। इसके अलावा जब भी नेमिनाथ विहार करते द्वारिका आये, उस समय भी श्री कृष्ण ने उनका भव्य स्वागत किया तथा उनकी धर्म सभा में अपनी उपस्थिति दी। श्री कृष्ण ने प्रवृत्ति का मार्ग पकड़ रखा था, अतः उनके द्वारा दीक्षा लेकर मुनि होना सम्भव नहीं था।

श्री कृष्ण के माता-पिता वसुदेव व देवकी भी जैन धर्म से पूर्णतया प्रभावित थे। उनके यहाँ अतिमुक्तक मुनिराज आया करते थे तथा उन्हें धर्मोपदेश सुनाया करते थे।

द्वारिका-विनाश के समय शम्ब एवं अनेक चरमशरीरी यादव जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण कर पर्वतों की गुफाओं में तप करने लगे थे।

शम्बाद्यास्तु तदानेके यादवाश्चरमाङ्गकाः।
पुर्या निष्क्रम्य निष्क्रान्तास्तस्थुर्गिरिगुहादिषु॥[७२]

इतना ही नहीं, वसुदेव इत्यादि अनेक यादवों ने भी जैन धर्म से प्रभावित हो सन्यास धारण किया। बलदेव के पुत्रों ने भी जिनेन्द्र भगवान् से दीक्षा ग्रहण की।

श्री कृष्ण-वध के उपरान्त बलदेव ने भी पंचमुष्टियों से अपने सिर के बाल उखाड़ कर मुनि दीक्षा धारण की।

पल्लवस्थजिननाथशिष्यतां संसृतोऽस्म्यहमिहस्थितोऽपि सन्।
इत्युदीर्य जगृहे मुनिस्थितिं पञ्चमुष्टिभिरवास्य मूर्धजान्॥[७३]

देवकी के छः पुत्र तथा श्री कृष्ण के अग्रज, कृष्ण के अनुज गजकुमार तथा उनके पुत्र प्रद्युम्न आदि राजकुमारों ने पूर्व में ही जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

इस प्रकार से श्री कृष्ण स्वयं पूर्णतया जैन धर्म से प्रभावित थे एवं उनके परिवार में देवकी, वसुदेव, श्री कृष्ण के सहोदर, पुत्र शम्ब, प्रद्युम्न तथा रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ, चचेरे भाई अरिष्टनेमि, उनकी पत्नी राजीमती, श्री कृष्ण के अग्रज बलदेव तथा उनके पुत्र इत्यादि सभी ने जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य जिनसेन ने इन प्रसंगों को बड़ी ही मार्मिकता के साथ निरूपित किया है।

निष्कर्ष :-

जिनसेनाचार्य ने अपनी कृति में अनेक नवीन उद्भावनाओं को जन्म दिया है, जो कवि की मौलिकता पर आधारित है। इन विचारों से अद्यतन जैनेत्तर समाज सामान्यतः परिचित नहीं है। पुराणकार ने कृष्ण-चरित्र वर्णन में जो नया परन्तु कवि ने अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर उसे ऐसा नवीन रूप प्रदान किया है जो कवि की स्वतंत्र मौलिकता का परिचायक है। उन्होंने आगमों से मात्र एक सूत्र के रूप में या संकेत के रूप में जो कथ्य प्राप्त किया, उसे अपनी प्रतिभा के सहारे प्रगाढ़ बौद्धिकता से विवेचित किया है। पुराणकार ने ऐसे नव्य प्रसंगों को उल्लेखित कर अपनी परम्परा को जीवंत बनाने का प्रयास किया है जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। हो सकता है जैन परम्परा में वर्णित "कृष्ण" अलग ही हो तथा हरिवंशपुराण में उस कृष्ण चरित्र की ब्राह्मण परम्परा के कृष्ण के साथ समन्वित रूप से निरूपित किया हो। यह एक स्वतंत्र शोध का विषय है।

हरिवंशपुराण में वर्णित श्री कृष्ण का अरिष्टनेमि का चचेरा भाई होना, कृष्ण के सातों भाईयों को जैन-धर्म में दीक्षित होना, श्री कृष्ण की बहिन का दुर्गा के रूप में प्रतिष्ठित होना, श्री कृष्ण द्वारा जरासंध का वध करना, महाभारत का युद्ध न होकर कृष्ण एवं जरासंध का ही निर्णायक युद्ध होना, कृष्ण का नवम वासुदेव तथा जरासंध का प्रतिवासुदेव होना इत्यादि बातें इस पुराण की प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण नवीनताएँ हैं, जो जैनेतर साहित्य के कृष्ण चरित्र वर्णन में कहीं नहीं मिलती।

ये नवीनताएँ आज भी सहृदय पाठकों को आश्चर्य में डालती हैं लेकिन कवि अपनी कल्पना की उड़ान भर सकता है या हो सकता है कि उसके पीछे कोई प्रामाणिक

तथ्य छिपा हो, अत: इसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। पुराणकार ने जो नव कथ्य प्रदान किया है, उसका जैन साहित्य में पर्याप्त महत्त्व है। यह वर्णन कृष्ण चरित्र के अन्वेषकों को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है जिससे आज भी कृष्ण चरित्र के अनेक मर्मज्ञ अनभिज्ञ रहे हैं। इन वर्णनों में कवि की बौद्धिकता तथा तर्क-शक्ति दृष्टिगोचर होती है। इन वर्णनों के साथ भारतीय संस्कृति का जो भव्य निरूपण हुआ है, वह मानव के चरमोत्थान का परिचायक है। अत: कवि की यह नवीन दृष्टि न केवल रोचक है वरन् उसकी प्रामाणिकता तथा औचित्य गवेषणीय भी है।

टिप्पणियाँ :-

१. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ४३
२. उत्तराध्ययन - २२/२/६
३. अन्तकृद्दशा - १/१
४. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ४४
५. हरिवंशपुराण - सर्ग १८/६ - पृ० २९२
६. हरिवंशपुराण - सर्ग ३८/९ - पृ० ४७९
७. हरिवंशपुराण - सर्ग ३८/४० - पृ० ४८३
८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५१/११-१२ - पृ० ५९३
९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५१/१३-१५ - पृ० ५९३
१०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५१/२६ - पृ० ५९४
११. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/५-८ - पृ० ६१७
१२. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/१४ - पृ० ६१७
१३. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/४३-४८ - पृ० ६२७
१४. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/५०-५१ - पृ० ६२२
१५. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/५८-७० - पृ० ६२५
१६. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/७१-७२ - पृ० ६२५
१७. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/८२-८५ - पृ० ६२६
१८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/८९-९२ - पृ० ६२७
१९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/१०५-१०८ - पृ० ६२७
२०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५६/११८ - पृ० ६४५
२१. हरिवंशपुराण - सर्ग ६०/१३५-३६ - पृ० ७१६
२२. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/१५-१६ - पृ० ७५५

२३. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/४३-४५ - पृ० ४६५
२४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/८८-८९ - पृ० ५१०
२५. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/९२-९४ - पृ० ५११
२६. हरिवंशपुराण - सर्ग ५०/४ - पृ० ५८३
२७. हरिवंशपुराण - सर्ग ५०/४३ - पृ० ५८६
२८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५२/८३ - पृ० ६०२
२९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/१७ - पृ० ६०५
३०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/२५ - पृ० ६०५
३१. हरिवंशपुराण - सर्ग ५३/४३ - पृ० ६०७
३२. हरिवंशपुराण - सर्ग ३६/५५-५६ - पृ० ४६७
३३. हरिवंशपुराण - सर्ग ४०/२५-५६ - पृ० ५०६
३४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/४-१६ - पृ० ५३३
३५. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/२०-२४ - पृ० ५३४
३६. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/२६-३२ - पृ० ५३५
३७. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/३३-३५ - पृ० ५३५
३८. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/३६-४२ - पृ० ५३६
३९. हरिवंशपुराण - सर्ग ४४/४५-४८ - पृ० ५३६
४०. हरिवंशपुराण - सर्ग ३३/२७ - पृ० ४०६
४१. हरिवंशपुराण - सर्ग ३३/३६ - पृ० ४०६
४२. हरिवंशपुराण - सर्ग ३३/१७०-७१ - पृ० ४१७
४३. हरिवंशपुराण - सर्ग ३५/८ - पृ० ४४९
४४. हरिवंशपुराण - सर्ग ६०/५ - पृ० ७०७
४५. हरिवंशपुराण - सर्ग ६०/१२६ - पृ० ७१५
४६. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/२०३ - पृ० ७५४
४७. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/५-७ - पृ० ७५४
४८. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/२-३ - पृ० ७५४
४९. हरिवंशपुराण - सर्ग ३४/१ - पृ० ५३३
५०. हरिवंशपुराण - सर्ग ३७/११७ - पृ० ५६६
५१. हरिवंशपुराण - सर्ग ४८/१-८ - पृ० ५७०
५२. हरिवंशपुराण - सर्ग ४८/६९-७२ - पृ० ५७३
५३. हरिवंशपुराण - सर्ग ४५/१२२ - पृ० ५४७

५४. हरिवंशपुराण - सर्ग ४५/१२७-१३७ - पृ० ५४७
५५. हरिवंशपुराण - सर्ग ४५/१५०-१५७ - पृ० ५४९
५६. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/२-७ - पृ० ६०९
५७. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/८-११ - पृ० ६०९
५८. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/१२-१८ - पृ० ६१०
५९. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/१९-२० - पृ० ६१०
६०. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/२१-२५ - पृ० ६१४
६१. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/२५-२८ - पृ० ६११
६२. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/४४-४५ - पृ० ६१२
६३. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/४६-६३ - पृ० ६१३
६४. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/६७ - पृ० ६१४
६५. हरिवंशपुराण - सर्ग ५४/६९-७१ - पृ० ६१४
६६. हरिवंशपुराण - सर्ग ४९/१-१२ - पृ० ५७५-५७६
६७. हरिवंशपुराण - सर्ग ४९/१५-१७ - पृ० ५७७
६८. हरिवंशपुराण - सर्ग ४९/२१-२९ - पृ० ५७९
६९. हरिवंशपुराण - सर्ग ४९/३०-३४ - पृ० ५८०
७०. हरिवंशपुराण - सर्ग ४२/१३-२० - पृ० ५०५
७१. हरिवंशपुराण - सर्ग ५५/१२० - पृ० ६३१
७२. हरिवंशपुराण - सर्ग ६१/६८ - पृ० ७५९
७३. हरिवंशपुराण - सर्ग ६३/७४ - पृ० ७७८

७

हरिवंशपुराण का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

कला का सम्बन्ध व्यक्तिगत प्रतिभा और निजी अभिरुचि से है। फिर भी पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कलाकारों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव कवि की कला के निर्माण में योग अवश्य देते हैं। काव्य के भाव और उसकी अभिव्यक्ति एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं तथा ये इतने अभिन्न है कि इनको अलग नहीं किया जा सकता। जब एक कवि का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, तब उसमें भाव तथा अभिव्यक्ति दोनों की छाया विद्यमान रहती है।

जैन साहित्य में विलक्षण प्रतिभा के धनी जिनसेनाचार्य की कृति हरिवंशपुराण का परवर्ती काव्य पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। इसका मूल कारण यह है कि जैन-जगत में यह कृति, ऐसी प्रथम कृति रही है जिसमें श्री कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से चित्रित हुआ है। इतना ही नहीं, इसमें कृष्ण कथा के अवान्तर प्रसंगों का भी विस्तृत निरूपण है। अत: कृष्ण-चरित्र की दृष्टि से परवर्ती जैन साहित्यकारों के लिए यह उपजीव्य कृति रही है। इन साहित्यकारों ने न केवल भाव पक्ष वरन् कला-पक्ष का भी अनुसरण किया है। यहाँ हम उन कृतियों का उल्लेख करेंगे, जिन पर हरिवंशपुराण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

संस्कृत-कृतियाँ :–

(१) महापुराण :—जैन-साहित्य में यह संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता "आचार्य जिनसेन" द्वितीय है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है, महापुराण तथा उत्तर पुराण। इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के पर्व ७१ से ७३ में कृष्ण चरित्र का संक्षिप्त वर्णन है। कृष्ण-चरित्र के प्रमुख प्रसंगों को कवि ने हरिवंशपुराण के आधार पर निरूपित किया है। कृष्ण चरित्र वर्णन में आचार्य जिनसेन का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[१]

(२) प्रद्युम्न-चरित्र :—यह महासेनाचार्य की संस्कृत भाषा में रचित "खण्ड-काव्य" कृति है। इसमें विवेचित कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र वर्णन हरिवंशपुराण की भाव-भूमि पर आधारित है। कवि ने प्रद्युम्न का जन्म, उसका अपहरण, शिक्षा-दीक्षा, उसका विवाह, राजसुख तथा वैराग्य इत्यादि सभी प्रसंगों को हरिवंशपुराण में निरूपित प्रद्युम्न चरित्र के आधार पर वर्णित किया है। श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि०सं० १०३१ से १०६६ के बीच माना जाता है।[२] भाव भूमि ही नहीं वरन् भाषा के क्षेत्र में भी जिनसेनाचार्य का प्रभाव उल्लेखनीय है।

(३) त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र :—यह संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा के उद्भट अध्येता हेमचन्द्राचार्य का संस्कृत भाषा में रचित पौराणिक चरित महाकाव्य है। इस ग्रन्थ के आठवें पर्व में कवि ने कृष्ण चरित्र का वर्णन किया है। हेमचन्द्राचार्य का यह वर्णन भी हरिवंशपुराण के वर्णन से साम्य रखता है। कवि ने हरिवंशपुराण में विवेचित कृष्ण कथा को सूत्र रूप में ग्रहण कर अपनी मौलिकता के आधार पर उसे मार्मिकता के साथ निरूपित किया है। यह रचना विक्रम संवत १२१६ की मानी जाती है।[३]

अपभ्रंश-कृतियाँ :–

(१) त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार :—यह महाकवि "पुष्पदन्त" की अपभ्रंश भाषा में रचित विशालकाय काव्य-कृति है। इसमें कवि ने जैन-जगत के त्रिषष्टि शलाकापुरुषों का चरित्र वर्णन किया है। इसके उत्तर भाग के ८१ से ९२ तक सर्गों में कृष्ण-कथा का वर्णन हुआ है। यह वर्णन भी संक्षेप में ही है परन्तु मार्मिक प्रसंगों के निरूपण में आगम साहित्य तथा हरिवंशपुराण का आधार ग्रहण किया गया है।

(२) णेमिणाह-चरित्र (हरिवंशपुराण) :—यह महाकवि "रइधू" का ग्रन्थ है जिसे कवि ने अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं है। परन्तु "राजाराम जैन" ने इस कृति पर शोध कार्य किया है। उनके अनुसार यह ग्रन्थ परम्परागत शैली से लिखा जैन-काव्य है। इस ग्रन्थ का मूलाधार जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण रहा है। हरिवंशपुराण की कथावस्तु को ही कवि ने १४ सन्धियों तथा ३०२ कड़वकों में वर्णित किया है। हरिवंश का प्रारम्भ यादवों की उत्पत्ति, वसुदेव चरित्र, कृष्ण-चरित्र, नेमिनाथ चरित्र तथा प्रद्युम्न चरित्र आदि का वर्णन आलोच्यकृति हरिवंशपुराण के अनुसार ही हुआ है। इस कृति की रचना विक्रम की १५-१६ वीं शताब्दी मानी जाती है।[४]

हिन्दी कृतियाँ :—संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में हरिवंशपुराण से प्रभावित रचनाओं के बाद हम यहाँ हिन्दी भाषा में प्रभावित रचनाओं का उल्लेख करेंगे।

(१) प्रद्युम्न चरित्र :—यह विक्रम संवत् १४११ में रचित कवि "सधारू" की रचना है। इसमें मुख्यतः श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र वर्णन है। परन्तु कवि ने श्री कृष्ण की वीरता एवं उनके वैभव का भी सुन्दर चित्रण किया है। यह ब्रजभाषा की कृति है लेकिन इसके कथानक का मुख्याधार हरिवंशपुराण रहा है। कृष्ण का विवाह, प्रद्युम्न का जन्म, अपहरण, उसका राज्याभिषेक, विरक्ति एवं वैराग्य इत्यादि सभी प्रसंगों के वर्णन में हरिवंशपुराण की छाया प्रतिबिम्बित प्रतीत होती है। "हरिवंश" की भाव भूमि पर रुक्मिणी-हरण प्रसंग में श्री कृष्ण द्वारा ताल वृक्षों को गिराने का एक पद उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

हरिवंशपुराण :–

अंगुलीयकनद्धं च वज्रं संचूर्ण्य पाणिना।
तस्या संदेहमामूलं चिच्छेद यदुनन्दनः॥[५]

प्रद्युम्न चरित्र - सात ताल जो बाणनि हणई सो नारायण नारद भणई।
आजी ताहि वज्र मूंदडी, सोहइ रतन पदारथ जड़ी।
कोमल हाथ करह चकचूर, सो नारायण गुण परिपुरु॥[६]

(२) बलभद्र चौपाई :–

यह राजस्थानी प्रभावित हिन्दी भाषा की रचना है। इसके रचयिता कवि यशोधर है। इस कृति को कवि ने सन् १५२८ (वि०सं० १५८५) में पूर्ण किया था। इस सम्बन्ध में कवि ने स्वयं कहा है कि

संवत पच्चासीर स्कन्ध नगर मझारि।
भवणि अजित जिनवरतणी ए गुणगाया सारि॥[७]

इसमें श्री कृष्ण के बड़े भाई बलदेवजी का चरित्र वर्णित है। इसके कथानक में भी हरिवंशपुराण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। कवि ने द्वारिका-विनाश, कृष्ण का परमधामगमन, बलदेव का वेदनायुक्त विरह एवं उनका तप इत्यादि का जो वर्णन किया है वह हरिवंशपुराण पर आधारित है।

भगवान् नेमिनाथ की द्वारिका-विनाश के सम्बन्धित भविष्यवाणी का एक प्रसंग तुलनात्मक दृष्टि से देखिये—

हरिवंशपुराण :–

पुरीयं द्वादशे वर्षे राम मद्येन हेतुना।
द्वैपायनकुमारेण मुनिना धक्ष्यते रुषा॥
कोशाम्बवनसुप्तस्य कृष्णस्य परमायुषः।
अन्ते जरत्कुमारोऽपि संहारे हेतुतां व्रजेत्॥[८]

बलभद्र चौपाई :–

द्वीपायन मुनिवर जेसार ते करसि नगरी संधार।
मद्य भांड जे नासि कही तेह थकी जलसि सही॥
पौरलौक सवि जलसि जिसि वे बान्धव नील ससु तिसी।
तह्य सहोदर जराकुमार तेहनि हाथि मारि मोरार॥[९]

(३) हरिवंशपुराण :–

यह कृति पूर्णतया जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण पर आधारित है। इस ग्रन्थ के रचयिता "शालिवाहन" हैं। इसकी रचना संवत् १६९३ में हुई थी। यह राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में निरूपित काव्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता ने स्वयं हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्य) का आधार ग्रहण करने का तथ्य स्वीकार करते हुए कृति के प्रत्येक संधि के अन्त में

लिखा है कि "इति श्री हरिवंशपुराणसंग्रहे भव्यसमंगलकर्णे आचार्य श्रीजिनसेन-विरचिते तस्योपदेश श्री शालिवाहन विरचिते।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसका नाम ही नहीं वरन् कथानक भी हरिवंशपुराण के अनुसरण पर लिखा गया है। कृति के कुछ प्रसंग द्रष्टव्य हैं जिसमें आलोच्य कृति का साम्य है। सर्वप्रथम कंस की मल्लशाखा में श्री कृष्ण के पराक्रम का प्रसंग—

हरिवंशपुराण - खरनरखरकठोरौ मुष्टिबन्धौ विधाय,
(संस्कृत) प्रकटितपटुसिंहाकारसंस्थानभेदौ।

✣ ✣ ✣

स्थिरचरणनिवेशो शौरिचाणूरमल्लः—
वनिभृतमभिलग्नौ मुष्टिसंघट्टयुद्धे॥[१०]

हरिवंशपुराण - चंडूर मल्ल उठ्यो काल समान।
(शालवाहन) ब्रज मुष्टि देयत समान॥
जानि कृष्ण दोनो कर गहै।
फेर पाई धरती पर वहै॥[११]

रुक्मिणीहरण का प्रसंग देखिये—

हरिवंशपुराण - पांचजन्यमतो दध्मौ मुखरीकृतदिग्मुखम्।
(शालिवाहन) सुघोषं तु बलः शंखं चुक्षोभारिबलं ततः॥[१२]

✣ ✣ ✣

हरिवंशपुराण - लई रूक्मिणी रथ चढ़ाई पंचाइण तव पूरियो।
(शालिवाहन) णि सुनि वपणु सब सैन, कप्यौ महि मण्डल॥[१३]

जरासंध वध का प्रसंग—

हरिवंशपुराण - इत्युक्ते कुपितश्चक्री चक्रं प्रभ्राम्य सोऽमुचत्।
(संस्कृत) प्रयुक्तस्य कृतार्थस्य कालक्षेपो हि निष्फलः॥[१४]

हरिवंशपुराण - तब मागध ता सन्मुखगयौ, चक फिराहे हाथि कर लयौ।
(शालिवाहन) तापर चक्र डारियो जामा, तीनों लोक कंपीयो तामा॥
हरि को नमस्कार करि जाति दाहिने हाथ चढ़यौ सौ आनि।
तब णारायण छोड़यो सोइ, मागध टूंक रक्त सिर होई॥[१५]

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है परन्तु इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न जैन ग्रन्थागारों में उपलब्ध है।

(४) नेमीश्वर रास :—इस कृति के रचयिता "नेमिचन्द" हैं जिन्होंने सन् १७१२ में इसकी रचना की है। इस ग्रन्थ पर भी हरिवंशपुराण का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। कवि के स्वयं के शब्दों में—

हरिवंश बारता कही विविध प्रकार।
नेमिचन्द की वीनती कवियण लेहु सुधार॥

यह राजस्थानी मिश्रित भाषा में निरूपित "खण्ड-काव्य" है। कृष्णचरित्र वर्णन में कवि ने हरिवंशपुराण का अनुसरण किया है। श्री कृष्ण ही इस कृति के मुख्य पात्र हैं। उदाहरणार्थ साम्यता पर आधारित कुछ पद द्रष्टव्य हैं। यथा—

हरिवंशपुराण -

अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्य केशे-
ष्वतिदृढमतिगृह्याहत्य भूमौ सरोषम्।
विहितपुरुषपादाकर्षणस्तं शिलायां
तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास॥[१६]

नेमीश्वररास - कंस कोप करि उठ्यो, पंहुच्यो जादुराय पै।
एक पलक में मारियो जम घरि पंहुच्यो जाय तो॥
जै जै कार सबद हुआ बाजा बज्यासार।
कंस मारि धास्यो तबै, पलक न लाइ बार॥[१७]

हरिवंशपुराण -

द्वन्द्वयुद्धे शिरस्तुंगं शिशुपालस्य पातितम्।
विष्णुना यशसा सार्कं सायकेन विदूरतः॥
हली जर्जरितं कृत्वा रथेन सह रुक्मिणम्।
प्राणशेषमपाकृत्य कृती कृष्णयुतो ययौ।
रुक्मिणीं परिणीयासौ गिरौ रैवतके हरिः।
विभूत्यापरया तुष्टः सबन्धुरविशत्पुरीम्॥[१८]

नेमीश्वर रास -

इतनी कहि जब कोपियो नारायण जब छोड़यो बाण तो।
सिरछंदो शिशुपाल को, भागि गया सब दल दल पाण तो॥
शिशुपाल मारयौ पैषस्यौ रुक्म्यो लियौ जु बांधि।
परणी राणि रुक्मणी लगन मुहरत साधि॥[१९]

(५) हरिवंशपुराण :—

यह श्री "खुशालचन्द काला" की हिन्दी भाषा में रचित अप्रकाशित रचना है। इसका रचनाकाल कवि ने स्वयं संवत् १७९९ (सन् १७४२) माना है। इस ग्रन्थ में निरूपित कृष्ण चरित्र स्पष्टत: जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण पर आधारित है। यह बोलचाल की सरल हिन्दी भाषा में रचित काव्य ग्रन्थ है। गोवर्धन-धारण प्रसंग में दोनों कृतियों की समानता देखिये—

हरिवंशपुराण - कुदेवपाषाणमयातिवर्षैरनाकुलो व्याकुलगोकुलाय।
(जिनसेन) दधार गोवर्धनमूर्ध्वमुच्चैः स भूधरं भूधरणोरुदोर्भ्याम्॥[२०]

हरिवंशपुराण - देवा वन में जाय मेघ तणी वरषा करी।
(खुशालचन्द) गोवरधन गिरिराय कृष्ण उठायो चाव सो॥[२१]

(६) उत्तरपुराण :—इस कृति के रचयिता भी खुशालचन्द काला हैं। यह भी हिन्दी भाषा में रचित अप्रकाशित ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल कवि के अनुसार संवत् १७९७ (सन् १७४२) है। इस ग्रन्थ में निरूपित कृष्ण-चरित्र में हरिवंशपुराण की छाया दिखाई देती है। कंस की रंगशाला में श्री कृष्ण की वीरता का यह प्रसंग देखिए, जो दोनों कृतियों में एक रूप सा चित्रित हुआ है—

हरिवंशपुराण -

अदयमथसमूलोन्मूलितोल्लसिताभ—
स्वरदनपरिघातैर्घोरनिर्घातघोषैः।
विरसविरटिते भौ तौ निहत्य प्रविष्टौ,
पुरमुरुरववेलाक्षेवेडितास्फोटगोपैः॥
अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्यकेशे-
ष्वतिदृढ़मति गृह्याहत्य भूमौ सरोषम्॥
विहितपरुषपादाकर्षणस्तं शिलायां
तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास॥[२२]

उत्तरपुराण -

जाके सम्मुख दौड़यो जाय। दंत उपारि लयो उमगाय।
ताही दंत थकी गज मारि। हस्ति भागि चली पुर मझारि।
ताही जीति शोभित हरी भए। कंस आप मल्ल मृति लखि लए।
रुधिर पवाह थकी विपरीत। देख क्रोध धरि करि तणि नीति॥
आप मल्ल के आये सोय। तब हरि बेग अरि निज जोय।
चरन पकरि जब लये उठाय। पंखि सनउन ताहि फिराय॥[२३]

(७) नेमिचन्द्रिका :—यह मनरंगलाल की हिन्दी भाषा में रचित काव्य कृति है। इसमें नेमिनाथ के साथ श्री कृष्ण का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। कंस-वध, शिशुपाल पर विजय इत्यादि अनेक प्रसंगों का इसमें समायोजन मिलता है। जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण के आधार पर पूतना वध का एक प्रसंग द्रष्टव्य है—

हरिवंशपुराण - **कुपूतनापूतनभूतमूर्तिः प्रपाययन्ती सविषस्तनौ तम्।**
स देवताधिष्ठित निष्ठुरास्यो व्यरीरटच्चूचुकचूषणेन॥[२४]

नेमिचन्द्रिका - **रूप कियो इक धाम को विष आंचल दियो जाय।**
आंचल खैच्यां अतिघणा देवा प्रकार भणि जाय॥[२५]

इस कृति में निरूपित श्री कृष्ण हरिवंशपुराण की भाँति वीर, पराक्रमी तथा श्रेष्ठ सामर्थ्य नरेश के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। नागदमन का एक अन्य प्रसंग देखिये—

हरिवंशपुराण - **भुजनिहतभुजंगः संसमुच्छित्य पद्मा-**
नुपतटमटतिस्म द्राक् मरुत्वानिवासौ॥[२६]

नेमिचन्द्रिका - **नागसाधि करके मुरलीधर।**
सहसपत्र ल्याये इन्दीवर॥[२७]

समीक्षा :—

उपर्युक्त विवेचित कृतियों के अलावा भी जैन साहित्य में ऐसी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें कृष्ण चरित्र का वर्णन हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्य) की भाव भूमि पर हुआ है। इन ग्रन्थों में जैन दिवाकर मुनि चौथमल जी का काव्य ग्रन्थ "नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्ण" देवेन्द्रसूरिकृत गजसुकुमाल तथा प्रद्युम्न प्रबन्ध, यशशेखर कृत बलभद्र चौपाई, जयशेखर कृत पाण्डव यशोरसायन इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। इन कृतियों में जो कृष्ण चरित्र का वर्णन हुआ है, उसमें यत्किंचित् हरिवंशपुराण का प्रभाव अवश्य रहा है। इस प्रकार जैनसाहित्य में उपजीव्य कृति के रूप में हरिवंशपुराण का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आधुनिक काल में भी इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय के आधार पर अनेक रचनाओं का निरूपण हुआ है, जिससे यह कालजयी कृति सिद्ध होती है।

जैन कृष्ण काव्य-परम्परा में हरिवंशपुराण का स्थान :—

जैन कृष्ण काव्य-परम्परा की चर्चा पहले की जा चुकी है। उसमें जैनाचार्य जिनसेन के हरिवंशपुराण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक सौन्दर्य, धर्म-प्रचार, दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं सांस्कृतिक सौन्दर्य आदि सभी दृष्टियों से इसे महनीय ग्रन्थ माना जा सकता है। यह एक सफल पौराणिक कृति है।

हरिवंशपुराण को देखकर इसके रचयिता के अथाह पाण्डित्य, उर्वर मस्तिष्क तथा मार्मिक चिन्तन के प्रति आश्चर्य जान पड़ता है। भाषा पर कवि का अद्भुत अधिकार है।

वेगवती धारा की भाँति अजस्र गति से वह पाठकों को अपने साथ बहाये ले चलती है। यह पौराणिक आख्यानों से भरा सागर है। शब्द व अर्थ की इसमें सुन्दर योजना दिखाई देती है। भाषा के साथ इसको गति देने वाले छन्दोविधान भी कम रमणीय नहीं हैं। विविध छन्दों को कवि ने चुना है और सफलतापूर्वक उसका प्रयोग किया है।

अलंकारों के प्रयोग में कवि सिद्धहस्त है ही। श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह आदि अलंकार इस कृति में अपृथक् रूप से विराजमान हैं। अर्थात् कला-पक्ष के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्त्वों का पूर्ण परिपाक इस कृति में दिखाई देता है।

हरिवंशपुराण की रस योजना भी बड़ी मार्मिक है। इसमें निरूपित शान्त, शृंगार, वीर, रौद्र आदि रस सहृदय पाठकों को रसमय कर देते हैं। प्रकृति का वर्णन भी बड़ी मनोरमणीयता के साथ इस ग्रन्थ में हुआ है। इतना ही नहीं, कवि की वर्णन शक्ति अद्भुत है। अप्रतिहतगति से उनकी प्रतिभा सभी वर्णनीय विषयों को वास्तविक रूप से प्रकाशित करती चलती जाती है। एक बात को अपने ढंग से कहने का कवि कौशल बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है। अनेक वर्णनों में कवि ने इस कृति के सौन्दर्य को भी और बलान्वित किया है।

हरिवंशपुराण का जैन धर्म के तत्त्वों के निरूपण एवं जैन धर्म के प्रचार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। दिगम्बर जैनों का यह धर्म ग्रन्थ है। कवि ने अपने पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थों का उपयोग करते हुए जैन सिद्धान्तों का तात्त्विक विश्लेषण विभिन्न प्रसंगों में प्रस्तुत किया है। इसमें जैन धर्म के सभी दार्शनिक पक्ष उजागर हुए हैं। इस ग्रन्थ की दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर एक अलग से स्वतंत्र शोध ग्रन्थ अपेक्षित है। इसके दर्शन को समझने के लिए समग्र जैन दर्शन का गहन अध्ययन-मनन अपेक्षित हो जाता है।

हरिवंशपुराण में बौद्धिक-दृष्टिकोण भी हमें सर्वत्र दिखाई देता है। सभी असंभव या अमाननीय घटनाओं की कवि ने बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत की है। कृष्ण का सृष्टि का नियन्ता ब्रह्म न होकर महापुरुष होना, द्रौपदी के पाँच पति न होना आदि कवि के तर्क संगत व्याख्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

हरिवंशपुराण का तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी बहुत महत्त्व है। जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कवि का सुन्दर समन्वय बड़ा ही रोचक एवं महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। सुभाषितों तथा सूक्तियों का तो यह ग्रन्थ, मानो भण्डार है। कवि के विशाल ज्ञान तथा विशाल अनुभव की अभिव्यक्ति इसमें हुई है। कलापक्ष के विश्लेषण में इनकी कतिपय सूक्तियों की हमने सूची दी है।

हरिवंशपुराण का सर्वाधिक महत्त्व उसके सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सन्निहित है। तत्कालीन समाज, राजनीति, आचार-विचार, परम्परा तथा दृष्टिकोण को समझने के

लिए यह पुराण विपुल सांस्कृतिक अध्ययन की सामग्री प्रदान करता है, यही इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है। इस सामग्री के उपयोग की आज आवश्यकता है। जिस प्रकार बाण की कादम्बरी व हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्व है, इसी प्रकार हरिवंशपुराण का भी पर्याप्त महत्त्व है। डॉ. प्रकाशचन्द जैन ने हरिवंशपुराण के सांस्कृतिक अध्ययन पर शोध कार्य कर इसके सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि से नवीन गति प्रदान की है।

हरिवंशपुराण के दोष को भी उजागर करना अनुचित न होगा। जहाँ धार्मिक उपदेशों तथा साम्प्रदायिक प्रचार की अति हो गई, वहाँ सहृदय पाठक उबने लगता है। कहीं-कहीं भाषा में भी दुरूहता आ गई है। ऐसे स्थलों को साहित्यिक दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता।

संक्षेप में हरिवंशपुराण का जैन कृष्ण काव्य में वह स्थान प्राप्त है, जो ब्राह्मण परम्परा के संस्कृत साहित्य में महाभारत एवं श्रीमद्भागवत का।

भारतीय संस्कृति को हरिवंशपुराण का योगदान :-

आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के लिए एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें इतिहास, भूगोल, दर्शन और संस्कृति साहित्य की सामग्री भरी पड़ी है।

भारत के कुछ महापुरुषों के चरित्र क्षेत्र-काल की सीमा का उल्लंघन कर व्यापक रूप से लोक रुचि के कारण बन गये हैं। राम तथा कृष्ण चरित्र भी इसी प्रकार के हैं। हिन्दू एवं जैन परम्परा में इनको पर्याप्त महत्त्व प्राप्त है। गत दो ढ़ाई हजार वर्षों से अगणित पुराण काव्य नाटक कथानक इन महापुरुषों के जीवन के आधार पर लिखे गये हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में रामायण एवं महाभारत का इन चरित्रों के वर्णन में महत्त्व है, उसी तरह जैन परम्परा में पद्म चरित्र तथा हरिवंशपुराण था।

जैन परम्परा में उपर्युक्त हरिवंशपुराण में पूर्ण कृष्ण चरित्र व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से नहीं मिलता है। पूर्व के साहित्य में कृष्ण चरित्र का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत ही या महाभारत के अनुसार तथा कुछ भिन्न रूप से पाया जाता है। विशेष बात यह है कि चरित्र के विभिन्न प्रसंगों के कथासूत्रों को भिन्न सम्प्रदायों में अपनी-अपनी सैद्धान्तिक एवं नैतिक परम्परा के अनुरूप ढालकर अपनाया है।

जैन धर्म विश्व को जड़ चेतन रूप से अनादि एवं अनन्त मानता है। उसका विकास काल-क्रम के आरोह-अवरोह-क्रम से ऊपर-नीचे की ओर परिवर्तनशीलता के आधार पर बदलता रहता है। अतः हरिवंशपुराण में भी यही लोकव्यवहार निरूपित है।

जिनसेनाचार्य ने महाभारत की कथावस्तु को जन-ढ़ाँचे में ढालकर लिखा है, इसलिए महाभारत से इसका कई स्थलों पर मेल है तो कई स्थानों पर मेल नहीं है।

कथावस्तु में तो परिवर्तन है ही, वर्णन एवं व्यवस्था में भी कुछ एकदम नवीन तथा विशेष बातें कही गई हैं। उदाहरणार्थ-द्रौपदी के स्वयंवर का प्रसंग। इसी प्रकार सामन्यतः कौरवों और पाण्डवों के पारस्परिक कलह को महाभारत के युद्ध का मूल कारण माना जाता है लेकिन इस ग्रन्थ में जरासंध तथा यादववंश कृष्ण को इस युद्ध का कारण बतलाया गया है। इसके अनुसार एक तरफ जरासंध की ओर से कौरव तथा दूसरी ओर श्री कृष्ण के पक्ष में पाण्डवों ने युद्ध किया था। नारद की उत्पत्ति तथा दुर्गा की उत्पत्ति में भी कवि ने नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसे हम पिछले अनुच्छेद में देख चुके हैं।

सामुद्रिक शास्त्र :—नवीन प्रसंगों के उपरान्त जिनसेनाचार्य ने सामुद्रिक शास्त्र का भी इसमें सुन्दर निरूपण किया है। उदाहरणार्थ राजा के पैर मछली, शंख तथा अंकुश आदि के चिह्नों से युक्त होते हैं। कमल के भीतरी भाग के समान उसका मध्यभाग होता है, उनके नख चिकने तथा लाख से होते हैं। उनकी गांठे नसों से रहित छिपी रहती हैं, कछुए के समान कुछ-कुछ वे उठे होते हैं तथा पसीना से युक्त रहते हैं।

पापी के पैर सूपा के आकार, फैले हुए, नसों से व्यापक, टेड़े, रूखे नखों से युक्त, सूखे एवं विरल अंगुलियों वाले होते हैं। जो पैर छिद्र सहित एवं कषैले रंग के होते हैं वे वंश का नाश करने वाले माने गये हैं। हिंसक मनुष्यों के पैर जली हुई मिट्टी के समान और क्रोधी के पीले रंग के होते हैं।

जिनका मुख भरा हुआ, सौम्य, स्मय और कुटिलता रहित होता है, वे राजा होते हैं। बड़े मुख वाले अभागे और गोलमुख वाले मूर्ख होते हैं। स्त्री के समान मुख वाले निर्धन होते हैं।[२८]

इसके उपरान्त भी हरिवंशपुराण में इस शास्त्र का विशद वर्णन मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि जिनसेनाचार्य इस विद्या के निपुण ज्ञाता थे।

भौगोलिक सामग्री :–

हरिवंशपुराण में भौगोलिक सामग्री भी पर्याप्त है। कवि ने अनेक राजाओं के राज्यों का, नगरों का विस्तृत वर्णन किया है। उदाहरणार्थ ऋषभदेव की दीक्षा के समय चारों दिशाओं के अनेक नगरों का उल्लेख है-कुरुजांगल, पंचाल, सूरसेन, पटचर, यवन, काशी, कौशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान और मोक मध्य देश में थे। वाह्लिक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, क्काथतोय, शर, वाटवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, देशरूक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे। खंग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे। वाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककासिर, मूलक, अश्मक, दाण्डिक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिस्क, प्ररूष

और भोगवर्दन ये दक्षिण दिशा के देश थे। माल्य, कल्लिवनोपान्त दुर्ग, सूपाई, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद ये पश्चिम दिशा के देश थे। दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पतन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे। भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव और व्रजखण्डिक ये देश मध्य देश के आश्रित थे।[२९] इस प्रकार के अनेक वर्णन हरिवंशपुराण में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं, जो कवि के भौगोलिक ज्ञान की विज्ञता के परिचायक हैं।

सामाजिक परिस्थिति :—तत्कालिन सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन में भी कवि ने लोगों के आभूषणों तथा वस्त्रों इत्यादि का विश्लेषणात्मक उल्लेख किया है। वस्त्रों में दुकूल, क्षोभ, चिनांकुश, पटवास, वलकल इत्यादि तथा आभूषणों में मुकुट, कुण्डल, केयूर, चूडामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कण्ठरत्नावली, कटिसूत्र, नुपूर आदि का प्रचलन था। इसके अलावा प्रसाधनों के साधन, मनोरंजन के साधन, उत्सव, त्यौहार, आवागमन के साधन, नगर व्यवस्था, मकान व्यवस्था, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा आदि का भी चित्रण मिलता है जो उस समय की सामाजिक स्थिति जानने में अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है।

आर्थिक परिस्थिति :—पुराणकार ने उस समय के भारत की आर्थिक स्थिति का निरूपण कर हरिवंशपुराण के महत्त्व को और बढ़ा दिया है। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य एवं कला कौशल में भारत की सम्पन्नता इत्यादि के तथ्य देखते ही बनते हैं। भारत का व्यापार किन-किन देशों के साथ होता था, किन मार्गों से होता था, वस्तु विनिमय किस प्रकार का था, लोगों का जीवनस्तर कैसा था, इत्यादि का पुराणकार जिनसेनाचार्य ने सूक्ष्मता से विवेचन किया है।

राजनितिक परिस्थिति :—पुराणकार के राजनैतिक विवरणों में तत्कालीन भारतीय शासन व्यवस्था का सुन्दर चित्रण है। कवि के अनुसार उस समय दो प्रकार की शासन व्यवस्था थी (१) राजतन्त्रात्मक एवं (२) गणतन्त्रात्मक। इसमें गणतन्त्रात्मक ही इस काल की प्रमुख प्रचलित शासन प्रणाली थी। राजा की निरकुंशता, महत्त्वाकांक्षा एवं विस्तार लोलुपता का भी कवि ने उल्लेख किया है। इसके उपरान्त तत्कालीन युद्ध प्रणाली, युद्ध कला, युद्ध-विज्ञान, मल्लयुद्ध, अस्त्र-शस्त्र तथा चमत्कृत अलौकिक शक्तियों का भी निरूपण मिलता है।

अन्य :—जैन परम्परा के उल्लेख की दृष्टि से भी इस पुराण का पर्याप्त महत्त्व रहा है। इसमें भार्गव-ऋषि से द्रोणाचार्य तक की परम्परा तथा महावीर स्वामी के निर्वाण से बाद की आचार्य परम्परा को जिनसेन तक सम्पूर्ण रूप से उल्लेखित किया गया है। यह परम्परा वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

इसी प्रकार वेदों की उत्पत्ति[३०], यादव वंश की उत्पत्ति[३१], साकेत का नामकरण[३२], नागपुर तथा मथुरा का नामकरण आदि ऐसी अनेक बातें हैं, जो परम्परा वर्णन से नितान्त भिन्न हैं। आचार्य जिनसेन ने इसमें धर्मशास्त्र तथा संगीत शास्त्र का भी पर्याप्त विवरण दिया है। उन्होंने राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में लोकालोक विभाग का सांगोपांग निरूपण[३३], भगवान् नेमिनाथ की दिव्यध्वनि के प्रकरण में तत्त्वों का सूक्ष्मता से विवेचन[३४], उपवासों की विधि तथा सब प्रकार[३५], आहार दान देने की प्रक्रिया तथा द्वादशांग का वर्णन[३६] बड़े ही तात्त्विक ढंग से किया है।

इस प्रकार हरिवंशपुराण की बहुविध सामग्री को देखकर निसंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि जिनसेन ने भारतीय वाङ्मय को एक अमूल्य रत्न प्रदान किया है, जिसका भारतीय संस्कृति को अभूतपूर्व योगदान है।

सूरसागर का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव :–

ब्रज भाषा काव्य कला के विकास में सूरदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सूर से पूर्व हिन्दी काव्य कला की स्थिति नगण्य थी। सूर ने अपनी मौलिक प्रतिभा से कृष्ण काव्य परम्परा तथा अभिव्यंजना को समृद्धि प्रदान की। सूर के समकालीन तथा परवर्ती कवियों ने सूरसागर का अनुसरण कर इस परम्परा को पोषित किया। सूरसागर ने अष्टछाप तथा वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवियों को तो प्रभावित किया ही है परन्तु इसका प्रभाव राधावल्लभ, हरिसम्प्रदाय एवं चैतन्य सम्प्रदाय के कृष्ण काव्य पर भी पड़ा है। सूरसागर के पद साहित्य का अपने समय में व्यापक आकर्षण था। इसका परिणाम यह हुआ कि न केवल भक्तिकाल में वरन् रीतिकाल में भी पद साहित्य की रचना हुई। इतना ही नहीं आधुनिक काल में भी सूरसागर की पद परम्परा प्रचलित होती रही है।

समवर्ती परम्परा :–

महाकवि तुलसी :—रामभक्त काव्य परम्परा में तुलसी अपनी सानी नहीं रखते। तुलसी की गीतावली तथा कृष्ण गीतावली की प्रेरणा सूरसागर की पद रचना ही है।

गीतावली की कतिपय पंक्तियाँ सूरसागर से अद्भुत साम्य रखती हैं। उदाहरणार्थ—

सूरसागर - आंगन खैले नन्द के नन्दा।
जदुकुल कुमुद सुखद चारु चँदा॥[३७]

गीतावती - आंगन खेलत आनन्द कन्द।
रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद।[३८]

कुछ अन्य पंक्तियाँ जो सूरसागर की भावभूमि से निरूपित है, देखिये—

सूरसागर - जसोदा हरि पालने झुलावै।

गीतावली - पालने रघुपतिहिं झुलावै।

सूरसागर - जसुमति मन अभिलाष करे।

गीतावली - हे हौ लाल कबहि बड़े बलि मैया।

सूरसागर - प्रातः भयौ जागो गोपाल।

गीतावली - भोर भयो जागहु रघुनन्दन।

विषय साम्य के अलावा अभिव्यंजना कौशल में भी गीतावली तथा कृष्ण गीतावली में सूर का साहाय्य तुलसी ने लिया है।

अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव :—अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव निश्चित है। सूर अष्टछाप कवियों में सर्वश्रेष्ठ तथ सर्वप्रिय थे। मात्र कुंभनदास को छोड़कर सभी उनसे छोटे थे। कीर्तनकारों में सभी कवि उनका अनुसरण करते थे। अतः सूर काव्य का प्रभाव उन पर स्वाभाविक है—

कुंभनदास :—ये भक्तहृदय के कवि तथा संगीतज्ञ थे। इनके अनेक पदों में सूरसागर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उपमा-विधान पर साम्य रखने वाला एक पद द्रष्टव्य है।

सूरदास - मनौ गिरिवर तै आवति गंगा।
राजति अति रमनीय राधिका, इति विधि अधिक अनूपम अंगा।[३९]

कुंभनदास - यह अद्भुत सरि रच्यो विधाता, सरस रूप अवगाहिं।
कुंभनदास प्रभु गिरिधर-नागर, देखत उमगत ताहिं॥[४०]

परमानंददास :—इनके पदों की भाषा में प्रातःकालीन वर्णनों में तथा रागों के विधान में सूरसागर का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अनुकरण पर आधारित कुछ पद द्रष्टव्य हैं—

सूरसागर - मानो घन घन अबतर दामिनि।[४१]
परमानन्द - घन में छिपि ज्यों दामिनि।[४२]
सूर - बुहरि पपीहा बोल्यो की माई।[४३]
परमानन्द - रैनि पपीहा बौलयो की माई।[४४]
सूर - माई मोरो चन्द लग्यौ दुःख देन।[४५]
परमानन्द - माई री चन्द लग्यौ दुःख देन।[४६]

इन पदों में सूर की शब्दावली को ज्यौं का त्यौं पकड़ लिया है। इन्होंने विषय, पदरचना, भाषा, आलंकारिकता इत्यादि सभी में सूरसागर को अपना आदर्श बनाया।

कृष्णदास :—ये अष्टछाप के चौथे कवि थे। इनका स्वभाव हठी था। इन्होंने सूरसागर की प्रतियोगिता में पद रचना की थी अतः इनके पदों में सूर की छाया तो है परन्तु अनुकरण में सुप्रभाव का अभाव है। सूर ने जहाँ सौन्दर्य वृद्धि की है, वहाँ कृष्णदास ने विकृति उत्पन्न की है। इनकी विकृति का एक पद देखिये—

देखौ माई मानौ कसौटी कसी।
कनक वेलि वृषभानु नंदिनी, गिरिधर डर जु बसी।
स्याम तमाल कलेवर सुंदर, अंग अंग मालती घुसी॥[४७]

इस पद में सूर की चंचलता त्याग कर सौदामिनी का पल भर में सुशोभित होने की कल्पना[४८] को को कवि ने विकृत बनाकर उसे कनक वेली तथा "तमाल में माली घुसा" कहा है।

गोविन्द स्वामी :—श्रीनाथजी की सेवा में पद रचना करने के क्रम में संगीतज्ञ गोविन्दस्वामी का सूर से प्रभावित होना स्वाभाविक है। सूरसागर की पद रचना, भाषा अलंकार इत्यादि का इन्होंने अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ देखिये—

वदन कमल ऊपर बैठरी, मानो जुगल खंजरी।
ता उपर मानो मीन-चपल, अरु ता पर अलिकावलि गुंजरी॥[४९]

इस पद में नयनों की उपमा खंजन तथा चपल मीन से कर कवि ने सूरसागर के उपमानों का अनुसरण किया है।

नन्ददास :—इन्होंने सूरदास के भ्रमरगीत से प्रेरणा लेकर "भँवरगीत" की रचना की। इनके अनेक पद सूरदास की शैली पर रचित हैं। साम्यता पर आधारिक एक पद द्रष्टव्य है—

सूरदास - आजु तो बधाई बाजे मंदिर महर के।
फूले फिरे गोपी ग्वाल ठहर-ठहर के।
फूली फिरे धेनु धाम, फूली गोपी अंग-अंग।
फूले फले तरवर आनन्द लहर के।[५०]

नन्ददास - माई आजु तो गोकुल गाँव कैसो रह्यो फूलि कै।
घर फूले दीखै सब जैसे संपति समूलि कै।
फूली-फूली घटा आई, घहरि घहरि घूमि कै।
फूली फूली बरखा होति, झर लावति झूमि कै।[५१]

छीतस्वामी एवं चतुर्भुजदास :—ये अष्टछाप के सातवें एवं आठवें कवि हैं। इनका कोई काव्य ग्रन्थ नहीं मिलता परन्तु जो स्फुट पद प्राप्त हैं, उनमें सूरसागर का प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ एक पद देखिये जिसमें सूरसागर का अनुसरण है—

घननन घन घटा घोर, झननन झालर झकोर।
तननन तन थई थई, करत है एक दाई।
तननन तन तान जान, राग रंग स्वर बंधान।
गोपा जन गावै गीत, मंगल बधाई॥[५२]

रसखान :—अष्टछाप कवियों के उपरान्त रसखान का कवित्व भी सूरसागर की प्रेरणा का परिणाम प्रतीत होता है। ब्रज भाषा का माधुर्य जो सूर ने अपने काव्य में बिखेरा था, रसखान का काव्य उससे ओत-प्रोत है। दोनों की साम्यता पर आधारित एक पद द्रष्टव्य है—

सूर - चले अकुलाई बनधाम, धाई ह्वाई गाय,
देखिहौ जाइ मन हरष कीन्हौं।[५३]

रसखान - अधर लगाई रस प्याय बाँसुरी बजाय,
मेरौ नाम गाय हाय, जादू कियो मन में।[५४]

रीतिकालीन काव्य :—रीतिकाल के कवियों की रचनाएँ भाषा व भाव की दृष्टि से सूरसागर की ऋणी हैं। सूरसागर की कवित्त शैली का ही व्यापक रूप रीतिकाल में दिखाई देता है। क्या भाषा, क्या हाव-भाव का संयोग-वियोग, सर्वत्र सूरसागर का प्रभाव अवलोकनीय है। यहाँ हम कतिपय कवियों पर सूरसागर के प्रभाव का वर्णन करेंगे।

बिहारीलाल :—इन्होंने सूरसागर की कलात्मक वर्ण योजना, शाब्दिक ध्वनि चमत्कार, अलंकार-योजना तथा भावानुरूप शब्द-सौन्दर्य का स्पष्ट अनुसरण किया है। इनकी रचनाओं में सूरसागर का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कतिपय उदाहरण देखिये—

सूर - ललित आँगन लै ठुमुकि डोले
झुनुकि झुनुकि बौले पैंजनी मृदु मुखर।[५५]

बिहारी - रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर॥[५६]

सूर - बेसरि की मुक्ता की झांई वरन विराजति चारि।
मानौ सुरगुरु सुक्र भौम, सनि चमकत चंद मंझारि॥[५७]

बिहारी - मंगल बिदु सुरंग, मुख, ससि केसर आड गुरु।
इक नारी लाहे संग, रसमय किय लोचन जगत॥[५८]

मतिराम :—इनकी रचनाओं पर भी सूरसागर का प्रभाव परिलक्षित होता है। सूरसागर की भाव भूमि, काव्य सौन्दर्य तथा पदावली के आधार पर इन्होंने अपनी रचनाओं का निरूपण किया है। साम्यता पर आधारित एक पद देखिये—

सूर - हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन वच क्रम नंदन उरु यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि कान्ह-कान्ह जकरी।[५९]

मतिराम - आयौ है सयानपन गयौ है अजानपन,
तोहूं उठि मान करि बै की टेक पकरी।
घर घर मानिनी है, मानती मनाए ते है,
तेरी ऐसी रीति और काहू मैं न पकरी॥
हाहा कै निहोरे हूँ न हेरति हरित नैनी,
काहे को करित हठ, हारिल की लकरी॥[६०]

मतिराम ने इस पद में सूर के उपमान "हारिल की लकरी" का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् पकरी, जकरी शब्दों का भी चतुराई से काम लिया है।

देव :—कविवर देव की रचनाओं पर सूरसागर का प्रभाव प्रचुर मात्रा में है। रासलीला, संयोग-लीला, उद्धव-यात्रा आदि में सूरसागर के पदों की छाया है। इनका अभिव्यंजना कौशल भी सूरसागर पर आधारित है। इनका एक पद उदाहरणार्थ देखिये—

सूर - हरि दरसन कौ तरसति अँखियाँ
झाँकति झखति झरोखा बैठी कर मीड़ति ज्यों मखियाँ।[६१]
बिछुरी वदन सुधा निधिरस ते लगति नहीं पल पंखियाँ।

देव - देव कछू अपनी बस ना रस, लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूडि गई पंखियाँ, अंखियाँ मधु की मखियाँ भई।[६२]

घन आनन्द :—रीतिमुक्त कवि घनानन्द की पद रचना पर भी सूरसागर का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। ये श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। सूर की भाँति इन्होंने राग तथा भाव का सुन्दर सामंजस्य अपने पदों में किया है। उनकी कविता में ब्रज भाषा का जो सहज माधुर्य मिलता है, उसके प्रेरक भी सूर ही थे। नृत्य वर्णन के एक पद में सूरसागर का साम्य देखिये—

सूरसागर - होड़ा होड़ी नृत्य करै, रीझि रीझि अंक भरै।
ताता थई-थई उघटत हरषि मन।[६३]

घनानन्द - रास मण्डल में नाचत दोऊत, कट धिकट धिधिकट
धिलांग थेई थेई तत थेइ।
आनन्द घन रस रंग पपीहा रीझि रीझि आंको भरिलेई।[६४]

आधुनिक कालीन काव्य :—आधुनिक कालीन काव्य भी सूर के प्रभाव से अछूता नहीं है। आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अनेक दृष्टियों से सूर काव्य से प्रभावित हैं। वे भी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे तथा सूर की भाँति संगीतज्ञ थे अतः उनके काव्य में सूरसागर का प्रभाव स्वाभाविक है। उनके काव्य में सूर का प्रभाव देखिये—

सूरसागर - छोटी छोटी गाड़ियाँ, अंगुरियाँ छबीली छोटी।
नख ज्योति मोती मानो कमल दलनि पर॥[६५]

भारतेन्दु - छोटे-छोटे भँवरा चकई छोटी-छोटी लिए।
छोटे-छोटे हाथन सौ खैले मन माँहि।
छोटे-छोटे चरन सौ चलत घुटुरुवन,
यही ब्रजलाल छोटी छोटी [illegible]वि जौहे।
हरीचन्द छोटे-छोटे कर पै माखन लिए,
उपमा वरनि सके ऐसो कवि को है।[६६]

आधुनिक काल के कवियों में सूरसागर का सर्वाधिक प्रभाव जगन्नाथदास रत्नाकर कृत "उद्धव शतक" पर दिखाई देता है। रत्नाकर के अनेक छन्दों में भाव-साम्य सूर की पदावली से पाया जाता है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) सूर - निरखति अंक स्याम सुन्दर कै,
बार बार लावति लै छाती।[६७]

रत्नाकर - उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगी।[६८]

(ख) सूर - कागद गरे मेघ मसि खूटी,
सर दव लागि जरे॥[६९]

रत्नाकर - सूखि जात स्हायी लेखनी को नैंकु डंक लागे।
अंक लागे कागद बररि बरि जात है।[७०]

"छायावाद" के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कृति कामायनी (जो आधुनिक युग की सर्वोत्कृष्ट काव्यकृति है) पर भी कहीं-कहीं सूरसागर की छाया दिखाई देती है। वात्सल्य रस का एक प्रसंग देखिये जिसमें सूरसागर के पद की झलक दिखाई देती है—

सूरसागर - हरि किलकत जसुदा की कनिया
निरखि निरखि मुख हंसति स्याम कौ सो निधन की धनियाँ।[७१]

कामायनी - माँ फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ अरे हृदय में लेकर उत्कर्ष दूनी।
लूटरी खुली अलक रज घूसर बाहे आकर लिपट गयी।
निशा तापसी की जलने की धधक उठी बुझती धूनी।[७२]

"छायावाद" के बाद भी सूरसागर के प्रभाव का सिलसिला समान गति से नयी प्रयोगशील काव्य-धारा तक चला आ रहा है। इस धारा के शीर्षस्थ कवियों ने भी सूरसागर के प्रभाव को अपनी रचनाओं में ग्रहण किया है।

निष्कर्ष :—

उपर्युक्त विवेचन के बाद हम कह सकते हैं कि सूरदास हिन्दी साहित्य के वह

महाकवि हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती परम्परा से भावों को बिन्दुमात्र ग्रहण किया, परन्तु अपनी मौलिक प्रतिभा से सिन्धु का सा असीमित विस्तार एवं गम्भीर्य प्रदान किया। परवर्ती परम्परा को तो उन्होंने बहुत दूर तक प्रकाश प्रदान किया है। भक्तिकाल या रीतिकाल ही नहीं वरन् आधुनिक काल तक की अद्यतन काव्य चेतना के विविध स्तरों पर सूर काव्य के प्रभाव-चित्र चित्रित हैं। युग-युग तक साहित्य को अनुभूति एवं कला के इतने गहरे स्तर पर प्रभावित करने वाला कवि सूर के अतिरिक्त कोई नहीं है।[७२]

कृष्ण भक्ति काव्य-परम्परा में सूरसागर का स्थान :–

महाकवि सूर को साहित्य के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्टता का कीर्तिमान उनकी प्रसिद्ध कृति सूरसागर के कारण मिला है। सूरसागर में कवि की जो अद्भुत प्रतिमा दिखाई देती है, उसी से सूर को साहित्याकाश के सूर्य उपमित किये जाते हैं।

कई विद्वान् सूरसागर को भागवत का भावानुवाद स्वीकार करते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। कवि ने भागवत का मुख्याधार लेकर इसे अपनी मौलिकता के आधार पर गौरव-गरिमा प्रदान की है। कवि की इस कृति का कृष्ण भक्ति काव्य में मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। इसमें कवि ने जो भावपूर्ण चित्र खींचे हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ है। सूरसागर को क्या भाव-पक्ष, क्या कला-पक्ष, सभी क्षेत्रों में अद्भुत सफलता मिली है। हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य परम्परा की चर्चा हमनें पूर्व में कर ली है, जिसमें सूरसागर को महत्त्वपूर्ण कृति स्वीकार किया है। सूरसागर का महत्त्व निम्न प्रकार से देखा जा सकता है।

सूरसागर का मुख्य वर्णय विषय श्री कृष्ण का लीलागान है। कवि ने कृष्ण लीला के गायन को ही अपना साध्य बनाया है। इसमें श्री कृष्ण के जन्म से लेकर ब्रजवास की विविध क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए मथुरागमन तथा ब्रजवासियों से भेंट तक की घटनाओं का सर्वाधिक वर्णन किया गया है। गेय पदों में रचित इस ग्रन्थ में विविध प्रसंगों के बड़े ही सुन्दर व मार्मिक वर्णन मिलते हैं। सूर ने कृष्ण लीला के साथ-साथ राम कथा का भी वर्णन किया है जो कवि की मौलिकता का परिचायक है। इसके अलावा भी कई प्रसंग सूरसागर में भागवतानुसार वर्णित हैं परन्तु उनमें न तो भक्ति-भावना है और न ही काव्य-सौष्ठव। सूरसागर में कृष्ण-लीला सम्बन्धी पद ही उनकी कीर्ति के आधार स्तम्भ हैं। इनकी प्रत्येक पंक्ति में कवि की मौलिकता एवं प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

सूरसागर में तत्कालीन परिस्थितियों एवं विचारधाराओं का भी प्रतिबिम्ब हुआ है। हिन्दी साहित्य का यह अमूल्य ग्रन्थ अपने समय की भावना व कल्पना का सार है। पुष्टिमार्ग से दीक्षित होने के कारण कवि ने अपनी वाणी में उसके सिद्धान्तों व विचारों का भी भली-भाँति निरूपण किया है। सूरसागर वास्तव में विशाल सागर की तरह है, जिसमें सूर के सब विचारों तथा भावनाओं की मुक्ताएँ गिरी हैं। इसमें उन्होंने *शुद्धाद्वैत वादी दर्शन तथा पुष्टिमार्गी प्रेमाभक्ति* का निचोड़ भर दिया है। वात्सल्य, सख्य

तथा कान्त भक्ति का जो सामंजस्य इस साहित्य सागर में एकत्रित हुआ है, वह अन्यत्र नहीं है।

महाकवि सूर की कृति सूरसागर के साहित्यिक पहलुओं पर हमनें पिछले परिच्छेदों में प्रकाश डाला है। इसी से सूर हिन्दी साहित्य के सूर्य माने जाते हैं "सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास"—वाली कहावत से हिन्दी प्रेमी भला कौन अपरिचित होगा। सूरसागर की सरलता, मधुरता तथा काल्पनिक भावात्मक उद्रेक की समानता में हिन्दी ही क्या, अन्य भाषाओं का भी साहित्य कठिनता से आयेगा। सूरसागर में अनुभूति है, कल्पना की उड़ान है, भावना की गहराई है, भक्ति की मान्यता है, मधुरता है तथा सौन्दर्य सृष्टि है। इसमें जो चित्र अंकित किये गये हैं, वे आँखों के सामने एक बार आने पर पाठकों को वशीभूत कर लेते हैं। पाठक सर्वदा के लिए उनमें उलझकर भक्ति की धारा में बह निकलता है।

सूर ने अपना वर्ण्य विषय गीतात्मक शैली से प्रस्तुत किया है। भाव के संदर्भ में सूरसागर गीतात्मक विराटकाव्य बन गया है। सूरसागर के गीतों में प्रबन्ध सूत्र हैं, संवाद भी हैं। चित्र भी हैं तो वर्णन भी है। सूरसागर के गीतिकाव्य में वह सब कुछ है, जो गीतिकाव्य के चरमोत्कर्ष के लिए आवश्यक है।

सूर की रस योजना बड़ी ही उत्कृष्ट है। इसमें निरूपित वात्सल्य एवं शृंगार संभोग एवं विप्रलम्भ रस की कोई सानी नहीं। वात्सल्य व विरह वर्णन में तो सूरसागर अद्वितीय कृति है। इसमें लोकमानस की सुन्दर अभिव्यंजना है। इसके अलावा भी साहित्य के सभी रसों का कवि ने मनोरम निरूपण किया है।

प्रकृति काव्य की उत्कृष्टता की कसौटी होती है। सूर के भावात्मक हृदय ने प्रकृति के बहुविध रूपों का सुन्दर निरूपण किया है। ब्रजभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कर कवि ने अपनी कृति को सजीव एवं सप्राण बना दिया है। गोचारण प्रसंग में प्रकृति का जो सहज रूप, उग्र रूप तथा सूक्ष्म रूप गतिशीलता के साथ उसके असीम वैभव का चित्रण हुआ है, वह देखते ही बनता है।

सूरसागर एक ऐसा रस का सागर है जिसकी प्रत्येक मणियें लोक जीवन के विविध परिदृश्य प्रतिबिम्बित हो गये हैं। लोक जीवन के विभिन्न प्रवृत्तियों की जो झलक सूरसागर में मिलती है, वैसी झलक स्पष्टता व यथार्थता के साथ किसी अन्य काव्य में नहीं। लोक संस्कारों में जातकर्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, यज्ञोपवीत, विवाह तथा अन्त्येष्टि तक के प्राय: सभी संस्कार इसमें वर्णित हैं। विभिन्न उत्सवों, त्यौहारों का भी कवि ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया है। उत्सवों में दीपावली, श्रावणी, होली इत्यादि वर्णन बड़े ही मनोरम बन गये हैं।

इतना ही नहीं, सूरसागर में स्थान-स्थान पर अनेक धार्मिक, सामाजिक विश्वासों का उल्लेख मिलता है जो तत्कालीन समाज में व्याप्त श्रद्धा के परिचायक हैं। महाकवि सूर

ने अपनी कृति में लोक गीतों के सभी प्रचलित रूप व्यक्त किये हैं। लोकगीतों में जन्मगीत, लोरीगीत, मंगलगीत, होरीगीत, रसियागीत, कीर्तनगीत, विरहगीत, झूलनगीत इत्यादि प्रमुख हैं।

इस प्रकार जो कृति लोक जीवन की प्रशस्त भूमि पर संस्थित है तथा प्रकृति के सभी अनुरागों से रंजित है, जिसकी काव्य भूमि कवित्व, भावुकता तथा वैदग्ध्य के मंजुल समन्वय का उदाहरण है। जिसमें शृंगार के रसराजस्व के औचित्य का पूर्ण प्रदर्शन हुआ है, जिसमें वात्सल्य को रस की महिमा से मंडित किया गया है, ऐसे ग्रन्थ 'सूरसागर' को कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त क्यों नहीं होगा?

क्या कथानक! क्या चरित्र! क्या रस! क्या रस-भाव! क्या कला-पक्ष!। सभी में एक विचित्र संतुलन तथा मौलिक संयोजन होने के कारण भी यह महत्त्वपूर्ण कृति है। यह लोक-हृदय का काव्य है, इसमें लोक की भाषा, लोक की संस्कृति है तथा लोक मंगल की भावना है। महाकवि सूर ने इसमें भक्ति तथा लोक संग्रह का अपूर्व समन्वय किया है। मानव हृदय को मोहित करने वाला कृष्ण चरित्र, मार्मिक स्थलों की पहचान, उत्कृष्ट कथा शिल्प आदि सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहा जा सकता है।

सूरसागर की प्रासंगिकता :–

प्रत्येक काव्य की प्रासंगिकता का एक समय-सन्दर्भ होता है तथा दूसरा परिवेश सन्दर्भ। प्रासंगिकता देश तथा काल दोनों में जनमानस के बदलते परिवेश में निर्णीत होती है। प्रश्न उठता है कि आज के भौतिक युग तथा तकनीकी युग में, सूरसागर की क्या प्रासंगिकता है? कहाँ तो वह "मैं नहीं माखन खायों" या "मैं तो चन्द खिलौना लेहौं" का हठी कन्हैया जिसमें चीरहरण, मान-लीला, दानलीला, रासलीला के रसभीने प्रसंग जो प्रेम के प्रगाढ़ तन्मय भाव से भरे हुए थे और कहाँ आज के आर्थिक, राजनैतिक दबाव के युग में टुकड़े-टुकड़े होते मानवीय संवेग तथा कहाँ सूरसागर में निरूपित विनय के समर्पित भाव। हमारी शंका स्वाभाविक है कि सूरसागर जैसे ग्रन्थ का सामयिक महत्त्व क्या है?

अनेक विद्वानों ने अधुनातन समीक्षात्मक विश्लेषण एवं संश्लेषण किया है। कई विद्वानों ने सूरसागर को समाजशास्त्रीय अध्ययन के संदर्भ में देखा है जिसमें उस युग की सामाजिक, राजनैतिक जीवन शैली परिलक्षित होती है। कई विद्वान् सूरसागर में वर्णित वात्सल्य रस विवेचन में सूर को बाल मनोवैज्ञानिक पाते हैं तो कई उसमें निरूपित शृंगार रस में आधुनिक यौन-मनोविज्ञान को। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से सूरसागर का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। लगभग पाँच सौ वर्ष पुराने इस काव्य ग्रन्थ में न केवल कृष्ण चरित्र का ही वर्णन हुआ है वरन् ऐसा वर्णन भी हुआ है जो भारतीय अस्मिता से सम्बन्धित है।

सूरसागर में निरूपित "राग-तत्त्व" को ही लिया जाय तो आज के युग में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। आज जो मानवीय सम्बन्धों का चरमराता तन्त्र है, उसे सूरसागर रागात्मक सम्बन्धों का अद्भुत उपहार प्रदान करता है। सूरसागर में दाम्पत्य, प्रणय, सख्य, वात्सल्य, दास्य तथा विनय प्रेरित सम्बन्धों का एक पूरा संसार ब्रज से मथुरा तक फैला हुआ है। यशोदा-नन्दन, बलराम, राधा, गोपियाँ तथा प्रजाजन आदि इसके इर्द-गिर्द गतिशील हैं। एक तरफ विशुद्ध भारतीय ग्रामीण परिवेश ब्रज है तथा दूसरी तरफ नागरिक सभ्यता के अभिशाप रूप मथुरा। श्री कृष्ण अपनी शुद्ध ग्रामीण संस्कृति को पहुँचाने के लिए ही ब्रज से मथुरा जाते हैं। वे वहाँ राजनैतिक छल-कपट से जूझने में भी पूर्णतया सफल सिद्ध होते हैं।

सूरसागर में प्रेम का चरमोत्कर्ष वर्णन भी उपलब्ध होता है। यह प्रेम समर्पण तथा तादात्म्य के आधार पर टिका हुआ है, इसमें कहीं भी वासना की दुर्गन्ध नहीं आती। आज के परिवेश में इसी निष्कलंक प्रेम की आवश्यकता है। सूरसागर का लौकिक-काम नर-नारी के मिलन में भी आत्मा-परमात्मा के मिलन की सम्भावनाएँ व्यक्त करता है। इससे ज्यादा और क्या ऊँचाई हो सकती है? सूरसागर में निरूपित कृष्ण पूर्णत: आनन्द सौन्दर्य के प्रतीक हैं, उनसे सभी प्रेम करते हैं; गोपियाँ भी, राधा भी, ब्रज भी, गोप भी, वृन्दावन भी परन्तु कहीं पर परस्पर ईर्ष्या या अलगाव की भावना नहीं है। श्री कृष्ण विराट स्वरूप में समस्त चराचर जगत को आलोकित करते दिखाई देते हैं, जो सबको एक समान अपनी अस्मिता को प्रदान कर रहे हैं। प्रेम का ऐसा सुन्दर समर्पित स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है।

सूरसागर के भावपक्ष में मानवीय भावनाओं के सहज चित्रणों में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। केवल प्रणय में ही नहीं वरन् वात्सल्य अंकन में भी यह कृति सफल रही है। यशोदा कृष्ण की जननी नहीं है परन्तु वह जननी से कई गुना ज्यादा लाड़ प्यार व ममता प्रदान करती है। वात्सल्य के अनेक पदों में इस उदात्त भावना के दर्शन होते हैं। वह वर्णन बाल मनोवैज्ञानिक आधारों पर चित्रित है। यह कृति प्रणय तथा वात्सल्य जैसे मानवीय सम्बन्धों में उदात्त भावना को खोजकर प्रदान करती है, जिसे आज के मानव ने खो दिया है।

मुक्तिकामी परलोकोन्मुखी समाज के लिए ईश्वर हमेशा एकमात्र आशा का सेतु रहा है। सूरसागर में इसी मुक्ति कामना की प्रवृत्ति को विविध प्रसंगों में उजागर किया है। भगवान् इसी जगत में विभिन्न रूपों में विद्यमान है, मानव के हर क्षेत्र का साक्षी है, इसका संदेश आज के पतनोन्मुखी समाज को सूरसागर प्रदान करता है, जो सद्मार्ग तथा सदाचार के अनुसरण पर आधारित है।

इतना ही नहीं महाकवि सूर ने अपनी रचना में भारतीय सांस्कृतिक विचारों का भी निरूपण किया है, जिसे आज जानना जरूरी है। सूरसागर में उल्लेखित सामाजिक

संस्थाओं का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में नहीं मिलता, तब इसका महत्त्व इस दृष्टि से भी बढ़ जाता है। समाज व संस्कृति की बात करें तो इसमें जो वर्ण-व्यवस्था, विभिन्न संस्कार, लोगों का व्यवसाय, विवाह प्रसंग, वाद्य-यन्त्र, दहेज-प्रथा तथा परिवार व्यवस्था इत्यादि का वर्णन है। उसे जानना जरूरी है क्योंकि इसमें भारतीय गौरव छिपा है।

सूरसागर में शासन-व्यवस्था, निरकुंश-शासन, दंडविधान, सैन्य व्यवस्था, युद्ध, गुप्तचर का भी वर्णन मिलता है। आर्थिक व्यवस्था के चित्रण में कवि ने वैभवशाली व्यक्तियों के प्रभाव, अर्थ का महत्त्व, भिक्षुक, कृषि तथा पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य, वस्तु-विनिमय, हाट-बाजार, छोटे मोटे उद्योग धन्धे इत्यादि को उल्लेखित किया है। इस प्रकार सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता कम नहीं है क्योंकि इसमें जो विशाल सामग्री उपलब्ध है, उसे जानना जरूरी है।

इस प्रकार पाँच सौ वर्षों के अन्तराल के बाद भी सूरसागर की प्रासंगिकता कम नहीं हुई है। कवि ने अपनी प्रतिभा के सहारे हमें ऐसी कालजयी कृति प्रदान की है कि जिसने देश-काल की परिसीमाओं को लांघकर मानवीय संवेदना के प्रांगण में अपना स्थान हमेशा सुरक्षित रखा है।

आज भी अणु विस्फोट की घोर आत्मघाती आकांक्षाओं से कराहती दुनिया में सूरसागर में विरचित रास-लीला अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करने में सक्षम है। प्रेम की निश्छलता, विशाल हृदयों की अंतरंगता, सामान्य व ग्रामीण जीवन की सहजता तथा संप्रेषणता, विश्वसनीयता के कारण सूरसागर न केवल अपनी अस्मिता को स्थिर रखने में सहायक हुआ है वरन् वह साहित्य की प्रासंगिकता पर उठाई गई समस्त आकांक्षाओं को भी निर्मूल सिद्ध करता है।

निष्कर्ष :–

दोनों ग्रन्थों का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव, उनका महत्त्व तथा प्रासंगिकता इत्यादि पर विवेचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों ग्रन्थों का भारतीय संस्कृति में अभूतपूर्व योगदान है। आज के भौतिक युग में भी अनेक दृष्टिकोण से इनकी प्रासंगिकता यथावत् बनी हुई है। आज के सब तरह से अशांत तथा त्रस्त मनुष्य को ये ग्रन्थ असीम शांति प्रदान करने में सहायक हैं। दोनों ग्रन्थों का अपने-अपने क्षेत्रों में निश्चित एवं अतुलनीय प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से सूरसागर का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक परिलक्षित है।

जैन परम्परा में वर्णित सम्पूर्ण कृष्ण काव्य के लिए हरिवंशपुराण एक आदर्श काव्य ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। उसी तरह हिन्दी साहित्य में वर्णित कृष्ण चरित्र के लिए सूरसागर। आचार्य जिनसेन एवं सूरदास की प्रेरणा से शताब्दियों बाद भी उनके ग्रन्थानुसार अनेक रचनाओं का निर्माण हुआ है, जो उनके काव्य के महत्त्व को उजागर करता है।

दोनों ग्रन्थकारों ने केवल अपने कथ्य कृष्णचरित्र व परम्परागत दर्शन का ही चित्रण नहीं किया वरन् तत्कालीन संस्कृति को भी निरूपित किया, जिससे इन ग्रन्थों का अध्ययन और भी आवश्यक बन गया।

इन ग्रन्थों में निरूपित कृष्ण चरित्र भी अपने-अपने क्षेत्र में एक आदर्श का प्रतीक बन गया है। जैन परम्परा के कृष्ण कवियों ने न केवल संस्कृत भाषा में ही वरन् अपभ्रंश, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों में हरिवंशपुराण का आश्रय लेकर, इसको महिमा-मंडित किया है। यह कार्य अद्यावधि तक चलता रहा है, जो कृति को कालजयी प्रमाणित करता है। इसी तरह सूरसागर के कथ्य को भी न केवल भक्तिकाल तथा रीतिकाल में अपितु आधुनिक काल में भी स्वीकार करने से अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो हरिवंशपुराण में तत्कालीन संस्कृति का निरूपण अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। कारण स्पष्ट है कि जिनसेनाचार्य के पास विस्तृत भाव-भूमि थी जबकि सूरसागर में तो केवल कृष्ण के बाल किशोर लीलाओं का ही सर्वाधिक वर्णन हुआ है। इस प्रकार दोनों ही ग्रन्थों का अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी को अधमोत्तम नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों की दार्शनिक पीठिका तथा भावनात्मक संरचना अलग-अलग प्रकार की है।

उपसंहार

हरिवंशपुराण तथा सूरसागर में वर्णित कृष्ण चरित्र का तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के पश्चात् हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उनका संक्षेप में निर्देश करके हम इस अध्ययन का समाहार करेंगे।

श्री कृष्ण का व्यक्तित्व बहुमुखी है, दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण और काव्य क्षेत्रों में उसका बहुविध आख्यान एवं चित्रण हुआ है। वेदों से लेकर पुराण काव्य, संस्कृत काव्य, भक्तिकालीन साहित्य परम्परा एवं आधुनिक काल तक यह गतिशील व्यक्तित्व अनेक रूपों में विकसित है। केवल ब्राह्मण परम्परा ही नहीं वरन् जैन परम्परा में भी कृष्ण चरित्र का विशद् वर्णन है। आगम साहित्य से पौराणिक काव्य एवं आधुनिक काल तक इस चरित्र के निरूपण में जैन कवियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कृष्ण के व्यक्तित्व का वैदिक साहित्य से, जो वर्णन मिलता है, वह क्रमशः विकसित होता दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि कृष्ण के व्यक्तित्व में उनके अनेक चरित्रों का सुन्दर समन्वय हुआ हो। वेदों में कृष्ण मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं तो उपनिषदों में नारायण स्वरूप। महाभारत में कृष्ण को धर्मरक्षक बताया गया है तो पुराणों में भक्ति के मुख्याधार एवं रसिक-बिहारी। कृष्ण व्यक्तित्व के विकास में आभीरों के बाल कृष्ण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके बालकृष्ण का वैदिक विष्णु तथा महाभारत के कृष्ण में सुन्दर समन्वय हुआ है। उनका यही समन्वित स्वरूप लौकिक संस्कृत साहित्य में तथा भक्ति के आलम्बन के रूप में

चित्रित हुआ है। हिन्दी साहित्य के कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में श्री कृष्ण का यही स्वरूप निरूपित हुआ है। इस परम्परा में ''सूरसागर'' महत्त्वपूर्ण है।

जैन परम्परा के आगम साहित्य में कृष्ण चरित्र के विविध प्रसंग उल्लेखित है। इन्हीं प्रसंगों को उनके पौराणिक साहित्य में व्यवस्थित एवं विकसित रूप में वर्णित किया गया है। जिसमें ''हरिवंशपुराण'' सविशेष उल्लेखनीय है। पौराणिक साहित्य के पश्चात् भी इस परम्परा के विविध ग्रन्थों में कृष्ण चरित्र को वर्णित किया गया है। इस प्रकार कृष्ण चरित्र विविध सम्प्रदायों में, विविध भाषाओं में, विविध कालों में सर्वव्यापक बन गया है।

व्यक्तित्व की दृष्टि से आलोच्य कृतियों के दोनों कवि अतीव लोकप्रिय हैं। इन्होंने अपने सम्बन्ध में बहुत ही कम लिखा है। अतः उनका जीवन-वृत्त अनेक जनश्रुतियों से समाच्छन्न रहा है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि दोनों भक्त कवि थे। जिनसेनाचार्य ने दिगम्बर सम्प्रदाय के पुन्नाट संघ से दीक्षा लेकर मुनि धर्म स्वीकार किया था तो महाकवि सूर वैष्णव परम्परा के पुष्टि सम्प्रदाय से दीक्षित हुए थे। जिनसेन के माता-पिता, जन्म स्थान, शिक्षा, इत्यादि की जानकारी उपलब्ध नहीं है परन्तु ये पुन्नाट संघ से दीक्षित थे तथा इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण था, जिनकी अनुकम्पा से वे हरिवंशपुराण जैसे विशालकाय पौराणिक महाकाव्य का निरूपण कर सके, इसका स्पष्ट उल्लेख उनकी कृति में मिलता है। अब तक की प्राप्त जानकारी के अनुसार हरिवंशपुराण के सिवाय उनकी किसी दूसरी कृति की जानकारी नहीं मिली है।

वल्लभ सम्प्रदाय से दीक्षित होने से पूर्व ''सूर'' कर्म, योग, ज्ञान, उपासना आदि में विश्वास करते थे। आचार्य वल्लभ ने अनुग्रहपूर्वक उनके दैन्य को दूर कर उन्हें सूरत्व प्रदान किया एवं श्री कृष्ण लीलागान का आदेश दिया। दोनों कवियों का जीवन उन्मुख रहा। दोनों ने अपनी-अपनी परम्परानुसार कृष्ण चरित्र का वर्णन कर अमर यश की प्राप्ति की।

कृतित्व की दृष्टि से देखें तो दोनों कवियों का मुख्य वर्ण्य विषय एक रहा। जिनसेनाचार्य ने प्रबन्ध काव्य में श्री कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को बौद्धिकता के आधार पर नवीन दृष्टिकोण से निरूपित किया तो इस सम्बन्ध में सूर ने कृष्ण की बाल एवं यौवन लीलाओं पर भागवतानुक्रमेण क्रमबद्ध गेयपदशैली में मुक्तक रचना का निर्माण किया। दोनों कवियों की रचनाएँ भाव एवं काव्यत्व की दृष्टि से श्रेष्ठ रहीं। दोनों कवियों ने पूर्ववर्ती साहित्य से पर्याप्त रूप से प्रेरणा ग्रहण की। जिनसेनाचार्य जैन परम्परा के आगम साहित्य में वर्णित कृष्ण व्यक्तित्व के विविध प्रसंगों से प्रभावित रहे। उनके काव्य पर पूर्ववर्ती काव्य-धारा एवं काव्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव रहा। इसी परम्परागत काव्य के आधार पर उन्होंने हरिवंशपुराण का निर्माण किया। सूर पर भागवत, नामदेव, जयदेव आदि का प्रभाव रहा। इन्होंने इसी परम्परा का निर्वाह कर समस्त पद साहित्य का निर्माण किया।

दोनों ग्रन्थों की कथावस्तु पर विचार किया जाय तो दोनों ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय कृष्ण-चरित्र रहा है। दोनों ग्रन्थों में अपनी परम्परानुसार कृष्ण व्यक्तित्व को कुछ साम्य तथा वैषम्य के साथ वर्णित किया गया है। जिनसेनाचार्य ने कृष्ण को नौंवा नारायण एवं शलाकापुरुष सिद्ध किया है तो सूर ने भक्ति का मुख्य आलम्बन। जिनसेनाचार्य ने कृष्ण को वीर, साहसी, अप्रतिम योद्धा तथा आध्यात्मिक राजपुरुष बतलाया है तो सूर ने गोपीजन प्रिय, रासक्रीड़ाओं के नायक तथा लोकपुरुष के रूप में उनका वर्णन किया है। सूर का मन कृष्ण चरित्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में न रमकर मात्र उनकी बाल एवं किशोर लीलाओं तक ही सीमित रहा है। भागवत का अनुसरण करने हेतु अन्य प्रसंगों को भी उन्होंने संक्षेप में निरूपित किया है परन्तु वे मात्र वर्णन बन कर रहे गये हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति तो वात्सल्य एवं श्रृंगार वर्णन में ही परिलक्षित होती है।

हरिवंशपुराण में कवि ने कृष्ण चरित्र में कुछ नवीनताएँ प्रदान की हैं, जो जैनेतर कृष्ण साहित्य में कहीं नहीं मिलती। कृष्ण का अरिष्टनेमि के चचेरे भाई होना, उनके छः भाईयों द्वारा जैन दीक्षा लेना, रुक्मिणी हरण के समय शिशुपाल का वध करना, महाभारत का युद्ध कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध न होकर श्री कृष्ण व जरासंध का निर्णायक युद्ध होना, कृष्ण की बहिन का दुर्गा रूप में प्रतिष्ठित होना, कृष्ण परिवार द्वारा जैन दीक्षा लेना इत्यादि अनेक प्रसंग कवि की मौलिक कल्पना के परिचायक हैं। कृष्ण के राजनीतिज्ञ स्वरूप में तथा आध्यात्मिक पुरुष के रूप में भी कवि ने कथानक को अलग दृष्टिकोण से निरूपित किया है। हरिवंशपुराण में कृष्ण को शलाका पुरुष सिद्ध करने के लिए उनके अनेक युद्धों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें वीर रस की सुन्दर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार दोनों कृतियों की कथावस्तु अपने-अपने क्षेत्र में उल्लेखनीय रही है।

दार्शनिक विचारों से दोनों कवियों में पर्याप्त अन्तर है। आचार्य जिनसेन का दिगम्बर सम्प्रदाय से दीक्षित होने के कारण उन्होंने सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र तथा सम्यक् ज्ञान पर ही सर्वाधिक बल दिया है क्योंकि यहाँ ''त्रिरत्न'' जैन दर्शन के मूलाधार सिद्धान्त हैं।

कवि ने जीव, आत्मा, माया, बन्ध, मोक्ष, ब्रह्म, अवतारवाद, कर्म तथा पुनर्जन्म इत्यादि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण किया है, ऐसा तात्त्विक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने जैन सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों के निरूपण में मुख्य भूमिका निभाई है। उनके स्याद्वाद, पाँच भावनाएँ, तीन गुप्तियाँ, जीवादि सात तत्त्व इत्यादि के संश्लेषणात्मक विश्लेषण में भी गहन चिन्तन का चित्रण हुआ है। इस वर्णन में कवि को पूर्ण सफलता मिली है, जो उनकी आध्यात्मिक गहराई को प्रकट करती है।

महाकवि सूर आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के कारण उनके विचार वल्लभाचार्य से अनुमोदित थे। उनके अनुसार ही सूर ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द, पूर्णपुरुषोत्तम, अक्षर,

सर्वशक्तिमान, व्यापक, अनन्त, विशुद्ध धर्माश्रयी तथा अधिकृत परिणामी माना है। श्री कृष्ण को वे परात्पर ब्रह्म मानते हैं। सूर ने ब्रह्म के सगुण रूप की महत्ता का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया है। इसके अलावा इन्होंने दर्शन के अन्य तत्त्वों का जैसे जीव, माया, मोक्ष, स्वर्ग, नरक इत्यादि का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। सूर का रास वर्णन भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों से प्रभावित होने के बावजूद उनके विचारों में शांकर वेदान्त का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। सूर का भक्त कवि होने के कारण उन्होंने भाव प्रधान रागानुरागा-भक्ति का भी समधुर रसपान किया है। राधाकृष्ण व गोपियों के द्वारा ही उन्होंने अपने मधुर भावों की अभिव्यक्ति दी है। उनका मधुर भाव संभोग की क्रीड़ाओं में विकसित हो, वियोग की पुष्टता को प्राप्त करता दिखाई देता है। इस प्रकार दार्शनिक तत्त्वों के विश्लेषण में दोनों ग्रन्थ प्रसिद्ध रहे हैं।

कथा-शिल्प की भाँति दोनों कवियों का कला-पक्ष भी उत्कृष्ट, प्रांजल और परिमार्जित है। इस निरूपण में दोनों कवियों को समान सफलता मिली है। हरिवंशपुराण में शांत व वीर रस की प्रमुखता रही है तो सूरसागर में वात्सल्य और शृंगार की। इसके अलावा भी साहित्य के सभी रसों का सुन्दर परिपाक इन काव्यों में हुआ है। दोनों कृतियों में अलंकार योजना का बाहुल्य मिलता है। जिनसेनाचार्य की अपेक्षा सूर ने श्रेष्ठ शब्दालंकारों का सुभग समन्वय किया है।

रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, सन्देह जैसे सामान्य सादृशमूलक अलंकारों में दोनों कवियों को अपने-अपने क्षेत्र में समान सफलता मिली है। जिनसेनाचार्य से सूर की अलंकार-योजना सहज एवं स्वाभाविक रही है। वह विद्वज्जनों के चित्त को चमत्कृत करने में पूर्ण क्षमता रखती है जबकि जिनसेनाचार्य की अलंकार योजना दुरूहता को प्राप्त कर गई है। सूरसागर में दृष्टिकूट एवं सांगरूपक पदों की अलंकार-योजना साहित्य रसिकों को अत्यधिक प्रभावित करती है।

दोनों कृतियों की भाषा अलग-अलग है। जिनसेनाचार्य ने संस्कृत में अपने काव्य का निर्माण किया तो सूर ने ब्रज भाषा में। दो विभिन्न भाषाओं के कवि होने के कारण उनकी भाषा का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना संभव नहीं है। परन्तु स्मरणीय है कि दोनों की भाषा अपने ग्रन्थों में आज भी अपने रूप में सुरक्षित रही है जिस रूप में वह प्रयुक्त हुई थी। जिनसेनाचार्य की भाषा पौराणिक संस्कृत रही है, जो अवसरानुकूल एवं आलंकारिक है परन्तु मार्मिक स्थलों को छोड़ कर वह भी वर्णनात्मकता को ग्रहण कर जाती है। सूर की भाषा आसपास की भाषाओं से प्रभावित रही है जो लोक भाषा जनमनोऽवगाहिनी, लालित्ययुक्त, आनुप्रासिक एवं ऋजुतायुक्त है। इसमें ध्वन्यात्मकता एवं नाद सौन्दर्य का भी उत्तम विधान हुआ है। भाषा के बाद वर्णन-कौशल में दोनों कृतियों का पर्याप्त महत्त्व है। सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण में वर्णनों की बाढ़ आ गई है।

दोनों कवियों में प्रकृति-प्रेक्षण की पूर्ण क्षमता है। इस क्षेत्र में सूर की संवेदन-समृद्धि जिनसेनाचार्य से अधिक है। काव्य रूप की दृष्टि से हरिवंशपुराण एक विशालकाय पौराणिक चरित महाकाव्य है। सम्पूर्ण कृष्ण कथा इसमें विराट कल्पना के साथ प्रस्तुत हुई है, जिसमें बाह्य जीवन मूल्यों का सुन्दर समायोजन है। गीतकार सूर शुद्ध काव्य के प्रणेता थे। उनकी कल्पना ने मनोरम मुक्तक काव्य का निर्माण किया है जो जनवादी धारा तथा मानवीय भावों की सहजता को प्रकट करता है।

हरिवंशपुराण तथा सूरसागर अपने-अपने क्षेत्र के परवर्ती काव्यों की रचनाओं के लिए आधार स्तंभ ग्रन्थ रहे हैं। जिनसेनाचार्य की कृति हरिवंशपुराण जैन परम्परा में कृष्ण चरित्र वर्णन के लिए उपजीव्य बन गई है। शताब्दियों पूर्व बनने वाली कृति को आज भी कई कवियों ने इसे आधार रूप में ग्रहण कर इसकी धवल कीर्ति को आलोकित किया है।

केवल संस्कृत भाषा ही नहीं वरन् अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि विविध भाषाओं में वर्णित जैन कृष्ण चरित्र वर्णन पर इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

सूरसागर की विलक्षणता से वल्लभ, राधावल्लभ, हरिदासी तथा चैतन्य सम्प्रदाय के परवर्ती काव्यों की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में प्रभावित रही हैं। इस प्रभाव की व्याप्ति रीतिकालीन कवियों तथा आधुनिक काल के कवियों तक रही है। केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों का अभूतपूर्व महत्त्व है। दोनों ग्रन्थों में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण सूक्ष्मता के साथ हुआ है। इस वर्णन में सूरसागर की अपेक्षा हरिवंशपुराण आगे है, क्योंकि उसके पास विस्तृत भाव भूमि थी फलस्वरूप इसमें मानव जीवन के विविध अवस्थाओं का कलापूर्ण निरूपण हुआ है। सूरसागर में वर्णित सांस्कृतिकता भी किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। उसकी लोकप्रियता ही उसके सर्वश्रेष्ठ महत्त्व को उजागर करती है। उसकी वाणी जनमानस में अद्यावधि तक गूंजती रही है।

दोनों कृतियों के वर्ण्य-विषय में कृष्ण चरित्र का मानवतावादी स्वरूप दिखाई देता है, यही इन कृतियों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है। इनकी कथा का नायक अत्यन्त साधारण जनस्तर से अपना जीवन का प्रारम्भ करता है। गोप-ग्वालों की निम्न जाति में उसका चरित्र विकसित होता है। जन्म से राजवंश से सम्बन्धित होने पर भी वह अपने अभिजात्य से अस्पृष्ट रहता है। उसके बचपन में अलौकिकता की ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं परन्तु ग्वालबालों के साथ उसके गुजरते सामाजिक जीवन में कहीं कभी नहीं आती।

तदुपरान्त जब कथानायक गोकुल वृन्दावन के ग्रामीण परिवेश को छोड़कर मथुरा जाते हैं तो वहाँ जनभावना को ध्यान में रखकर अत्याचारी कंस का वध करते हैं। आज के युग में भी जननायकों द्वारा जनभावना के अनुसार काम करने की परमावश्यकता है।

दूसरी बात करें तो कथानायक का अधिनायकवाद एवं साम्राज्यवाद के खिलाफ विरोध करना भी कम महत्त्व नहीं रखता। अनेक यातनाएँ सहकर भी उनका जनवादी संगठन कभी निरस्त नहीं होता। श्री कृष्ण इसी विचार श्रेणी के आधार पर क्रांतिकारी पद्धति से मथुरा के साम्राज्यवाद पर प्रहार कर उसके आतंक को ध्वस्त करते हैं।

इनकी अलौकिक शक्तियाँ पूतना, तृणावर्त, कालियनाग इत्यादि के दमन के समय दिखाई देती है परन्तु उसमें भी मानवीय पराक्रम सहजता के साथ दिखाई देता है वरना यशोदा, ग्वालबालों तथा गोपियों पर उस अलौकिकता का प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? इस प्रकार इन कृतियों के कथानायक कृष्ण की लीलाओं में मानव मन के भावों की सहज आकृतियाँ हैं।

श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल तथा जरासंध जैसे राजाओं का वध करना भी उनका अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध युद्ध है। उनमें सत्तालोलुपता कहीं नहीं है। वे उनके राज्यों को जीतकर उन्हीं के सम्बन्धियों को प्रदान करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। कथानायक द्वारा जनभावना को ही सर्वोपरि मानना, उनके द्वारा मथुरा से द्वारिका जाने में स्पष्ट दिखाई देता है। जब मथुरा पर जरासंध द्वारा उनके खिलाफ बार-बार आक्रमण होता है, तो मथुरा की जनता क्षुब्ध हो जाती है, तब श्री कृष्ण जन इच्छानुसार मथुरा को त्यागने में तनिक भी विलम्ब नहीं करते।

कथानायक द्वारा न्याय का पक्ष लेने में भी उनका कोई सानी नहीं है। अन्याय के विरुद्ध पाण्डवों का पक्ष लेना, इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इतना ही नहीं, कथानायक में आध्यात्मिक बल की भी कमी नहीं, जो उनके जीवन के प्रत्येक प्रसंग में घुला दिखाई देता है।

इस प्रकार कृष्ण चरित्र उत्कृष्ट मानवता का चरित्र है जिसे हरिवंशपुराण और सूरसागर में चित्रित कर दोनों कवियों ने अपार कीर्ति को प्राप्त किया है। उसी महान् चरित्र को यहाँ तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखने का हमने यथाशक्ति प्रयास किया है।

शोध-संदर्भ में विभिन्न परम्पराओं के विभिन्न ग्रन्थों में कृष्ण चरित्र के भी विभिन्न रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे पता चलता है कि विभिन्न युगों, कालों में, एक नहीं अनेक कृष्ण हुए हैं जिनके चरित्र और व्यक्तित्व का कालान्तर में एक ही कृष्ण में समन्वयन हुआ दिखाई देता है।

साथ ही उनकी लीलाओं और चरित्रों का आख्यान भी आध्यात्मिक रूपक एवं प्रतीकात्मकता को विशेष ध्वनित करते हैं, ऐतिहासिकता को कम। यद्यपि इस पर स्वतंत्र शोध का द्वार अब भी खुला है तथापि ब्रह्म, अवतारी, मानवोपम वा देवोपम श्री कृष्ण का एक में अनेकों की व्यक्तित्व प्रभा से आलोकित प्रभा का रूप ही कवियों का ग्राह्य और मान्य रूप रहा है। अस्तु।

टिप्पणियाँ :-

१. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० १३७
२. जैन साहित्य का इतिहास - पं० नाथूराम प्रेमी - पृ० ४१२
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग-४) गुलाबचंद चौधरी - पृ० ७२
४. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डॉ० राजाराम जैन - पृ० १०८-२०७
५. हरिवंश पुराण - सर्ग ४२/८८-८९ पृ० ५१०
६. प्रद्युम्न चरित्र - सधारू - पद सं० ५१-५२
७. राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल - पृ० ८५
८. हरिवंश पुराण - सर्ग ६१/२३-२४ - पृ० ७३५
९. बलभद्र चौपाई - यशोधर - पद सं० ५१-५२
१०. हरिवंश पुराण - सर्ग ३६/४१ - पृ० ४६५
११. जैन परम्परा में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३६
१२. हरिवंश पुराण - सर्ग ४२/७९ - ५१०
१३. जैन परम्परा में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३६
१४. हरिवंश पुराण - सर्ग ५२/८३ - पृ० ६०२
१५. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३७
१६. हरिवंश पुराण - सर्ग ३६/४५ - पृ० ४६५
१७. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ३९
१८. हरिवंश पुराण - सर्ग ४२/९४-९६ - पृ० ५११
१९. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ६१
२०. हरिवंश पुराण - सर्ग ३५/४८ - पृ० ४५४
२१. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ६१
२२. हरिवंश पुराण - सर्ग ३६/३५-४५ - पृ० ४६५
२३. हरिवंश पुराण - सर्ग ३५/४२ - पृ० ४५३
२४. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ६१
२५. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ६०
२६. हरिवंश पुराण - सर्ग ३६/८ - पृ० ४६०
२७. जैन साहित्य में श्रीकृष्ण - डॉ० महावीर कोटिया - पृ० ४२
२८. हरिवंश पुराण - सर्ग २६/५९-६२ - पृ० २५८
२९. हरिवंश पुराण - सर्ग २६/५७-७१ - पृ० २०२-२०३

३०. हरिवंश पुराण - सर्ग २३/४२-४५ - पृ० ३३४
३१. हरिवंश पुराण - सर्ग १८/०६-१५ - पृ० २६३
३२. हरिवंश पुराण - सर्ग १७/१६२ - पृ० २६०
३३. हरिवंश पुराण - सर्ग ४-७ - पृ० ४२-१४५
३४. हरिवंश पुराण - सर्ग ४७वाँ - पृ० ५५६-५६८
३५. हरिवंश पुराण - सर्ग ३४वाँ सर्ग - पृ० ४१९-४४७
३६. हरिवंश पुराण - सर्ग १०वाँ सर्ग - पृ० १८५-१९७
३७. सूरसागर पद ३०७२
३८. गीतावली. तुलसीदास - पद २८
३९. सूरसागर पद सं० २४५४
४०. अष्टछाप परिचय कुंभनदास - पद सं० २८
४१. सूरसागर पद - १६६६
४२. परमानंद संग्रह - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पद सं० १३९
४३. सूरसागर - पद सं० ३९५०
४४. परमानंद पद संग्रह - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० २३३
४५. सूरसागर - पद सं० ३९७८
४६. परमानंद पद संग्रह - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पृ० ३२४
४७. कृष्णदास पद संग्रह - डॉ० दीनदयाल गुप्त - पद सं० १२
४८. सूरदास पद सं० ७२२
४९. अष्टछाप परिचय - प्रभुदयाल मित्तल - पद २०
५०. सूरसागर पद सं०
५१. नन्ददास ग्रंन्थावली (नागरी प्रचारिणीसभा) - पद सं० २८
५२. अष्टछाप परिचय (चतुर्भुजदास के पद) - पद सं० ६
५३. सूरसागर पद सं० १९८४
५४. रसखान व घनानंद - रसखान पद सं० ५५
५५. सूरसागर
५६. बिहारी रत्नाकर - ३८८
५७. सूरसागर पद सं० २७३६
५८. बिहारी रत्नाकर - ४१
५९. सूरसागर पद सं० ३९८०
६०. मतिराम रत्नावली पद सं० ७०

६१. सूरसागर पद सं० ३८५०

६२. देव व उसकी कविता पृ० १८४

६३. सूरसागर पद १७६७

६४. रसखान और घनानंद (घनानंद छंद - १९)

६५. सूरसागर पद सं० ७६९

६६. भारतेन्दु ग्रंथावली - रागसंग्रह - पद ३०

६७. सूरसागर पद सं० ३४८७

६८. उद्धव शतक (रत्नाकर) पद सं० २६

६९. सूरसागर पद सं० ३३००

७०. उद्धव शतक (रत्नाकर) पद सं० ९९

७१. सूरसागर पद सं० ७०१

७२. कामायनी, जयशंकर प्रसाद

७३. सूरसागर व्यक्तित्व कृतित्व - डॉ० वेदनाथ शर्मा - पृ० १८४

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

परिशिष्ट :–

(क) हिन्दी ग्रन्थ

ग्रन्थ-नाम	लेखक
(१) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	: डॉ० दीनदयाल गुप्त
(२) अष्टछाप (गोकुलनाथ)	: संपादक-डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
(३) आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्ध और कृष्ण काव्य	: डॉ० मलिक मोहम्मद
(४) उद्धव शतक	: जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
(५) कल्याण (कृष्णांक एवं शक्ति विशेषांक)	: प्रकाशन-गीताप्रेस, गोरखपुर
(६) कृष्ण कथा कोश	: डॉ० रामचरण 'गौड'
(७) कृष्णायन	: द्वारिकाप्रसाद 'मिश्र'
(८) गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन	: डॉ० हरीश 'शुक्ल'
(९) चौरासी वैष्णव की वार्ता	: प्रका.-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
(१०) जैन धर्म	: कैलाशचन्द 'शास्त्री'
(११) जैन साहित्य का इतिहास	: पं० नाथूराम प्रेमी
(१२) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास	: गुलाबचन्द चौधरी
(१३) जैन साहित्य में श्री कृष्ण	: डॉ० महावीर 'कोटिया'
(१४) जैन धर्म एवं दर्शन	: पण्डित बेचरदास
(१५) तीर्थंकर महावीर स्वामी और उसकी आचार्य परम्परा	: डॉ० नेमीचन्द शास्त्री
(१६) धर्म और दर्शन	: देवेन्द्र मुनि शास्त्री
(१७) पुराण विमर्श	: बलदेव 'उपाध्याय'
(१८) प्रद्युम्न चौपाई	: सधारू
(१९) प्राकृत साहित्य का इतिहास	: डॉ० जगदीश चन्द्र
(२०) बलभद्र चौपाई	: आचार्य यशोधर
(२१) भक्तमाल नामावली	: नाभाजीकृत
(२२) भ्रमरगीत सार	: सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(२३) भारतीय साधना और सूर साहित्य : डॉ० मुंशीराम 'शर्मा'
(२४) भारतीय दर्शन : डॉ० पारसनाथ 'द्विवेदी'
(२५) भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल 'जैन'
(२६) भावप्रकाश : हरिराम कृत
(२७) महाकवि सूरदास : आचार्य नन्ददुलारे 'वाजपेयी'
(२८) मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप सौन्दर्य : डॉ० पुरुषोत्तमदास 'अग्रवाल'
(२९) मीराँ जीवनवृन्त : मुंशी देवीप्रसाद
(३०) मीराँ एक अध्ययन : शबनम
(३१) मीराँबाई पदावली : विद्यानव
(३२) रइधू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० राजाराम जैन
(३३) रविषेण कृत पद्मपुराण और तुलसीकृत रामचरित मानस: डॉ० रमाकान्त 'शुक्ल'
(३४) रश्मिरथि : रामधारी सिंह दिनकर
(३५) राजस्थान के जैन कवि : व्यक्तित्व व कृतित्व : डॉ० कस्तूरचन्द 'कासलीवाल'
(३६) रामचरित मानस : गोस्वामी तुलसीदास
(३७) सूर और उसका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल 'शर्मा'
(३८) सूरदास : डॉ० पीताम्बर 'बड़थ्वाल'
(३९) सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर 'वर्मा'
(४०) सूरदास : आचार्य रामचन्द्र 'शुक्ल'
(४१) सूर निर्णय : डॉ० द्वारकादास पारीख एवं प्रभुदयाल मित्तल
(४२) सूर की झाँकी : डॉ० सत्येन्द्र
(४३) सूरसागर भाग १ व २ : स० आचार्य नन्ददुलारे 'वाजपेयी'
(४४) सूर-सौरभ : डॉ० मुंशीराम 'शर्मा'
(४५) सूर की काव्य कला : डॉ० मदनमोहन 'गौतम'
(४६) सूर साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद 'द्विवेदी'
(४७) सूर के कृष्ण एक अनुशीलन : रश्मि 'तिवारी'
(४८) सूरदास और नरसिंह मेहता : डॉ० भ्रमरलाल 'जोशी'

(४९) सूर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त
(५०) संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह 'दिनकर'
(५१) हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ०प्रकाशचन्द जैन
(५२) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास : राजनाथ 'शर्मा'
(५३) हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ० नगेन्द्र
(५४) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(५५) हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति और वेदान्त : डॉ० संतोष 'पाराशर'
(५६) हिन्दी भाषा और साहित्य : डॉ० श्यामसुन्दर दास
(५७) हिन्दी रास काव्य : डॉ० हरीश
(५८) वैष्णव धर्म का संक्षिप्त इतिहास : पु०के० शास्त्री

(ख) संस्कृत ग्रन्थ

(१) ऋग्वेद : प्रकाशक-वेदमन्दिर, दिल्ली
(२) यजुर्वेद : प्रकाशक-वेदमन्दिर, दिल्ली
(३) महाभारत : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(४) श्रीमद्भगवद्गीता : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(५) हरिवंशपुराण (जैन) : स० पण्डित पन्नालाल
(६) श्रीमद् भागवत : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(७) वेदान्तसार : रामानुजाचार्य
(८) ज्ञानसार : उपाध्याय यशोविजय
(९) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित : हेमचन्द्राचार्य
(१०) मनुस्मृति : स० गंगानाथ 'झा'
(११) साहित्य दर्पण : आचार्य विश्वनाथ
(१२) बृहदारण्यक : आचार्य विश्वनाथ
(१३) उत्तर पुराण : गुणभद्राचार्य
(१४) आदिपुराण : जिनसेन
(१५) अणुभाष्य : प्रका.-बम्बई संस्कृत सिरीज 'पूना'
(१६) तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति

(१७) रत्नकरण्डश्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र
(१८) चन्द्रालोक : जयदेव
(१९) विष्णुपुराण : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(२०) ब्रह्मवैवर्तपुराण : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(२१) पद्मपुराण : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर
(२२) अग्निपुराण : प्रकाशक-गीता प्रेस, गोरखपुर

(ग) गुजराती ग्रन्थ

(१) श्रीमद् भागवत कथा : श्री रामचन्द्र डोंगरे 'महाराज'
(२) विचार दर्शन : प्रकाशक-सरदार पटेल वि.वि., वल्लभ विद्यानगर
(३) भगवान् श्री नेमिनाथ अने श्री कृष्ण : निरंजन विजय

(घ) अंग्रेजी ग्रन्थ

(1) The Cultural Heritage of India-Vol.-II : By D.R. Ramasvami
(2) Vaishnavism Shaivism and Minor Religious Systems : By R.H. Bhandarkar
(3) The Foundation of Indian Culture

(ङ) पत्र-पत्रिकाएँ

(१) राजस्थान-पत्रिका
(२) नवभारत टाईम्स
(३) धर्मयुग
(४) कादम्बिनी
(५) जिनवाणी
(६) अखंड-आनंद (गुजराती)
(७) गुजरात-समाचार (गुजराती)
(८) नवनीत